

आचार्य उमास्वामी द्वारा विरचित

तत्त्वार्थसूत्र

(अपर नाम मोक्षशास्त्र)

अनुत्तर जिज्ञासा
हिन्दी टीका-सम्पादन
प्रज्ञाश्रमण
मुनि अमितसागर महाराज

प्रज्ञाश्रमण
मुनि



प्रकाशक
श्रीधर्मश्रुत शोध संस्थान
श्रीदिगम्बर जैन रत्नत्रय मन्दिर, नसिया जी,
कोटला रोड, फिरोजाबाद (उ०प्र०)

ग्रन्थ-तत्त्वार्थसूत्र

पुष्प संख्या-एकादश

ग्रन्थकार-गृह्यपिच्छाचार्य उमास्वामी

हिन्दी टीका-अनुत्तर जिज्ञासा

टीकाकार-प्रज्ञाश्रमण मुनि अमितसागर

पावन प्रसङ्ग-बीसवीं शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य चारित्र-चक्रवर्ती श्रीशान्तिसागर जी महाराज के २०१९ से २०२० तक के संयम शताब्दी वर्ष के प्रसंग पर उन्हीं के तृतीय पट्टाधीश आचार्य शिरोमणि श्रीधर्मसागर जी महाराज के पट्ट शिष्य तत्त्वार्थ-प्रतिपादक, प्रज्ञाश्रमण, अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी मुनिश्री अमितसागर जी महाराज के ससंघ सान्निध्य में सन् २०२१ में प्रकाशित ।

पुस्तक प्राप्ति स्थान

१. चन्द्रा कापी हाऊस, हास्पिटल रोड, आगरा (उ०प्र०)
मो०: ०९४१२२६०८७९
२. वास्ट जैन फाउण्डेशन ५९/२ बिरहाना रोड, कानपुर (उ०प्र०)
मो०: ०९४५१८७५४४८
३. आलोक जैन, हनुमानगंज
C/o श्रीदिगम्बर जैन रत्नत्रय मन्दिर, नसिया जी, कोटला रोड,
फिरोजाबाद (उ०प्र०) मो०: ०९९९७५४३४१५
४. आचार्यश्री शिवसागर ग्रन्थमाला, श्रीशान्तिवीर नगर,
श्रीमहावीर जी, जिला-करौली (राज०)
५. श्रीदिगम्बर जैन अष्टापद तीर्थ, बिलासपुर चौक, धारुहेड़ा,
गुडगाँव (हरि०) मो०: ०९३१२८३७२४०
६. प्राचीन आर्ष ग्रन्थालय, जैन बाग, सहारनपुर (उ०प्र०)
मो०: ०९४१०८७४७०३
७. ज्योति बाबू शास्त्री, विशुद्ध ग्रन्थालय, सर्वक्रतु विलास, उदयपुर (राजस्थान)
मो०: ०९४१४२३४७९३
८. श्रीदिगम्बर जैन मन्दिर, कटरा सेवा कली, नया शहर, इटावा (उ०प्र०)

पंचम संशोधित संस्करण-सन् २०२२

प्रतियाँ-१०००

मूल्य-३०० ₹ — (तीन बार स्वाध्याय का नियम अर्थात् पूरा ग्रन्थ तीन बार पढ़ना)

मुद्रक-महेन्द्रा पब्लिकेशन प्रा०लि०, ई-४२-४३-४४, सेक्टर ७, नोएडा (उ०प्र०)



समर्पण पावन-प्रसङ्ग



पावन तीर्थ सम्मेलनशिखर जी की यात्रा का प्रवास; सन् १९९६, सब्जी मण्डी, बादशाही नाका, अहिंसा चौक, दिगम्बर जैन धर्मशाला, कानपुर (उ०प्र०); एक नन्हीं-सी ४-५ वर्ष की बालिका की “अनुत्तर जिज्ञासा” से उत्पन्न समाधान के लिए—

महाराज श्री ! आपको सबसे प्यारा कौन ?

हमने कहा—हमारी आत्मा ।

उसने पुनः प्रश्न किया—उसके बाद कौन ?

हमने अविलम्ब कहा—मेरी माँ ।

उसने पुनः प्रश्न किया—ऐसा क्यों ?

हमने अविचारित कहा कि—

“आत्मा के अस्तित्व को आकार देने वाली होती है माँ ।”

“संसार में सबसे परमोपकारी होती है माँ की देह ।”

जिस माँ ने मुझे आत्महित हेतु, बीसवीं शताब्दी के प्रथमाचार्य चारित्र चक्रवर्ती श्रीशान्तिसागर जी महाराज के तृतीय पट्टाधीश आचार्य शिरोमणि श्रीधर्मसागर जी महाराज के पावन करकमलों में समर्पित कर दिगम्बरत्व दीक्षा की प्रेरणा दी ।

जो स्वयं; परम्परा पट्टाचार्य श्रीअभिनन्दनसागर जी महाराज के करकमलों से आत्महित में प्रवेश करने वाली; अक्षर-ज्ञान-विहीना, व्यवहार-धर्म प्रवीणा, दया-करुणा-वात्सल्य-सेवा की सजीव मूर्ति; आर्यिका प्रवेशमती माता जी बनीं ।

आत्महित में सतत जाग्रत रखने वाली, षोडश नाम वाली—

श्रीजिन-मुखोद्भूत सरस्वती-जिनवाणी माता के पावन करकमलों में—

सादर-सविनय समर्पित “अनुत्तर जिज्ञासा” कृति ।

विज्ञप्ति

इस अनुत्तर जिज्ञासा कृति की सम्पादकीय विधा में कम्प्यूटर के मात्र 'देव अनिल' हिन्दी फॉण्ट को देव नागरी लिपी के रूप में निम्न प्रकार से प्रयोग किया गया है—

मूल सूत्र — २० (फॉण्ट साइज़)

सूत्र उच्चारण — १६ „

सन्धि विग्रह — १६ „

सामान्य — १५ „

फुटनोट — १४ „

हार्डफन (-) को हमने चार प्रकार से प्रयोग किया है, जिससे पाठकों को पढ़ने और समझने में सरलता की अनुभूति हो।

प्रत्येक हार्डफन की अपनी-अपनी अलग वजह है, जिससे वह उस वाक्य को अलग बनाता है, अतः हार्डफन (-) की वर्तनी विधा इस प्रकार से है। जैसे—

१. 'हार्डफन' (-) स्वयं में १०० प्रतिशत है। इसका प्रयोग एक शब्द को; वाक्य में दो बार दोहराने में तथा समकक्ष या युगलरूप पदों में भी प्रयोग किया गया है। जैसे—माता-पिता, भाई-बहिन आदि।
२. यदि इसको १०० की जगह १५० प्रतिशत (१००×१५०/१००) करते हैं तो यह 'बड़ा हार्डफन' (-) बन जाता है। इसको 'अर्थात्' के स्थान पर एवं 'अग्रिम सूचना' देने के लिए प्रयोग किया गया है।
३. यदि हार्डफन को १०० की जगह २०० प्रतिशत (१००×२००/१००) करते हैं तो वह 'सेमी डैश'(-) बन जाता है। इसका प्रयोग विशेषार्थ में यदि कोई विशेष हेडिंग आई है, उसमें प्रयोग किया गया है।
४. यदि हार्डफन को १०० की जगह २५० प्रतिशत (१००×२५०/१००) करते हैं तो 'फुल डैश' (-) बन जाता है। इसका प्रयोग; मूल सूत्र, सूत्र उच्चारण, सन्धि विग्रह, सूत्रार्थ, लब्धार्थ, विशेषार्थ, जिज्ञासा अथवा किसी वाक्य को आगे विस्तृत करने के लिए किया गया है।

प्रकाशकीय

गुरुदेव कहा करते हैं कि दर्पण और दीपक कभी झूठ नहीं बोलते हैं। जलते हुए दीपक को कहीं भी ले जा सकते हैं, किन्तु अँधेरे को कहीं नहीं ले जा सकते हैं।

जैन धर्म का आगम-सिद्धान्त; दर्पण एवं जलते हुए दीपक की तरह है। नकटे या कुरूप को दर्पण दिखाने से उसके कषाय उत्पन्न होती है। चोर-व्यभिचारी-व्यसनी को रोशनी का भय सताता है।

अज्ञानी; ज्ञान-दीपक का सामना नहीं कर सकता है। व्यसनी; दर्पण की झलक को सहन नहीं कर पाता है।

दर्पण; आदर्श को कहते हैं। दर्प जिसमें नहीं हो वह दर्पण है। दर्पण में देखने सब ललकते हैं, किन्तु दर्पण किसी को देखने नहीं ललकता; यही तो उसका आदर्श है।

दर्पण और दीपक को डराने-धमकाने वाले पत्थर और आँधियाँ हैं। जो दर्पण; पत्थर से नहीं डरता वही दर्पण है। जो दीपक; आँधियों से नहीं घबड़ाता वही दीपक है।

हम अपनी बात इन्हीं दो पूर्ण सत्त्यों के साथ प्रारम्भ करते हैं। पूज्य गुरुदेव से फिरोजाबाद जनपद की जनता; सन् १९९२ से परिचित है। परिचित हैं उनके दर्पणवत् स्वभाव से; धनिक-निर्धन, पूजक-निन्दक दोनों समान। परिचित हैं उनके दीपकवत् साहस से। वो कभी अपना परिचय स्वयं इस अन्दाज में देते हैं—

आँधियों के बीच जो जलता हुआ मिल जाएगा ।
उस दिये से पूछना मेरा पता मिल जाएगा ॥
अय आँधियों! अपनी औकात में रहो ।
हम तो जलते हुए दिये हैं जलते ही रहेंगे ॥
देख चिरागों के शोले मज्जिल से इशारा करते हैं ।
तू हिम्मत हारा जाता है कहीं हिम्मत हारा करते हैं ?

हम जनपदवासी; सन् १९९२ से इस जलते हुए दीपक को देख रहे हैं। जो व्यक्ति, परिवार, समाज, गाँव, शहर, राज्य, राष्ट्र एवं विश्व के लिए; अपने प्रकाश से मार्गदर्शन कर रहा है।

इस जलते हुए दीपक को; कितनी आँधियों-तूफानों ने बुझाने की कोशिश की, लेकिन यह दीपक बुझने की जगह और भी अधिक प्रकाशमान हो गया और अन्धी-आँधियाँ; हार मानकर बैठ गईं।

इस दर्पण को; कितने ही छोटे-छोटे कङ्कण ही नहीं; पहाड़ जैसे पत्थर भी धमकी देते रहे, लेकिन दर्पण; दर्पण ही रहा, उन बेजान पत्थरों के सामने समर्पित नहीं हुआ।

बस; इन्हीं दो उपमाओं में इस व्यक्ति का व्यक्तित्व समाया है। ख्याति-पूजा-लाभ से दूर, दूरदर्शन के प्रदर्शन एवं पोस्टरों के पोस्ट की परछाइयों से विलग, अनेक उपाधियों और पद-प्रतिष्ठा की होड़ से उदासीन।

एक वैज्ञानिक की तरह वस्तु-तत्त्व की तह में जाकर उसे समझना उनके स्वभाव में है। बड़े-बड़े ग्रन्थों के रहस्यों को सरलता से; स्वरूप भेद और स्वामी भेद की कुञ्जी से; आगम, युक्ति, गुरुपदेश एवं स्वानुभव से सिद्ध करना उनका लक्ष्य रहता है।

वैसे तो इतिहास में कोई भी आचार्य-गुरुजन अपना भौतिक परिचय लिखकर नहीं गए, किन्तु उनके जीवन्त कृत्य ही उनके अमर परिचय हो गए। गुरु जी कहा करते हैं कि—

अच्छे कार्य स्वयं में प्रशंसनीय हुआ करते हैं, अतः हमें कभी; दूसरों से प्रशंसा की अपेक्षा नहीं रखना चाहिए।

फिर भी हम भक्त-श्रद्धालुजन अपने इष्ट की आराधना-स्तुति करके पुण्योपार्जन कर लेते हैं, यह एक उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य; सब कोई उनके बारे में; उनके परिचय से सही परिचित हों प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से, अतः इस उद्देश्य से भी उनका परिचय देना अनिवार्य है।

आप में देखा है हम सबने; कुन्दकुन्दाचार्य का अध्यात्म और उनके जैसा धर्मायतनों को बिना हिंसा के बचाने वाला “बलात्कारगण”, मैनपुरी एवं फिरोजाबाद इनके उदाहरण हैं।

समन्तभद्राचार्य जैसा शास्त्रार्थ करने का अदम्य साहस एवं फिरोजाबाद जिले के चन्द्रवाड़ के किले में मूर्तियाँ प्रकटाने वाला गौरव पूर्ण अतिशय इसका प्रमाण है।

पूज्यपादाचार्य जैसी आगमोक्त लक्षणावली आप में हैं, क्योंकि आप पूज्यपादाचार्य एवं समन्तभद्राचार्य के आगम को सिरहाने रखकर सोते हैं, यह अनुत्तर जिज्ञासा टीका इसका जीवन्त प्रतीक है।

अकलङ्काचार्य जैसे प्रमाणों की प्रचुरता; उनकी वाणी एवं लेखनी में विराजमान रहती है। आप कहते हैं, एक दर्पण को देखने के लिए; दूसरे दर्पण की जरूरत नहीं होती है, अतः एक प्रमाण के लिए दूसरे प्रमाण की जरूरत नहीं होती है। जिसको जिनवाणी-आगम-सिद्धान्त में ही श्रद्धा नहीं है, उसे कितने ही आगम-सिद्धान्त दिखला दो; मानने वाला नहीं है।

मानतुङ्गाचार्य जैसी ताले टूटने वाली आश्चर्यकारी घटनाओं से फिरोजाबाद जनपद अनजान नहीं है। वादिराज मुनिराज जैसी आस्था से असाध्य रोग से मुक्ति के चमत्कारी दृश्य जिनके स्वयं पैदा हो गए।

जिनसेनाचार्य जैसे निर्विकार-अनासक्त भाव; जो कर्त्ता में अकर्त्ता, भोक्ता में अभोक्ता की अनुभूति कराते हैं।

अमृतचन्द्राचार्य जैसे निर्नाम निर्माण—कहीं-किसी भी जगह अपने व्यक्तिगत नाम के कोई आश्रम-मठ-मन्दिर, संस्थान आदि नहीं बनवाये। आप कहते हैं कि—

**जिस खुदा ने ये दुनिया बनाई,
उसने अपनी फोटो नहीं छपाई।**

आपका हमेशा शिक्षा एवं चिकित्सा पर जोर रहता है। शिक्षा चाहे लौकिक हो या पारलौकिक; सभी को प्रोत्साहन देते हैं। छोटे बच्चों से पढ़ाई के लिए पूछते हैं कि तुम्हें क्या बनना है? “कुर्सी बिछाने वाला चपरासी या कुर्सी पर बैठने वाला ऑफिसर। बड़े बच्चों को कहते हैं कि तुम्हारी चार साल की पढ़ाई का जीवन; तुम्हारे चालीस साल बना देगा, फालतू वातावरण से बचो।”

बालकों से लगाव, युवाओं को प्रेरणा, वृद्धों की सेवा-वैय्यावृत्ति, समाधिस्थों की साधना में आपका निर्यापकाचार्यत्व अनुभूत आदर्श है।

आपकी प्रथम प्रकाशित कृति मन्दिर है जो अद्यावधि हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड़ एवं अंग्रेजी संस्करणों में; लगभग दो लाख प्रतियों से भी अधिक प्रकाशित हो चुकी हैं।

आपने बाल साहित्य के रूप में बाल-गीत, बाल कहानियाँ, जैन चित्र कथायें, बाल विज्ञान के क्रमशः पाँच भाग, आसान उच्चारण, सरल उच्चारण, अनुपम पाठसंग्रह, रयणसार, द्रव्य संग्रह द्वारा मूलपाठों को उच्चारण-पढ़ने योग्य बनाया है।

इसी के साथ कई ग्रन्थों के प्रकाशन की प्रेरणा दी; जिनमें धर्म परीक्षा, सम्यक्त्व कौमुदी, दानशासन, दान चिन्तामणि, धर्मध्वज विशेषाङ्क, भक्तामर शतद्वयी, सिरिभूवल्लय, नाममाला, चौबीस ठाणा, गुरु-शिष्य दर्पण, बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, श्रीसिद्धचक्र विधान; कवि-सन्तलाल जी, जैन-अभिषेक पाठ संग्रह, चौतीस स्थान दर्शन आदि कृतियाँ कुछ प्रकाशित हैं, कुछ प्रकाशनाधीन हैं।

प्रवचन सङ्कलन में; आँखिन देखी आत्मा—इसमें उत्तमक्षमादि दशधर्मों के स्वरूप को, आगम, विज्ञान आदि के आधार पर विवेचित किया गया है। दशलक्षण पर्वों में विद्वानों द्वारा इसका उपयोग किया जाता है।

अन्तरङ्ग के रङ्ग—इसमें षट्लेश्या का वर्णन किया गया है। आप अपने परिणामों का स्वयं निरीक्षण करें। अपने अच्छे-बुरे भावों की पहचान होती है।

अनुत्तर यात्रा—सोलह कारण भावनाओं का औपन्यासिक विश्लेषण है कि साधारण-सी आत्मा त्रैलोक्य पूज्य तीर्थङ्कर पद तक कैसे पहुँचती है? कई संस्करणों में प्रकाशित हो चुके हैं।

नीतिशास्त्र; कुरल काव्य कृति—उन नीतियों का संग्रह है जो दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य ने सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय संकलित की थीं। जिनकी आज; व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य एवं राष्ट्र के कर्तव्यों के प्रति जागरूक करने की परम आवश्यकता है। इसका सम्पादन किया जो प्रभात प्रकाशन दिल्ली से २०१० में प्रकाशित हुआ एवं इसका दूसरा संस्करण; गोम्पटेश महामस्तकाभिषेक २०१८ के उपलक्ष्य में प्रकाशित हुआ।

आपकी “बोलती माटी” महाकाव्य कृति—सरलतम भाषा की एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसमें एक अकिञ्चन्य माटी को पात्र बनाकर, मद से भरे पात्रों को निर्मद बना दिया। तुच्छ से उच्च बनाने की शिक्षा देने वाली कृति; आज नहीं तो कल इसकी आवश्यकता अवश्य होगी। इसका प्रथम संस्करण; लगभग बीस वर्ष पूर्व सन् १९९५ में प्रकाशित हुआ था और इसका संशोधित संस्करण सन् २०१८ में प्रकाशन हो चुका है।

अमृतचन्द्राचार्यकृत तत्त्वार्थसार कृति—आपके द्वारा सम्पादित आगम की यह प्रथम कृति है जिसका श्रीधर्मश्रुत ज्ञान, हिन्दी टीका के रूप में सम्पादन; सन् २०१० में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित किया गया। अद्यावधि इसके भी लगभग ५ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

आज हमें यह परम सौभाग्य प्राप्त हो रहा है कि हम पूज्य मुनिश्री के द्वारा सम्पादित तत्त्वार्थसूत्र की अनुत्तर जिज्ञासा; हिन्दी टीका का प्रकाशन कर रहे हैं।

गुरुदेव के द्वारा संकलित, रचित, सम्पादित साहित्य में मुनिश्री की अयाचित वृत्ति से; दानदाता उदार मन से स्वेच्छया राशि से सहयोग करते हैं, उन दानी महानुभावों के हम आभारी हैं।

मुनिश्री द्वारा निर्देशित श्रीधर्मश्रुत शोध संस्थान, श्रीदिगम्बर जैन रत्नत्रय मन्दिर, नसिया जी, कोटला रोड, फिरोजाबाद (उ०प्र०)। जिसमें प्राचीन-हस्तलिखित हजारों पाण्डु-लिपियाँ एवं प्राचीन-अर्वाचीन प्रकाशित-उपलब्ध-अनुपलब्ध ग्रन्थ भण्डार जैन धर्म पर शोध करने वालों के लिए उपलब्ध है एवं प्राचीन साहित्य-आगम-सिद्धान्त का संरक्षण-संवर्द्धन हो रहा है। इसके लिए सकल जैन समाज मुनिश्री के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करती है।

निवेदक

श्रीधर्मश्रुत शोध संस्थान,
श्रीदिगम्बर जैन रत्नत्रय मन्दिर,
नसिया जी, कोटला रोड,
फिरोजाबाद (उ०प्र०)-२८३२०३

विशेष – सम्पूर्ण कृति पढ़ने के बाद; अपनी समीक्षा, आलोचना निम्न पते पर अवश्य भेजें—

- (१) श्रीधर्मश्रुत शोध संस्थान,
श्रीदिगम्बर जैन रत्नत्रय मन्दिर, नसिया जी,
कोटला रोड, फिरोजाबाद (उ०प्र०)-२८३२०३
- (२) वास्ट जैन फाउण्डेशन,
५९/२, बिरहाना रोड, कानपुर (उ०प्र०)-२०८००१
मो० नं०-०९९९७५४३४९५, ०९४५९८७५४४८

विशेष – यदि यह अनुत्तर जिज्ञासा टीका; आपको अच्छी लगे तो आप सभी को पढ़ायें। उत्सव, व्रत, त्यौहार, जन्म दिवस, पुण्य स्मृति के उपलक्ष्य में बाँटने एवं छपवाने योग्य समझें तो लागत मूल्य पर छपवाने के लिए संस्था से सम्पर्क करें। यदि कोई ट्रस्ट-न्यास-फाउण्डेशन आदि को छपवाना हो तो उनके नाम, चित्र परिचय सहित हम छपवा सकते हैं।

सम्पर्क सूत्र-०९९९७५४३४९५, ०९४५९८७५४४८

जो पुस्तक पढ़ने योग्य है, वह खरीदने योग्य भी है—

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

सम्पादकीय

“अनुत्तर-जिज्ञासा” तत्त्वार्थसूत्र-मोक्षशास्त्र की एक ऐसी प्रश्नोत्तरी टीका है, जिसके दशों अध्यायों में उनकी उत्थानिका के साथ प्रत्येक सूत्र की भूमिका-जिज्ञासा द्वारा सूत्र का अवतरण हुआ है।

विज्ञान का अवतरण “ऐसा क्यों है?” इस जिज्ञासा से होता है और उस जिज्ञासा के समाधान को आविष्कार कहा जाता है। स्कूल में पढ़ाई होती है, उसमें शिक्षक यह बतलाता है कि पुस्तक में क्या लिखा है? अर्थात् पुस्तक पढ़ना सिखलाता है, किन्तु ट्यूशन में शिक्षक यह बतलाता है कि पुस्तक में ऐसा क्यों लिखा है? जिससे ट्यूशन में पढ़ने से जल्दी समझ में आता है, इसीलिए ट्यूशन की विधि इस टीका में अपनाई है, जिससे तत्त्वार्थसूत्र की बात समझ में जल्दी आवे।

तत्त्वार्थसूत्र; जैनधर्म का सर्वमान्य ग्रन्थ है, जिसे उमास्वामी आचार्य ने परम्परागत; आगम-युक्ति-गुरु उपदेश एवं स्वानुभव प्रत्यक्ष की कसौटी पर कसकर लिपिबद्ध किया है—रचा है।

अद्यावधि तत्त्वार्थसूत्र पर समन्तभद्राचार्य, पूज्यपादाचार्य प्रभृति भास्करनन्दी आचार्य तक की संस्कृत टीकायें एवं जयचन्द जी छाबड़ा से लेकर अद्यावधि उन संस्कृत टीकाओं के भाषानुवाद-वचनिकायें उपलब्ध हैं।

इसके साथ-साथ ही कई साधु-मुनि-आचार्य, आर्यिकाओं एवं व्रती, विद्वान्-पण्डितों के द्वारा संक्षेप-प्रश्नोत्तरी टीकायें प्रकाशित की गयीं।

लगभग पच्चीस वर्षों से तत्त्वार्थसूत्र की संस्कृत टीकाओं सहित हिन्दी के संक्षिप्त सूत्रार्थ-टीकाओं को पढ़ने-पढ़ाने का क्रम जारी है, जिससे मूलसूत्र एवं संस्कृत टीकाओं सहित हिन्दी टीकाओं के मूल शब्दों का विश्लेषण करने का अनुभव प्राप्त हुआ।

मूलसूत्रों में कहीं-कहीं लिपिकारों के कारण व्याकरण (सन्धि) के नियम टूटे हैं तो कहीं-कहीं पाठ भेद से उन्हें स्वीकार कर लिया गया है। जैसे—

खण्डाकार रहित — मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।

एकसमयाविग्रहा।

परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा।

संख्येयासंख्येयाश्च।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।

खण्डाकार सहित — मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।

एकसमयाऽविग्रहा।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा।

सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाश्च।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च।

ऐसे कई प्रसङ्ग हैं जहाँ सवर्ण सन्धि में (ऽ) खण्डाकार चिह्न का प्रयोग हुआ है। एक बार कुछ व्रती-विद्वानों से चर्चा करने पर ज्ञात हुआ कि न्याय के आचार्यों ने; जैसे—समन्तभद्राचार्य, अकलङ्कदेवाचार्य आदि ने सन्धि विग्रह के दोष से बचने के लिए (ऽ) खण्डाकार चिह्न का प्रयोग किया है।

शब्दों के बीच-बीच में जो एस (S) अकार का चिह्न है, उसे अविग्रह भी कहते हैं। अर्थात् अ का विग्रह यानि शरीर। जो अ का शरीर है, उसे अविग्रह कहते हैं। इस अविग्रह चिह्न का उच्चारण नहीं होता है। इस चिह्न का नाम खण्डाकार भी है।

S=अ ह्रस्व / SS=आ दीर्घ / SSS=आ प्लुत / एक “S” चिह्न में ह्रस्व अ लुप्त है। दो “SS” चिह्न में दीर्घ आ लुप्त है। तीन “SSS” चिह्न या इससे अधिक में प्लुत होता है अर्थात् अवर्ण को जैसे सङ्गीत में बहुत देर तक खींचते हैं, उसे प्लुत कहते हैं।

राजवार्तिक में कई स्थानों पर अवर्ण की सवर्ण सन्धि में खण्डाकार का प्रयोग किया है, जिससे सन्धि विग्रह करते समय विश्लेषण का अतिक्रम न हो, अतः कुछ खास पदों के साथ ही इनका प्रयोग हुआ है।

जैसे—मतिः स्मृतिः सज्जा चिन्ताऽभिनिबोध..... इसमें चिन्ताऽभिनिबोध में (S) खण्डाकार चिह्न दिया है; कारण कि यदि बिना खण्डाकार चिह्न के सूत्र को चिन्ताभिनिबोध इस प्रकार लिखने से जब सूत्र का सन्धि विग्रह करेंगे तो सन्धि विग्रह से अनभिज्ञ एवं मूलशब्द के भाव से अनभिज्ञ लोग चिन्ता-अभिनिबोध की जगह आभिनिबोध का विग्रह कर सकते हैं, अतः इस दोष से बचने के लिए (S) खण्डाकार चिह्नों का उपयोग किया गया है। दीर्घ आकार के लिए (SS) खण्डाकार चिह्न दिया गया है, अतः यह कोई दोष नहीं है। इतना विशेष ध्यान रखना कि (S-SS) खण्डाकार चिह्नों का उच्चारण नहीं होता है अर्थात् वे साइलेन्ट रहते हैं।

दूसरा नियम—“एदोत्परः पदान्ते लोपमकारः” सूत्र के अनुसार जब अकार का लोप होता है तब वहाँ भी (S) खण्डाकार चिह्न लगाया जाता है। **जैसे—**यदि सोऽहं की जगह सोहं लिखे तो सन्धि विग्रह में स+उहं बनेगा, जिससे अर्थ का अनर्थ हो जायेगा, अतः सन्धि विग्रह की सुविधा के लिए खण्डाकार चिह्न का उपयोग किया जाता है।

व्यञ्जन सन्धि में भी इसी प्रकार जहाँ पर व्यञ्जनों की वर्गों के अनुसार सन्धि होती है, वहाँ अनुस्वार (ँ) का उपयोग किया गया है अर्थात् इ, ज्, न्, ण्, म्, को अनुस्वार कर दिया है।

इन्हीं पदों को निम्न तरीके से भी लिखा है—

जैसे—जीवाजीवास्त्रवबंधसंवरनिर्जरा.....।

व्यञ्जनस्यावग्रहः ।

नैगमसंग्रह वंभूता नयाः ।

ज्ञानाज्ञान पञ्च भेदाः

संमूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ।

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ।

इसी प्रकार कई स्थलों पर पूर्ण पदों में व्यञ्जन सन्धि के नियम टूटे हैं, किन्तु व्यञ्जनों के वर्गों की सन्धि निम्न प्रकार से कर लेना चाहिए—

जैसे—जीवाजीवास्त्रवबन्धसंवरनिर्जरा.....।

व्यञ्जनस्यावग्रहः ।

नैगमसंग्रह वम्भूता नयाः ।

ज्ञानाज्ञान पञ्च भेदाः

सम्पूर्णनगर्भोपपादा जन्म ।

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।

तत्त्वार्थसूत्र पढ़ने में सबसे बड़ी समस्या है; उसका उच्चारण । सन्धि ज्ञान के अभाव में शब्दों का उच्चारण सही नहीं हो पाता है । संस्कृत के उच्चारण का अर्थ है—ह्रस्व-छोटा (।); दीर्घ-बड़ा (ऽ); विसर्ग (:); अनुस्वार (ं); इन चारों के उच्चारण को सही बोलना । ह्रस्व यानि छोटा, दीर्घ यानि बड़ा, विसर्ग यानि बराबर का, अनुस्वार यानि अहंकारी । छोटे, बड़े, बराबरी के एवं अहंकारी व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इसका विवेक होना संस्कृति है ।

(१) अधिकांश गलती दूसरे अध्याय के सूत्र संख्या बत्तीस (३२) में होती है—सचित्तशीतसंवृता...“तद्योनयः” इसे तद्यो-नयः; इस तरह पढ़ते हैं, किन्तु इसे तद्-योनयः इस तरह पढ़ना चाहिए, क्योंकि योनि शब्द का बहुवचन पद योनयः बनता है ।

(२) इसी तरह तीसरे अध्याय का सूत्र संख्या उनतालीस (३९) तिर्यग्योनिजानां च को “तिर्यग्यो-निजानां च” पढ़ते हैं, किन्तु इसे “तिर्यग्-योनिजानां च” इस तरह पढ़ना चाहिए, क्योंकि इस सूत्र का अर्थ—तिर्यग्य योनियों में उत्पन्न होने वालों की आयु; मनुष्यों की आयु के समान होती है; ऐसा होता है ।

(३) इसी तरह छठवें अध्याय के सूत्र संख्या सोलह (१६) माया तैर्यग्योनस्य को माया तैर्यग्यो-नस्य ऐसा पढ़ते हैं, जबकि इसे माया तैर्यग्-योनस्य ऐसा पढ़ना चाहिए ।

सूत्र उच्चारण विधि में सूत्र के साथ अल्पविराम (,) चिह्न लगाया है, जिससे शब्द उच्चारण को समय मिले एवं उच्चरित वर्ण; आगे-पीछे न हों, इससे सामूहिक पाठ का भी अनुभव मिलता है तथा नये सीखने वालों को सरलता मिलती है । इतना ध्यान रखें कि अल्पविराम की जगह थोड़ा रुककर नाक से हल्की श्वास अन्दर की ओर खींचे, जिससे सूत्र का उच्चारण सही गति से बना रहता है एवं अगले शब्द के उच्चारण की भूमिका भी बन जाती है ।

गद्य भाषा के उच्चारण में कहीं-कहीं स्वराघात होता है, सर्वत्र नहीं, किन्तु कुछ उच्चारण सिखाने वाले सर्वत्र स्वराघात का नियम लगा देते हैं ।

जैसे—प्रथम अध्याय के पहले सूत्र को ही लें—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥ इसे स्वराघात करके इस तरह पढ़ते हैं—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ऐसा स्वराघातपूर्ण उच्चारण गलत है ।

स्वराघात करने के पहले स्वराघात विधि के नियम समझ लें कि स्वराघात क्या है और कहाँ लगता है ?

पद्य (छन्द विज्ञान) भाषा में स्वराघात विधि के नियम—

(१) जहाँ ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ, ऋ, ए) के बाद में (सामने) संयुक्ताक्षर (दो व्यञ्जनों के जोड़ को संयुक्ताक्षर कहते हैं ।) जैसे—प्र, घ, ध्व, क्र, क्ष, त्र, ज्ञ, द्वि, त्त, स्व आदि हों तो स्वराघात विधि होती है ।

अथवा

छन्द में जहाँ कहीं भी संयुक्ताक्षर के पहले ह्रस्व स्वर के उच्चारण में जोर या खिचाव पड़ता हो वहाँ स्वराघात विधि होती है । (छन्दशास्त्र; पिंगल-पीयूष) छन्द शास्त्र में आवश्यकतानुसार छन्द की मात्रायें गिनते समय जहाँ गण के अनुसार दीर्घ मात्रा की जरूरत है, किन्तु वहाँ ह्रस्व-लघु मात्रा है एवं उसके सामने संयुक्ताक्षर है तो स्वराघात करने से ह्रस्व स्वर; दीर्घ माना जाता है, किन्तु संयुक्ताक्षर एक मात्रा वाले ही गिने जाते हैं ।

जैसे—भक्तामर-प्रणत को लोग उच्चारण करते समय भक्तामरा या भक्तामरे पढ़ जाते हैं, परन्तु भक्तामर के र में जोर या खिचाव है एवं उसके आगे **प्रणत** का प्र संयुक्ताक्षर है, अतः स्वराघात विधि होती है।

ह्रस्व स्वर को संयुक्ताक्षर के प्रथम व्यञ्जन वर्ण से आघात (टकराने) होने पर उस संयुक्ताक्षर के प्रथम व्यञ्जन वर्ण का दो बार उच्चारण होता है, उसे ही स्वराघात कहते हैं।

जैसे—भक्तामर प्रणत, इसमें भक्तामर के र् वर्ण में अकार ह्रस्व है और प्रणत का प्र संयुक्ताक्षर है, अतः भक्तामर शब्द के उच्चारण के साथ प्र के प् का उच्चारण एक बार भक्तामर शब्द के साथ **भक्तामरप्** के रूप में होगा पुनः प्रणत शब्द का पूरा उच्चारण होता है। इसी प्रकार मणि-प्रभाणा में मणि के ण् में इ ह्रस्व स्वर होने से प्रभाणा के प्र के प् का उच्चारण पहले मणि शब्द के साथ **मणिप्** के रूप में होता है पुनः प्रभाणा का उच्चारण, **जैसे**—मणिप्-प्रभाणा। इसी प्रकार गुरु-प्रतिमोऽपि को **गुरुप्-प्रतिमोऽपि**। रपि-प्रवृत्तः को **रपिप् प्रवृत्तः**। अल्प-श्रुतं को **अल्पश्-श्रुतं**। तव-प्रभावात् को **तवप् प्रभावात्**। फल-द्युति को **फलद्-द्युति**। मति-क्रम को **मतिक्र-क्रम**। इसी प्रकार आगे भी लगाना चाहिए। भक्तामर जी में प्रायः द्वित्व उच्चारण में स्वराघात होने वाले स्वरों को नीचे लाइन (—) लगाकर चिह्नित कर दिया है।

(२) बस इतना ध्यान रहे कि जो अक्षर संयुक्त हैं, उसमें पहले व्यञ्जन का ही द्वित्व उच्चारण होगा। व्यञ्जन, विसर्ग, अनुस्वार एवं दीर्घ मात्रा के बाद यदि संयुक्ताक्षर है तब स्वराघात विधि नहीं होगी। **जैसे**—सम्यक् प्रणम्य, तं प्रथमं, जगत् त्रितय, नमः क्षिति, कस्ते क्षमः आदि शब्दों में स्वराघात विधि नहीं होगी, क्योंकि सम्यक् में क् व्यञ्जन है, तं में म् अनुस्वार है। जगत् में भी त् व्यञ्जन है। नमः क्षिति के नमः में विसर्ग है। कस्ते क्षमः के; ते में दीर्घ मात्रा है, इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए।

(३) जिस स् व्यञ्जन का उच्चारण इस् जैसा होता है, **जैसे**—इस्तोत्र, इस्तुति, इस्पष्ट ऐसा होता है एवं ऐसा स् व्यञ्जन चरण के पहले, बीच में या विसर्ग के सामने (बाद में) हो तो उस स् व्यञ्जन का उच्चारण लोप (साइलेन्ट) हो जाता है। **जैसे**—नॉलेज (KNOWLEDGE) शब्द में K-D साइलेन्ट हैं, उच्चारण लोप (साइलेन्ट) का अर्थ है, अक्षर या वर्ण लिखा होने पर भी उसका उच्चारण न हो।

जैसे—स्तोत्रैर् को इस्तोत्रैर् न पढ़कर तोत्रैर्, स्तोष्ये को तोष्ये, स्तुति को तुति। इसी तरह मुच्चैः स्थितं को मुच्चैः थितं। स्थगित को थगित। श्च्योतन् को च्योतन् पढ़ना। इस सबमें स्, श् साइलेन्ट हैं। इसी प्रकार **पद्य उच्चारण के अन्य प्रसङ्गों** में भी जानना चाहिए, क्योंकि जहाँ पर छन्द शास्त्र के गण-अनुसार उच्चारण में एक मात्रा बढ़ती है, वहाँ श्, स् के उच्चारण को लोप किया गया है।

जो स् व्यञ्जन; स्वर के सामने हैं तथा जिसका उच्चारण इस् जैसा होता है, उस स् व्यञ्जन का उच्चारण पहले स्वर के साथ हो जाता है, लेकिन स्वराघात विधि (द्वित्व उच्चारण) नहीं होती है। **जैसे**—भक्तामरस्-तोत्र/परमागमस्-तुति/शिखरस्-थित/गुणस्-थान/परास्-थिति आदि।

(४) जिस स् व्यञ्जन का उच्चारण इस् जैसा नहीं होता है, उसका उच्चारण लोप (साइलेन्ट) नहीं होता है, लेकिन स्वर के सामने आने पर उस स् व्यञ्जन का स्वराघात (द्वित्व उच्चारण) हो जाता है। **जैसे**—महावीरस् स्वामी नयन पथगामी भवतु मे। ज्ञान स्वरूप को ज्ञानस् स्वरूप, लेकिन जो स् व्यञ्जन; चरण में पहले है उसका लोप नहीं होता है, उसे साथ में ही बोलते हैं। **जैसे**—स्वस्ति, स्वाति, स्वामी, श्याम, स्वाहा, स्वभाव, स्वरूप आदि।

(५) अनुस्वार (ँ) के सामने स् व्यञ्जन हो तो साइलेन्ट न होकर अनुस्वार के साथ ही उच्चारण हो जाता है। **जैसे**—जल संस्थित जल संस्-थित/कर्तुं स्तवं-कर्तुस्-तवं/संस्तवनं-सन्स्-तवनं/संस्मरण-सन्स्-मरण।

विशेष—पद्य-छन्द शास्त्र के उच्चारण के नियम एक से लेकर पाँच तक मुख्य हैं, इन्हें गद्य के उच्चारण में घटित न करें।

(६) विभक्ति का उच्चारण बाद में ही होता है। जैसे—मुद्घोतकं को मुद्घो-तकं न बोलकर मुद्घोत-कं, वालम्बनं को वालम्-बनं न बोलकर वालम्ब-नं, परमात्मने को परमात्-मने न बोलकर परमात्म-ने; बोलना चाहिए।

(७) शब्दों में उपसर्गों का उच्चारण पहले होता है तथा शब्दों में प्रत्ययों का उच्चारण बाद में होता है।

जैसे—उपसर्ग में—

अपवर्ग	— अप उपसर्ग	/	उपवर्ग	— उप उपसर्ग है।
उपगता	— उप उपसर्ग	/	उपयाति	— उप उपसर्ग है।
आपाद	— आ उपसर्ग	/	विगत	— वि उपसर्ग है।
अशेष	— अ उपसर्ग	/	उद्भूत	— उद् उपसर्ग है।

जैसे—प्रत्यय में—

मनुजत्व	— मनुज में त्व प्रत्यय है।
परमेश्वरत्व	— परमेश्वर में त्व प्रत्यय है।
गुणवान्	— गुण में वान् प्रत्यय है।

जैसे—क्षयोपशम एवं भोगोपभोग पदों को उच्चारण करते समय कोई-कोई लोग क्षयो-पशम एवं भोगो-पभोग पढ़ते हैं, किन्तु सही उच्चारण क्षयोप-शम एवं भोगोप-भोग पढ़ना चाहिए। इस प्रकार और भी उपसर्ग एवं प्रत्ययों के उच्चारण के नियम आगे कहेंगे फिर भी इस दोष को दूर करने के लिए सूत्रों में हाईफन (-) लगाकर उसे उच्चारण योग्य बनाया है।

यदि स्वर-स्वर की सन्धि हो तो सन्धि स्वर का पहले उच्चारण होगा।

जैसे—स्वर्ग+अपवर्ग — स्वर्गा-पवर्ग।

कृत+अवकाश — कृताव-काश।

जीवित+आशाः — जीविता-शाः।

दावानल+अहि — दावानला-हि।

यदि सन्धि में व्यञ्जन; स्वर में जाकर मिला हो तो उस स्वर सहित व्यञ्जन का उच्चारण बाद में होता है।

जैसे—तरीतुम्+अलम्+अम्बुनिधिं — तरीतु-मल-मम्बु-निधिं

प्रभाणाम्+उद्घोतकं — प्रभाणा-मुद्घोतकं

वर्तिर्+अपवर्जित — वर्ति-रपवर्जित

इसके कुछ अपवाद नियम भी हैं।

जैसे—सदसद् को स-दसद् न कहकर सद-सद् पढ़ना, क्योंकि इसके सन्धि विश्लेषण में सद्+असद् पढ़ा जाता है। यदि स-दसद् पढ़ा जायेगा तो स का अर्थ सहित एवं दसद् का कोई अर्थ न होने से अनर्थ होता है। सद् अस्तित्ववाची है, अतः सद-सद् पढ़ते समय पहले सद को आराम से तथा दूसरे सद् को जल्दी बोलने से उच्चारण सही आ जाता है।

रेफ (र्) की मात्रा तीन प्रकार से लगती है। र् को रेफ कहते हैं।

(१) स्वर सन्धि में यदि र्, व्यञ्जन के पहले है तो रेफ (र्) ऊपर की ओर लगती है। जैसे—पूर्व, पर्व, पर्वत।

(२) व्यञ्जन सन्धि में यदि र्, व्यञ्जन के बाद है तो रेफ (र्) नीचे की ओर लगती है। जैसे—प्रेम, प्राची, प्रखर, व्रत।

(३) विसर्ग सन्धि के अनुसार रेफ (र्) का विसर्ग बन जाता है एवं विसर्ग का रेफ (र्) भी बन जाता है। जैसे—

**स्तोत्रैर्-जगत् को स्तोत्रैर्-जगत्
भूतैर्-गुणैर्-भुवि को भूतैर्-गुणैर्**

(८) इसी प्रकार भक्तामर में उच्चारण की सुविधा के लिये सन्धि स्थान में रेफ (र्) वाली मात्रा (र्) को र बनाकर लिख दिया है, क्योंकि (र्) का उच्चारण र ही होता है।

(९) प्राचीन समय की व्याकरण के नियम अनुसार रेफ (र्) से आक्रान्त वर्ण का द्वित्व विकल्प से होता है; ऐसा माना है, जैसे—धर्म को धर्म, अर्ध को अर्द्ध, चर्म को चर्म, शर्म को शर्म, स्पर्धक को स्पर्द्धक, वर्धमान को वर्द्धमान आदि लिखते थे, किन्तु अब इस का प्रचलन नहीं है। यदि किसी टीका या सूत्र में रेफ से आक्रान्त वर्ण पढ़ने में आवे तो अशुद्ध नहीं मानना।

(१०) विसर्ग (:) का उच्चारण कण्ठ से हूँ जैसा होता है। श्, ष्, स्; इन तीनों के विसर्ग भी होते हैं।

(११) सूत्रों में स्वराघात के कुछ अपवादित पद; जिन्हें बिना स्वराघात के नहीं बोला जा सकता है। जैसे—अवग्रह, अव्यय, अव्याबाध।

जैसे—व्यञ्जनस्यावग्रहः सूत्र को पढ़ना है, परन्तु इस सूत्र का सन्धि विग्रह—व्यञ्जनस्य-अवग्रहः है, अतः “अव” पद स्वराघात सहित पहले उच्चारण होता है, पुनः “ग्रहः” पद उच्चारण होता है।

सन्धि विग्रह को समझने से सूत्र के मूल पदों के सामान्य अर्थ समझ में आने लगते हैं एवं उन सूत्रों में कथित उनके भेद-प्रभेदों को गिनने में भी सरलता हो जाती है।

हिन्दी अनुवादक अब अनुनासिक (ँ) को, अनुस्वार (ं) लिखने लगे हैं। जैसे—यहाँ-वहाँ, जहाँ-कहाँ आदि को; यहाँ-वहाँ, जहाँ-कहाँ। मन्त्रों में ह्रीं को ह्रीं लिखते हैं जो अशुद्ध है।

सूत्रों के सन्धि विग्रह में मात्र स्वर सन्धि एवं विसर्ग सन्धि के विश्लेषण का ध्यान रखा है।

सोलह-सत्रह-सौ वर्ष से इन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ बनती आ रही हैं। कभी-कभी एक गलती भूल से एक प्रति में हो गयी; वही गलती दूसरी प्रतिलिपियों में आ जाती है। प्रतिलिपिकार भी यदि भाषा विज्ञानी नहीं हुए तो वही गलती दूसरी प्रतिलिपि में चलती रही है। जैसे—बन्ध को बंध।

व्यञ्जन को व्यंजन आदि; अधिकतम गलतियाँ ड्, ज्, न्, ण्, म् को अनुस्वार (ं) करके या विसर्ग या ह्रस्व-दीर्घ की भूल लिपिकारों से होती गयी, जिससे मूलसूत्र एवं टीकाओं में भी भूल होती रही, अतः अब पुनः कई प्राचीन प्रकाशित मूल ग्रन्थों से मूलसूत्रों का मिलान करके एक मूलसूत्र की पाण्डुलिपि तैयार की है, इसमें मुख्यरूप से जिन सम्पादकों के मूल ग्रन्थों की सहायता ली है, वे इस प्रकार हैं—

पूज्यपादाचार्य-कृत टीका आधारित ग्रन्थ

१. सर्वार्थसिद्धि मूल टीका — सम्पादक-कल्लप्पा भरमप्पा निटवे, कोल्हापुर; महाराष्ट्र।
प्रथमावृत्ति, शकाब्द-१८२५, भाद्रशुक्ला पञ्चमी-सन् १९०३।
द्वितीयावृत्ति, शकाब्द-१८३९, वैशाखशुक्ला पन्द्रस-सन् १९१७।
२. सर्वार्थसिद्धि मूल टीका — सम्पादक-जगरूपसहाय एड०, एटा (उ०प्र०); प्रथमावृत्ति-सन् १९२८।
३. सर्वार्थसिद्धि मूल टीका — सम्पादक-पं० वंशीधर, सोलापुर; तृतीय संस्करण-सन् १९३८।
४. सर्वार्थसिद्धि मूल टीका — सम्पादक-पं० जिनदासशास्त्री न्यायतीर्थ, सोलापुर;
तृतीय संस्करण-सन् १९३९।
५. सर्वार्थसिद्धि मूल टीका एवं हिन्दी टीका सहित — सम्पादक, पं० फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री;
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; प्रथम संस्करण-सन् १९५५।
६. सर्वार्थसिद्धि मूल एवं हिन्दी टीका सहित — गणिनी आर्यिका सुपाश्वर्मती माता जी;
प्रथम संस्करण-सन् २००७।

भट्टाकलङ्क-कृत टीका आधारित ग्रन्थ

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक मूल — सम्पादक-पं० गजाधरलाल जैन शास्त्री; प्रथमावृत्ति,
सम्पादक-सनातन जैन ग्रन्थमाला-सन् १९१५।
२. तत्त्वार्थ राजवार्तिक मूल — सम्पादक-पं० महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य;
सम्पादक-भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, नौवाँ संस्करण-सन् २०१२।
३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक मूल एवं हिन्दी टीका सहित — गणिनी आर्यिका सुपाश्वर्मती माता जी;
द्वितीय संस्करण-सन् २००७।

विद्यानन्दस्वामि-कृत टीका आधारित ग्रन्थ

१. श्लोकवार्तिकालङ्कार मूल — सम्पादक-पं० मनोहरलाल-न्यायशास्त्री;
प्रकाशक-श्री गांधीनाथारङ्ग-जैनग्रन्थमाला।
संस्करण प्रथम-सन् १९१८।
२. श्लोकवार्तिकालङ्कार मूल एवं हिन्दी टीका सहित — सम्पादक, पं० माणिकचन्द जी कौन्देय;
प्रकाशक-कुन्धुसागर ग्रन्थमाला; सोलापुर (महाराष्ट्र)
द्वितीय संस्करण-सन् २००४।
३. श्लोकवार्तिकालङ्कार मूल एवं हिन्दी टीका सहित — गणिनी आर्यिका सुपाश्वर्मती माता जी;
द्वितीय संस्करण-सन् २००७।

श्रुतसागरसूरि-कृत टीका आधारित ग्रन्थ

१. तत्त्वार्थवृत्ति मूल एवं हिन्दी टीका सहित — सम्पादक, पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य;
प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; द्वितीय संस्करण-सन् १९९९।
२. तत्त्वार्थवृत्ति मूल एवं हिन्दी टीका सहित — गणिनी आर्यिका सुपाश्वर्मती माता जी;
प्रथम संस्करण-सन् १९९२।

भास्करनन्दि आचार्य-कृत टीका आधारित ग्रन्थ

१. तत्त्वार्थवृत्ति मूल — सम्पादक-पं० ए० शान्तराज शास्त्री, मैसूर, प्रथम संस्करण-सन् १९४४।

२. तत्त्वार्थवृत्ति मूल एवं हिन्दी अनुवाद — आर्यिका जिनमती माता जी; प्रथम संस्करण-सन् १९९३।

भावों को भाषा के वस्त्र पहनाये जाते हैं, अतः भाषा बदल सकती है, लिपि बदल सकती है, अक्षरों के आकार-प्रकार बदल सकते हैं, किन्तु सिद्धान्त नहीं बदलते।

इस हिन्दी टीका में वाक्य विन्यास के लिए, अर्द्ध विराम (;); अल्प विराम (,); सेमी डेस (—); डेस (—) लगाकर शब्दों के अर्थ को स्पष्ट किया है, क्योंकि इन संकेतों (चिह्नों) के बिना; अर्थ का अनर्थ लग जाता है। जैसे-रोको; मत जाने दो। रोको मत; जाने दो। इस प्रकार कहें कि पल्य गड्ढे को कहते हैं। इससे अर्थ ध्वनित हो रहा है कि आगे पल्य गड्ढे के बारे में कहेंगे या बताया जायेगा, किन्तु इसका वाक्य विन्यास पल्य; गड्ढे को कहते हैं अर्थात् पल्य के बाद अर्द्ध विराम लगाने से अर्थ होता है कि पल्य; गड्ढे का नाम है। इसी प्रकार कुछ अर्द्ध विराम (;) के प्रयोगों को भी समझ लें। जैसे-हाँ; हमें ऐसा करना चाहिए। नहीं; हमें ऐसा नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार वाक्यों की समरसता के लिए—लेकिन, किन्तु, परन्तु, इसलिए; इन सबके पहले (,) अल्प विराम का प्रयोग किया जाता है।

जहाँ हम, तुम आदि से भेद हो; वहाँ अल्प विराम लगता है। जैसे-तुम यहीं रहो, हम जाते हैं।

और, फिर, पुनः, तो, जो, जब, तब, तथा, वा, अथवा, अन्यथा, यद्यपि, तथापि, या, एवं, अर्थात्; इनके आगे अर्द्ध विराम (;); अल्प विराम (,); पूर्ण विराम (।) आदि नहीं लगते हैं, ये पद अव्यय की तरह प्रयोग में लाये जाते हैं। जैसे-राम और श्याम जा रहे थे। जाओ फिर लौट आना। जब हम आये थे तब बादल नहीं थे। जब ऐसा हुआ था तब हम नहीं थे।

संख्यात्मक भेद-प्रभेदों के साथ अर्द्ध विराम का प्रयोग होता है, जिससे संख्या से वाक्यों का सम्बन्ध जुड़ा रहता है। जैसे-सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं—पहला; निसर्गज, दूसरा; अधिगमज। जैसे-(१) जीव; (२) अजीव; (३) आस्रव; (४) बन्ध; (५) संवर; (६) निर्जरा; (७) मोक्ष; इस प्रकार ये सात तत्त्व कहे हैं।

जिस प्रकार इन सब में अर्द्धविराम (;) का प्रयोग किया है, उसी प्रकार अन्य प्रसङ्गों में लगा लेना चाहिए।

एक पद को दो बार दुहराने में अथवा उनके समकक्ष युगलरूप होने से बीच में हाईफन (-) लगते हैं। जैसे-एक-एक करके आओ। आगे-आगे आओ। पीछे-पीछे आओ। आगे-पीछे आओ। एक-दूसरे से मिलकर रहो। अपने-अपने कार्य करो। कहीं-कहीं; संख्यात्मक भेद दिखलाने के लिए हाईफन लगाकर लिख देते हैं। जैसे-बार-२। पास-२। आगे-२।

समकक्ष या युगलरूप पदों में भी हाईफन (-) का प्रयोग करना चाहिए। जैसे-माता-पिता। पति-पत्नी। भाई-बहिन। जीजा-जीजी। साले-बहनोई। समधी-समधिन। अतिथि-अतिथि। मन्त्री-मन्त्री इत्यादि। मूलसूत्रों में या श्लोकों में जहाँ स्वर और व्यञ्जन वाले सन्धि विग्रह पद होते हैं, वहाँ भी हाईफन (-) लगाकर उसे उच्चारण करने योग्य बनाया है। जैसे-स्वर, व्यञ्जन सन्धि विग्रह में; तत्त्व-अर्थ श्रद्धानं सम्यक्-दर्शनम्। जैसे-तन्निर्गर्गा-दधिगमाद्-वा। जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षाः तत्त्वम्। इसी तरह मूल सूत्रों के उच्चारण में सन्धि विग्रह के स्थान पर हाईफन (-) चिह्न का प्रयोग किया है। विसर्ग सन्धि में रेफ एवं तीनों श्-ष्-स् को विसर्ग बना दिये हैं।

इस संस्करण में मूल सूत्रों में से हाईफन (-) हटा लिये हैं, जिससे मूल सूत्र सुरक्षित रहें।
 फुल डैश (—) के प्रयोग का मतलब; “अर्थात्” आगे की सूचना ! आगे का सूत्र कहते हैं—
 उन्होंने इस ग्रन्थ में ऐसा कहा है—
 आगे ऐसा कहते हैं कि—

पूर्ण विराम (।) जहाँ वाक्य; भेद-उपभेद के साथ पूर्ण होता हो वहाँ पूर्ण विराम (।) लगता है।
 दृष्टान्त के पूर्ण होने पर पूर्ण विराम करके; दृष्टान्त प्रारम्भ करना चाहिए अथवा दृष्टान्त के पूर्ण करने पर पूर्ण विराम करके दृष्टान्त प्रारम्भ करें। **जैसे**—जिस प्रकार यह है। उसी प्रकार यह है।

पैराग्राफ—विषयों को छोटे-छोटे विभाग में विभाजित करने से पढ़ने में सरलता होती है एवं उसके अर्थ भी बोधगम्य हो जाते हैं, अतः पैराग्राफ में विषयों को विभाजित अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न वाचक (?) चिह्न; क्यों, कैसे, कब, किसलिए, कहाँ, किधर; इन पदों के साथ प्रश्न वाचक (?) चिह्न लगता है। **जैसे**—ऐसा क्यों होता है ? ऐसे कैसे हुआ ?

सम्बोधन (!) चिह्न; हे, हो, भो, ओ, अरे आदि पदों के साथ लगता है। **जैसे**—हे राम !, हे स्वामिन् !, अरे ! यहाँ आओ।

लिये-लिए, गये-गए, जायें-जावें आदि क्रियात्मक पद हैं, यथासम्भव दोनों चल सकते हैं, किन्तु लिपि की एकात्मता बनी रहे, अतः जो क्रिया पद एक बार में लिखा हो उसी का प्रयोग आगे करते रहें। **जैसे**—इसलिए लिखें तो हर जगह यही लिखें। इसलिये लिखें तो हर जगह यही लिखें।

है और हैं के प्रयोग में भी भूल होती है। **जैसे**—जाते है, जाता हैं, परन्तु जहाँ पर एक वचनान्त हो वहाँ “है” लिखा जाता है। **जैसे**—वह जाता है, वह आता है, खाता है, पीता है, वह है, यह है आदि। जहाँ बहुवचनान्त या सम्मान रूप पद हो वहाँ “हैं” लिखा जाता है। **जैसे**—आप जाते हैं, वे आते हैं, खाते हैं, पीते हैं, कहते हैं, वे हैं, ये हैं आदि।

आज-कल बड़े शब्दों को संक्षिप्त में लिखने एवं बोलने की परम्परा प्रारम्भ हो गई है। **जैसे**—भारतीय जनता पार्टी को भाजपा या बी.जे.पी., उत्तरप्रदेश को उ०प्र०, डॉक्टर प्रकाशचन्द्र को डॉ० पी.सी. लिख देते हैं या बोल देते हैं।

इस सन्दर्भ में मूल बात यह है कि शून्य (०) एवं डॉट (.) का चिह्न लिखते समय, यदि हम बी.जे.पी. को बी०जे०पी०, उ०प्र० को उ.प्र., डॉ० पी.सी. को डॉ.पी०सी० लिखते हैं तो अशुद्ध है; कारण कि शून्य और डॉट लिखने और पढ़ने के; फुलफॉर्म एवं शॉर्टफॉर्म के चिह्न या संकेत हैं।

जैसे—उत्तरप्रदेश को हम शॉर्टफॉर्म उ०प्र० लिखते हैं तब हम उसे पढ़ते समय फुलफॉर्म उत्तरप्रदेश ही पढ़ते हैं।

जैसे—डॉक्टर को शॉर्टफॉर्म डॉ० लिखते हैं फिर भी हम उसे पढ़ने में फुलफॉर्म डॉक्टर ही पढ़ते हैं, अतः लिखते और पढ़ते समय शॉर्टफॉर्म का चिह्न (.) डॉट कहाँ लगता है एवं शॉर्टफॉर्म में फुलफॉर्म का चिह्न (०) शून्य कहाँ लगता है, इन संकेतों को ध्यान में अवश्य रखना चाहिए।

भावों को भाषा के वस्त्र पहनाये जाते हैं। व्याकरण; भाषा की शृङ्गारदानी है।

इन सब नियमों को पढ़ने के बाद; तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ने-सीखने की कोशिश करें, शायद आप तत्त्वार्थसूत्र के रहस्य को समझ सकें।

जैसे—आप किसी दावत में जीमने जाते हैं। दावत में तरह-तरह के व्यञ्जन-पकवान रखे होते हैं, किन्तु आप; अपनी अनुकूलता-क्षमता देखकर ही भोजन ग्रहण करते हैं; बाकी के विकल्प छोड़ देते हैं।

उसी प्रकार इस “अनुत्तर जिज्ञासा” टीका को आप; अपनी रुचि के अनुसार पढ़ें; बाकी के विकल्प छोड़ दें।

आचार्य भगवन्तों ने तीन प्रकार के जिज्ञासु शिष्य कहे हैं—(१) संक्षेप रुचि; (२) मध्यम रुचि; (३) विस्तार रुचि। हमने तीनों प्रकार के जिज्ञासु शिष्यों को दृष्टि में रखकर इस “अनुत्तर जिज्ञासा” टीका का सम्पादन किया है।

(१) संक्षेप रुचि जिज्ञासु शिष्य के लिए—उसे मात्र मूलसूत्र की जिज्ञासा, मूलसूत्र, मूलसूत्र का उच्चारण एवं सन्धि विग्रह; कम से कम तीन-तीन बार पढ़ना चाहिए; बाकी सूत्रार्थ, लब्धार्थ, विशेषार्थ छोड़ देना चाहिए। सूत्र उच्चारण; अल्पविराम (काँमा) को ध्यान में रखकर, धीमी गति के समाचार जैसा पढ़ें।

(२) मध्यम रुचि शिष्य के लिए—उसे पूर्वोक्त मूलसूत्र की जिज्ञासा, मूलसूत्र, मूलसूत्र उच्चारण, सन्धि विग्रह के साथ ही सूत्रार्थ एवं लब्धार्थ तक तीन-तीन बार पढ़ना चाहिए; बाकी विशेषार्थ छोड़ देना चाहिए।

(३) विस्तार रुचि शिष्य के लिए—पूर्वोक्त मूलसूत्र की जिज्ञासा से लेकर विशेषार्थ-विशेष आदि पूरा-पूरा पढ़ना चाहिए। इस तरह पढ़ने से तत्त्वार्थसूत्र सरलता से समझ में आ सकता है।

हमने जो भी प्रमाण; आचार्य प्रणीत आगम से लिए हैं, उनके मूल प्रमाण मूल ग्रन्थ में ही हैं, उनके अर्थ यहाँ यथास्थान दिए हैं, क्योंकि जलते हुए दीपक को; जलते हुए दीपक का प्रमाण नहीं चाहिए। एक दर्पण को देखने के लिए; दूसरे दर्पण की जरूरत नहीं है; श्रद्धा-समर्पण की जरूरत है।

विशेष-व्यक्तिगत स्वाध्याय में, शिविरों में, वाचनाओं में, संघों में सीखने-सिखाने की सरलतम विधि है। यदि इस विधि से तत्त्वार्थसूत्र पढ़ा जाए तो अवश्य ही हम तत्त्व निर्णय तक पहुँच सकते हैं।

सन् १९९८ की बात है, श्रीसम्मदशिखर जी में संघ का वर्षायोग हो रहा था, एक दिन अचानक एक विद्वान्-पण्डित; आरा-बिहार से आचार्यश्री भरतसागर जी एवं आर्यिका स्याद्धादमती माता जी के दर्शनार्थ आए। आचार्यश्री ने उनका परिचय डॉ० विश्वनाथ चौधरी के रूप में हमसे कराया; प्राथमिक परिचय से इतना लगा कि आप सत्य के प्रति जिज्ञासु हैं—तत्त्व की खोज में हैं।

इसी वर्ष आपको आचार्यश्री के आदेश से गिरिडीह-बिहार में दशलक्षण पर्व पर प्रवचन करने का अवसर प्राप्त हुआ, जिससे आपको तत्त्वार्थसूत्र आदि की मौलिकता का आभास हुआ। यदि आपको कोई जिज्ञासा होती तो आप वहाँ से आकर हमसे पूछ लेते।

सन् १९९९ का वर्षायोग हजारीबाग में हुआ, अच्छी प्रभावना रही। वर्षायोग बाद; झूमरीतलैया-कोडरमा की ओर विहार हुआ। झूमरीतलैया में लगभग पन्द्रह दिन का प्रवास रहा, इसी प्रवास में डॉ० विश्वनाथ चौधरी अपनी धर्म पत्नी डॉ० मंजुबाला चौधरी एवं लघु बालिका खुशबू के साथ धर्मलाभ लेने आ पहुँचे।

चौधरी जी भूमिहार ब्राह्मण हैं, किन्तु आप पावापुरी-सिद्धक्षेत्र में स्थापित; वर्द्धमान-महावीर महाविद्यालय में प्राकृत विभागाध्यक्ष रहे, तदनन्तर हरप्रसाददास जैन महाविद्यालय, आरा; स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैन शास्त्र विभागाध्यक्ष, वीर कु० सिंह विश्वविद्यालय, आरा-भोजपुर, बिहार में शिक्षक हैं एवं

डॉ० श्रीमती मंजुबाला प्राध्यापक प्राकृत; विभाग प्राकृत एवं जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली-बिहार में हैं। आप दोनों जिज्ञासु भव्यात्माओं को जैन धर्म की प्रारम्भिक जानकारी तो है ही, किन्तु विशेष जिज्ञासाओं के समाधान से उनकी आस्था जैन तत्त्वों के प्रति अधिक स्थिर हो गयी।

यहीं से योग बना तत्त्वार्थसूत्र पर कुछ लिखने का। डॉ० चौधरी ने लगभग तीन अध्यायों का अध्ययन जिज्ञासा-समाधान के रूप में समझ कर उसे लिपिबद्ध किया।

इसी बीच संघ का लम्बा विहार एवं स्थान की दूरियाँ बढ़ती चली गयी फिर भी डॉ० चौधरी हर वर्ष सपरिवार धार्मिक कार्यों में आने लगे, किन्तु आगे लिखने-पढ़ने का योग नहीं बना।

सन् २००१ का वर्षायोग सोनीपत-हरियाणा में हुआ। इस वर्षायोग में संस्कृत के श्रेष्ठ विद्वान् एवं संस्कृत गर्ल्स कॉलेज के शिक्षक; डॉ० सुभाषचन्द्र सचदेवा से परिचय हुआ। आप हिन्दुधर्म के उच्चकोटि के विद्वान् होते हुए भी; श्वेताम्बर साहित्य से पी.एच.डी. की है। उनकी विशेष जिज्ञासा; दिगम्बर जैन आगम साहित्य के ऊपर डी.लिट्. करने की है, अतः उन्होंने डी.लिट्. विषय के योग्य सामग्री का संकलन कर भी लिया है, किन्तु सहयोग नहीं बन पाया फिर भी आप धर्म की जिज्ञासाओं के प्रति पुरुषार्थरत हैं। आप प्रतिवर्ष संघ में यथासमय आते रहते हैं एवं गूढ़ शङ्काओं के समाधान करते रहते हैं। संघसेवक पण्डित महेन्द्रकुमार जी “हाथीबाबा” (इटावा) तत्त्व जिज्ञासु हैं, उनसे हमें अनुभव मिला। डॉ० डी.सी. जैन, ग्रीनपार्क नई दिल्ली; तत्त्वों की वैज्ञानिक व्याख्या पर जोर देते हैं। अमित जैन “जिज्ञासु” मैनपुरी (उ०प्र०) ने संघ में रहकर तीन वर्षों तक अध्ययन किया। पं० ब्र० धर्मचन्द्र शास्त्री; अष्टापद तीर्थ (हरि०) साहित्य उपलब्ध कराने में मदद करते हैं। चन्द्रा कापी हाऊस आगरा; जिन्होंने शास्त्र-साहित्य प्रकाशन में तन-मन धन का सहयोग दिया, सभी अनन्त आशीष के पात्र हैं।

समय बीतता गया, सन् २००६ का वर्षायोग श्रवणबेलगोला में हुआ। कर्मयोगी चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी जी के सान्निध्य में सर्वार्थसिद्धि एवं समयसार की वाचना का आयोजन रखा गया। सर्वार्थसिद्धि के कई प्रसङ्गों को स्वामी जी ने खोला और हमने भी अपना चिन्तन प्रसङ्गानुसार स्वामी जी के सामने प्रस्तुत किया, जिससे स्वामी जी को लगा कि मुनिश्री के पास कुछ चिन्तन है, जिज्ञासा है। चारुकीर्ति जी ने हमें प्रेरणा दी और कहा कि महाराजश्री ! आज तक हमने; असंयमी पण्डित-विद्वानों की हिन्दी टीकाओं को पढ़ा है, आप जैसे मुनिराजों को अनुभव पूर्ण टीकायें लिखना चाहिए। हमने अपनी असमर्थता प्रकट की, किन्तु जब भी प्रसङ्ग मिलता वे पुनः हिन्दी टीका लिखने की प्रेरणा देते रहते।

वर्षायोग के बाद श्रवणबेलगोला से तामिलनाडु की यात्रा, पुनः श्रवणबेलगोला होते हुए धर्मस्थल महामस्तकाभिषेक के बाद दक्षिण जैन काशी फलटण-महाराष्ट्र में सन् २००७ का वर्षायोग हुआ।

फलटण के आदिनाथ जिनालय में एक दिन शास्त्र भण्डार सम्भाल रहे थे कि अमृतचन्द्राचार्य विरचित तत्त्वार्थसार की एक जीर्णशीर्ण प्राचीन प्रति प्राप्त हुयी। हमने उसे आद्योपान्त पढ़ा और संशोधित करके कम्प्यूटर द्वारा प्रतिलिपि तैयार करा ली।

सन् १९९६ से संघ से जुड़े वास्ट जैन फाउण्डेशन, कानपुर (उ०प्र०) के पदाधिकारी दर्शनार्थ फलटण आए, जब उन्होंने उस पाण्डुलिपि को देखा तब कहने लगे कि इस टीका को तो भारतीय ज्ञानपीठ; दिल्ली से प्रकाशित कराना चाहिए। हमने इसके प्रकाशन की जिम्मेदारी वास्ट जैन फाउण्डेशन, कानपुर वालों

पर डाल दी। उन्होंने इसके प्रकाशन की व्यवस्था की एवं सन् २०१०; हस्तिनापुर में गणिनी प्रमुख आर्थिका ज्ञानमती माता जी के संसंध सान्निध्य में प्रभावना पूर्ण विमोचन हुआ। अभी तक तत्त्वार्थसार के तीन-चार संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुके हैं।

तत्त्वार्थसार प्रकाशन के बाद पुनः सर्वार्थसिद्धि पर काम करने का विचार किया, किन्तु विहार एवं शारीरिक प्रतिकूलताओं के कारण अपने साहित्य लेखन-प्रकाशन पर गतिरोध हो गया, किन्तु इसी बीच कुछ ब्र० भाइयों के साथ समन्तभद्राचार्य के बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र; प्रभाचन्द्राचार्य की टीका सहित प्रूफरीडिंग करने का सौभाग्य मिला, जिससे संस्कृत एवं हिन्दी के पाठ भेदों एवं अर्थों को समझने का अवसर मिला।

सन् २०१३ में टूण्डला चौराहा-फिरोजाबाद के श्रीपार्श्वनाथ जिनालय में रुके हुए थे, संघ की अध्ययन सामग्री में डॉ० चौधरी द्वारा लिखित पुरानी फाइल जिज्ञासा-समाधान के पृष्ठ मिल गए और हमने संकल्पित होकर माघ-शुक्ला पञ्चमी से “अनुत्तर जिज्ञासा” नाम से टीका लिखनी शुरू की; जो छह माह दो दिन में श्रावण-शुक्ला सप्तमी के दिन पूर्ण हुयी।

इस “अनुत्तर जिज्ञासा” के चिन्तन पूर्ण प्रसङ्गों को जिनने भी सुना; उन सभी ने इसके प्रकाशन में स्वेच्छा से, निर्निम-उदार दानदाता बनकर सहयोग दिया।

आकारण बन्धु; संघसेवक आलोककुमार जैन (फिरोजाबाद), मुकेश जैन, राजु जैन-सोनीपत (हरि०), मनोज कुमार एवं उनकी धर्म पत्नी श्रीमती दीप्ति जैन-लखनऊ (उ०प्र०), अध्ययन योग्य सामग्री जुटा देते हैं। संघस्थ सभी साधुवृन्द-मुनि, त्यागीव्रती, विशेषरूप से बाल ब्र० सुनील भैया जी, जगत कल्याणी जिनवाणी-सरस्वती माँ का सहयोग रहा।

इस ग्रन्थ के लेखन में अनेकानेक अनुभव देने वाले अनेक ग्रन्थों के प्रमाण एवं चिन्तन; इसमें समाहित किए गए हैं, हम उनके रचयिताओं एवं लेखकों का अन्तरङ्ग से कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

इसकी कम्पोजिंग, वर्ड्समान कम्प्यूटर्स, फिरोजाबाद (उ०प्र०) के माध्यम से हरेन्द्रकुमार शर्मा उर्फ शीटू भरतेशपुरम-शिकोहाबाद द्वारा की गई है।

इसका प्रकाशन श्रीधर्मश्रुत शोध संस्थान, श्रीदिगम्बर जैन रत्नत्रय मन्दिर, नसिया जी, कोटला रोड, फिरोजाबाद (उ०प्र०) द्वारा किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ के दानदाता, प्रकाशक एवं मुद्रक सभी अनन्त आशीर्वाद के पात्र हैं।

३-१०-२०१४

ॐ नमः

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम संस्करण में भी सिद्धान्त एवं व्याकरण सम्बन्धी कुछ भूलें होने से अशुद्धियाँ रह गई थीं, अतः इस संस्करण को कुछ ब्रह्मचारी भाइयों के सहयोग से ब्र० अशोक जैन “श्रीमद्-राजचन्द्र” आश्रम-अगास, डिस्केन कम्प्यूटर्स, आणंद-गुजरात ने सम्पादकीय विधा में व्यवस्थित सेटिंग की है, वे धन्यवाद के पात्र हैं “को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे”।

प्रस्तावना

आज तक हम सबने क्या-क्या नहीं सुना है ! राजा-रानियों की कहानियाँ सुनी हैं, सेठ-सेठानियों की कहानियाँ सुनी हैं, पशु-पक्षियों की कहानियाँ सुनी हैं और भी न जाने कितनी, किन-किन की कहानियों को सुना है ? तभी तो आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने आध्यात्मिक ग्रन्थ 'समयसार' में कहा है—

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि कामभोगबन्धकहा ।

एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

इस समस्त जीवलोक को कामभोग विषयक बन्ध की कथा, एकत्व के विरुद्ध होने से आत्मा का अत्यन्त अहित करने वाली है, ऐसा जानते हुए भी इस जीव ने उस काम (स्पर्शन-रसना सम्बन्धी) तथा भोग (घ्राण-चक्षु-कर्ण सम्बन्धी) बन्ध की कुकथा को एवं चारों संज्ञाओं से संस्कारित चारों विकथाओं को अनादिकाल से एक बार नहीं—अनन्तबार बड़ी रुचि एवं लगन से सुना-श्रवण किया। इन्हीं विषयों की जिज्ञासा होने से इनका अनन्तबार परिचय-ज्ञान लिया। जैसा ज्ञान वैसा ही चारित्र के द्वारा अनुभव करने को ये जीव अनन्तबार पुरुषार्थ करने में लगे रहते हैं।

इसी कारण से समस्त संसारी प्राणी संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पञ्च परावर्तनरूप अनन्त संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं।

मोहरूपी महाबलवान् पिशाच; जो इस समस्त लोक को अपने एक छत्र राज्य से अपने वश करके बैल की भाँति जोतकर कर्मरूपी भार को जीव के द्वारा जबर्दस्ती वहन करवाता है।

अत्यन्त वेगवान् तृष्णारूपी रोग की दाह से सन्तप्त होने पर जिसके अन्तरङ्ग में क्षोभ और पीड़ा है ऐसा मृग; मृगमरीचिका के वशीभूत होकर मरुस्थल में भटकता है। उसी प्रकार यह जीव; मृगतृष्णा के समान श्रान्तसन्तप्त होकर पञ्चेन्द्रिय-विषयों की ओर तीव्रगति से दौड़ रहा है।

यदि कथञ्चित् कोई जीव; किसी कारण से संसार के विषयभोगों की कुकथा से चारुदत्त के समान अजान-उदासीन भी होता है तो अन्य दूसरे विषयासक्त जीव; उसे पञ्चेन्द्रिय-विषयों की शिक्षा देकर अपना आचार्यत्व प्रकट करते हैं, एक-दूसरे को सिखाते हैं, समझाते हैं, प्रेरणा देते हैं, इसलिए काम-भोग सम्बन्धी बन्ध की कथा सभी भोगाभिलाषियों के लिए अत्यन्त सुलभ है।

आज के भौतिकता के समय में भी प्रत्यक्ष-अनुभव में आ रहा है कि काम-विकारों को बढ़ाने वाले भौतिक सुख-साधन घर-घर में कितने सुलभ हैं। सुबह से अखबार, टी. वी., नेट, मैग्जीन आदि से जीवनचर्या प्रारम्भ होकर रात्रि में विश्राम तक इन्हीं का अवलम्बन लिए हुए हैं।

अपने ही निर्मल भेद-विज्ञानरूपी ज्योति से स्पष्ट दिखाई देने वाली एकत्व-विभक्त आत्मा यद्यपि सदा अन्तरङ्ग में प्रकटरूप से प्रकाशमान है तो भी वह कषायचक्र के साथ एकरूप किए जाने से अपने सच्चे स्वरूप को पहचानता नहीं है और जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानते हैं, उनकी सङ्गति-सेवा नहीं करते। यह तो लोकप्रसिद्ध है कि डॉक्टर, मास्टर, वकील, इंजीनियर, व्यापारी, जौहरी आदि बनना हो तो यथाक्रम से योग्य पदवालों के नीचे रहकर सङ्गति-अभ्यास करना होता है।

उसी प्रकार यदि अध्यात्म को समझना है तो जिन्होंने अध्यात्म जिया है, पिया है, जीवन में उतारा है, उनकी सङ्गति करने से उस आत्मतत्त्व के गूढ़तम रहस्य समझ में आ सकते हैं अन्यथा उस एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा को; न हमने कभी सुना-श्रवण किया, न कभी परिचय-ज्ञान किया, न कभी अनुभवरूप आचरण किया, क्योंकि जब एकत्व-विभक्त आत्मा की सुकथा सुनाने-बताने वाले सुलभ होते हैं तब उनसे जानने-सुनने वाले दुर्लभ होते हैं और जब जानने-सुनने वाले सुलभ होते हैं तब बताने-सुनाने वाले दुर्लभ होते हैं, अतः आत्मा की एकत्व-विभक्त सुकथा अत्यन्त दुर्लभ है।^१

इस आत्मा का अस्तित्व कब से है ? कैसा है ? कहाँ है ? कब तक है ? इसके अस्तित्व का विकासक्रम क्या है ? इत्यादिक प्रश्न मन में जन्म अवश्य लेते हैं—

कौन थे ? क्या हो गये ? और क्या होंगे अभी ?

आओ यहाँ सब बैठकर इस बात को सोचें सभी ।

इस जीव का अनादि निवासस्थान निगोद है । निगोद के दो भेद हैं—नित्यनिगोद और इतरनिगोद । जो जीव; नित्यनिगोद से निकलकर संसार की त्रसादि पर्यायों को पञ्च-परावर्तनरूप काल से व्यतीत करके पुनः निगोद में जाता है, उसे इतरनिगोद कहते हैं।^२

नित्यनिगोद सातवें नरक के नीचे कलकल नामक पृथ्वी में है, जहाँ उनका निवासस्थान है । अनन्त स्कन्धों के समूह में से ‘एक स्कन्ध’ में असंख्यात लोकप्रमाण ‘अण्डर’ होते हैं । उनमें से ‘एक अण्डर’ में असंख्यात लोकप्रमाण ‘आवास’ होते हैं । उनमें से ‘एक आवास’ में असंख्यात लोकप्रमाण ‘पुलवि’ होती हैं । उनमें से ‘एक पुलवि’ में असंख्यात लोकप्रमाण ‘निगोद शरीर’ होते हैं । उनमें से ‘एक निगोद शरीर’ में ‘अनन्तानन्त निगोद जीवों’ का अवस्थान पाया जाता है । वहाँ पर एक निगोद शरीर के अनन्त जीवों का सामूहिकरूप से एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण होता है।^३

इन्हीं नित्यनिगोदिया जीवों में से छह महीने आठ समय में छह-सौ आठ जीव निकलकर संसार की व्यवहार राशि में आते हैं एवं इतने ही समय में छह-सौ आठ जीव संसार की व्यवहार राशि से निकलकर मोक्ष चले जाते हैं, जिससे संसारी जीवों की व्यवहार राशि बराबर बनी रहती है ।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यह जीव; नित्यनिगोद से निकलकर व्यवहार राशि में कैसे आता है ?

इस प्रश्न का एक उत्तर हमेशा विद्वानों द्वारा दिया जाता रहा है । जैसे—कोई एक भड़भूँजा (चना फोड़ने वाला) जब भाड़ भूँजता है तब कोई विरला चने का दाना भाड़ से उचटकर भाड़ के बाहर आ जाता है । वैसे ही नित्यनिगोद से जीव निकलकर व्यवहार राशि में आ जाता है ।

इस दृष्टान्त में भाड़ से उचटकर बाहर निकलने वाले चने की प्रवृत्ति का विश्लेषण करना अत्यन्त आवश्यक है कि यह चने का दाना भाड़ से उचटकर बाहर कैसे आया ? कौन-सा निमित्त है ? कौन-सी पात्रता उस चने को भाड़ से बाहर निकालने में सहायक होती है ?

जब चनों को भाड़ में भूँजते हैं तब उसके पहले उन चनों को पानी में भिगोकर फुलाते हैं फिर भाड़ में भूँजते हैं । भाड़ में भूँजते समय भट्टी की गर्मी से गीले चनों के दानों में वाष्प का निर्माण होता है । जिस

चने के दाने में एक निश्चित अनुपात में वाष्प बन जाती है, वह वाष्प विस्फोट करती है। यदि वह चने का दाना भाड़ में नीचे की तरफ हो तो वहीं फूटकर नीचे ही रह जाता है, लेकिन भाड़ की ऊपर की सतह पर हो तब विस्फोट के कारण भाड़ से उचटकर बाहर निकल आता है।

ठीक इसी प्रकार से नित्यनिगोदिया जीव; निगोद से निकलकर व्यवहार राशि में आते हैं। इस प्रक्रिया में नित्यनिगोद से निकलने का कारण जघन्य कापोत लेश्या के आठ मध्यम अंश के परिणाम कहे हैं, क्योंकि नित्यनिगोदिया जीवों के जघन्य कापोत लेश्या होती है और उसमें भी उस लेश्या के असंख्यात परिणाम होते हैं।^४

“कषायोदयरज्जिता योगप्रवृत्तिः लेश्याः”^५ जैसे—गर्मी और पानी के संयोग से वाष्प बनती है। वैसे ही कषाय से प्रभावित योगों में जो परिवर्तन आता है, उसे लेश्या कहा जाता है।

जिस प्रकार से भाड़ के चने को भाड़ से बाहर उचटाने में वाष्प कारण है, उसी प्रकार जघन्य कापोत लेश्या के महत्त्वपूर्ण आठ मध्यम अंश इस जीव को नित्यनिगोद से बाहर निकालने तथा व्यवहार राशि में लाने के लिए कारण हैं, अतः इस जीव का नित्यनिगोद से व्यवहार राशि में आना अत्यन्त कठिन है।

एक निगोदशरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से सम्पूर्ण लोक भरा हुआ है, अतः इस लोक में त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना दुर्लभ है, जितना कि बालुका के समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिकता (हीरा) की कणिका का प्राप्त होना दुर्लभ है। उसमें भी विकलेन्द्रिय जीवों की बहुलता होने के कारण गुणों में जिस प्रकार कृतज्ञता का गुण प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है, उसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना अति कठिन है। उसमें भी पशु, मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यज्चों की बहुलता होती है, इसलिए जिस प्रकार चौपथ पर रत्नराशि का प्राप्त होना अतिकठिन है, उसी प्रकार मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना भी अतिकठिन है।

मनुष्य पर्याय के मिलने के बाद उसके च्युत हो जाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति होना उतना ही कठिन है, जितना कि जले हुए वृक्ष के पुद्गलों का पुनः उस वृक्ष पर्यायरूप से उत्पन्न होना कठिन है। कदाचित् पुनः इसकी प्राप्ति हो जावे तो देश, कुल, इन्द्रियसम्पत् और नीरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति न हो तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ होता है, उसी प्रकार मनुष्य-जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है। इस प्रकार अतिकठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्त कर विषय-सुख में रमना भस्म के लिए चन्दन को जलाने के समान निष्फल है। कदाचित् विषयसुख से विरक्त हुआ तो भी इसके लिए तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुखपूर्वक मरणरूप समाधि का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है, ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभ भावना है। इस प्रकार का विचार करने वाले जीव को बोधि प्राप्त करने के बाद कभी प्रमाद नहीं होता है।^६

जिस प्रकार नित्यनिगोद से निकलकर यह जीव अत्यन्त कठिनता से त्रसादि पर्यायों को प्राप्त कर मनुष्य पर्याय की पूर्णता को प्राप्त करता है, उसी प्रकार हमारा तो सोचना यह है कि उससे भी अधिक कठिन इन सबकी प्राप्ति की दुर्लभता का श्रद्धान-ज्ञान का होना है कि हमें यह मनुष्य पर्याय कितनी कठिनता, दुर्लभता से मिली है, इसलिए इस भावना का नाम बोधिदुर्लभ भावना रखा गया है।

विश्व के हर मजहब, संस्कृति, धर्म-सम्प्रदाय में इस मनुष्य पर्याय की महिमा का महत्त्व बताया गया है। मानव-देह को अमूल्य-रत्न की उपाधि से मण्डित किया गया है—

“नर तन रतन अमोल इसे पानी में मत डालो।”

“बड़े भाग मानुस तन पावा, सुर दुर्लभ सब ग्रन्थनि गावा।”

यहाँ तक कि अध्यात्म की चर्चा करने वाले भी इस मनुष्य देह की महिमा का वर्णन करते हैं—

“बहु पुण्य पुज्ज प्रसङ्ग से शुभ देह मानव का मिला।

तो भी अरे ! भवचक्र का फेरा न एक कभी टला ॥^७”

ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने वाले ईश्वरवादी भी मनुष्य को ईश्वर की अमूल्य-अनुपम कृति मानते हैं, अतः यह तो सर्वसम्मत, सत्य एवं निर्विवाद सिद्ध है कि मनुष्य-जीवन अत्यन्त दुर्लभ एवं सर्वश्रेष्ठ है।

क्या हम सबने कभी इस बात पर दृष्टिपात किया कि आखिर चौरासी लाख योनियों में से मनुष्य योनि का जीवन ही सर्वश्रेष्ठ क्यों है ?

(१) कोई कहता है कि मनुष्य जीवन में धन-वैभव, वस्त्रालङ्कार, भोग-उपभोग आदि के द्वारा आनन्द-सुख की अनुभूति होती है अथवा “खाओ-पीओ मौज करो”, इस संसार में इन इन्द्रियसुख को भोगने के लिए ही जन्मे हैं। भौतिक सुखों से ही मनुष्य-जीवन का मूल्य है, इसी से मनुष्य जीवन की महानता है।

(२) कोई कहता है कि मनुष्य-जीवन से मात्र दान-पूजा, व्रत-तप, प्रार्थना-ईशाराधना कर देवत्व पदवी या कुछ लौकिक-अलौकिक शक्तियों का संग्रह किया जा सकता है, अतः मनुष्य-जीवन श्रेष्ठ है।

(३) कोई कहता है कि इस मनुष्य भव से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः यह मनुष्य जन्म कीमती है, श्रेष्ठ है, उत्तम है।

प्रथम कथन के समाधान में हम सबका यह प्रश्न है कि आज तक कोई मनुष्य इस संसार में धन-वैभव आदि के आनन्द से कभी तृप्त हुआ है क्या ? “मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की”। भोगों की आनन्द-आकांक्षाओं ने अनेक रोग-शोक-रोष एवं विसंवादों को ही जन्म दिया है, अतः अनेक महापुरुष इस धन-वैभव के स्वरूप को अच्छी तरह जान-समझकर वैरागी हुए हैं, अतः इस धन-वैभव आदि से मनुष्य जीवन की सार्थकता सिद्ध नहीं होती है।

द्वितीय धारणा से भी यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य पर्याय से मात्र देव पदवी की साधना करना कौन-सी महानता है ? क्योंकि स्वर्गों के देव भी पुनः इस मनुष्य जन्म की कामना करते हैं, अतः देव पदवी, स्वर्गों की चाह भी मनुष्य के लिए आधी-अधूरी है।

तृतीय अवधारणानुसार यदि कोई यह कहता है कि मनुष्य भव से मोक्ष की प्राप्ति होती है तो हर कोई व्यक्ति मोक्ष पद का अभिलाषी क्यों नहीं है ? तब मनुष्य भव का महत्त्व, उसकी महानता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ?

अब हम सूक्ष्मरीति से चिन्तन-मनन-विचार करते हैं कि मनुष्य पर्याय की महानता क्यों है ? संसार के समस्त प्राणियों में मनुष्य जाति का प्राणी ही एक ऐसा प्राणी है जो संसार की चर-अचर, जड़-चेतन आदि समस्त वस्तु-पदार्थों का मूल्य, उनकी उपयोगिता समझता है। परमाणु से लेकर परमात्मा और पशु

से लेकर महात्मा, इन सबका मूल्यांकन करने वाला मनुष्य ही होता है। बस; इस क्रम में भूल इतनी-सी है कि जो मनुष्य इन सबकी कीमत-मूल्य रखता है, वह स्वयं में अपनी यथार्थ कीमत भूला हुआ है। यदि यह मनुष्य अपनी कुछ कीमत करता भी है तो सांसारिक, तुच्छ, भौतिक, विनाशीक सुख-साधनों से अपनी कीमत जोड़कर अपनी अमूल्यता को व्यर्थ कर देता है।

कुछ आत्मप्रवादी; मात्र आत्मा के श्रद्धान-गुणानुवाद को ही श्रेष्ठ मानकर मनुष्य पर्याय का विपर्यास करते हैं, मनुष्यदेह को आत्म-साधना में व्यर्थ समझते हैं। वे कहते हैं कि अनुभव में मात्र चैतन्य आना इतना ही श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है।

इसके समाधान में तो इतना ही कहना है कि विश्व में आत्मा का श्रद्धान (अस्तित्व) तो नास्तिक के अतिरिक्त सभी धर्म (मत) वाले मानते हैं, अतः सभी आत्मार्थी; सम्यक्त्वी सिद्ध हो जावेंगे, अतः सर्वज्ञ की वाणी में जैसा आत्मा का पूर्ण स्वरूप कहा है, वैसा श्रद्धान होने से निश्चय सम्यक्त्व होता है।^८

इतने पर भी यदि कोई कहता है कि आत्मा की महिमा गाना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि आत्मा को ही मोक्ष जाना है, इस शरीर को नहीं, अतः इसमें मनुष्य जीवन का कोई मूल्य नहीं है ?

यदि आत्मा के मोक्ष जाने में मनुष्य पर्याय का कोई महत्त्व नहीं है तब तो आत्मा को निगोद पर्याय से ही मोक्ष चला जाना चाहिए, क्योंकि निगोद जीव के सबसे कम कर्मों की प्रकृति, प्रदेश, स्थिति एवं अनुभाग हैं, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर बोधिदुर्लभ भावना का ही महत्त्व नहीं रहेगा, जिसमें जीव की दुर्लभ पर्यायों का कथन किया गया है। मात्र निगोद एवं मोक्ष; ये दो ही पर्यायें नियत हो जायेंगी। मोक्ष जाने के लिए निगोद जाना होगा, परन्तु ऐसा है नहीं।

जिस प्रकार मिट्टी, ताँबा, पीतल, लोहा, चाँदी, सोने के पात्र; बर्तन की अपेक्षा सामान्य हैं फिर भी सिंहनी का दूध; स्वर्णपात्र में ही ठहरता है। यदि स्वर्णपात्र के अलावा अन्य किसी पात्र में सिंहनी का दूध दुहा जाता है तो वह पात्र ही फट जाता है। उसी प्रकार केवलज्ञान की शक्ति, मोक्ष दिलाने की पात्रता इस मनुष्य देह में ही है, अन्य किसी भी देह में यह पात्रता नहीं है।

यदि तत्त्व ज्ञान की चर्चा मात्र से ही मोक्ष मिल सकता है तो सर्वार्थसिद्धि के देवों के विमान से सिद्ध शिला मात्र बारह योजन की दूरी पर है, वहाँ के अहमिन्द्र देव तैंतीस सागर प्रमाण काल तक तत्त्वज्ञान की चर्चा करते रहते हैं वहीं से उन्हें मोक्ष चले जाना चाहिए, लेकिन सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्रों को भी मनुष्य पर्याय की अमूल्यता का ज्ञान होता है। तप कल्याणक के दिन सौधर्मेन्द्र भी मनुष्यों को अपना इन्द्रत्व भेंटकर तीर्थङ्कर भगवान की पालकी उठाने के लिए विह्वल हो उठता है।

“नर काया को सुरपति तरसैं सो दुर्लभ प्राणी।”

जहाँ एक ओर मनुष्य देह को अमूल्य रत्न, देव दुर्लभ पर्याय आदि कहा है, वहीं दूसरी ओर इस मनुष्य देह को अशुचि, अपवित्र, बीभत्स, निन्दित, घिनावनी, मल-मूत्र की पिटारी आदि कुत्सित शब्दों द्वारा सम्बोधित किया गया है।

दक्षिण भारत के महानतम कवि तिरुवल्लुवराचार्य; जिन्होंने दो हजार वर्ष पूर्व तिरुक्कुरल काव्य लिखा था, आज जिसका अनुवाद विश्व की अस्सी प्रमुख भाषाओं में है।^९ जिसे तमिल देश में पाँचवाँ

वेद माना जाता है। प्रायः हर धर्म-संस्कृति के लोग जिसका समादर करते हैं, उसमें एक बहुत ही श्रेष्ठ आध्यात्मिक वाक्य सङ्कलित है, जिस वाक्य को पढ़-सुनकर एक नयी आध्यात्मिक सोच का जन्म होता है—

आत्मनो वै निजावासः किं स्वं नास्तीह भो ! जनाः ।

हीनस्थाने यतो देहे भुङ्क्ते वासेन पीडनम् ॥१०॥

हे आत्मन् ! क्या तेरा कोई निज घर नहीं है जो तू ऐसे अपवित्र शरीर में निवास करता है ?^{१०}

इस अमर वाक्य में विचारणीय विषय यह है कि आचार्य इस भगवत् स्वरूप आत्मा का अपना कोई निज घर मानते हैं, अतः उन्होंने अपनी आत्मा से ही यह प्रश्न किया है। जैसे-कोई, किसी आवारा, बे-सहारा भटकते हुए व्यक्ति को देखकर कह देते हैं कि इसका अपना कोई रहने का निज घर-द्वार या ठिकाना नहीं है जो यह इधर-उधर असहाय परिभ्रमण कर रहा है। उसी प्रकार इस चैतन्य चमत्कारमयी भगवान् आत्मा का निज घर मल-सूत्र भरा शरीररूपी पिटारा नहीं हो सकता है।

कवि दौलतराम ने भी कहा है—

“हम तो कबहुँ न निज घर आए,
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराए
हम तो कबहुँ न....”

किसने रोका है तुम्हें; अपने घर आने से।
या तो मोह का अँधियारा है या वासना का अंधापन।

संसार के जीव जब दुःख से घबराते हैं तब अपने हित के बारे में सोचते हैं। अपने हित के बारे में सोच शुरू होना ही अपने घर की याद आना है, वैरागी होना है। वह वैरागी अपने बन्धुवर्ग को इस प्रकार सम्बोधन करता है—

“आपिच्छ बन्धुवर्गं विमोचिदो गुरु-कलत्त-पुत्तेहिं ।

आसिज्ज णाण-दंसण-चरित्त तव वीरियायारं ॥२०२॥” प्रवचनसार

अर्थ—जो मुनि होना चाहता है, वह पहले ही बन्धुवर्ग (सगे सम्बन्धियों) से पूछता है, गुरुजनों (बड़ों) से तथा स्त्री और पुत्रों से अपने को छुड़ाता है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार को अङ्गीकार करने के लिए वह इस प्रकार अपने बन्धुवर्ग से कहता है—

अहो ! इस पुरुष के शरीर के बन्धुवर्ग में प्रवर्तमान आत्माओ ! इस पुरुष का आत्मा किञ्चित् भी तुम्हारा नहीं है, इस प्रकार तुम निश्चय से जानो, इसलिए मैं तुमसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रकट हुई है, ऐसा यह आत्मा; आज अपने आत्मारूपी अनादि बन्धु के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुष के शरीर के जनक (पिता) के आत्मा, अहो ! इस शरीर की जननी (माता) के आत्मा, इस पुरुष का आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नहीं है, ऐसा तुम निश्चय से जानो, इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रकट हुई है, ऐसा यह आत्मा; आज अपने आत्मारूपी अनादि जनक-जननी के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुष के शरीर की रमणी (स्त्री) के आत्मा, तू इस पुरुष के आत्मा को रमण नहीं कराता, ऐसा तू निश्चय से जान, इसलिए तू इस आत्मा को छोड़ । जिसे ज्ञानज्योति प्रकट हुई है, ऐसा यह आत्मा; आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादि रमणी के पास जा रहा है ।

अहो ! इस पुरुष के शरीर के पुत्र के आत्मा, तू इस पुरुष के आत्मा का जन्य (पैदा किया पुत्र) नहीं है, ऐसा तू निश्चय से जान, इसलिए तू इस आत्मा को छोड़ । जिसे ज्ञानज्योति प्रकट हुई है, ऐसा यह आत्मा; आज अपने आत्मारूपी अनादि जन्य के पास जा रहा है । इस प्रकार बड़ों से, स्त्री, पुत्रों से अपने को छुड़ाकर पञ्चाचार अङ्गीकार करता है ।^{११}

इस प्रकार से भव्य जीव; जब संसार-शरीर एवं भोगों के क्षणिक, तुच्छ सुख के यथार्थ स्वरूप को समझकर विषयभोगों से ऊब जाते हैं तब वे सच्चे एवं अनन्त सुख स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिए वैराग्य धारण कर लेते हैं । इस परम वैराग्य को धारण करना ही अपने निज घर की ओर चल देना है, जिसे आचार्यों ने 'मोक्षमार्ग' कहा है ।

अपने हित को चाहने वाला कोई एक बुद्धिमान निकट भव्य था । वह अत्यन्त रमणीय भव्य जीवों के विश्राम के योग्य किसी एकान्त आश्रम में गया । वहाँ उसने मुनियों की सभा में बैठे हुए, वचन बोले बिना ही, मात्र अपने शरीर की आकृति से मानो मूर्तिमान-मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले, युक्ति तथा आगम में कुशल, दूसरे जीवों के हित का मुख्यरूप से प्रतिपादन करने वाले और आर्य पुरुषों के द्वारा सेवनीय, प्रधान-निर्ग्रन्थ आचार्य के पास जाकर, विनय के साथ पूछा—“भगवन् ! आत्मा का हित क्या है ?” आचार्य ने उत्तर दिया—“आत्मा का हित मोक्ष है ।” भव्य जीव ने पुनः पूछा—“मोक्ष का क्या स्वरूप है और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ?” आचार्य ने कहा—“जब आत्मा; भावकर्म, द्रव्यकर्ममल कलङ्क और नोकर्म (शरीर) को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप जो सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे मोक्ष कहते हैं ।”^{१२}

विश्व के अधिकांशतः धर्म-मत-सम्प्रदाय भी मोक्ष को स्वीकार करते हैं, परन्तु उन सबके मोक्ष सार्वकालिक न होकर अल्पकालिक एवं सदोष माने गए हैं । वह मोक्ष अत्यन्त परोक्ष है, अतः अपने को तीर्थङ्कर मानने वाले अल्पज्ञानी प्रवादी लोग; मोक्ष के स्वरूप को स्पर्श नहीं करने वाले और असत्य युक्तिरूप वचनों द्वारा उसका स्वरूप सर्वथा अन्य प्रकार से बतलाते हैं । यथा—(१) सांख्य—पुरुष का स्वरूप चैतन्य है जो ज्ञेय के ज्ञान से रहित है, किन्तु ऐसा चैतन्य सत्स्वरूप होकर भी असत् ही है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसका स्व-पर व्यवसाय लक्षण कोई आकार अर्थात् स्वरूप प्राप्त नहीं होता । (२) वैशेषिक—बुद्धि आदि विशेष गुणों का नाश होना ही मोक्ष है, किन्तु यह कल्पना भी असमीचीन है, क्योंकि विशेष लक्षण से रहित वस्तु नहीं होती । (३) बौद्ध—जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है । उसी प्रकार आत्मा की सन्तान का विच्छेद होना ही मोक्ष है, किन्तु जैसे गधे के सींग केवल कल्पना के विषय होते हैं, स्वरूपसत् नहीं होते । वैसे ही इस प्रकार का मोक्ष भी केवल कल्पना का विषय है स्वरूपसत् नहीं है । यह बात स्वयं उन्हीं के कथन से सिद्ध हो जाती है ।^{१३}

११. प्र० सा०, गा० २०२, पृ० ४८१-८२ । १२. सर्वा० सि०, मङ्गलाचरण वृ० १ । १३. सर्वा० सि०, मङ्गलाचरण वृ० २ ।

मोक्ष जाने के पहले सभी मजहब, धर्म, संस्कृति, सम्प्रदाय के व्यक्ति को किसी-न-किसी द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ आदि की पूर्ण श्रद्धा का अवलम्बन जरूरी है, जिसमें उनके अपने-अपने भेद-प्रभेद, परिभाषाएँ एवं स्वरूप हैं, उपादेयता है। जिनकी श्रद्धा-विश्वास के बिना उस धर्म का स्वरूप पुष्ट नहीं होता है।

मोक्ष जाने की प्रक्रिया में इन द्रव्य, तत्त्व एवं पदार्थों आदि का श्रद्धान-ज्ञान-अनुभव करने का मुख्य प्रयोजन क्या है ? समस्त प्राणियों में मनुष्य जीवन ही पूर्ण विकसित, विवेकवान आदि विशेषताओं को धारण करता है। मनुष्य की प्राकृतिक जिज्ञासाएँ, चाहे जीव सम्बन्धी हों या अजीव सम्बन्धी हों, हमेशा जाग्रत रहती हैं। इन जीवाजीव सम्बन्धी जिज्ञासाओं के समाधान के लिए वह कोई-न-कोई हेतु; निमित्त, कारण खोजता रहता है। इस खोज में मनुष्य; किसी-न-किसी ऐसे व्यक्ति, शक्ति, ईश्वर, प्रभु-परमात्मा, ज्ञानी-विज्ञानी, प्रबुद्ध पुरुष को सम्मिलित करता है, जिससे उसके अपने विचारों की पुष्टि हो सके।

द्रव्य शब्द का उल्लेख जैन और वैशेषिक दर्शन में विशेषरूप से मिलता है। जैन दर्शन में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को द्रव्य कहते हैं तथा वैशेषिक दर्शन में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल और मन; इन नौ को द्रव्य कहा है। वैशेषिक दर्शन सम्मत-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन; शरीर की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य में गर्भित हो जाते हैं और आत्मा की अपेक्षा जीव में गर्भित रहते हैं। आकाश, काल और आत्मा (जीव); ये तीन द्रव्य दोनों दर्शन में स्वतन्त्ररूप से माने गए हैं। वैशेषिक दर्शनाभिमत 'दिशा' नामक द्रव्य; आकाश का ही विशिष्टरूप होने से उसमें गर्भित हो जाता है। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य की अवधारणा वैशेषिक दर्शन में नहीं है, ये दोनों द्रव्य; जैन दर्शन में ही निरूपित हैं।

जैन मतानुसार मूल द्रव्य; जीव और अजीव ये दो ही हैं, लेकिन अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं, अतः इन छह द्रव्यों में जीव द्रव्य चेतन है और शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं अथवा पुद्गल द्रव्य दृश्यमान होने से सबके अनुभव में आ रहा है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जिसमें पाया जाता है, वह पुद्गल द्रव्य है, अतः जो भी वस्तु रूपादि से सहित होने के कारण दृश्यमान है, वह सब पुद्गल द्रव्य है। जीव के साथ अनादि से लगे हुए कर्म और नोकर्म (शरीर) स्पष्टरूप से पुद्गल द्रव्य हैं। जीव द्रव्य अमूर्तिक होने से यद्यपि दिखाई नहीं देता है तथापि स्वानुभव के द्वारा उसका बोध होता है। जो सुख-दुःख का अनुभव करता है और जिसे स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान आदि होते हैं, वह जीव द्रव्य है। ज्ञान-दर्शन इसके लक्षण हैं। जीवित और मृत मनुष्य के शरीर की चेष्टा को देखकर जीव का अनुमान अनायास हो जाता है।^{१४}

हमेशा से ही जीव द्रव्य के बारे में हर धर्म-मजहब की अवधारणा किसी-न-किसी अपेक्षा से अलग-अलग है। जैसे-कोई जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं। कोई कई तत्त्वों के संयोग से जीव बनता है, ऐसा मानते हैं। कोई शरीर को ही जीव मानकर श्रद्धान करते हैं। जीव को सुख-दुःख देने वाला कोई ईश्वर-प्रभु-परमात्मा है। जीव के अच्छे-बुरे परिणामों-कर्मों का फल भगवान देता है। सृष्टि (जीव) को बनाने वाला कोई ईश्वर; ब्रह्मा है। सृष्टि की रक्षा करने वाला ईश्वर; विष्णु है। सृष्टि का संहार करने वाला ईश्वर; महेश है। मृत्यु के समय जीव को यमराज, यमदूत, फरिश्ते, काल, मृत्यु आदि ले जाते हैं। ऐसी अनेक अवधारणाएँ हमें कई संस्कृतियों-संस्कारों से पढ़ने-सुनने को मिलती हैं।

जैनाचार्यों ने जीवादि द्रव्यों के स्वरूप की पूर्णता का कथन आगम, युक्ति, प्रमाण, नय, निक्षेप आदि के द्वारा सिद्ध ही नहीं किया, बल्कि अन्य लोगों की कल्पित तथा दूषित मान्यताओं का खण्डन भी किया है।

मुख्यरूप से जीव द्रव्य की संख्या अनन्त है तथा एक जीव के प्रदेशों की संख्या; असंख्यात है। जीव को द्रव्य, अस्तिकाय, पदार्थ, तत्त्व मानकर इसका विशेष विश्लेषण किया जाता है तभी दूषित भ्रान्तियाँ दूर होती हैं।

जैन दर्शन में अजीव द्रव्यों का विभाजन; धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल एवं काल; इन पाँच प्रकार से किया है। इनमें से प्रथम चार एवं एक जीव द्रव्य; इन पाँचों को पञ्चास्तिकाय कहा है, क्योंकि इनके अनेक; प्रदेश होते हैं। काल द्रव्य का एक ही प्रदेश है, अतः वह काय नहीं है।

अपनी भाषा में समझें तो यूँ कह सकते हैं कि छहों द्रव्य; अस्ति (सत्) रूप तो हैं, क्योंकि द्रव्य का लक्षण सत् कहा है।^{१५} किन्तु छहों द्रव्य 'सत्' होते हुए भी प्रथम पाँच द्रव्य; कायवान् (बहुप्रदेशी) हैं, अतः ये पाँच द्रव्य अस्ति के साथ कायवान् होने से अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य अस्तिरूप तो है, लेकिन कायवान् नहीं है, इसलिए कालद्रव्य को अस्तिकाय नहीं कहा अर्थात् कालद्रव्य की कायरूप अस्ति नहीं होने से कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है।^{१६}

जैन सिद्धान्त के नियमानुसार अजीव द्रव्यों में अनेक परिवर्तन होने पर कभी इनका नाश नहीं होता है, इसी कारण से इन द्रव्यों को 'सत्' कहा है।^{१७} यदि इन द्रव्यों में परिवर्तन न हो तो सभी द्रव्यों में कूटस्थता का प्रसङ्ग आ जाएगा।

जहाँ पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण; ये असाधारण गुण पाये जाते हैं^{१८} वहीं अन्य द्रव्यों में ये गुण नहीं पाये जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व आदि साधारण गुण एवं चेतनत्व, जड़त्व आदि अलग-अलग असाधारण गुण पाये जाते हैं, जिन्हें स्वाध्याय करने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है।

धर्म, अधर्म एवं आकाश; एक-एक, क्रिया रहित, अखण्ड द्रव्य हैं।^{१९} जीव और पुद्गल द्रव्य; क्रिया सहित, अनेक द्रव्य हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी होता हुआ भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण नहीं होता है। ये सभी द्रव्य; लोकाकाश में अवगाहन करते हैं।^{२०}

सामान्यरूप से धर्म और अधर्म का अर्थ 'पुण्य' और 'पाप' रूप से लिया जाता है, लेकिन यहाँ धर्म-अधर्म द्रव्य का सम्बन्ध पुण्य और पाप से न होकर; उन अजीव द्रव्यों की उस निष्क्रिय शक्ति से है जो गति-स्थिति करने वाले; जीव और पुद्गल को क्रमशः गति-स्थिति में उदासीनरूप से सहकारी होते हैं-उपकार करते हैं।^{२१}

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीव और पुद्गल की अपनी गति-स्थिति नहीं होती है; बल्कि धर्म-अधर्म द्रव्य दोनों माध्यम हैं, जिनके द्वारा जीव और पुद्गल की गति-स्थिति में उदासीनरूप से सहायता मिलती है।^{२२}

१५. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० २९। १६. द्र०सं०, गा० २४-२५। १७. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० ३०। १८. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० २३। १९. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० ६-७। २०. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० १२। २१. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० १७। २२. द्र०सं०, गा० १७-१८।

जैनाचार्यों ने धर्मद्रव्य को समझाने के लिए गाथा में कहा है—‘तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ।’ जैसे—पानी; चलती हुई मछली को चलने में उदासीनरूप से सहायता करता है, ठहरी हुई मछली को पानी नहीं चलाता है। वैसे ही गमन करते हुए जीव और पुद्गल को गमन करने में सहकारी धर्मद्रव्य होता है। ठहरे हुए जीव और पुद्गल को धर्मद्रव्य नहीं चलाता है।

शङ्का—धर्मद्रव्य को समझाने के लिए जल और मछली का ही उदाहरण क्यों दिया है ?

समाधान—जल में रहने वाले समस्त जीव-जन्तुओं में से मछली ही ऐसा जीव है जो हजार फुट ऊपर से नीचे गिरते हुए जल के सहारे ऊपर की ओर जा सकता है, अतः गाथा में ‘अच्छंता णेव सो णेई’ कहा है अर्थात् ठहरे हुए जीव, पुद्गल को धर्मद्रव्य चला नहीं सकता है, क्योंकि धर्मद्रव्य गति में प्रेरक निमित्त नहीं है, उदासीन निमित्त है। इससे सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार गिरते हुए जल के सहारे मछली ऊपर की ओर गमन कर सकती है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य के सहारे जीव; सिद्धालय तक गमन करते हैं। पुद्गल परमाणु भी एक समय में चौदह राजु लोकाकाश तक गमन कर सकता है। वैज्ञानिक धर्मद्रव्य को ही ‘ईथर’ कहते हैं।

लोक-व्यवहार में प्रचलित मान्यता है कि ईश्वर की मर्जी के बिना तो पेड़ का पत्ता तक भी नहीं हिल सकता है अर्थात् जीव और पुद्गल के गमनागमन में किसी ईश्वर का सहयोग होता है। वह अज्ञात ईश्वरीय शक्ति और कोई नहीं; बल्कि धर्मद्रव्य (ईथर) ही है।

ठहरते हुए जीव और पुद्गल को ठहरने में अधर्मद्रव्य सहायक होता है। जैसे—ठहरते हुए पथिक को वृक्ष की छाया ठहरने में सहायक है।^{२३}

जैनाचार्यों ने अधर्मद्रव्य को समझाने के लिए गाथा में दृष्टान्त दिया है—“छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ।” इस छाया और पथिक के दृष्टान्त में; जिस प्रकार चलते हुए पथिक को छाया रोकती नहीं है। उसी प्रकार अधर्मद्रव्य; गमन करते हुए जीव और पुद्गल को रोकता नहीं है।

शङ्का—अधर्मद्रव्य को समझाने के लिए छाया और पथिक का ही दृष्टान्त क्यों दिया ?

समाधान—जिस प्रकार छाया; वृक्ष के नीचे आस-पास ही रहती है, ऐसा नहीं है कि छाया; वृक्ष के ऊपर हो और वृक्ष नीचे हो, अतः जब कोई चलता हुआ पथिक; वृक्ष की छाया देखकर वहाँ रुकना चाहता हो तब वह उस वृक्ष की छाया में रुक जाता है। यदि उसे उस वृक्ष की छाया में नहीं रुकना है तब उस वृक्ष की छाया के नीचे से निकलते हुए भी वृक्ष की छाया उसे रोकती नहीं है, अतः गाथा में “गच्छंता णेव सो धरई” कहा है। वैज्ञानिक अधर्म द्रव्य को ‘मोमेन्ट आफ एनर्सिया’ ‘जड़त्व आघूर्ण’ का सिद्धान्त कहते हैं। अधर्मद्रव्य की वह जड़ता; रुकते हुए जीव और पुद्गल को रुकने में सहायक होती है।

अधर्मद्रव्य; धर्मद्रव्य का प्रतिलोम है। ये दोनों; नित्य, अवस्थित एवं अरूपी हैं। इनमें स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण का अभाव है। ये लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में व्याप्त हैं। धर्म और अधर्मद्रव्य; एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं एवं दोनों असंख्यात प्रदेशी हैं।^{२४} प्रदेशत्व गुण के कारण धर्मद्रव्य एवं अधर्मद्रव्य का आकार लोकाकाश की श्रेणी के आकार का है, क्योंकि इन्हीं के सहारे जीव और पुद्गल की गति-स्थिति होती है।

अजीव द्रव्यों में महत्त्वपूर्ण आकाश एक अखण्ड, अनन्तप्रदेशी द्रव्य है, क्योंकि इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म एवं काल—ये सभी द्रव्य अपने-अपने प्रदेश संख्यानुसार व्याप्त होकर रहते हैं, अतः जैन दर्शन में आकाश द्रव्य के लोकाकाश एवं अलोकाकाश; ये दो भेद किए हैं। लोकाकाश में ही जीवादि द्रव्यों का निवास होता है। लोक के बाहर अनन्त अलोकाकाश है।^{२५} द्रव्यों में प्रदेशत्व गुण के कारण आकाश का आकार समघन-चतुस्र है।

आकाश द्रव्य की अवगाहन शक्ति असीम है। लोकाकाश के एक प्रदेश में; जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म एवं काल के प्रदेशों को अवगाहन प्रदान करने की सामर्थ्य है।^{२६}

जैसे—कोई एक व्यक्ति जङ्गल में से एक हजार प्रकार की वनस्पतियों के एक-एक पत्ते लाकर उनका काढ़ा बनाए तो उस काढ़े में एक हजार प्रकार की वनस्पतियों का सत्त्व (अस्तित्व) है। ठीक इसी प्रकार दश हजार, पचास हजार, एक लाख आदि प्रकार की वनस्पतियों के पत्तों को काढ़े में उबालें, उसमें भी एक सुई की नोंक के बराबर काढ़े में दस हजार, एक लाख आदि प्रकार की वनस्पतियों का सत्त्व रहते हुए भी उस सुई की नोंक के बराबर काढ़े का न तो कोई आकार बढ़ता है, न वजन बढ़ता है। ठीक इसी प्रकार से आकाश के एक प्रदेश पर कर्मों की अनन्तानन्त वर्णणाएँ समा जाती हैं। यह सब आकाशद्रव्य के अवगाहन गुण का प्रभाव है। आगम में ऊँटनी के दूध एवं शहद का दृष्टान्त अवगाहन शक्ति के लिए दिया है।

जैन दर्शन में अचेतन एवं मूर्तिक पदार्थ को पुद्गल कहा गया है।^{२७} जिस द्रव्य में पूरण-गलन, संयोजन-विभाजन हो सके, वही पुद्गलद्रव्य है। पुद्गल के सरल या आणविक और स्कन्ध या यौगिक; दो आकार होते हैं।^{२८} जब किसी पौद्गलिक वस्तु का विभाजन किया जाता है तब अन्त में एक ऐसी अवस्था आती है, जहाँ वस्तु का अन्य और कोई विभाजन सम्भव नहीं होता है, इसी अविभाज्य अंश को अणु कहा जाता है।^{२९}

भेद, संघात एवं भेद-संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।^{३०} स्कन्ध के भेद करने से भी स्कन्ध बनता है। अनेक अणुओं के संघात (मिलने) से स्कन्ध बनता है, परन्तु भेद-संघात से भी स्कन्ध बनता है। जैसे—लोहे की हथौड़ी से जब पत्थर तोड़ते हैं तब पत्थर के टूटने से भेद तो हो जाता है, साथ ही लोहे की हथौड़ी का अंश पत्थर के टुकड़ों के साथ ही संघात (चिपक) हो जाता है।

मूर्तद्रव्य में आठ प्रकार के स्पर्श, पाँच प्रकार के रस एवं वर्ण तथा दो प्रकार की गन्ध होती है। जिन की प्रत्येक क्रिया; पुद्गल के रूप में अभिव्यक्त होती है अर्थात् पुद्गल से इन्द्रिय अनुभव की सभी वस्तुएँ बनी हैं, जिनमें प्राणियों के शरीर, वचन तथा मन भी सम्मिलित हैं।^{३१} इससे सिद्ध होता है कि जीव तत्त्व; पुद्गल द्रव्य के आधार से संसार में परिभ्रमण करता है, जिसे कर्म कहते हैं।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत एवं आतप; ये पुद्गलद्रव्य की दश पर्यायें हैं।^{३२}

शब्द—शब्द के अनेक भेद-प्रभेद होते हैं, लेकिन शब्द में भी पुद्गल के स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण गुण होते हैं। इसे वैचारिक युक्ति से समझ सकते हैं। शब्द का उद्गम स्थल रसना है, लेकिन कर्णेन्द्रिय के द्वारा उसका वेदन होता है।

२५. द्र०सं०, गा० १९-२०। २६. द्र०सं०, गा० २७। २७. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० ५। २८. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० २५।

२९. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० २७। ३०. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० २६। ३१. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० १९-२०। ३२.

द्र०सं०, गा० १६।

शब्द में स्पर्श के आठ गुण—

१. हल्का	— धीरे से शब्द बोलना,	धीरे से शब्द सुनना ।
२. भारी	— जोर से शब्द बोलना,	जोर से शब्द सुनना ।
३. ठण्डा	— क्षमा से शब्द बोलना,	क्षमा से शब्द सुनना ।
४. गरम	— क्रोध से शब्द बोलना,	क्रोध से शब्द सुनना ।
५. रुखा	— द्वेष से शब्द बोलना,	द्वेष से शब्द सुनना ।
६. चिकना	— राग से शब्द बोलना,	राग से शब्द सुनना ।
७. कड़ा	— अनुशासन से शब्द बोलना,	अनुशासन से शब्द सुनना ।
८. नरम	— प्रमाद से शब्द बोलना,	प्रमाद से शब्द सुनना ।

शब्दों में पाँच रस—वैसे तो रस; रसना इन्द्रिय के द्वारा वेदन होता है फिर भी शब्द बोलने का माध्यम तो जिह्वा इन्द्रिय है ।

१. खट्टा — कुछ शब्दों को सुनकर मन खट्टा हो जाता है ।
२. मीठा — कुछ शब्दों को सुनकर मन मीठा हो जाता है ।
३. चरपरा — कुछ शब्दों को सुनकर मन में ईर्ष्या-जलन होती है ।
४. कड़वा — कुछ शब्दों को सुनकर मन में कड़वापन आ जाता है ।
५. कषायला — कुछ शब्दों को सुनकर मन में कषाय उत्पन्न हो जाती है ।

शब्दों में दो प्रकार की गन्ध—वैसे गन्ध; नासिका इन्द्रिय के द्वारा जानी जाती है फिर भी कुछ शब्दों को सुनकर मनुष्य; नाक-मुँह सिकोड़ने लगता है, नाक चढ़ा लेता है, अतः शब्दों का प्रभाव नासिका इन्द्रिय पर भी होता है ।

१. सुगन्ध — जिन शब्दों को सुनकर सभ्यता की गन्ध आती है, मन खुश होता है, वही शब्द की सुगन्ध है ।
२. दुर्गन्ध — जिन शब्दों को सुनकर असभ्यता की दुर्गन्ध आती है, नाक-मुँह सिकोड़ने लगते हैं, वही शब्द की दुर्गन्ध है ।

शब्दों में पाँच प्रकार के वर्ण—यद्यपि वर्ण; चक्षु इन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है फिर भी जिन शब्दों के द्वारा व्यक्ति का उद्देश्य या क्रिया अभिव्यक्त होती है, उससे रङ्गों का पता चल जाता है ।

१. काला — कृष्ण लेश्या युक्त शब्द काले हैं । जिन शब्दों को सुनकर व्यक्ति पता लगा लेता है कि कुछ दाल में 'काला' है अर्थात् उसका मन काला है ।
२. नीला — (हरा + पीला) नील लेश्या युक्त शब्द नीले हैं । जिस शब्द को सुनकर आँखें हरी पीली हो जाती हैं ।
३. हरा — कपटपूर्ण शब्द हरे हैं । जिन हरे-भरे शब्दों को सुनाकर व्यक्ति दूसरों को ठगता है ।
४. पीला — दया, दान युक्त शब्द पीत लेश्या है ।
५. सफेद — न्यायपूर्ण, वीतराग शब्द शुक्ल लेश्या है । दूध-का-दूध, पानी-का-पानी, बे-दाग छवि आदि शब्दों की धवलता का कथन करना ।

इस प्रकार शब्द में पुद्गल के गुण पाये जाते हैं, अतः शब्द; पुद्गल की पर्याय है, न कि आकाश का गुण ।

- बन्ध** — बन्धादि की दशायें भी अनेक प्रकार से अनुभव में आती हैं ।
- सूक्ष्म** — आज के कई वैज्ञानिक आविष्कार इन्हीं पुद्गल पर्यायों के रूप हैं, जिन्हें **सॉफ्टवेयर** कहते हैं। इसके अन्त्य सूक्ष्म और आपेक्षिक सूक्ष्म; ये दो भेद हैं ।
- स्थूल** — जिन्हें **हार्डवेयर** कहते हैं, वे स्थूल हैं । इसके अन्त्य स्थूल और आपेक्षिक स्थूल; ये दो भेद हैं ।
- संस्थान** — अनेक प्रकार की आकृतियाँ संस्थान हैं ।
- भेद** — भेद यानि टुकड़े । इसके भी उत्तर आदि छह भेद हैं ।
- तम** — प्रकाश का प्रतिपक्षी तम कहलाता है । **जैसे-नेगेटिव** ।
- छाया** — जो प्रकाश को रोककर उत्पन्न होती है । **जैसे-पॉजेटिव** ।
- उद्योत** — चमक या प्रकाश उद्योत है ।
- आतप** — उस चमक या प्रकाश के ओज को आतप कहते हैं ।

इस प्रकार पुद्गल की दश पर्यायें हैं । आकाश के जितने हिस्से-भाग या स्थान को अविभाज्य पुद्गल परमाणु घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं ।^{३३} इस लक्षण के अनुसार जितना बड़ा अणु है, उतना आकाश का एक प्रदेश है एवं जितना आकाश का एक प्रदेश है, उतना बड़ा एक पुद्गल परमाणु है ।

इस प्रकार एक प्रदेश या परमाणु का लक्षण बताने पर प्रश्न उठता है कि आकाश का एक प्रदेश का आकार कैसा है, जिससे परमाणु का आकार निकाला जा सके ?

इसके समाधान के लिए हम सबसे पहले आकाश की संरचना का विश्लेषण करते हैं । जब जीव और पुद्गल लोकाकाश में गति करते हैं तब गति; श्रेणी के अनुसार होती है ।^{३४} आकाश प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं ।^{३५} जिस प्रकार वस्त्र में ताना (खड़ा धागा) बाना (आड़ा धागा) होता है । उसी प्रकार आकाश प्रदेशों की पंक्ति भी ताना-बानारूप होती हैं । जिससे उनके बीच समघनचतुस्त्र (सम चौकोर) स्थान बनता है, उसे आकाश का एक प्रदेश कहा जाता है । ऐसे समघनचतुस्त्र आकाश प्रदेश में जो अविभाज्य पुद्गल का अंश समा जाता है, वह अणु है । इससे सिद्ध होता है कि परमाणु का आकार समघनचतुस्त्र है ।^{३६} कोई भी चौकोर वस्तु षट् पहल (चारों तरफ के चार एवं नीचे-ऊपर के दो) एवं आठ कोने (हर एक मोड़ के ऊपर नीचे के दो कोने, ऐसे चारों मोड़ों के आठ) वाली होती है । **जैसे-** पुस्तक के आकार में चारों तरफ के चार पहल एवं ऊपर-नीचे के दो पहल; ऐसे छह पहल हैं; एक मोड़ में दो कोने से चार मोड़ों में आठ कोने होते हैं ।

महापुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य परमाणु को गोल मानते हैं^{३७} अब सूक्ष्म रीति से यह विचार करना है ।

इस प्रसङ्ग में हमें पुनः परमाणुओं के भेद-प्रभेदों को समझना होगा । परमाणु दो प्रकार का होता है—कारणरूप और कार्यरूप ।^{३८} अणुओं के चार भेद भी हैं; कार्य, कारण, जघन्य एवं उत्कृष्ट । स्कन्धों के अवसान को कार्य परमाणु जानना । जो चार धातुओं (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) का हेतु है, वह कारण परमाणु जानना । स्कन्ध के विघटन से उत्पन्न होने वाला कार्य परमाणु और जिन परमाणुओं

३३. ब्र०सं०, गा० २७ । ३४. तत्त्वा०सू०, अ० २, सू० २६ । ३५. सर्वा०सि०, वृ० ३१२ । ३६. आ०सा०, अ० ३, श्लो० १३, २४ । ३७. महा०पु०, सर्ग २४, श्लो० १४८ । ३८. न०च०, वृ० १०१ ।

के मिलने से कोई स्कन्ध बनता है, वे कारण परमाणु हैं।^{३९} जब कारण परमाणु का एक गुण स्निग्धता या रूक्षतारूप होने से सम या विषमबन्ध के अयोग्य ऐसा जघन्य परमाणु है। एक गुण स्निग्धता या रूक्षता के ऊपर दो गुण वाले और चार गुण वाले का सम्बन्ध होता है तथा तीन गुण वाले का और पाँच गुण वाले का विषमबन्ध होता है, यह उत्कृष्ट परमाणु है।^{४०}

यह जीव; प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्व-वितर्क-वीचार की भूमिका में द्रव्यपरमाणु एवं भावपरमाणु का पृथक्त्वरूप ध्यान करता है।^{४१} द्रव्यपरमाणु से द्रव्य की सूक्ष्मता एवं भावपरमाणु से भाव की सूक्ष्मता कही गयी है। भाव शब्द से उन्हीं जीवद्रव्य का स्वसंवेदन परिणाम ग्रहण करना चाहिए। उनके भाव का परमाणु अर्थात् रागादि विकल्प रहित सूक्ष्मावस्था है, क्योंकि वह इन्द्रिय और मन के विकल्पों का विषय नहीं है।^{४२} भावपरमाणु के क्षेत्र की अपेक्षा तो एक प्रदेश है। व्यवहार काल का एक समय है और भाव की अपेक्षा एक अविभागी प्रतिच्छेद है। वहाँ पुद्गल द्रव्य के गुण की अपेक्षा तो स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण के परिणमन का अंश लीजिए तथा जीव के गुण की अपेक्षा ज्ञान का तथा कषाय का अंश लीजिए। ऐसे द्रव्यपरमाणु (पुद्गल परमाणु) एवं भावपरमाणु (एक अविभागी प्रतिच्छेद) यथासम्भव समझना चाहिए।^{४३}

द्रव्यपरमाणु के चौकोरपने की सिद्धि तो आकाश प्रदेश के द्वारा सिद्ध है, लेकिन भावपरमाणु का आकार कैसा है? यह समझना है।

जहाँ-जहाँ भावपरमाणु की परिभाषायें हैं, उनके विश्लेषण से भावपरमाणु का माप-आकार निकल सकता है।

(१) परमात्मप्रकाश की टीकानुसार, “भाव” शब्द से उस ही आत्म द्रव्य का स्वसंवेदन परिणाम ग्रहण करना चाहिए।” यहाँ स्वसंवेदन का अर्थ मतिज्ञान लेना, क्योंकि स्वसंवेदन; मतिज्ञान का ही पर्यायवाची नाम है।^{४४} इस भावपक्ष में भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि आचार्यों ने आत्मद्रव्य लिया है, आत्मतत्त्व नहीं, अतः जब इस जीवद्रव्य की सबसे छोटी पर्याय, सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के मरण के तीसरे समय में सबसे जघन्य अवगाहना होती है, जिसका आकार गोल होता है,^{४५} अतः आत्मद्रव्यगत ज्ञान का आकार भी तदाकार ही होगा, जिससे भावपरमाणु संयोगी अवस्था में गोल कहा जाता है।

(२) भावपरमाणु; इन्द्रिय और मन के विकल्पों का विषय नहीं है। इस कथन के अनुसार जीव के जब विग्रहगति में कर्मण काययोग होता है तब उस जीव के इन्द्रिय और मन का सम्पर्क नहीं होता है, क्योंकि कर्मण शरीर निरुपभोग होता है अर्थात् इन्द्रिय और मन के विषयों का ग्रहण नहीं करता है।^{४६} ऐसे (संयोगी अवस्था में) जीव के; उस विग्रहगति के तीसरे समय की सूक्ष्मावस्था में कर्मण शरीर के साथ सबसे जघन्य अवगाहना गोल होती है।

(३) राजवार्तिककार के कथनानुसार भावपरमाणु को; जीव के गुण अपेक्षा ज्ञान का तथा कषाय का अंश लिया है। इस अपेक्षा से भी सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के तीसरे समय में जो जघन्य

३९. पं०का०, गा० ८०, ता०वृ० । ४०. नि०सा०, गा० २५, ता०वृ० । ४१. सर्वा०सि०, वृ० ९०६ । ४२. पर० प्र०, टी० । ४३. रा०वा०, अ० ९, सूत्र २७, वा० ७३३ । ४४. तत्त्वा०सा०अ० १, श्लो० १९/श्लो०वार्ति०भा० १ । ४५. धव० पु० ११/४, २, ५; २०/३८/८ । ४६. तत्त्वा०सू०, अ० २, सू० ४४ ।

गोल अवगाहना होती है, वहाँ ज्ञान एवं कषाय के जघन्य अंश होते हैं, अतः जिनसेनाचार्य द्वारा कथित जिस परमाणु का आकार गोल सिद्ध होता है, वह भावपरमाणु है।

आज आधुनिक विज्ञान का विकास भी जैन धर्म के तत्त्वार्थसूत्र के अनुश्रेणि गतिः^{४७} इस सूत्र के अनुसार ही हो रहा है। टी.वी., कम्प्यूटर, दूर संचार व्यवस्था आदि इसी सूत्र की देन हैं। जब भी टी.वी. या कम्प्यूटर पर चित्र बनाते हैं तब उनकी स्क्रीन पर ग्राफ्स बनते हैं। उन्हीं ग्राफ्स के अनुपात से चित्र बनते हैं। समय बताने वाली इलेक्ट्रॉनिक घड़ियों में भी समय की संख्या ग्राफ्स द्वारा ही उभरकर आती है। शून्य भी गोलाकार न होकर चौकोर बनकर आता है। दो आदि की संख्याएँ भी ऐंगिल से मुड़कर ही बनती हैं, यही अनुश्रेणी गति का सिद्धान्त है। गति के दो नियम हैं—(१) देश नियम; (२) काल नियम।

छहों द्रव्यों में अन्तिम द्रव्य है काल, क्योंकि उसमें भी द्रव्य के लक्षण पाए जाते हैं।^{४८} कालद्रव्य सभी द्रव्यों का उपकार करता है।^{४९} यदि कालद्रव्य न हो तो सभी द्रव्य कूटस्थ (अपरिवर्तनीय) हो जाएँगे, जिससे सभी द्रव्यों की सभी व्यवस्थाएँ-अवस्थाएँ अपरिवर्तनीय होने से सभी द्रव्यों में अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। कालद्रव्य सभी द्रव्यों की पर्यायों में परिवर्तन कराने में उदासीन कारण है, क्योंकि द्रव्यों के उत्पाद-व्यय की गणना कालद्रव्य के द्वारा ही होती है अन्यथा काल द्रव्य के वस्तुत्व गुण का अभाव होने से काल द्रव्य की महत्ता ही समाप्त हो जाएगी।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से कालद्रव्य को समय (टाइम) के रूप में स्वीकार किया है, जिसका व्यावहारिक विभाजन घड़ी, घण्टा, मिनट, सेकेण्ड आदि के रूप में किया जाता है। 'समय' निश्चय काल का एक रूप है, परन्तु जीव और पुद्गल की गति द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण 'परिणाम' कहा जाता है।

एक शुद्ध पुद्गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक मन्दगति से गमन करने में जितना काल लगता है, उसे एक समय कहते हैं, अतः एक समय का माप एक पुद्गल परमाणु की मन्दगति से निकाला गया है।^{५०}

शङ्का—वैसे तो एक शुद्ध पुद्गल परमाणु तीव्रगति से लोकाकाश में चौदह राजु गमन कर सकता है, इस तीव्रगति में भी वह पुद्गल परमाणु लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों को छूता हुआ एक ही समय में जाता है, अतः एक समय के भी असंख्यात समय भेद होना चाहिए? ^{५१}

समाधान—नहीं; क्योंकि जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने हाथ से एक चावल को मन्दगति से उठाकर एक समान दूरी पर आराम से पहुँचा देता है, वही व्यक्ति एक मुट्ठी भर चावल तीव्रगति से उससे भी अधिक दूरी तक पहुँचा देता है। इस प्रसङ्ग में एक चावल की समान दूरी एवं मन्दगति तथा एक मुट्ठी चावल की अधिक दूरी एवं तीव्रगति का विश्लेषण समझना जरूरी है। जहाँ एक मुट्ठी चावल को तीव्र गति से एक समय में उठाकर अधिक दूर तक रखने में; मुट्ठी भर चावल के बराबर समय का भेद नहीं हुआ, समय तो एक ही लगता है। उसी प्रकार एक समय में तीव्रगति वाले पुद्गल परमाणु का लोकाकाश के चौदहराजु के असंख्यात प्रदेश छूने से समय भेद नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि समय अविभाज्य है।

४७. तत्त्वा०सू०, अ० २, सू० ३०। ४८. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० २९-३०। ४९. तत्त्वा०सू०, अ० ५, सू० २२।

५०. प्र०सा०, गा० १३९ ता०वृ०। ५१. प्र०सा०, गा० १३९ ता०वृ०।

समय को कालाणु भी कहते हैं, लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु रत्नों की राशि के समान स्थित है।^{५२} कालाणु का आकार भी जैसे-आकाश प्रदेश के आकार के समान परमाणु है। वैसा ही कालाणु का आकार समघनचतस्र, छह पहल, आठ कोण वाला है, क्योंकि द्रव्य का प्रदेशत्व गुण के लक्षणानुसार कालद्रव्य का कोई-न-कोई आकार होना चाहिए।

शङ्का—कालद्रव्य को समझाते समय आचार्यों ने कालाणुओं को रत्नों की राशि का ही उदाहरण क्यों दिया, गेहूँ आदि धान्य या सामान्य रेती, कड़्डों आदि के ढेर का उदाहरण क्यों नहीं दिया ?

समाधान—गेहूँ आदि धान्य की राशि घुन जाती है, सड़ जाती है, रखी-रखी पुरानी होकर आपस में चिपक भी जाती है। सामान्य रेत या कड़्ड की कीमत भी सामान्य है, लेकिन रत्नराशि घुनती-सड़ती नहीं है, आपस में रखी चिपकती भी नहीं है, पुरानी भी नहीं होती। लोक व्यवहार में जिस प्रकार रत्न कीमती होते हैं। वैसे ही काल या समय अमूल्य होता है। जैसे-रत्नराशि सड़ती-घुनती, चिपकती नहीं है। वैसे ही कालाणु का स्वरूप है, इन्हीं सब कारणों से कालद्रव्य को रत्नराशि की उपमा दी गयी है।

काल द्रव्य के दो भेद हैं—(१) निश्चय काल; (२) व्यवहार काल। निश्चय काल; वर्तना लक्षण वाला है एवं व्यवहार काल; परिणाम, क्रिया, परत्वापरत्व लक्षण वाला है।^{५३}

समय दर्शने वाली घड़ी में घण्टा-मिनट एवं सेकण्ड के काँटे लगे होते हैं। घड़ी की जिस बीच की धुरी में काँटे लगे होते हैं, वह धुरी निश्चय काल का प्रतीक है, क्योंकि वह धुरी अपने में ही वर्तन कर रही है, लेकिन उसके सहारे घूमने वाले घण्टा, मिनट, सेकण्ड के काँटे व्यवहार काल के प्रतीक हैं।

साहित्यिक कल्पन—इन छहों द्रव्यों से संसार का व्यवहार-व्यापार चलता है। जीवद्रव्य; सरस्वतीरूप है। जिस प्रकार सरस्वती; ज्ञान की मूर्ति कही जाती है। वैसे ही यह जीव; ज्ञानमय होने से सरस्वती है। पाँच अजीवद्रव्य; लक्ष्मी (धन) के रूप हैं। पुद्गलद्रव्य का व्यापार सर्वत्र अनुभव में आता है। धर्मद्रव्य; गमनागमनरूप टोल टेक्स के रूप में प्रयोग होता है। अधर्मद्रव्य; आरक्षण का रूप है। आकाशद्रव्य; अन्तरिक्ष, आकाश का भी हवाई क्षेत्र होने से टेक्स या क्रय-विक्रय होता है। कालद्रव्य; समय सीमा से अनुसार कार्य करना-कराना अर्थात् काल द्रव्य के द्वारा धन कमाना है।

इस प्रकार जीवद्रव्य को छोड़कर; पाँच अजीव-अचेतनद्रव्य हैं, जिनके कारण विश्व में अनेक चमत्कार, आविष्कार दिखाई देते हैं। जीवद्रव्य; इन्हीं अजीव द्रव्यों की अनेक परिणामनशील पर्यायों से प्रभावित है, अतः कोई-कोई इन्हें ईश्वरीय, दैविक-भौतिक आदि अवस्थाओं के भिन्न-भिन्नरूप में स्वीकार कर पूजनीय-वन्दनीय-नमस्करणीय, संग्रहणीय आदि बना लेते हैं और भटक जाते हैं, अतः जैनाचार्यों ने इन जीव-अजीव द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप को सामने रखकर मनुष्यों की कपोल कल्पित भ्रान्तियों-कुठाराघातों पर कुठाराघात किया है।

तत्त्व—द्रव्य के बाद जैनशास्त्रों में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष; इन सात तत्त्वों का वर्णन आता है। तत्त्व शब्द का प्रयोग जैनदर्शन के सिवाय सांख्य दर्शन में भी हुआ है। सांख्य दर्शन में प्रकृति, महान् आदि पच्चीस तत्त्वों की मान्यता है। वस्तुतः संसार में जिस प्रकार जीव और अजीव; ये दो ही द्रव्य हैं, उसी प्रकार जीव और अजीव; ये दो ही तत्त्व हैं। जीव के साथ अनादिकाल से कर्म और नोकर्म रूप

अजीव का सम्बन्ध हो रहा है और उसी सम्बन्ध के कारण जीव की अशुद्ध परिणति हो रही है। जीव और अजीव का परस्पर सम्बन्ध होने का जो कारण है, वह आस्रव कहलाता है। दोनों का परस्पर सम्बन्ध होने पर जो एकक्षेत्रावगाहरूप परिणमन होता है, उसे बन्ध कहते हैं। आस्रव के रुक जाने को संवर कहते हैं। सत्ता में स्थित पूर्व कर्मों का एक देश दूर होना निर्जरा है और सदा के लिए आत्मा से समस्त कर्म और नोकर्म का छूटना मोक्ष है।^{५४}

तत्त्व शब्द की निष्पत्ति में 'तत्+त्व' है। तत् सर्वनाम पद है, त्व प्रत्यय भाववाची है, ऐसे तत्त्व शब्द बना है। "उसी भाव रूप।" जो वस्तु जिस रूप है, उसका उसी रूप होना 'तत्त्व' कहलाता है।^{५५} 'तस्य भावस्तत्त्वम्'—जीवादि वस्तुओं के प्रकरण में ये सात तत्त्व अपना बहुत महत्त्व रखते हैं। इनका यथार्थ निर्णय हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है।^{५६} यही इस ग्रन्थ का मूल विषय है।

पदार्थ—व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः।^{५७} व्यक्ति, आकृति और जाति आदि पदार्थ हैं। अर्थोऽभिधेयः पदस्यार्थः पदार्थः।^{५८} अर्थ अर्थात् अभिधेय पद का अर्थ सो पदार्थ है, अतः जानने योग्य या प्रयोजनभूत अथवा व्यापक अर्थ को पदार्थ कहते हैं।

सर्वद्रव्यगुणपर्यायात्मिकता इति पदार्थः। जो; द्रव्य, गुण एवं पर्यायिमय हो, वह पदार्थ है।

द्रव्य, गुण और पर्याय; अभिधेय भेद होने पर भी अभिधान का अभेद होने से 'अर्थ' हैं। जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे अर्थ 'द्रव्य' हैं। जो आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे अर्थ 'गुण' हैं। जो द्रव्यों के द्वारा क्रम परिणाम से प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे अर्थ 'पर्याय' हैं।^{५९} इस कथनानुसार द्रव्य, गुण, पर्याय; इन तीनों को अर्थ कहा जाता है। जो सब पदार्थों को द्रव्य, गुण और पर्याय सहित जानता है, वही सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि पदार्थ वास्तव में द्रव्यमय है। द्रव्य; गुणमय है। द्रव्य और गुणों से पर्याय होती है, अतः निश्चय से ज्ञान का विषयभूत पदार्थ; द्रव्यमय होता है। सब द्रव्य; गुणमयी हैं। द्रव्य व गुणों से पर्याय होती हैं।^{६०}

पद+अर्थ=पदार्थ। द्रव्य, गुण एवं पर्याय; अर्थ हैं। इन तीनों पद-अवस्थाओं से जो सहित हो वह पदार्थ है। जैसे—स्वर्ण, पीलापन, आभूषण। स्वर्ण द्रव्य है, पीतत्व उसका गुण है, आभूषण पर्याय है एवं उस आभूषण का जो नाम है, वह पदार्थ है। जैसे—शक्कर एक द्रव्य है, मीठा उसका गुण है, मिठाई उसकी पर्याय है एवं उस मिठाई का नामकरण कि यह लड्डू है, पेड़ा है, बर्फी है आदि नाम पदार्थ हैं, क्योंकि इन सबमें शक्कर है, मीठा है एवं मिठाई है, अतः उस मिठाई का नाम पदार्थ है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षमार्ग में साधनभूत पदार्थों के नाम एवं उनके स्वरूप का वर्णन 'पञ्चास्तिकाय' ग्रन्थ में संक्षेपरूप से किया है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष; ये नव पदार्थों के नाम हैं^{६१}, लेकिन समयसार में इन्हें पदार्थ न कहकर नव तत्त्व कहा है।^{६२} इसी गाथा की भूमिका एवं टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने छठें, सातवें एवं आठवें कलश में नव तत्त्वों का ही निर्देश किया है।^{६३}

५४. तत्त्वा०सा०प्र०पृ० ११। ५५. सर्वा०सि०, सम्पा० जगरूपसहाय एडवोकेट। ५६. तत्त्वा०सा०, प्र०पृ० ११। ५७. न्या०सू० २/२/६३। ५८. न्या०वि०टी०, १/७/१४०/१५। ५९. प्रव०सा०, गा० ८७ टी०। ६०. प्रव०सा०, गा० ९३ टी०/गा० १०। ६१. पं०का०, पृ० २७७, गा० १०८। ६२. स०सा०, पृ० २९, गा० १३। ६३. स०सा०, पृ० २७-२९, गा० १२-१३।

शङ्का यह है कि एक ही आचार्य ने दोनों ग्रन्थों में परस्पर विरोधी कथन क्यों किया ?

इस शङ्का के समाधान में जब तक पदार्थ एवं तत्त्व की परिभाषाओं का विश्लेषण नहीं समझेंगे तब तक इसका समाधान नहीं होगा।

जैसे कि पहले कही पदार्थ की परिभाषाओं में द्रव्य, गुण, पर्यायें सम्मिलित हैं एवं तत्त्व अकेला भाव स्वरूप है। जहाँ आगम ग्रन्थ हैं, वहाँ नव पदार्थ हैं, क्योंकि पदार्थ में उनके द्रव्य, गुण एवं पर्यायों का ही विश्लेषण है और जहाँ तत्त्व हैं, वहाँ मात्र उनके भावों का कथन या विश्लेषण है, अतः समयसार में नव पदार्थों को नव तत्त्व इसलिए कहा कि उन्हें मात्र नव तत्त्वों का ही विश्लेषण करना है न कि उनके द्रव्य, गुण और पर्यायों का। यदि समयसार में नव पदार्थ मानकर द्रव्य, गुण, पर्यायों का वर्णन करना पड़े तो जीवसमास, गुणस्थान आदि के भेद-प्रभेद सभी की पूर्ण व्यवस्था करनी होगी, परन्तु समयसार में पदार्थों के भाव मात्र से तत्त्व का स्वरूप ग्रहण किया गया है, अतः समयसार में नव पदार्थों का नाम; नव तत्त्वरूप ग्रहण किया गया है, क्योंकि समयसार एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है तथा पञ्चास्तिकाय में नव पदार्थों का संक्षेप रुचि शिष्य की अपेक्षा कथन है, अतः समयसार एवं पञ्चास्तिकाय में परस्पर विरोधी कथन नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह है कि तत्त्व में भेद नहीं होता है, जीव यानि जीव, अजीव यानि अजीव, आस्रव यानि आस्रव, किन्तु जब तत्त्व के भेद कहते हैं तब उसे इस प्रकार समझें, जैसे-जीव के दो भेद-संसारि एवं मुक्त, इसी प्रकार इनके भी आगे भेद-प्रभेद होते हैं। अजीव के पाँच भेद; पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल। आस्रव के दो भेद; भावास्रव एवं द्रव्यास्रव।

इसी प्रकार बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष के भेद-प्रभेद करना; ये सब पदार्थ संज्ञा को प्राप्त होते हैं। तत्त्व की व्याख्या नहीं हो सकती, पदार्थ की व्याख्या होती है।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने जब सम्यग्दर्शन का कथन किया तब तत्त्व और अर्थ के यथार्थ श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा है, न अकेले तत्त्व को और न ही अकेले अर्थ (पदार्थ) के श्रद्धान को, क्योंकि तत्त्व एवं अर्थ दोनों के स्वरूप अलग-अलग होने से मात्र एक के श्रद्धान करने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, अतः सूत्र में तत्त्व और अर्थ; इन दोनों पदों (अवस्थाओं) का ग्रहण किया है।^{६४}

पदार्थों के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धान का संग्रह करने के लिए दर्शन के पहले सम्यक् विशेषण दिया है। जिस-जिस प्रकार से जीवादिक पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्दर्शन है।^{६५} जीवादि पदार्थों को विषय करने वाला यह सम्यग्दर्शन किस प्रकार उत्पन्न होता है?^{६६}

सात तत्त्वों का प्ररूपण करते समय शिष्य ने शङ्का की है कि सूत्र में पुण्य-पाप का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि पदार्थ नव होते हैं? इसका समाधान करते हुए कहा कि पुण्य-पाप का आस्रव एवं बन्ध तत्त्व में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः इनका सूत्र में ग्रहण नहीं किया, क्योंकि यहाँ मोक्ष का प्रकरण होने से सात तत्त्वों की महत्ता दर्शाई गयी है।^{६७}

जो सम्यग्दर्शनादि एवं जीवादि पदार्थ कहे हैं, उनके विवक्षा-भेद को व्यवस्थित करने के लिए नामादि के द्वारा उनका निक्षेप किया गया है। इसमें जिस प्रकार जीव पदार्थ का नामादि से न्यास किया है, उसी प्रकार अन्य अजीवादि पदार्थों में भी नामादि निक्षेप विधि लगा लेना चाहिए।^{६८}

६४. सर्वा०सि०, वृ० १२। ६५. सर्वा०सि०, वृ० ५। ६६. सर्वा०सि०, वृ० १३। ६७. सर्वा०सि०, वृ० १९। ६८ सर्वा०सि०, वृ० २१, २२।

सम्यग्दर्शन के विषयरूप से जो जीवादि पदार्थ कहे हैं, उनमें से जीव पदार्थ का व्याख्यान किया,

अब अजीव पदार्थ का व्याख्यान विचार करना है, अतः उसकी संज्ञा और भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं।^{६९}

इस तरह पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि टीका में हर तत्त्व के कथन की समाप्ति एवं उत्थानिका में पदार्थ शब्द का ही निर्देश किया है। इस प्रकार जहाँ भी पूज्यपादाचार्य ने तत्त्व को पदार्थ बनाकर विवेचन किया है, वहाँ पर तत्त्व और पदार्थ के स्वरूप में अन्तर अवश्य है। इसे हमने प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय एवं समयसार के नवपदार्थ एवं नवतत्त्वों में अन्तर से सिद्ध किया है।

एक सामान्य कथन द्वारा यदि हम द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, पदार्थ एवं तत्त्व में अन्तर निकाल लें तो विषय और भी स्पष्ट हो जाएगा।

जैसे—छह द्रव्यों में पहले जीवद्रव्य है। पञ्चास्तिकाय में पहले जीवास्तिकाय है। नव पदार्थों में पहले जीवपदार्थ है एवं सात तत्त्वों में पहले जीवतत्त्व है। इन चारों में पहले जीव सामान्य है, लेकिन इन चारों के विशेषण अलग-अलग क्यों हैं ?

छहों द्रव्यों में जीवद्रव्य 'द्रव्य' की अपेक्षा से है, क्योंकि जीव में द्रव्य का लक्षण 'सत्' पाया जाता है।^{७०} अतः सर्वार्थसिद्धिकार ने प्रथम अध्याय के सूत्र संख्या आठ की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अब जीवद्रव्य की अपेक्षा सत् आदि अनुयोगद्वारों का कथन करते हैं।^{७१} इन अनुयोगद्वारों में जीव के गुणस्थान एवं मार्गणा का कथन किया है।

जैसे—द्रव्य; ऐसा कहने पर भी उन-उन पर्यायों को द्रवता है अर्थात् प्राप्त होता है, इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से युक्त जीव-अजीवादि और उनके भेद-प्रभेदों का संग्रह हो जाता है।^{७२} उस संग्रह नय से ग्रहण किए गए पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहार नय है।

शङ्का—विधि क्या है ? समाधान—जो संग्रह नय के द्वारा गृहीत अर्थ है, उसी के आनुपूर्वी क्रम से व्यवहार प्रवृत्त होता है, यह विधि है। यथा—सर्वसंग्रहनय के द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गयी है, वह अपने उत्तर भेदों के बिना व्यवहार कराने में असमर्थ है, इसलिए व्यवहार नय का आश्रय लिया जाता है। यथा—जो सत् है वह या तो द्रव्य है या गुण। इसी प्रकार संग्रहनय का विषय जो द्रव्य है, वह जीव-अजीव विशेष की अपेक्षा किए बिना व्यवहार कराने में असमर्थ है, इसलिए जीवद्रव्य है और अजीवद्रव्य है, इस प्रकार के व्यवहार का आश्रय लिया जाता है। जीव और अजीवद्रव्य भी जब तक संग्रह नय के विषय रहते हैं तब तक वे व्यवहार कराने में असमर्थ रहते हैं, इसलिए व्यवहार से जीव द्रव्य के देव, नारकी आदिरूप और अजीवद्रव्य के घटादिरूप भेदों का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार इस नय की प्रवृत्ति वहीं तक होती है जहाँ तक वस्तु में फिर कोई विभाग करना सम्भव नहीं रहता।^{७३} इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्यों के गुण एवं पर्यायों का विश्लेषण चरम सीमा तक करना द्रव्यत्व गुण के महत्त्व को प्रदर्शित करता है अर्थात् जीवादि द्रव्यों का 'द्रव्य' की परिभाषानुसार कथन करने से ही जीवादि द्रव्यों की निर्दोष सिद्धि होती है।

६९. सर्वा०सि०, वृ० ५२६। ७०. सर्वा०सि०, सू० २९, वृ० ५८२। ७१. सर्वा०सि०, वृ० ३४। ७२. सर्वा०सि०, वृ० २४३। ७३. सर्वा०सि०, वृ० २४४।

पञ्चास्तिकाय में जीवादि द्रव्यों के अस्तित्व का कथन है। जो चार्वाक आदि मत; जीव के अस्तित्व

को नहीं मानते या विकृत रूप में मानते हैं, उन्हें इस जीव के पूर्ण एवं निर्दोष अस्तित्व को शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ आदि द्वारा अनेक युक्ति-उपायों द्वारा सिद्ध किया है।^{७४}

इन्हीं जीवादि अस्तिकाय के अस्तित्व को कायरूप (बहुप्रदेशीयता) से स्वीकार करना अस्तिकाय है। इसमें जीवादि द्रव्य; आकाश के कितने प्रदेश क्षेत्र को स्पर्शित करते हैं, इसका भी ज्ञान होता है, अतः जीवादि जो बहुप्रदेशीय द्रव्य हैं, उन्हें 'क्षेत्र' की अपेक्षा कायवान् कहा है। इसी प्रकार अन्य बहुप्रदेशीय द्रव्यों के अस्तिकाय का अस्तित्व जानना चाहिए।

नव पदार्थों में प्रथम जीव है। पदार्थ शब्द की सिद्धि पहले कर दी गयी है। यहाँ मात्र जीव पदार्थ क्यों है? इसका कथन करना है। जीवादि पदार्थों का तीनों कालों में क्या स्वरूप रहता है? अतः जीवादि पदार्थ का विश्लेषण 'काल' न्यास विधि द्वारा किया गया है।

सात तत्त्वों में पहला जीव तत्त्व है। इस जीव के स्वतत्त्व क्या हैं? औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक; ये जीव के स्वतत्त्व हैं।^{७५} ये पाँच भाव असाधारण हैं, इसलिए जीव के स्वतत्त्व कहे जाते हैं। इनके क्रमशः दो, नव, अठारह, इक्कीस एवं तीन; इस प्रकार कुल तिरपेन भाव हैं।^{७६} जो गुणस्थान क्रम से अलग-अलग संख्या में पाए जाते हैं। इसी प्रकार आस्रव आदि तत्त्वों-भावों का विश्लेषण 'भाव' रूप में जानना चाहिए।^{७७}

'द्रव्य' न्यास विधि की अपेक्षा से जीवादि द्रव्य हैं। 'क्षेत्र' न्यास विधि की अपेक्षा से जीवादि अस्तिकाय हैं। 'काल' न्यास विधि की अपेक्षा से जीवादि पदार्थ हैं। 'भाव' न्यास विधि की अपेक्षा से जीवादि तत्त्व हैं। यही द्रव्य, अस्तिकाय, पदार्थ एवं तत्त्व में अन्तर है।

सत् आदि अनुयोगद्वारों को भी संक्षेप रुचि, मध्यम रुचि एवं विस्तार रुचि शिष्यापेक्षा एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव; न्यास विधि द्वारा घटित किया जा सकता है।^{७८}

द्रव्य	— सत्, संख्या	द्रव्यापेक्षा
क्षेत्र	— क्षेत्र, स्पर्शन	अस्तिकायापेक्षा मध्यम रुचि
काल	— काल, अन्तर	पदार्थापेक्षा विस्तार रुचि
भाव	— भाव, अल्पबहुत्व	तत्त्वापेक्षा संक्षेप रुचि

तत्त्वज्ञान की विविध विधायें—जैनागम में मूलरूप से जीव एवं अजीव; ये दो ही द्रव्य जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं।^{७९} जीव द्रव्य को नव अधिकारों द्वारा उसके अनेक भेद-प्रभेदों से परमत खण्डन, स्वमत मण्डन की विधि द्वारा विश्लेषित किया है।^{८०} अजीव द्रव्य के पाँच भेद-प्रभेदों के स्वरूप द्वारा जीव का हित-अहित का दिग्दर्शन कराया गया है।^{८१} इन जीव और अजीव द्रव्यों के ही आस्रव आदि विशेष भेद-प्रभेद हैं,^{८२} जिन्हें तत्त्व एवं पदार्थ नाम से सम्बोधित करते हैं। इन्हीं जीवादि तत्त्व एवं पदार्थों के सच्चे श्रद्धान को आचार्यों ने सम्यग्दर्शन कहा है जो आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। इस सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान; संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रहित सम्यग्ज्ञान कहलाता है।^{८३}

७४. पं०का०, गा० २७। ७५. तत्त्वा०सू०, अ० २, सू० १। ७६. तत्त्वा०सू०, अ० २, सू० २। ७७. पं०का०, गा० ८। ७८. सर्वा०, सि०, वृ० ३३। ७९. द्र०सं०, गा० १। ८०. द्र०सं०, गा० २। ८१. द्र०सं०, गा० १५। ८२. द्र०सं०, गा० २८। ८३. द्र०सं०, गा० ४१।

जिनागम में तत्त्वनिरूपण करने की एक प्राचीन शैली भगवन्त पुष्पदन्त और भूतबलि के द्वारा

प्रचारित रही, जिसके अनुसार उन्होंने षट्खण्डागम में सत्संख्या आदि अनुयोगों के द्वारा जीवादि तत्त्वों का वर्णन प्रारम्भ किया है। इस शैली में जीवद्रव्य का वर्णन बीस प्ररूपणाओं के द्वारा किया जाता है। यह शैली अत्यन्त विस्तृत होनेके साथ दुरुह भी है। साधारण क्षयोपशम वाले जीवों का इसमें प्रवेश होना सरल बात नहीं है।^{८४}

कुन्दकुन्दाचार्य ने इन तत्त्व, द्रव्य, पदार्थों की व्याख्या मुख्य और गौणरूप से की है और उसे आध्यात्मिकता का पुट देकर सरल बनाया गया है। इनका समय-समय पर टीकाकरण होकर प्रचार-प्रसार बढ़ता गया है।

कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उमास्वामी, जिनका दूसरा नाम गृद्धपिच्छाचार्य है; ने सात तत्त्वों का वर्णन सर्वप्रथम संस्कृत की सूत्र शैली में तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की रचना कर किया, जिसे मोक्षशास्त्र भी कहा जाता है। उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के नाम से ही इसका उल्लेख किया है। इसके ऊपर आचार्यों ने वृत्ति, वार्तिक, भाष्य, टिप्पण आदि अनेक टीकायें लिखीं हैं। इनमें गन्धहस्तिमहाभाष्य टीका की पुष्टि अनेक आचार्यों ने की है।^{८५} उन समन्तभद्राचार्य का वैयक्तिक, साहित्यिक, आगमिक एवं दार्शनिक परिचय आज के अनेक विद्वानों द्वारा शोधपूर्णरीति से सङ्कलित है।

—(साभार-तत्त्वार्थसार की प्रस्तावना से)

मोक्षशास्त्र के कर्ता श्री उमास्वामी का संक्षिप्त जीवनचरित्र

कम से कम लिखकर अधिक से अधिक प्रसिद्धि पाने वाले आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र से जैन समाज जितना अधिक परिचित है; उनके जीवन परिचय के सन्दर्भ में उतना ही अपरिचित है फिर भी संक्षिप्त परिचय जनश्रुति के आधार पर संग्रहीत है—

दिगम्बर शास्त्रों में उनके गृहस्थ जीवन का कुछ भी पता नहीं चलता है। साधुरूप में वह भी कुन्कुन्दाचार्य के पट्ट शिष्य बताये गए हैं और श्री “तत्त्वार्थसूत्र” की रचना के विषय में कहा गया है कि सौराष्ट्र देश के मध्य उर्जयन्तगिरि के निकट, गिरनार नाम के पत्तन में आसन्न भव्य, स्वहितार्थी, द्विजकुलोत्पन्न ‘सिद्धय्य’ नामक एक विद्वान शास्त्र का जानने वाला था, उसने ‘दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ यह एक सूत्र बनाया और उसे एक पाटिये पर लिख छोड़ा। एक समय चर्यार्थ श्री गृद्धपिच्छाचार्य ‘उमास्वामी’ नाम के धारक मुनिवर आये और उन्होंने आहार लेने के पश्चात् पाटिये को देखकर उसमें “सम्यक्” शब्द जोड़ दिया।

जब वह सिद्धय्य विद्वान् अपने घर आया तो उसने प्रसन्न होकर अपनी माता से पूछा कि किन महानुभाव ने यह शब्द लिखा है ? माता ने उत्तर दिया कि एक निर्ग्रन्थाचार्य ने यह जोड़ा है। इस पर वह गिरि और अरण्य में ढूँढता हुआ उनके आश्रम में पहुँचा और भक्तिभाव से नम्रीभूत होकर उक्त मुनिमहाराज से पूछने लगा कि आत्मा का हित क्या है ? मुनिराज ने कहा कि ‘मोक्ष’ है। इस पर मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय पूछा गया, जिसके उत्तररूप में ही इस ग्रन्थ का अवतार हुआ है। इसी कारण इस ग्रन्थ का अपर नाम “मोक्षशास्त्र” भी है।

८४. तत्त्वा०सा०, प्र० । ८५. तत्त्वा०सा०, प्र० ।

कैसा अच्छा वह समय था ? जब दिगम्बर उपासक सिद्धय्य के लिए एक निर्ग्रन्थाचार्य का शास्त्र

रचना करना इसी वात्सल्यभाव का द्योतक है। यह निर्ग्रन्थाचार्य उमास्वामी ही थे। धर्म और उसके लिए उनसे क्या-क्या किया? यह कुछ ज्ञात नहीं होता। इस कारण इन महान् आचार्य के विषय में इस संक्षिप्त वृत्तान्त से ही संतोष धारण करना पड़ता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में वह श्रुतिमधुर 'उमास्वामी' और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वह 'उमास्वाति' के नाम से प्रसिद्ध है।

—बाबू कामताप्रसाद जी कृत 'वीर पाठावलि' से

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी उन गौरवशाली आचार्यों में हैं, जिन्हें समग्र आचार्य परम्परा में पूर्ण प्रामाणिकता एवं असीम सम्मान प्राप्त है। उनके सूत्र ग्रन्थ महाशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्र अपर नाम मोक्षशास्त्र को जैन परम्परा में वही स्थान प्राप्त है जो स्थान हिन्दूधर्म में गीता को; ईसाइयों में बाइबिल को और इस्लाम में कुरान को प्राप्त है। अधिकांश जैन-मुख्यतः माता-बहिनें इसका प्रतिदिन पाठ करती हैं।

मात्र सात-आठ पृष्ठों में समाहित हो जाने वाली इस महान्तम कृति के सन्दर्भ में कहा गया है कि—

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।

फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥

तत्त्वार्थसूत्र के दश अध्यायों के भाव को भलीभाँति जानकर उसका पाठ करने से एक उपवास का फल प्राप्त होता है—ऐसा कथन मुनिपुङ्गवो अर्थात् श्रेष्ठ मुनिराजों द्वारा किया गया है।

गागर में सागर-इस सूक्ति को सार्थक करने वाला यह तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्रग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गये जैन ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है।

सूत्र पद की परिभाषा जयधवल में इस प्रकार प्राप्त होती है—

अल्पाक्षर-मसंदिग्धं सारवद्-गूढनिर्णयम् ।

निर्दोषं हेतुमत् तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः ॥

जो थोड़े अक्षरों से संयुक्त हो, सन्देह से रहित हो, जिसमें सार भरा हो, गूढ़ पदार्थों का निर्णय करने वाला हो, निर्दोष हो, युक्ति-युक्त हो और यथार्थ हो; उसे बुधजन "सूत्र" कहते हैं। सूत्र "क्रिया" पद रहित होते हैं, इनमें क्रिया का अध्याहार किया जाता है। दशवें अध्याय का पाँचवाँ सूत्र अपवाद है, जिसमें "गच्छति" क्रिया पद लगा हुआ है।

इस महान् ग्रन्थ पर संस्कृत भाषा में आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि ने सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति, आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक (सभाष्य) और आचार्य विद्यानन्द ने श्लोकवार्तिक (सभाष्य) नामक वार्तिक लिखे; जो आज उपलब्ध हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ से छपे तत्त्वार्थराजवार्तिक में जो बोल्ड टाइप में है और जिन पर संख्या हैं, वे वार्तिक हैं और संख्या के बाद जो सामान्य टाइप में मेटर दिया गया है, वह भाष्य है। इसी प्रकार श्लोकवार्तिक में वार्तिक; श्लोक में है और भाष्य; गद्य में है।

जिसमें सूत्रों के पदों का आश्रय लेकर प्रत्येक पद का विवेचन किया गया है, उसे वृत्ति कहते हैं।

श्लोकवार्तिक में वार्तिक की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

वार्तिकं हि सूत्राणा-मनुपपत्ति चोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धम्—सूत्र का अवतार

नहीं होने देने का तथा सूत्रों के अर्थ को सिद्ध न होने देने का ऊहापोह या तर्कणा करना और उसका परिहार करना तथा ग्रन्थ के विशेष अर्थ को प्रतिपादित करना **वार्तिक** है।

सूत्र ग्रन्थों के विस्तृत विवेचन को **भाष्य** कहते हैं।

कहा जाता है कि आचार्य समन्तभद्र ने इस पर गन्धहस्तिमहाभाष्य नामक भाष्य लिखा था जो आज अनुपलब्ध है। कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के मङ्गलाचरण को आधार बनाकर लिखा गया देवागम स्तोत्र अर्थात् आप्तमीमांसा; उस गन्धहस्तिमहाभाष्य का ही मङ्गलाचरण है।

इस मङ्गलाचरणरूप देवागम स्तोत्र अर्थात् आप्तमीमांसा पर भी अकलङ्कदेव ने आठ-सौ श्लोक प्रमाण अष्टशती नामक ग्रन्थ लिखा एवं आचार्य विद्यानन्द ने उक्त अष्टशती को गर्भित करते हुए आठ हजार श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री नामक महान ग्रन्थ लिखा।

इनके अतिरिक्त योगीन्द्रदेव कृत तत्त्वप्रकाशिका, अभयनन्दी कृत तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागर सूरि कृत तत्त्वार्थवृत्ति, भास्करनन्दी कृत सुखबोधतत्त्वार्थवृत्ति आदि अनेक टीकायें संस्कृत भाषा में प्राप्त होती हैं।

हिन्दी भाषा में भी इस पर वचनिका के रूप में अनेक टीकायें लिखी गई हैं। आधुनिक विद्वानों ने भी इस पर कलम चलाई है। इस प्रकार यह जैनदर्शन का सर्वाधिक लोकप्रिय सर्वमान्य सूत्रग्रन्थ है।

इसके नाम में मूल शब्द 'तत्त्वार्थ' है। तत्त्वार्थों का अत्यन्त संक्षेप में प्रतिपादन होने से इस ग्रन्थ का नाम तत्त्वार्थसूत्र रखा गया है। सूत्र का अर्थ ही संक्षिप्त होता है। मूल शब्द तत्त्वार्थ होने से ही सर्वार्थसिद्धि नामक इसकी टीका को तत्त्वार्थवृत्ति, राजवार्तिक नामक वार्तिक को तत्त्वार्थवार्तिक एवं श्लोकों में लिखे गये वार्तिक को तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन ग्रन्थों में तत्त्वार्थों का सूत्र, भाष्य, वृत्ति और वार्तिकों में प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार सर्वप्रथम विक्रम की द्वितीय शताब्दी के आरम्भ में आचार्य उमास्वामी द्वारा तत्त्वार्थों का सूत्र के रूप में प्रतिपादन किया गया था।

तदुपरान्त छठवीं शताब्दी में आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दि द्वारा उक्त सूत्रों में प्रतिपादित तत्त्वार्थों का विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए बारह हजार श्लोक प्रमाण तत्त्वार्थवृत्ति लिखी गई, जिसका नाम सर्व-अर्थ को सिद्ध करने वाली होने से सर्वार्थसिद्धि रखा गया।

उसके बाद विक्रम की आठवीं शताब्दी में आचार्य अकलङ्कदेव ने उक्त तत्त्वार्थों का विस्तार से विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए सोलह हजार श्लोक प्रमाण भाष्य सहित वार्तिक लिखे, जिसको तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थराजवार्तिक अथवा अकेला राजवार्तिक कहा गया।

तदुपरान्त विक्रम की नौवीं शताब्दी में आचार्य विद्यानन्द ने विशेष विस्तार से प्रतिपादन के लिए बीस हजार श्लोकों में भाष्य सहित वार्तिक लिखे, जिसका नाम तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार रखा गया, इसे अकेले श्लोकवार्तिक नाम से भी जाना जाता है।

ध्यान रहे; श्लोक प्रमाण में अनुष्टुप् छन्द के बत्तीस अक्षरों का एक श्लोक माना गया है। इसी के आधार पर ग्रन्थों के परिमाण की गणना की जाती रही है।

तत्त्वार्थों के; सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के रूप में प्रतिपादन के अलावा अत्यधिक विस्तार से प्रतिपादन के लिए भाष्य भी लिखे गए।

कहते हैं कि विक्रम की द्वितीय शताब्दी के आचार्य समन्तभद्र ने इस पर चौरासी हजार श्लोक प्रमाण

एक महाभाष्य लिखा था; जो अभी अनुपलब्ध है। एक भाष्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी लिखा गया है, जिसका नाम तत्त्वार्थाधिगम भाष्य है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत महान ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय पर अत्यन्त गम्भीर टीकायें प्रस्तुत करने वाले एवं पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय जैसे श्रावकाचार तथा लघुतत्त्वस्फोट जैसे स्तुति-काव्य के रचयिता; दसवीं सदी के आचार्य अमृतचन्द्र ने भी तत्त्वार्थसूत्र को आधार बनाकर तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ लिखा है; जो गद्य में न होकर पद्य में है।

उक्त ग्रन्थ में भी तत्त्व या अर्थ का नहीं अपितु तत्त्वार्थ का ही विवेचन है। इसके साथ लगा 'सार' पद इस बात का सूचक है कि इस ग्रन्थ में अमृतचन्द्राचार्य के पूर्व लिखे गये तत्त्वार्थप्रतिपादक सभी शास्त्रों का सार समाहित है। यद्यपि यह बात परम सत्य है तथापि तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर लिखे गए इस शास्त्र में आचार्य अकलङ्कदेव के तत्त्वार्थ-राजवार्तिक का विशेष आधार लिया गया है।

अनुष्टुप् (श्लोक) छन्दों में लिखे गये इस तत्त्वार्थसार नामक शास्त्र में कुल मिलाकर ६८६ अनुष्टुप् (श्लोक) छन्द हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी महान ग्रन्थों का मूल आधार मात्र आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र ही है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई सर्वार्थसिद्धि वृत्ति और तत्त्वार्थराजवार्तिक के सन्दर्भ में कहा गया है कि—

प्रमाण शास्त्र में अकलङ्क का तत्त्वार्थराजवार्तिक और लक्षणशास्त्र में पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि; मूल आधार ग्रन्थ हैं।

१. इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रमाणशास्त्र और लक्षणशास्त्र का मूल आधार भी तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई टीकायें ही हैं।

२. इसी प्रकार न्यायशास्त्र के आधार ग्रन्थ भी इस ग्रन्थ के मङ्गलाचरण पर लिखी आप्तमीमांसा और उसकी टीका अष्टशती व अष्टसहस्री है।

इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि जैन दर्शन सम्बन्धी प्रमाणशास्त्र, न्यायशास्त्र और लक्षणशास्त्र का मूल उद्गम यही तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ है।

यह भी सर्वविदित ही है कि न्याय का सूत्रग्रन्थ; परीक्षामुख भी आचार्य अकलङ्कदेव कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक के आधार से लिखा गया है। न्यायशास्त्र में आचार्य माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुख सूत्र का वही स्थान है जो स्थान सिद्धान्तशास्त्रों में तत्त्वार्थसूत्र का है।

परीक्षामुख सूत्र पर लिखी गई अनन्तवीर्य आचार्य कृत प्रमेयरत्नमाला नामक टीका और प्रभाचन्द्राचार्यकृत प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक महान ग्रन्थ का न्यायशास्त्र में वही स्थान है जो स्थान सिद्धान्तशास्त्रों में सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक का है।

इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि सम्पूर्ण न्यायशास्त्र; तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं का ऋणी है।

प्राचीनकाल में किसी भी विषय के प्रतिपादन के लिए सूत्र, वृत्ति, वार्तिक और भाष्य लिखे

जाते रहे हैं। जैनदर्शन में तत्त्वार्थ एक ऐसा विषय है, जिसका जानना मुक्तिमार्ग में अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मुक्तिमार्ग का मूल सम्यग्दर्शन; तत्त्वार्थों के श्रद्धान का ही नाम है।

तत्त्वार्थ क्या है ? इसका प्रतिपादन ही इन सभी ग्रन्थों का मूल प्रतिपाद्य है। तत्त्वार्थ सात होते हैं, उनका कथन प्रथम अध्याय के चौथे सूत्र से ही आरम्भ हो जाता है।

मोक्षमार्ग और मोक्ष का प्रतिपादन होने से इसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ के तत्त्वार्थसूत्र और मोक्षशास्त्र—ये दो नाम प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार इस छोटे से सूत्रग्रन्थ पर लिखे गए गम्भीर, विशाल और युक्ति-युक्त ग्रन्थों की समृद्ध परम्परा है। दिगम्बर जैन परम्परानुसार तत्त्वार्थसूत्र के दशों अध्यायों में कुल ३५७ सूत्र हैं—

प्रथम अध्याय में ३३ सूत्र हैं। द्वितीय अध्याय में ५३ सूत्र हैं। तृतीय अध्याय में ३९ सूत्र हैं। चतुर्थ अध्याय में ४२ सूत्र हैं। पञ्चम अध्याय में ४२ सूत्र हैं। षष्ठ अध्याय में २७ सूत्र हैं। सप्तम अध्याय में ३९ सूत्र हैं। अष्टम अध्याय में २६ सूत्र हैं। नौवें अध्याय में ४७ सूत्र हैं। दशम अध्याय में ९ सूत्र हैं।

दशों अध्यायों में पाँचवें अध्याय का ग्यारहवाँ सूत्र; सबसे अल्पाक्षर “नाणोः” है। पूरे तत्त्वार्थसूत्र में वर्णमाला के दो वर्ण; झ एवं फ का प्रयोग नहीं हुआ है।

तत्त्वार्थ सूत्र का मङ्गलाचरण उमास्वामी आचार्यकृत ही है। इस मङ्गलाचरण से अन्यमत के खण्डन एवं चार अनुयोगों की सिद्धि की है।

प्रथम अध्याय के पहले सूत्र में सम्यक् पद की आदि दीपक से सिद्धि की है जो सब टीकाओं से विशेष है।

दूसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन को चारों अनुयोगों की अनुभूति में घटाया है। चौथे सूत्र से नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव; इन चारों को सम्यक् एवं मिथ्यारूप समझाया है।

सूत्र संख्या सात में मनुष्य, तिर्यज्चों एवं देवों को वेदना से सम्यक्त्व क्यों नहीं हैं ? इसका युक्तिपूर्ण समाधान दिया है। सूत्र संख्या तेरह में मतिज्ञान के पर्यायवाची नामों के साथ इति शब्द से प्रतिभा, बुद्धि, मेधा है, किन्तु प्रतिभा का युक्तिपूर्ण दृष्टान्त अन्यत्र दुर्लभ है।

सूत्र संख्या पन्द्रह में अवग्रह, ईहा आदि की सरलतम अभिव्यक्ति। सूत्र संख्या पच्चीस में चारों ज्ञानों का विशेष-विशेष द्वारा खुलासा। सूत्र संख्या उन्तीस के विशेषार्थ की विशेष-विशेषता। सूत्र संख्या तीस के अनुसार चारों ज्ञान एक साथ कैसे हो सकते हैं ? सिद्ध किया है। सूत्र संख्या तैंतीस में सातों नय एक दृष्टान्त के द्वारा घटित किए हैं।

द्वितीय अध्याय के पहले अवतरण सूत्र के लिए प्रथम अध्याय का चौथे सूत्र के प्रथम पद “जीव तत्त्व” को माध्यम बनाया है। सूत्र में पाँचों भावों को पानी द्वारा प्रमाणित किया गया है।

सूत्र संख्या चार में क्षायिक भावों का अन्यत्र दुर्लभ विशेष कथन किया है।

सूत्र संख्या पच्चीस—जीव के यथार्थ मरण की व्यवस्था; दृष्टान्तों द्वारा सिद्धि।

सूत्र संख्या छब्बीस—पूरा वैज्ञानिक सूत्र; जिसमें आज के भौतिक विज्ञान की सिद्धि होती है। इस सूत्र पर विशेष रिसर्च होना चाहिए।

सूत्र संख्या अट्ठाइस में जीव के तीन मोड़े, चार समय की आगमोक्त सिद्धि।

सूत्र संख्या छत्तीस में औदारिक शरीर से जीव का उपकार। सूत्र संख्या तिरेपन में “चरमोत्तमदेहा”

पद का माहात्म्य एवं असमय (अकाल) मृत्यु की सिद्धि की है।

तृतीय अध्याय के पहले अवतरण सूत्र के लिए प्रथम अध्याय के सूत्र संख्या इक्कीसवें को माध्यम बनाया है। सूत्र संख्या सत्ताइस में; हुण्डावसर्पिणी काल के बारे में बताया है।

सूत्र संख्या बत्तीस में भरतक्षेत्र का एक-सौ नब्बेवाँ भाग का विस्तार; पूर्णरीति से सिद्ध किया है।

चूँकि इस अध्याय में भौगोलिक विषय होने के कारण अधिक वर्णन गणित विषय का है।

चतुर्थ अध्याय के पहले अवतरण सूत्र के लिए भी प्रथम अध्याय के सूत्र संख्या इक्कीसवें को माध्यम बनाया है। पहले सूत्र में चारों प्रकार के देवों को अन्य प्रकार से लोक प्रचलित मान्यतानुसार बतलाकर यथार्थ देव की सिद्धि की है। सूत्र संख्या चौदह में देवकृत काल विभाग से ज्योतिष देवों का कार्य एवं उनके प्रभाव-माहात्म्य को प्रतीक द्वारा सिद्ध किया है। सूत्र संख्या पच्चीस में लौकान्तिक देवों के दिशा-विदिशाओं में निवास के कारण सुख-समृद्धि के प्रतीक सभी दिशाओं के वास्तु शास्त्र का ज्ञान होता है। प्रथम अध्याय के सूत्र संख्या चार के अनुसार जीवतत्त्व को जीवपदार्थ बनाकर चार अध्यायों में व्याख्यान किया है।

अब क्रम प्राप्त अजीव तत्त्व को अजीव पदार्थ बनाकर उसका कथन **पाँचवें अध्याय** में किया है। इस अध्याय की बहुत कुछ वैज्ञानिक विशेषतायें प्रस्तावना एवं सूत्रों के विशेषार्थों में लिखी है।

अजीव पदार्थ का कथन करने के बाद; क्रम प्राप्त आस्रव तत्त्व है, उस आस्रव तत्त्व को पदार्थ बनाकर **छटवें अध्याय** का कथन किया है।

सूत्र संख्या पाँच में शुभाशुभ आस्रव की पच्चीस क्रियाओं का विशेष-समझने योग्य कथन है। जैसे-स्त्री, पुरुष या पशुओं के आने-जाने, उठने-बैठने के स्थानों में मल-मूत्र विसर्जन करना चौदहवें संख्या की समन्तानुपात क्रिया है। इसमें श्रावक या साधु को ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र विसर्जन करने का निषेध इसलिए होता है, क्योंकि जिन स्थानों पर मनुष्य या पशु चलते-फिरते या उठते-बैठते हैं, उन स्थानों पर मनुष्य और पशुओं के शरीर के जीवाणु मिट्टी आदि के सहारे नीचे गिर जाते हैं, वे जीवाणु; श्रावक या साधुओं के मल-मूत्र विसर्जन करते समय उनके शरीर पर चढ़ जाते हैं, जिससे अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है।

सूत्र संख्या नौ में जैन धर्म का वास्तु-शास्त्र है, इसके अनुसार यदि कार्य किया जाए तो व्यक्ति अनेक आस्रवों से बचकर, सुख-समृद्धि की ओर बढ़ सकता है। इस सूत्र के अर्थ का बहुत बार चिन्तन-मनन करते रहना चाहिए। यह सूत्र M.B.A. का भी सूत्र है। जिसमें समय, श्रम, सम्पदा एवं संक्लेश की बचत होती है, वही M.B.A. है। सूत्र संख्या दस में निह्व पद का विश्लेषण आगमोक्त किया है। सूत्र संख्या बारह में सातावेदनीय के आस्रव में अरिहन्त पूजा तत्परता एवं बाल-वृद्ध साधुओं की वैय्यावृत्त्य विशेष महत्त्व रखती है, ऐसा टीकाकार ने कथन किया है।

सूत्र संख्या बाइस एवं तेइस; ये दोनों सूत्र अशुभ नामकर्म एवं शुभ नामकर्म के आस्रव बताने वाले हैं, अतः इन दोनों के कारणों को एक-दूसरों के साथ घटित करने से सूत्र का हृदय समझ में आता है।

सूत्र संख्या चौबीस में शक्तितः त्याग पद में चार प्रकार के दान न लिखकर, औषधिदान को छोड़कर तीन दान ही क्यों लिखे ? इसका विशेष कथन किया है।

छटवें अध्याय के सूत्र संख्या तीन में शुभः पुण्यस्य..... कहा है, अतः शुभ क्या है ? ऐसी जिज्ञासा

होने पर इस सातवें अध्याय का प्रारम्भ हुआ है।

सूत्र संख्या चार में गुप्ति-समिति का अन्तर एवं आलोचितपान भोजन का विशेष तर्क पूर्ण कथन है जो अन्यत्र दुर्लभ है। सूत्र संख्या पाँच, छः, सात, आठ तक पाँचों व्रतों की पाँच-पाँच भावनाओं का चिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिए। सूत्र संख्या नौ, दश में; पापों में आस्था रखने वालों को उनका परिणाम दिखाया गया है। सूत्र संख्या ग्यारह में **आगमोक्त विज्ञान एवं पर्यावरण पर आधारित कथन किया है**, जिससे मानसिक एवं भौतिक; दोनों प्रकार के प्रदूषणों से बचा जा सकता है। प्राकृतिक संरक्षण संवर्द्धन के लिए ऐसा चिन्तन बहुत जरूरी है।

सूत्र संख्या तेरह में हिंसा की परिभाषा के साथ ही उसके भेदों को बतलाकर विशेष कथन किया है।

सूत्र संख्या अठारह में तीनों शल्यों का विशेष कथन किया है।

सूत्र संख्या तेइस में सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों के दृष्टिकोण खोले हैं।

सूत्र संख्या अट्ठाईस में ब्रह्मचर्य व्रत के पाँच अतिचारों का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आगमोक्त चित्रण किया है, जो व्यक्ति, परिवार, समाज एवं धर्म की रक्षा का प्रमुख सूत्र बन सकता है।

सूत्र संख्या उन्तीस में भाण्ड पद को रखने और न रखने के दोनों हेतुओं पर युक्ति पूर्ण विचार किया गया है। सूत्र संख्या तीस में दिग्गत के अतिचारों के कारणविशेषों का कथन किया है। सूत्र संख्या इक्तीस में देशव्रत के अतिचारों को स्थूल से सूक्ष्म की ओर कथन करके विषय को स्पष्ट किया है। सूत्र संख्या चौतीस में अतिथिसंविभागव्रत के अतिचारों में उपवास से उत्पन्न प्रमाद से होने वाले दोषों का आगमोक्त कथन किया है। सूत्र संख्या पैंतीस में सचित्त पद की व्युत्पत्ति से अचित्त पद की निर्दोष स्थापना की है जो चिन्तनीय-मननीय है।

छठवें एवं सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व को आस्रव पदार्थ बनाकर कथन किया है।

अब क्रम प्राप्त बन्धतत्त्व को बन्धपदार्थ बनाकर **“आठवें अध्याय”** का प्रारम्भ किया है।

आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र का “चौथा; प्रमाद” पद बन्ध हेतु चिन्तनीय है।

सूत्र संख्या तीन-प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास्तद्विधयः इस एक सूत्र का पूरा विश्लेषण ही इस **आठवें अध्याय में है।** सूत्र संख्या बारह में उच्च-नीच गोत्र का कथन आगमोक्त किया है।

विशेष—सूत्र संख्या पच्चीस के अनुसार शुभ नामकर्म की सैंतीस कर्म प्रकृतियों में परघात नामकर्म की प्रकृति को शुभ नामकर्म में गिना गया है, किन्तु परघात नामकर्म की परिभाषा के अनुसार—जिसके उदय से परशस्त्र आदिक का निमित्त पाकर व्याघात होता है, वह परघात नामकर्म है। ऐसा जो परघात नामकर्म का लक्षण; शुभ कर्म प्रकृतियों में गिना है, उसमें परशस्त्र आदिक का अवलम्बन क्यों लिखा है ?

शस्त्रविहीन; पशु-पक्षी आदि बड़े नाखून, नुकीले-विषैले दाँत आदि के द्वारा दूसरों का घात; स्वयं की रक्षा के लिए करते हैं, इसीलिए इसे परघात नामकर्म की प्रकृति कहा जाता है अर्थात् स्वयं की रक्षा के उपकरण होने के कारण; बड़े नाखून, नुकीले-विषैले दाँत आदि के द्वारा परघात होता है। उसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि परघात की शक्ति स्वयं के पास होती है तभी स्वयं की रक्षा हो सकती है।

मांसाहारी प्राणियों को भोजन आदि के लिए भी बड़े नाखून एवं नुकीले-विषैले दाँतों की आवश्यकता होती है, जिससे वे अपनी भूख को शान्त करते हैं, अतः यह उनकी परघात नामकर्म की प्रकृति है।

मनुष्यों में स्वयं की रक्षा करने की शक्ति; शस्त्र आदि परद्रव्य के निमित्त से आती है, क्योंकि मनुष्यों

के पास इतने बड़े, मजबूत नाखून एवं नुकीले-विषैले दाँत आदि नहीं होते हैं। उनके पास; पर-शस्त्र आदि से ही स्वयं की रक्षा करने की शक्ति आती है, अतः उसे परघात कहा जाता है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार करने से पर अर्थात् दूसरे शस्त्र आदि में भी परघात का आरोप किया जाता है, इसी लक्ष्य को सामने रखकर पूज्यपादाचार्य ने परशस्त्र आदि का निमित्त पाकर व्याघात करने को परघात नामकर्म कहा है।

स्वयं के परघात नामकर्म का उदय हो तब पर अर्थात् दूसरों के फलक, कवच आदि आवरण होने पर भी उनका घात होता है, वह परघात नाम कर्म है। (राजवार्तिक)

जिस प्रकार मृग को मरुस्थल; उपघात नामकर्म में कारण है, उसी प्रकार मनुष्यों को परशस्त्र आदि परघात नामकर्म में कारण है अर्थात् दूसरों को मारने में कारण है। यदि स्वयं के उपघात नामकर्म का उदय आता है तब स्वयं की रक्षा के लिए रखे गए शस्त्र, विष आदि भी अचानक-अबुद्धि पूर्वक स्वयं के घात के कारण बन जाते हैं। यह मनुष्य के उपघात नामकर्म की विशेषता है, लेकिन स्वयं के शस्त्र-विष आदि को योजना से बुद्धि पूर्वक स्वयं पर प्रयोग करने से आत्मघात कहा जाता है।

यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति—पुण्यगुणों की प्रसिद्धि का कारण यशःकीर्ति नामकर्म है। पाप की निन्दा का कारण अयशःकीर्ति नामकर्म है। इस लक्षण के अनुसार जीव; स्वयं के गुणों और पापों का अनुभव करे तभी उसे यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति कहा जाता है।

विशेष—यश फैलता है। कीर्ति गायी जाती है।

स्वयं की जानकारी के बिना यदि कोई हमारी प्रशंसा या निन्दा करता है तो करने वाले को उच्च-नीच गोत्र का आस्रव होगा।

अवर्णवाद—जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोषों से दूर हैं फिर भी उनमें दोष दिखाना अवर्णवाद है। जैसे-कुछ लोग; केवलियों, श्रुत, संघ, धर्म एवं देवों का अवर्णवाद करते हैं। वह दर्शनमोहनीय के आस्रव का कारण है। **अपवाद**—एकांश गुण या दोष का कथन करना अपवाद है। जैसे-सीता का अपवाद हुआ था, क्योंकि सीता का मात्र दोष यही था कि वह रावण के घर रही थी। इसमें सीता का अयशःकीर्ति नहीं था; अपवाद था।

नवें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्व को; संवर और निर्जरा पदार्थ बनाकर कथन किया है, इस पूरे अध्याय में सूत्र संख्या दो एवं तीन के भेद-प्रभेदों का ही कथन है।

सूत्र संख्या सात में बारह भावना के भाव; उनकी प्रतिक्रिया एवं उनके फल का वर्णन किया। सब भावनाओं में बोधिदुर्लभ भावना का विशेष चिन्तन अवश्य करना चाहिए।

सूत्र संख्या नौ में बाइस परीषहों का स्वरूप, उन्हें जीतने के उपायों का वर्णन किया गया है।

दशवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व का स्वरूप बताकर मोक्ष पदार्थ का कथन किया है।

सूत्र संख्या दो में वि-प्र; ये दो उपसर्ग हैं, प्रथम मोक्षो पद छूटने के अर्थ में हैं एवं अन्त का “मोक्ष” पद तत्त्व स्वरूप है।

सूत्र संख्या छह एवं सात; ये दोनों सूत्र मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के हेतु एवं उन हेतुओं को पुष्ट करने वाले दृष्टान्तों के लिए बनाये हैं।

कुछ लोगों की भ्रान्ति है कि संसारी प्राणी भी मरण के पहले ऊर्ध्वगमन करता है, किन्तु इस सूत्र

में मात्र मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के हेतु एवं उस ऊर्ध्वगमन को पुष्ट करने वाले दृष्टान्त ही दिए हैं।
अन्तिम नौवाँ सूत्र मोक्षपदार्थ को सिद्ध करने वाला है।
इस तरह तत्त्वार्थसूत्र के दशों अध्यायों के प्रमुख-प्रमुख सूत्रों के विशेष चिन्तन का सङ्केत यहाँ किया है। विशेष तो पूर्वापर प्रसङ्गों के साथ इस टीका में पढ़ने को मिलेगा ही।
आप सब धैर्य से इस अनुत्तर-जिज्ञासा को पढ़ने-पढ़ाने का लाभ लें, इसी मङ्गल कामना के साथ।

३-१०-२०१४
कीर्ति नगर—जयपुर (राज०)

ॐ नमः



विषयानुक्रमणिका

अथ प्रथमोऽध्यायः-अनुत्तर जिज्ञासा

क्रम	विषय	पृष्ठ
१.	इस तत्त्वार्थसूत्र-मोक्षशास्त्र ग्रन्थ के मङ्गलाचरण से प्रथम पद “मोक्षमार्गस्य” लिया है, अतः जिज्ञासु शिष्य ने जिज्ञासा की है कि मोक्षमार्ग क्या है ? इसके समाधान में पहला सूत्र-सम्यग्दर्शनज्ञान का अवतरण हुआ है ।	३
२.	पहले सूत्र में प्रथम पद “सम्यग्दर्शन” है, अतः जिज्ञासा हुई कि सम्यग्दर्शन क्या है ? इसके समाधान में दूसरा सूत्र-तत्त्वार्थश्रद्धानं रचा गया ।	६
३.	सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में तीसरा सूत्र-तन्निर्गमादधिगमाद्-वा रचा गया ।	७
४.	जिन सम्यक् तत्त्वों की सम्यक् श्रद्धा; सम्यग्दर्शन में कारण है, वे सम्यक् तत्त्व कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौथा सूत्र-जीवाजीवा रचा गया ।	८
५.	जिन सात तत्त्वों के नाम ऊपर के चौथे सूत्र में कहे हैं उनका एवं पहले सूत्र के सम्यग्दर्शन आदि के न्यास-निक्षेप अथवा विस्तार को सम्यक् या मिथ्यापना के द्वारा; कैसे जाना जा सकता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पाँचवाँ सूत्र-नामस्थापना रचा गया ।	९
६.	जीवादि तत्त्वों का एवं सम्यग्दर्शनादि का संक्षेप रुचि शिष्य को ज्ञान कैसे हो ? इस जिज्ञासा के समाधान में छठवाँ सूत्र-प्रमाणनयैरधिगमः रचा गया ।	११
७.	जीवादि तत्त्वों का एवं सम्यग्दर्शनादि का मध्यम रुचि शिष्य को ज्ञान कैसे हो ? इस जिज्ञासा के समाधान में सातवाँ सूत्र-निर्देशस्वामित्व रचा गया ।	१३
८.	जीवादि तत्त्वों का एवं सम्यग्दर्शनादि का विस्तार रुचि शिष्य को ज्ञान कैसे हो ? इस जिज्ञासा के समाधान में आठवाँ सूत्र-सत्सङ्ख्या रचा गया ।	१५
	विशेष-इस प्रकार दूसरे सूत्र से आठवें सूत्र तक सम्यग्दर्शन से सम्बन्धित कुल सात सूत्र रचे गये ।	
९.	सम्यग्दर्शन के बाद सम्यग्ज्ञान का कथन करना चाहिए, अतः नौवाँ सूत्र-मतिश्रुतावधि रचा गया ।	१६
१०.	सूत्र संख्या छह में जो “प्रमाणनयैरधिगमः” कहा था, जिसका अर्थ; प्रमाण एवं नयों के द्वारा जीवादि का ज्ञान होता है, किन्तु वहाँ यह नहीं बतलाया था कि प्रमाण क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में दशवाँ सूत्र-तत्प्रमाणे रचा गया ।	१७
११, १२.	इन पाँचों सम्यग्ज्ञानों के प्रमाण होने पर भी इन पाँचों में क्या भेद हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में ग्यारहवाँ सूत्र-आद्ये परोक्षं एवं बारहवाँ सूत्र-प्रत्यक्षमन्यत् रचे गये ।	१७-१८
१३.	पाँचों ज्ञानों में पहला मतिज्ञान है, अतः उसके पर्यायवाची नाम बतलाने के लिए तेरहवाँ सूत्र-मतिः स्मृतिः रचा गया ।	१९
१४.	मतिज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौदहवाँ सूत्र-तदिन्द्रियानिन्द्रिय रचा गया ।	२०

१५. वह मतिज्ञान मूलरूप से कितने प्रकार का हो सकता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पन्द्रहवाँ सूत्र—अवग्रहेहावाय रचा गया । २०
१६. ये अवग्रह आदि ज्ञान किनको जानते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सोलहवाँ सूत्र—बहु-बहुविध रचा गया । २१
१७. ये बहुबहुविध आदि किसके भेद हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्रहवाँ सूत्र—अर्थस्य रचा गया । २२
१८. अवग्रह ज्ञान किस पदार्थ को नहीं जानता ? इस जिज्ञासा के समाधान में अठारहवाँ सूत्र—व्यञ्जनस्यावग्रहः रचा गया । २३
१९. अव्यक्त पदार्थ का अवग्रह ज्ञान ही क्यों होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में उन्नीसवाँ सूत्र—न चक्षु रचा गया । २३
- विशेष—**इस प्रकार सूत्र संख्या तेरह से सूत्र संख्या उन्नीस तक मतिज्ञान का कथन किया गया है ।
२०. अब आगे क्रम प्राप्त दूसरा श्रुतज्ञान, उसकी उत्पत्ति एवं उसके भेद-प्रभेदों के कथन के लिए बीसवाँ सूत्र—श्रुतं मतिपूर्व रचा गया । २४
- २१, २२. अब क्रम प्राप्त तीसरा अवधिज्ञान है, अतः इस ज्ञान के भेद-प्रभेद एवं इसके स्वामियों के कथन के लिए इक्कीसवाँ सूत्र—भवप्रत्यय एवं बाईसवाँ सूत्र—क्षयोपशमनिमित्तः रचा गया । २५-२६
- २३, २४. अब क्रम प्राप्त चौथा मनःपर्ययज्ञान है, अतः इस ज्ञान के भेद-प्रभेद एवं इनकी विशेषता को बतलाने के लिए तेईसवाँ सूत्र—ऋजुविपुलमती एवं चौबीसवाँ सूत्र—विशुद्ध्य-प्रतिपाताभ्यां रचा गया । २७-२८
२५. पाँचों ज्ञानों में अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान; द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा में रूपी पदार्थों को जानते हैं, किन्तु इन दोनों ज्ञानों में विशेषता क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पच्चीसवाँ सूत्र—विशुद्धिक्षेत्र रचा गया । २९
२६. मति एवं श्रुतज्ञान का निबन्ध अर्थात् विषय सम्बन्ध क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में छब्बीसवाँ सूत्र—मतिश्रुतयोर्निबन्धो रचा गया । ३०
२७. इसी प्रकार अवधिज्ञान का निबन्ध अर्थात् विषय सम्बन्ध क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्ताईसवाँ सूत्र—रूपिष्ववधे रचा गया । ३०
२८. इसी प्रकार मनःपर्ययज्ञान का निबन्ध अर्थात् विषय सम्बन्ध क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में अट्ठाईसवाँ सूत्र—तदनन्तभागे रचा गया । ३०
२९. अब क्रम प्राप्त पाँचवाँ केवलज्ञान का विषय सम्बन्ध क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में उन्तीसवाँ सूत्र—सर्वद्रव्य रचा गया । ३१
३०. एक साथ; एक जीव के कितने ज्ञान हो सकते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तीसवाँ सूत्र—एकादीनि रचा गया । ३३
३१. इस प्रकार सूत्र संख्या नौ से सूत्र संख्या तीस तक सम्यग्ज्ञान का कथन किया गया है । इससे सभी जीवों के सम्यग्ज्ञान का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, अतः जिन जीवों के सम्यग्ज्ञान नहीं हैं, उनके कितने मिथ्याज्ञान हो सकते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्तीसवाँ सूत्र—मतिश्रुतावधयो-विपर्ययश्च रचा गया । ३४

३२. इन तीनों ज्ञानों को मिथ्याज्ञान सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त द्वारा बत्तीसवाँ सूत्र—सदसतो रचा गया । ३५
३३. इस प्रकार सूत्र संख्या छह के आधार से प्रमाण के भेद-प्रभेदों का कथन किया, किन्तु नय क्या हैं ? कितने हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तैंतीसवाँ सूत्र—नैगमसंग्रह रचा गया । ३५
- इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या तैंतीस तक अनुत्तर जिज्ञासा से पहला अध्याय पूर्ण हुआ ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः—अनुत्तर जिज्ञासा

१. तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय का अवतरण; प्रथम अध्याय के चौथे सूत्र—जीवाजीवास्रव में पहला जीवतत्त्व है, अतः जीव के स्वतत्त्व क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पहला सूत्र—औपशमिकक्षायिकौ रचा गया । ३९
२. पहले सूत्र में औपशमिक आदि पाँच भाव जीव के स्वतत्त्व कहे हैं, इन पाँचों भावों के संख्यात्मक भेद बताने के लिए दूसरा सूत्र—द्विनवाष्टा रचा गया । ४१
३. सूत्र में कथित संख्यानुसार प्रथम औपशमिक भावों के दो नामों को बतलाने के लिए तीसरा सूत्र—सम्यक्त्वचारित्रे रचा गया । ४१
४. द्वितीय क्षायिक भावों के नौ नामों को बतलाने के लिए चौथा सूत्र—ज्ञानदर्शन रचा गया । ४२
५. तृतीय मिश्र (क्षायोपशमिक) भावों के अठारह नामों को बतलाने के लिए पाँचवाँ सूत्र—ज्ञानाज्ञान रचा गया । ४५
६. चतुर्थ औदयिक भावों के इक्कीस नामों को बतलाने के लिए छठवाँ सूत्र—गतिकषायलिङ्ग रचा गया । ४७
७. पञ्चम पारिणामिक भावों के तीन नामों को बतलाने के लिए सातवाँ सूत्र—जीवभव्या..... रचा गया । ४८
८. पारिणामिक भावों के तीन भेदों में पहला जीवत्व भाव है, अतः उसी जीवत्व भाव का क्या लक्षण है ? इस जिज्ञासा के समाधान में आठवाँ सूत्र—उपयोगो लक्षणम् रचा गया । ४९
९. इस उपयोग के भेद-प्रभेद कितने हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में नववाँ सूत्र—स द्विविधोऽष्ट रचा गया । ४९
१०. इन उपयोगों को धारण करने वाले जीव कितने प्रकार के हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में दशवाँ सूत्र—संसारिणो मुक्ताश्च रचा गया । ५०
११. संसारी जीव के अनेक भेद-प्रभेद हैं, अतः उनके भेद करने के लिए ग्यारहवाँ सूत्र—समनस्काऽमनस्काः रचा गया । ५०
१२. समनस्क एवं अमनस्क जीव भी अनेक प्रकार के होते हैं, अतः इसके समाधान में बारहवाँ सूत्र—संसारिणस्त्रसस्थावराः रचा गया । ५१
१३. त्रस जीवों के बारे में अधिक कथन हैं, अतः पहले स्थावर जीवों के भेद बताने के लिए तेरहवाँ सूत्र—पृथिव्यप्तेजो रचा गया । ५१

१४. त्रस किन्हें कहते हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में चौदहवाँ सूत्र—द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः रचा गया। ५३
१५. त्रस; द्वीन्द्रिय से प्रारम्भ होते हैं, अतः इन्द्रियाँ कितनी होती हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में पन्द्रहवाँ सूत्र—पञ्चेन्द्रियाणि रचा गया। ५३
१६. इन पाँचों इन्द्रियों के रचना-स्वरूप क्या हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में सोलहवाँ सूत्र—द्विविधानि रचा गया। ५४
१७. इन पाँचों इन्द्रियों के दो भेद कहने के बाद; उसके पहले भेद का नाम-स्वरूप क्या है? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्रहवाँ सूत्र—निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् रचा गया। ५४
१८. इन्द्रियों के दूसरे भेद का नाम-स्वरूप क्या है? इस जिज्ञासा के समाधान में अठारहवाँ सूत्र—लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् रचा गया। ५५
१९. इन्द्रियाँ पाँच होती हैं, यह सूत्र संख्या पन्द्रह में कहा है, अतः उन पाँचों इन्द्रियों के नाम क्या हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में उन्नीसवाँ सूत्र—स्पर्शनरसन रचा गया। ५५
२०. उन पाँचों इन्द्रियों के क्रमशः विषय क्या है? इस जिज्ञासा के समाधान में बीसवाँ सूत्र—स्पर्शरस रचा गया। ५६
२१. पाँचों इन्द्रियों के विषय बतलाये, किन्तु मन का विषय क्या है? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्कीसवाँ सूत्र—श्रुतमनिन्द्रियस्य रचा गया। ५६
२२. स्थावर जीव की कितनी इन्द्रियाँ हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में बाईसवाँ सूत्र—वनस्पत्यन्तानामेकम् रचा गया। ५६
२३. त्रस जीव की कितनी इन्द्रियाँ हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में तेईसवाँ सूत्र—कृमिपिपीलिका रचा गया। ५७
२४. सूत्र संख्या ग्यारह में संसारी जीव के दो भेद; समनस्क-अमनस्क कहे थे, किन्तु समनस्क किसे कहते हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में चौबीसवाँ सूत्र—सज्जिनः समनस्काः रचा गया। ५७
२५. जब संसारी जीव; मरण को प्राप्त होते हैं तब वे एक गति से दूसरी गति में कैसे जाते हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में पच्चीसवाँ सूत्र—विग्रहगतौ रचा गया। ५८
२६. उस विग्रह गति में संसारी जीव कैसे गमन करते हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में छब्बीसवाँ सूत्र—अनुश्रेणि गतिः रचा गया। ६०
२७. मुक्त जीव की श्रेणी में गति कैसी होती है? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्ताईसवाँ सूत्र—अविग्रहा जीवस्य रचा गया। ६१
२८. संसारी जीव की श्रेणी में गति कौन-सी होती है? इस जिज्ञासा के समाधान में अट्ठाईसवाँ सूत्र—विग्रहवती च संसारिणः रचा गया। ६१
२९. एक समय वाली गति कैसी होती है? इस जिज्ञासा के समाधान में उन्तीसवाँ सूत्र—एक-समयाऽविग्रहा रचा गया। ६३
३०. कब तक जीव; नये शरीर के योग्य वर्गणाओं को ग्रहण नहीं करता है? इस जिज्ञासा के समाधान में तीसवाँ सूत्र—एकं द्वौ रचा गया। ६३
३१. संसारी जीव; मरण करके पुनः जन्म धारण करते हैं, अतः जन्म के कितने भेद होते हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्तीसवाँ सूत्र—सम्पूर्च्छन रचा गया। ६४

३२. जन्म लेने के स्थान को योनि कहते हैं, वे योनियाँ कितने प्रकार की होती हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बत्तीसवाँ सूत्र—सचित्तशीत रचा गया । ६५
३३. गर्भ जम किन जीवों का होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में तैंतीसवाँ सूत्र—जरायुजाण्डज रचा गया । ६६
३४. उपपाद जन्म किनका होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौंतीसवाँ सूत्र—देवनारकाणा-मुपपादः रचा गया । ६६
३५. सम्मूर्च्छन जन्म किनका होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पैँतीसवाँ सूत्र—शेषाणां सम्मूर्च्छनम् रचा गया । ६७
३६. संसारी जीवों के जन्म के समय जो शरीर मिलते हैं, वे शरीर कितने प्रकार के होते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में छत्तीसवाँ सूत्र—औदारिक रचा गया । ६७
३७. इन पाँचों शरीरों की विशेषता बतलाने के लिए सैंतीसवाँ सूत्र—परं परं सूक्ष्मम् रचा गया । ६८
३८. इन पाँचों शरीरों के प्रदेशों को नियत करने के लिए अड़तीसवाँ सूत्र—प्रदेशतोऽसङ्ख्येय गुणं रचा गया । ६८
३९. तैजस एवं कर्मणशरीर के प्रदेशों को नियत करने के लिए उनतालीसवाँ सूत्र—अनन्तगुणे परे रचा गया । ६९
४०. तैजस एवं कर्मण शरीर की विशेषता के लिए चालीसवाँ सूत्र—अप्रतीघाते रचा गया । ६९
४१. तैजस एवं कर्मण शरीर; जीव के साथ कब से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्तालीसवाँ सूत्र—अनादिसम्बन्धे च रचा गया । ७०
४२. तैजस एवं कर्मण शरीर किन-किन जीवों के हो सकते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में ब्यालीसवाँ सूत्र—सर्वस्य रचा गया । ७०
४३. एक साथ; एक जीव के कितने शरीर हो सकते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तैंतालीसवाँ सूत्र—तदादीनि भाज्यानि रचा गया । ७१
४४. अन्तिम कर्मण शरीर की क्या विशेषता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चबालीसवाँ सूत्र—निरुपभोगमन्त्यम् रचा गया । ७१
४५. पाँचों शरीरों में से औदारिक शरीर किस जन्म वाले के होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पैँतालीसवाँ सूत्र—गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् रचा गया । ७२
४६. वैक्रियिक शरीर किस जन्म वाले के होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में छ्यालीसवाँ सूत्र—औपपादिकं वैक्रियिकम् रचा गया । ७२
- ४७, ४८. वैक्रियिक एवं तैजस शरीर की विशेषता बतलाने के लिए सैंतालीसवाँ सूत्र—लब्धिप्रत्ययं च एवं अड़तालीसवाँ सूत्र—तैजसमपि रचा गया । ७२-७३
४९. आहारक शरीर की विशेषता बतलाने के लिए उनज्वासवाँ सूत्र—शुभं विशुद्ध रचा गया । ७३
५०. संसार में सभी जीवों को; सभी जन्म के जीवों के लिङ्ग जानने की जिज्ञासा होती है, इस जिज्ञासा के समाधान में पचासवाँ सूत्र—नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि रचा गया । ७४
५१. जहाँ के जीव नपुंसक नहीं होते, उनके लिए इक्यावनवाँ सूत्र—न देवाः रचा गया । ७५

५२. जहाँ के जीव तीनों वेद वाले होते हैं, उनके लिए बावनवाँ सूत्र—शेषास्त्रिवेदाः रचा गया । ७५
५३. असमय-अकाल में किन-किन की मृत्यु नहीं होती है ? इस जिज्ञासा के समाधान में तिरपेनवाँ सूत्र—औपादिकचरमोत्तमदेहा रचा गया । ७५

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या तिरपेन तक
अनुत्तर जिज्ञासा से दूसरा अध्याय पूर्ण हुआ ।

अथ तृतीयोऽध्यायः—अनुत्तर जिज्ञासा

१. प्रथम अध्याय के इक्कीसवें सूत्र में “भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्” कहा है । इस सूत्र से नारकी पद की सिद्धि होती है, अतः वे नारकी कहाँ रहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पहला सूत्र—रत्नशर्करा रचा गया । ७८
२. उन भूमियों में नरकों की कितनी संख्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में दूसरा सूत्र—तासु त्रिंशत् रचा गया । ७९
३. उन नरकों में कर्मकृत दुःख कैसे होते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तीसरा सूत्र—नारका नित्या रचा गया । ८०
४. वे नारकी आपस में भी दुःख देते हैं, इसकी सिद्धि के लिए चौथा सूत्र—परस्परोदीरितदुःखाः रचा गया । ८१
५. उन नारकियों को परकृत दुःख भी कौन से नरक तक मिलते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पाँचवाँ सूत्र—संकलिष्टा रचा गया । ८१
६. उन सातों नरकों के नारकियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में छठवाँ सूत्र—तेष्वेक रचा गया । ८२
७. अधोलोक में नरकों का संक्षिप्त वर्णन करके, अब मध्यलोक की रचना कैसी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सातवाँ सूत्र—जम्बूद्वीपलवणोदादयः रचा गया । ८३
८. उन द्वीप एवं समुद्रों की रचना एवं विस्तार कितना है ? इस जिज्ञासा के समाधान में आठवाँ सूत्र—द्विर्द्विर्विष्कम्भा रचा गया । ८४
९. उन द्वीप-समुद्रों के ठीक मध्य में क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में नौवाँ सूत्र—तन्मध्ये रचा गया । ८४
१०. उस मध्य के जम्बूद्वीप में कितने क्षेत्र हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में दशवाँ सूत्र—भरत हैमवत रचा गया । ८५
११. उन क्षेत्रों को किनसे विभाजित किया गया है ? इस जिज्ञासा के समाधान में ग्यारहवाँ सूत्र—तद्विभाजिनः रचा गया । ८६
१२. जिन पर्वतों से उन क्षेत्रों को विभाजित किया गया, उन पर्वतों के रङ्ग कैसे हैं इस जिज्ञासा के समाधान में बारहवाँ सूत्र—हेमार्जुनतपनीय रचा गया । ८६
१३. उन पर्वतों के विस्तार एवं तट भाग कैसे हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तेरहवाँ सूत्र—मणिविचित्रपाशर्वा रचा गया । ८७

१४. उन पर्वतों पर कौन-कौन से तालाब है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौदहवाँ सूत्र—पद्म-महापद्म रचा गया । ८७
१५. उन पर्वतों में पहले पर्वत के पद्म तालाब का विस्तार अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पन्द्रहवाँ सूत्र—प्रथमो योजन रचा गया । ८८
१६. उस पहले पद्म तालाब की गहराई कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सोलहवाँ सूत्र—दशयोजनावगाहः रचा गया । ८८
१७. उस पद्म तालाब के मध्य क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्रहवाँ सूत्र—तन्मध्ये योजनं पुष्करं रचा गया । ८८
१८. पहले पद्म तालाब के आगे महापद्मादि तालाबों एवं कमलों का विस्तार अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई-गहराई कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में अठारहवाँ सूत्र—तद्-द्विगुण-द्विगुणा रचा गया । ८९
१९. उन पद्म आदि तालाबों के कमलों पर किनका-कैसे-कब तक निवास है ? इस जिज्ञासा के समाधान में उन्नीसवाँ सूत्र—तन्निवासिन्यो रचा गया । ८९
२०. उन पद्म आदि तालाबों से कितनी नदियाँ निकलती हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बीसवाँ सूत्र—गङ्गासिन्धु रचा गया । ९०
२१. उन पहली-पहली गङ्गा आदि नदियों के बहने की दिशा कौन-सी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्कीसवाँ सूत्र—द्वयोर्दयोः रचा गया । ९१
२२. उन दूसरी-दूसरी सिन्धु आदि नदियों की बहने की दिशा कौन-सी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में बाईसवाँ सूत्र—शेषास्त्वपरगाः रचा गया । ९१
२३. उन गङ्गा-सिन्धु आदि की सहायक नदियाँ कितनी हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तेईसवाँ सूत्र—चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता रचा गया । ९१
२४. सूत्र संख्या दश के अनुसार जम्बूद्वीप में भरत आदि सात क्षेत्र हैं, अतः उनमें प्रथम भरतक्षेत्र है । उस भरतक्षेत्र का विस्तार कितना है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौबीसवाँ सूत्र—भरतः षड्विंश रचा गया । ९२
२५. चौबीसवें सूत्र से भरतक्षेत्र का विस्तार समझ लेने पर उसके आगे के पर्वत एवं क्षेत्र; विदेहक्षेत्र तक कितने-कितने विस्तार वाले हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पच्चीसवाँ सूत्र—तद्-द्विगुणद्विगुणविस्तारा रचा गया । ९२
२६. भरतक्षेत्र; जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में है, अतः भरतक्षेत्र से लेकर विदेह तक के सभी पर्वत एवं क्षेत्र दूने-दूने हैं, किन्तु जम्बूद्वीप के उत्तर दिशा के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार कितना है ? इस जिज्ञासा के समाधान में छब्बीसवाँ सूत्र—उत्तरा दक्षिणतुल्याः रचा गया । ९३
२७. जम्बूद्वीप के भरत-ऐरावत क्षेत्र में होने वाले वृद्धि-हास को बतलाने के लिए सत्ताईसवाँ सूत्र—भरतैरावतयो रचा गया । ९३
२८. भरत-ऐरावत को छोड़कर बाकी भूमियाँ कैसी हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में अट्ठाईसवाँ सूत्र—ताभ्यामपरा रचा गया । ९५
२९. उन बाकी भूमियों के मनुष्य-तिर्यञ्चों की आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में उन्तीसवाँ सूत्र—एकद्वित्रि पत्योपम रचा गया । ९६

३०. दक्षिण की भूमियों के समान ही ऐरावत क्षेत्र को छोड़कर उत्तर के क्षेत्रों के मनुष्य और तिर्यज्चों की आयु है, यह बतलाने के लिए तीसवाँ सूत्र—तथोत्तराः रचा गया । ९६
३१. जम्बूद्वीप में भरत-ऐरावत को छोड़कर बाकी के दक्षिण एवं उत्तर के क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्य और तिर्यज्चों की आयु निर्धारण करने के बाद; शेष बचे विदेहक्षेत्र के मनुष्य एवं तिर्यज्चों की आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्तीसवाँ सूत्र—विदेहेषु सङ्ख्येयकालाः ९७
- रचा गया ।
३२. जम्बूद्वीप के सातों क्षेत्रों की व्यवस्था बतलाने के बाद पुनः भरतक्षेत्र का विस्तार; जम्बूद्वीप के कितने भाग प्रमाण हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बत्तीसवाँ सूत्र—भरतस्य विष्कम्भो रचा गया । ९७
३३. जम्बूद्वीप के क्षेत्र-पर्वतों का कथन करने के बाद; धातकीखण्डद्वीप में कितने क्षेत्र और पर्वत हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तैंतीसवाँ सूत्र—द्विर्धातकीखण्डे रचा गया । ९८
३४. धातकीखण्डद्वीप के क्षेत्र और पर्वतों का कथन करने के बाद; पुष्करार्द्धद्वीप में कितने क्षेत्र और पर्वत हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौत्तीसवाँ सूत्र—पुष्करार्द्धे च रचा गया । ९८
३५. पुष्करार्द्धद्वीप में; धातकीखण्डद्वीप के समान ही क्षेत्र-पर्वतों की संख्या क्यों कही; दूनी क्यों नहीं कही ? इस जिज्ञासा के समाधान में पैंतीसवाँ सूत्र—प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः रचा गया । ९९
३६. जम्बूद्वीप-धातकीखण्डद्वीप एवं पुष्करार्द्ध द्वीप मिलकर अढाईद्वीप कहलाता है। इन ढाई-द्वीपों में रहने वाले मनुष्य कितने प्रकार के हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में छत्तीसवाँ सूत्र—आर्या म्लेच्छाश्च रचा गया । ९९
३७. अढाईद्वीपों में जितने भूमियों के नाम बतलाये हैं, उन भूमियों में से कितनी कर्मभूमियाँ हैं और कितनी भोगभूमियाँ हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सैंतीसवाँ सूत्र—भरतैरावतविदेहाः १०१
- रचा गया ।
३८. उन अढाईद्वीप में रहने वाले सभी मनुष्यों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में अडतीसवाँ सूत्र—नृस्थिती परावरे रचा गया । १०२
३९. उन अढाईद्वीप में रहने वाले सभी तिर्यज्चों की आयु भी मनुष्यों के समान है, इस बात को बतलाने के लिए उनतालीसवाँ सूत्र—तिर्यग्योनिजानां च रचा गया । १०३

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या उनतालीस तक

अनुत्तर जिज्ञासा से तीसरा अध्याय पूर्ण हुआ ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः—अनुत्तर जिज्ञासा

१. प्रथम अध्याय के इक्कीसवें सूत्र में “भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्” कहा है। इस सूत्र में देव पद की सिद्धि ली गयी है, अतः वे देव कितने प्रकार के हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में इस अध्याय का पहला सूत्र—देवाश्चतुर्णिकायाः रचा गया । १०४
२. आदि के तीन निकायों के देवों की कितनी लेश्यायें होती हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में दूसरा सूत्र—आदितस्त्रिषु रचा गया । १०७

३. उन चारों निकायों के क्रमशः मुख्य भेद बतलाने के लिए संख्यात्मक तीसरा सूत्र—दशाष्टपञ्च-
..... रचा गया । १०८
४. उन दस आदि संख्यात्मक भेदों में प्रत्येक में कितने पद वाले देव होते हैं ? इस जिज्ञासा के
समाधान में चौथा सूत्र—इन्द्रसामानिक रचा गया । १०८
५. जिन निकायों में जो पद नहीं होते हैं, उनके निषेध के लिए पाँचवाँ सूत्र—त्रायस्त्रिंश-
लोकपालवर्ज्या रचा गया । १०९
६. जिन निकायों में दो-दो इन्द्र होते हैं, उनके लिए छठवाँ सूत्र—पूर्वयोर्दीन्द्राः रचा गया । ११०
७. उन देवों का सुख किस प्रकार का होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सातवाँ सूत्र—
कायप्रवीचारा रचा गया । १११
८. जिन देवों के काय प्रवीचार नहीं होता, उन देवों के सुख कैसा होता है ? इस जिज्ञासा के
समाधान में आठवाँ सूत्र—शेषाः स्पर्शरूप रचा गया । १११
९. जिन देवों के कोई प्रवीचार नहीं होता, वे कौन-से देव हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में नौवाँ
सूत्र—परेऽप्रवीचाराः रचा गया । ११२
१०. पहले निकाय; भवनवासियों के दश भेदों के नाम क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में दशवाँ
सूत्र—भवनवासिनो रचा गया । ११२
११. दूसरे निकाय; व्यन्तरवासियों के आठ भेदों के नाम क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में
ग्यारहवाँ सूत्र—व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुष रचा गया । ११३
१२. तीसरे निकाय; ज्योतिष्क देवों के पाँच भेदों के नाम क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में
बारहवाँ सूत्र—ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ रचा गया । ११३
१३. ज्योतिष्क देवों की गति विशेष का ज्ञान कराने के लिए तेरहवाँ सूत्र—मेरुप्रदक्षिणा
रचा गया । ११३
१४. ज्योतिष्क देवों के द्वारा क्या होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौदहवाँ सूत्र—तत्कृतः
कालविभागः रचा गया । ११४
१५. मनुष्य लोक के बाहर के ज्योतिष्क कैसे रहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पन्द्रहवाँ सूत्र—
बहिरवस्थिताः रचा गया । ११६
१६. चौथे निकाय का नाम क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सोलहवाँ सूत्र—वैमानिकाः
रचा गया । ११६
१७. उन वैमानिकों के मूल कितने भेद हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्रहवाँ सूत्र—कल्पोपपन्नाः
कल्पातीताश्च रचा गया । ११७
१८. वे वैमानिक किस तरह रहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में अठारहवाँ सूत्र—उपर्युपरि
रचा गया । ११७
१९. वे वैमानिक देव ऊपर-ऊपर किन नामों से निवास करते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में
उन्नीसवाँ सूत्र—सौधर्मैशान रचा गया । ११७
२०. उन वैमानिकों का परस्पर क्या अन्तर है ? इस जिज्ञासा के समाधान में बीसवाँ सूत्र—
स्थितिप्रभाव रचा गया । ११८

२१. उन वैमानिक देवों का परस्पर में क्या-क्या हीन होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्कीसवाँ सूत्र—गतिशरीर रचा गया । ११९
२२. सूत्र संख्या दो में आदि के तीन निकायों की लेश्या निर्धारण की हैं, किन्तु चौथे निकाय में लेश्या का क्रम क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में बाईसवाँ सूत्र—पीतपद्मशुक्ललेश्या रचा गया । १२०
२३. सूत्र संख्या सत्रह में जो वैमानिकों के दो भेद—कल्पोपपन्न एवं कल्पातीत किए हैं एवं सूत्र संख्या उन्नीस में समस्त वैमानिक देवों के नाम कहे हैं, उन वैमानिक नामों में कल्पोपपन्न नाम कहाँ तक हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तेईसवाँ सूत्र—प्राग्गैवेयकेभ्यः कल्पाः रचा गया । १२०
२४. लौकान्तिक देव; वैमानिक हैं, अतः उनका निवास कहाँ है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौबीसवाँ सूत्र—ब्रह्मलोकालया रचा गया । १२०
२५. ब्रह्मलोक में कितने प्रकार के लौकान्तिक देव हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पच्चीसवाँ सूत्र—सारस्वतादित्य रचा गया । १२१
२६. जैसे लौकान्तिक देव एक भव अवतारी होते हैं, वैसे ही क्या अन्य देव भी शीघ्र मोक्षगामी नियम से होते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में छब्बीसवाँ सूत्र—विजयादिषु द्विचरमाः रचा गया । १२२
२७. नारकी, मनुष्य एवं देवों के निवास आदि निश्चित हैं, ऐसा तीसरे-चौथे अध्याय के सूत्रों में बतलाया है, किन्तु तिर्यञ्च कौन हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्ताईसवाँ सूत्र—औपपादिकमनुष्येभ्यः रचा गया । १२२
२८. नारकी, मनुष्य एवं तिर्यञ्चों की आयु यथास्थान बतला दी, अब क्रम प्राप्त देवों की आयु में भी प्रथम निकाय भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु के लिए अट्ठाईसवाँ सूत्र—स्थितिरसुरनाग रचा गया । १२२
२९. अब क्रम प्राप्त द्वितीय निकाय; व्यन्तर एवं तृतीय निकाय; ज्योतिष्क देवों की आयु संक्षेप में है, अतः आगे कहेंगे, किन्तु अब चौथे निकाय; वैमानिक देवों में प्रारम्भ के दो कल्पों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में उन्तीसवाँ सूत्र—सौधर्मैशानयोः रचा गया । १२३
३०. इसके आगे के दो कल्पों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में तीसवाँ सूत्र—सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त रचा गया । १२३
३१. इसके आगे ब्रह्मलोक से अच्युत कल्प के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्तीसवाँ सूत्र—त्रिसप्तनवैकादश रचा गया । १२४
३२. इसके आगे नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश, चार विजयादि की उत्कृष्ट आयु एवं एक सर्वार्थसिद्धि की आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में बत्तीसवाँ सूत्र—आरणाच्युता रचा गया । १२४
३३. अब सौधर्मैशान कल्प के देवों की जघन्य आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में तैंतीसवाँ सूत्र—अपरा पल्योपममधिकम् रचा गया । १२५
३४. सौधर्म-ऐशान कल्प के आगे देवों की जघन्य आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौँतीसवाँ सूत्र—परतः परतः रचा गया । १२५

विशेष—इस प्रकार यहाँ वैमानिक देवों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु का; सूत्र संख्या उन्तीस से सूत्र संख्या चौतीस तक कथन हुआ।

३५. चूँकि यहाँ आयु सम्बन्धी सूत्रों का कथन प्राप्त है, अतः जिन नारकियों की उत्कृष्ट आयु का कथन तीसरे अध्याय के छठवें सूत्र में कर आये हैं, किन्तु उन नारकियों की जघन्य आयु का कथन अभी तक नहीं किया है, अतः उन नारकियों के सातों नरकों की जघन्य आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पैंतीसवाँ सूत्र—नारकाणां च द्वितीयादिषु रचा गया। १२६
३६. पहले नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु से दूसरे नरक के नारकियों की जघन्य आयु निकल आती है, किन्तु पहले नरक के नारकियों की जघन्य आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में छत्तीसवाँ सूत्र—दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् रचा गया। १२७
३७. अब क्रम प्राप्त भवनवासियों की उत्कृष्ट आयु सूत्र संख्या अट्ठाईस में कर आये थे, किन्तु उनकी जघन्य आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए सैंतीसवाँ सूत्र—भवनेषु च रचा गया। १२७
३८. देवों की जघन्य आयु का प्रसङ्ग है, अतः भवनवासियों की जघन्य आयु के बाद; व्यन्तरो की जघन्य आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में अडतीसवाँ सूत्र—व्यन्तराणां च रचा गया। १२७
३९. व्यन्तरो की जघन्य आयु का कथन करके; उनकी उत्कृष्ट आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में उनतालीसवाँ सूत्र—परा पत्योपममधिकम् रचा गया। १२८
४०. क्रम प्राप्त ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चालीसवाँ सूत्र—ज्योतिष्काणां च रचा गया। १२८
४१. ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु का कथन करने के बाद; उनकी जघन्य आयु कितनी है ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्तालीसवाँ सूत्र—तदष्टभागोऽपरा रचा गया। १२८
४२. सूत्र संख्या पच्चीस में लौकान्तिक देवों का अलग से कथन किया गया है, अतः उन लौकान्तिक देवों की भी आयु सब से अलग होना चाहिए। इस जिज्ञासा के समाधान में ब्यालीसवाँ सूत्र—लौकान्तिकानामष्टौ रचा गया। १२९

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या ब्यालीस तक

अनुत्तर जिज्ञासा से चौथा अध्याय पूर्ण हुआ।

इस प्रकार प्रथम अध्याय से लेकर चौथे अध्याय तक

जीव तत्त्व को जीव पदार्थ बनाकर कथन किया।

अथ पञ्चमोऽध्यायः—अनुत्तर जिज्ञासा

अब क्रम प्राप्त अजीव तत्त्व को अजीव पदार्थ बनाकर, पाँचवें अध्याय का प्रारम्भ करेंगे।

१. अजीव पदार्थ के नाम एवं भेद कितने हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में इस अध्याय का पहला सूत्र—अजीवकाया रचा गया। १३०
२. प्रथम अध्याय के सूत्र संख्या उन्तीस—“सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य” में द्रव्य पद आया है। वे द्रव्य कौन हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में दूसरा सूत्र—द्रव्याणि रचा गया। १३०

३. प्रथम सूत्र के कथनानुसार क्या द्रव्य चार ही हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तीसरा सूत्र—जीवाश्च रचा गया । १३०
४. उक्त कहे गये पाँचों द्रव्यों की विशेषता क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौथा सूत्र—नित्यावस्थितान्यरूपाणि रचा गया । १३१
५. चौथे सूत्र में पाँचों द्रव्यों की विशेषता सामान्य से कही है, किन्तु पुद्गल द्रव्य में अरूपीपन घटित न हो, अतः इसके लिए पाँचवाँ सूत्र—रूपिणः पुद्गलाः रचा गया । १३१
६. धर्म-अधर्म आदि को द्रव्य संज्ञा प्राप्त है, अतः ये धर्म-अधर्म आदि कितने द्रव्य हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में छठवाँ सूत्र—आ आकाशादेकद्रव्याणि रचा गया । १३२
७. सूत्र संख्या के अनुसार धर्म-अधर्म एवं आकाश एक-एक द्रव्य हैं, इन तीनों द्रव्यों का विशेष ज्ञान कराने के लिये सातवाँ सूत्र—निष्क्रियाणि च रचा गया । १३२
८. धर्म-अधर्म आदि कायवान द्रव्य हैं, अतः किस द्रव्य के कितने प्रदेशों की संख्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में आठवाँ सूत्र—असङ्ख्येयाः प्रदेशा रचा गया । १३२
९. आकाश द्रव्य के कितने प्रदेश हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में नौवाँ सूत्र—आकाशस्यानन्ताः रचा गया । १३३
१०. पुद्गल द्रव्य के कितने प्रदेश हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में दशवाँ सूत्र—सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाश्च रचा गया । १३३
११. पुद्गल के अणु में प्रदेशों का प्रसङ्ग प्राप्त न हो, अतः ग्यारहवाँ सूत्र—नाणोः रचा गया । १३४
- विशेष—नाणोः पूरे तत्त्वार्थसूत्र में सबसे कम वर्णों का सबसे छोटा सूत्र है ।**
१२. ये धर्मादि द्रव्य कहाँ रहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बारहवाँ सूत्र—लोकाकाशेऽवगाहः रचा गया । १३४
१३. धर्म-अधर्म द्रव्य; लोकाकाश के कितने क्षेत्र में रहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तेरहवाँ सूत्र—धर्माधर्मयोः कृत्स्ने रचा गया । १३४
१४. पुद्गल द्रव्य; लोकाकाश के कितने क्षेत्र में रहता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौदहवाँ सूत्र—एकप्रदेशादिषु भाज्यः रचा गया । १३५
१५. जीव द्रव्य; लोकाकाश के कितने क्षेत्र में व्याप्त हो सकता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पन्द्रहवाँ सूत्र—असङ्ख्येयभागादिषु रचा गया । १३५
१६. जीव द्रव्य; लोकाकाश के असंख्यात भाग आदि में व्याप्त कैसे हो सकता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सोलहवाँ सूत्र—प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां रचा गया । १३६
१७. धर्म-अधर्म द्रव्य के उपकार क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्रहवाँ सूत्र—गतिस्थित्युपग्रहौ रचा गया । १३६
१८. आकाश द्रव्य का उपकार क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में अठारहवाँ सूत्र—आकाशस्यावगाहः रचा गया । १३७
१९. पुद्गल द्रव्य का जीव के प्रति उपकार क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में उन्नीसवाँ सूत्र—शरीरवाङ्मनः रचा गया । १३८
२०. पुद्गल द्रव्य का जीव के साथ पुद्गल के प्रति भी उपकार है, इस बात को बतलाने के लिए

- बीसवाँ सूत्र—सुखदुःखजीवित रचा गया । १३९
२१. जीव द्रव्य का जीव के प्रति क्या उपकार है ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्कीसवाँ सूत्र—परस्परपग्रहो रचा गया । १४०
२२. सभी द्रव्यों में जो परिणमन हो रहा है, वह किस द्रव्य के निमित्त से हो रहा है ? इस जिज्ञासा के समाधान में बाईसवाँ सूत्र—वर्तनापरिणाम रचा गया । १४०
२३. पुद्गल किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तेईसवाँ सूत्र—स्पर्शरसगन्ध रचा गया । १४१
२४. पुद्गल द्रव्य में कितनी पर्यायें हो सकती हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौबीसवाँ सूत्र—शब्दबन्ध रचा गया । १४२
२५. पुद्गल के भेद कितने हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पच्चीसवाँ सूत्र—अणवः स्कन्धाश्च रचा गया । १४४
२६. पुद्गल में स्कन्ध की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस जिज्ञासा के समाधान में छब्बीसवाँ सूत्र—भेदसङ्घातेभ्य रचा गया । १४५
२७. पुद्गल में अणु की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्ताईसवाँ सूत्र—भेदादणुः रचा गया । १४५
२८. भेद से, संघात से एवं भेद-संघात से अणुः स्कन्ध बनते हैं, लेकिन भेद-संघात दोनों पदों को क्यों लिया है ? इस जिज्ञासा के समाधान में अट्ठाईसवाँ सूत्र—भेदसङ्घाताभ्यां रचा गया । १४६
२९. धर्मादिकों की द्रव्य संज्ञा सूत्र संख्या दो में रखी थी, किन्तु द्रव्य किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में उन्तीसवाँ सूत्र—सद्-द्रव्यलक्षणम् रचा गया । १४६
३०. द्रव्य का लक्षण सत् है, किन्तु सत् किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तीसवाँ सूत्र—उत्पादव्ययध्रौव्य रचा गया । १४६
३१. सूत्र संख्या चार में द्रव्यों को नित्य-अवस्थित आदि कहा था, किन्तु नित्य क्या ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्तीसवाँ सूत्र—तद्-भावाव्ययं नित्यं रचा गया । १४७
३२. उसी नित्य को अनित्य कहना अथवा उसी अनित्य को नित्य कहना; परस्पर विरुद्ध है ? इस जिज्ञासा के समाधान में बत्तीसवाँ सूत्र—अर्पितानर्पितसिद्धेः रचा गया । १४८
३३. पुद्गल में बन्ध से संघात की उत्पत्ति होती है, किन्तु उसमें बन्ध किससे होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में तैंतीसवाँ सूत्र—स्निग्धरूक्षत्वाद्-बन्धः रचा गया । १४८
३४. पुद्गल में स्निग्ध-रूक्ष गुण होने पर भी जिस कारण से बन्ध नहीं होता, उस कारण की जिज्ञासा के समाधान में चौंतीसवाँ सूत्र—न जघन्यगुणानाम् रचा गया । १४९
३५. जघन्य गुणों से बन्ध नहीं होता तब क्या समान गुणों से बन्ध हो सकता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पैंतीसवाँ सूत्र—गुणसाम्ये सदृशानाम् रचा गया । १४९
३६. जघन्य गुण एवं समान गुण के साथ बन्ध नहीं होता है तब किस गुण के साथ बन्ध होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में छत्तीसवाँ सूत्र—द्वयधिकादिगुणानां तु रचा गया । १५०
३७. अधिक गुण वाला क्या करता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सैंतीसवाँ सूत्र—बन्धेऽधिकौ रचा गया । १५०

३८. सूत्र संख्या उन्तीस में द्रव्य का लक्षण कह आये हैं, किन्तु प्रसङ्ग अनुसार द्रव्य का लक्षण और भी हो सकता है, अतः अडतीसवाँ सूत्र—गुणपर्ययवद्-द्रव्यम् रचा गया। १५१
३९. सूत्र संख्या दो से धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल की द्रव्य संज्ञा प्राप्त हुई है, उसी सूत्र से आगे तीसरे सूत्र में जीव की भी द्रव्य संज्ञा रखी है, इस तरह अभी तक कुल द्रव्यों की संख्या पाँच हो गयी, किन्तु अभी तक जिस द्रव्य का कथन नहीं किया, उस द्रव्य के नामकरण के लिए उनतालीसवाँ सूत्र—कालश्च रचा गया। १५१
४०. वर्तना लक्षण से मुख्य काल के अस्तित्व का ज्ञान होता है, किन्तु परिणामादि से व्यवहार काल का प्रमाण क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चालीसवाँ सूत्र—सोऽनन्तसमयः रचा गया। १५२
४१. सूत्र संख्या अडतीस में द्रव्य को गुणपर्ययवत् कहा है, किन्तु गुण क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्तालीसवाँ सूत्र—द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः रचा गया। १५२
४२. कई बार सूत्रों में परिणाम शब्द आया है, किन्तु परिणाम का क्या अर्थ है ? इस जिज्ञासा के समाधान में ब्यालीसवाँ सूत्र—तद्-भावः परिणामः रचा गया। १५३

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या ब्यालीस तक
अनुत्तर जिज्ञासा से पाँचवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

अथ षष्ठोऽध्यायः—अनुत्तर जिज्ञासा

१. अब क्रम प्राप्त आस्रव तत्त्व को आस्रव पदार्थ बनाकर छठवें अध्याय का प्रारम्भ करेंगे। आस्रव में योग-हेतु क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पहला सूत्र—कायवाङ्मनःकर्म योगः रचा गया। १५४
२. आस्रव का लक्षण क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में दूसरा सूत्र—स आस्रवः रचा गया। १५४
३. वह आस्रव; किस योग से किसका आस्रव कहलाता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में तीसरा सूत्र—शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य रचा गया। १५५
४. उस आस्रव की फलगत विशेषता क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौथा सूत्र—सकषायकषाययोः रचा गया। १५५
५. पहले सकषाय-साम्परायिक आस्रव के कितने भेद हैं ? उनके नाम के साथ ही उनके उत्तर भेद कितने हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पाँचवाँ सूत्र—इन्द्रियकषाया रचा गया। १५६
६. योग सामान्य होने पर जीवों के अनन्त परिणाम भेद हैं, जिससे उसके आस्रव में विशेषता आती है, इस बात का ज्ञान कराने के लिए छठवाँ सूत्र—तीव्रमन्दज्ञाताज्ञात रचा गया। १५९
७. तीव्र-मन्द आदि भाव तो समझ में आते हैं, किन्तु अधिकरण क्या है ? भेद सहित समझाओ, इस जिज्ञासा के समाधान में सातवाँ सूत्र—अधिकरणं जीवाजीवाः रचा गया। १६०
८. इनमें पहला; जीव अधिकरण है, उसके भेद कितने हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में आठवाँ सूत्र—आद्यं संरम्भ रचा गया। १६०
९. इसमें दूसरा; अजीव अधिकरण है, उसके नाम; भेद सहित कितने हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में नौवाँ सूत्र—निर्वर्तनानिक्षेप रचा गया। १६१

विशेष—यह नौवाँ सूत्र जैन धर्म में वास्तु शास्त्र की सिद्धि करता है।

१०. अभी तक सामान्य से आस्रव कहा, आगे वह आस्रव किस क्रिया या व्यवहार से किस कर्म का नाम प्राप्त करता है ? इस जिज्ञासा के अनुसार ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के आस्रव में कारण क्या हैं ? इसके समाधान में दशवाँ सूत्र—तत्प्रदोषनिहव रचा गया। १६३
११. ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के आस्रव कहने के बाद; क्रम प्राप्त वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण कहना चाहिए, किन्तु वेदनीय कर्म के भी दो भेद—सातावेदनीय, असातावेदनीय हैं, इनमें से असातावेदनीय कर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में ग्यारहवाँ सूत्र—दुःखशोक रचा गया। १६४
१२. अब सातावेदनीय कर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बारहवाँ सूत्र—भूतव्रत्यनुकम्पा रचा गया। १६५
१३. अब क्रम प्राप्त चौथा मोहनीय कर्म है, इसके भी दो भेद—दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय हैं, इनमें से पहले दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तेरहवाँ सूत्र—केवलश्रुत रचा गया। १६६
१४. अब चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौदहवाँ सूत्र—कषायोदयात् रचा गया। १६७
१५. अब क्रम प्राप्त पाँचवाँ आयु कर्म है, इसके भी चार भेद—नरकायु, तिर्यग्जायु, मनुष्यायु, देवायु हैं। इसमें प्रथम नरकायु कर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पन्द्रहवाँ सूत्र—बह्वारम्भपरिग्रहत्वं रचा गया। १६८
१६. द्वितीय तिर्यग्जायु कर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सोलहवाँ सूत्र—माया तैर्यग्योनस्य रचा गया। १६८
१७. तृतीय मनुष्यायु कर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्रहवाँ सूत्र—अल्पारम्भ रचा गया। १६८
१८. जो मनुष्यायु में विशेष कारण हो सकता है, इसे बताने के लिए अठारहवाँ सूत्र—स्वभावमार्दवं च रचा गया। १६९
१९. ऐसे भी क्या कोई निमित्त हैं जो चारों आयुओं के आस्रव में कारण हों ? इस जिज्ञासा के समाधान में उन्नीसवाँ सूत्र—निश्शीलव्रतत्वं च सर्वेषां रचा गया। १६९
२०. अब क्रम प्राप्त चतुर्थ देवायु कर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बीसवाँ सूत्र—सरागसंयमसंयमासंयमाकाम रचा गया। १६९
२१. देवायु कर्म का विशेष निमित्त भी है, उसे बतलाने के लिए, इक्कीसवाँ सूत्र—सम्यक्त्वं च रचा गया। १७०
२२. अब क्रम प्राप्त छठवाँ नामकर्म है, इसके भी दो भेद—अशुभ नामकर्म, शुभ नामकर्म हैं। इसमें पहला अशुभ नामकर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बाईसवाँ सूत्र—योगवक्रता रचा गया। १७०
२३. शुभ नामकर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तेईसवाँ सूत्र—तद्विपरीतं शुभस्य रचा गया। १७१

२४. जो शुभ नामकर्म के आस्रव में विशेष कारण हो सकता है, उसे बतलाने के लिए चौबीसवाँ सूत्र—दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता रचा गया। १७२
२५. अब क्रम प्राप्त सातवाँ गोत्र कर्म है। इसके भी दो भेद—नीच गोत्र, उच्च गोत्र हैं। इसमें पहले नीच गोत्र कर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में पच्चीसवाँ सूत्र—परात्मनिन्दाप्रशंसे रचा गया। १७४
२६. उच्चगोत्र कर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में छब्बीसवाँ सूत्र—तद्-विपर्ययो रचा गया। १७४
२७. अब क्रम प्राप्त आठवाँ अन्तराय कर्म के आस्रव में निमित्त क्या हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्ताईसवाँ सूत्र—विघ्नकरणमन्तरायस्य रचा गया। १७४

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या सत्ताईस तक
अनुत्तर जिज्ञासा से छठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

अथ सप्तमोऽध्यायः—अनुत्तर जिज्ञासा

१. आस्रव पदार्थ की व्याख्या में छठवें अध्याय के सूत्र संख्या तीन में आस्रव के शुभ और अशुभ; ये दो कारण कहे हैं, इनमें शुभ क्या है? इस जिज्ञासा के समाधान में पहला सूत्र—हिंसा नृतस्तेया रचा गया। १७६
२. पहले सूत्र में पाँच पापों के त्याग को व्रत कहा है, अतः उन पाँच प्रकार के व्रतों में भेद करने के लिए दूसरा सूत्र—देशसर्वतोऽणुमहती रचा गया। १७७
३. इन व्रतों की किसलिए और किस प्रकार भावना करनी चाहिए? इस जिज्ञासा के समाधान में तीसरा सूत्र—तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च रचा गया। १७७
४. प्रथम अहिंसाव्रत की भावना के लिए चौथा सूत्र—वाङ्मनो रचा गया। १७७
५. द्वितीय सत्यव्रत की भावना के लिए पाँचवाँ सूत्र—क्रोधलोभभीरुत्व रचा गया। १८०
६. तृतीय अचौर्यव्रत की भावना के लिए छठवाँ सूत्र—शून्यागारविमोचितावास रचा गया। १८०
७. चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत की भावना के लिए सातवाँ सूत्र—स्त्रीरागकथाश्रवण रचा गया। १८१
८. पञ्चम अपरिग्रह व्रत की भावना के लिए आठवाँ सूत्र—मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय रचा गया। १८३
९. पाँचों व्रतों की दृढ़ता के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनार्यें कहीं हैं, किन्तु पाँचों पापों में भी विद्वान् पुरुषों को क्या भावना करनी चाहिए? इस जिज्ञासा के समाधान में नौवाँ सूत्र—हिंसादिष्विहा रचा गया। १८३
१०. कुछ लोग पाप करते हुये भी सुखी देखे जाते हैं, जिससे धर्म या पुण्य करने वालों की आस्था डिगती है, अतः पुण्य से आस्था न डिगे, इसलिए पाँचों पापों के प्रति क्या भाव रहना चाहिए? इस जिज्ञासा के समाधान में दशवाँ सूत्र—दुःखमेव वा रचा गया। १८४
११. संसार में; साधारण, गुणी, दुःखी एवं विरोधी आदि अनेक प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं, अतः किनके प्रति किस प्रकार की भावना करनी चाहिए? इस जिज्ञासा के समाधान में ग्यारहवाँ सूत्र—मैत्रीप्रमोद रचा गया। १८५
१२. संसार के दुःख से छूटने के लिए विशेष भावना कौन-सी हैं? इस जिज्ञासा के समाधान में बारहवाँ सूत्र—जगत्कायस्वभावौ वा रचा गया। १९०

१३. इस अध्याय के प्रथम सूत्र में पाँच पापों से विरति होना व्रत कहा है, उसमें प्रथम पाप; हिंसा कहा है, अतः हिंसा किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तेरहवाँ सूत्र—प्रमत्तयोगात् रचा गया । १९१
१४. दूसरा पाप; झूठ है। झूठ के लक्षण के लिए चौदहवाँ सूत्र—असदभिधानमनृतम् रचा गया । १९३
१५. तीसरा पाप; चोरी है ? चोरी के लक्षण के लिए पन्द्रहवाँ सूत्र—अदत्तादानं स्तेयम् रचा गया । १९४
१६. चौथा पाप; कुशील है ? कुशील के लक्षण के लिए सोलहवाँ सूत्र—मैथुनमब्रह्म रचा गया । १९४
१७. पाँचवाँ पाप; परिग्रह है। परिग्रह के लक्षण के लिए सत्रहवाँ सूत्र—मूर्च्छा परिग्रहः रचा गया । १९४
१८. जो प्राणी हिंसा आदि के दोषों को समझकर; अहिंसा आदि व्रतों को पालता है, उसे क्या कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में अठारहवाँ सूत्र—निश्शल्यो व्रती रचा गया । १९५
१९. उन व्रतियों के भेद दिखाने के लिए उन्नीसवाँ सूत्र—अगार्यनगारश्च रचा गया । १९६
२०. इस अध्याय के सूत्र संख्या दो में भी व्रतों के अणुव्रत एवं महाव्रत; ये दो भेद कहे हैं और सूत्र संख्या उन्नीस में भी व्रतियों के दो भेद कहे हैं, अतः अणुव्रतों को धारण करने वालों को क्या कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बीसवाँ सूत्र—अणुव्रतोऽगारी रचा गया । १९७
२१. अणुव्रती-अगारी के और भी विशेषव्रत होते हैं, उसे बतलाने के लिए इक्कीसवाँ सूत्र—दिग्देशानर्थदण्डविरति रचा गया । १९८
२२. इन सभी व्रतों को पालन करने के साथ ही व्रती क्या करने वाला होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में बाईसवाँ सूत्र—मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता रचा गया । २०१
२३. सूत्र संख्या अठारह में निश्शल्योव्रती कहा है, शल्य तीन होती हैं, तीसरी मिथ्यादर्शन शल्य है जो सम्यग्दर्शन की विरोधी है, अतः सम्यग्दर्शन सदोष-अतिचार हो सकता है, उसके अतिचारों को बताने के लिए तेईसवाँ सूत्र—शङ्काकाङ्क्षा रचा गया । २०२
२४. जैसे-सम्यग्दृष्टि के अतिचार कहे। वैसे ही पाँच व्रत एवं सप्तशीलों के भी अतिचार होते हैं क्या ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौबीसवाँ सूत्र—व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् रचा गया । २०३
२५. यहाँ अणुव्रती-अगारी का अधिकार है, अतः उसके पाँच अणुव्रत हैं, उनमें प्रथम अहिंसाणुव्रत है, उसके पाँच अतिचार बताने के लिए पच्चीसवाँ सूत्र—बन्धवधच्छेदाति रचा गया । २०३
२६. द्वितीय सत्याणुव्रत है, उसके पाँच अतिचार बताने के लिए छब्बीसवाँ सूत्र—मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यान रचा गया । २०४
२७. तृतीय अचौर्याणुव्रत है, उसके पाँच अतिचार बताने के लिए सत्ताईसवाँ सूत्र—स्तेनप्रयोग तदाहतादान रचा गया । २०६
२८. चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत है, उसके पाँच अतिचार बताने के लिए अट्ठाईसवाँ सूत्र—परविवाह-करणेत्वरिका रचा गया । २०७
२९. पञ्चम परिग्रह-परिमाणुव्रत है, उसके पाँच अतिचार बताने के लिए उन्तीसवाँ सूत्र—क्षेत्रवास्तु रचा गया । २०९
३०. सप्तशीलव्रतों में प्रथम दिग्ब्रत है, उसके पाँच अतिचार बताने के लिए तीसवाँ सूत्र—ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम रचा गया । २११
३१. द्वितीय देशव्रत है, उसके पाँच अतिचार बताने के लिए इक्तीसवाँ सूत्र—आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्द रचा गया । २१२

३२. तृतीय अनर्थदण्ड-विरति है, उसके पाँच अतिचार बताने के लिए बत्तीसवाँ सूत्र—कन्दर्प-कौत्कुच्य रचा गया । २१३
३३. चतुर्थ सामायिक व्रत है, उसके पाँच अतिचार बताने के लिए तैंतीसवाँ सूत्र—योगदुष्प्रणिधाना रचा गया । २१४
३४. पञ्चम प्रोषधोपवास व्रत है, इसके पाँच अतिचार बताने के लिए चौँतीसवाँ सूत्र—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गा रचा गया । २१५
३५. षष्ठ भोगोपभोग-परिमाणव्रत है, उसके पाँच अतिचार बताने के लिए पैंतीसवाँ सूत्र—सचित्तसम्बन्ध रचा गया । २१७
३६. सप्तम अतिथिसंविभागव्रत है, उसके पाँच अतिचार बताने के लिए छत्तीसवाँ सूत्र—सचित्त-निक्षेपापिधान रचा गया । २१९
३७. सूत्र संख्या बाईस में सल्लेखना व्रत अलग से गिना था, अतः उसके पाँच अतिचार बताने के लिए सैंतीसवाँ सूत्र—जीवितमरणाशंसा रचा गया । २१९
३८. पूर्व सूत्रों में शक्तितस्त्यागतपसी कहा पुनः अतिथिसंविभागव्रत में चार दान कहे हैं, अतः दान किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में अडतीसवाँ सूत्र—अनुग्रहार्थ रचा गया । २२०
३९. दान में विशेषता किससे आती है ? इस जिज्ञासा के समाधान में उनतालीसवाँ सूत्र—विधि-द्रव्यदातृपात्र रचा गया । २२१

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या उनतालीस तक
अनुत्तर जिज्ञासा से सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

अथ अष्टमोऽध्यायः—अनुत्तर जिज्ञासा

छठवें एवं सातवें अध्याय में आस्रव पदार्थ का वर्णन किया है । अब क्रम प्राप्त बन्ध तत्त्व को बन्ध पदार्थ निर्देशित कर, आठवें अध्याय का प्रारम्भ करेंगे ।

१. बन्ध पदार्थ का कथन करने के पहले बन्ध के कारणों का कथन करना चाहिए, क्योंकि बिना कारणों के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अतः प्रसङ्गानुसार बन्ध के हेतु-कारण क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पहला सूत्र—मिथ्यादर्शनाविरति रचा गया । २२२
२. बन्ध के हेतुओं का कथन करने के बाद; बन्ध तत्त्व क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में दूसरा सूत्र—सकषायत्वाज्जीवः रचा गया । २२३
३. उस बन्ध के भेद बतलाने के लिए तीसरा सूत्र—प्रकृति रचा गया । २२४
४. बन्ध पदार्थ के प्रकृति, स्थिति, अनुभव एवं प्रदेश; ये चार भेद किए, इनमें प्रथम प्रकृति बन्ध के कितने भेद हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौथा सूत्र—आद्यो ज्ञानदर्शनावरण रचा गया । २२५
५. प्रकृति बन्ध के जो ज्ञानावरणादि आठ भेद किए हैं, उनके संख्यात्मक उत्तर भेद कितने हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पाँचवाँ सूत्र—पञ्चनवद्व्यष्टाविंशति रचा गया । २२६
६. पाँचवें सूत्र से संख्या प्राप्त करके क्रमशः ज्ञानावरण कर्म प्रकृति के पाँच नाम कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में छठवाँ सूत्र—मतिश्रुतावधि रचा गया । २२६

७. क्रम प्राप्त दर्शनावरण कर्म प्रकृति के नौ नाम कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सातवाँ सूत्र—चक्षुरचक्षुरवधि रचा गया । २२७
८. क्रम प्राप्त वेदनीय कर्म प्रकृति के दो नाम कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में आठवाँ सूत्र—सदसद्-वेद्ये रचा गया । २२८
९. क्रम प्राप्त मोहनीय कर्म प्रकृति के अट्ठाईस नाम कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में नौवाँ सूत्र—दर्शनचारित्रमोहनीया रचा गया । २२९
१०. क्रम प्राप्त आयु कर्म प्रकृति के चार नाम कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में दशवाँ सूत्र—नारकतैर्यग्योन रचा गया । २३१
११. क्रम प्राप्त नामकर्म प्रकृति के ब्यालीस नाम कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में ग्यारहवाँ सूत्र—गतिजाति रचा गया । २३१
१२. क्रम प्राप्त गोत्र कर्म प्रकृति के दो नाम कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बारहवाँ सूत्र—उच्चैर्नीचैश्च रचा गया । २३६
१३. क्रम प्राप्त अन्तराय कर्म प्रकृति के पाँच नाम कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तेरहवाँ सूत्र—दानलाभ रचा गया । २३८

इस प्रकार आठों कर्मों के प्रकृति बन्ध की कर्म प्रकृतियों का कथन किया, अब प्रकृति बन्ध के बाद; दूसरा स्थिति बन्ध, इन्हीं आठों कर्म प्रकृति बन्ध में घटित करना है, किन्तु स्थिति बन्ध दो प्रकार का है—(१) उत्कृष्ट स्थिति बन्ध; (२) जघन्य स्थिति बन्ध ।

१४. आठों कर्मों में जिनका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध समान है, उन कर्मों के नाम सहित उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौदहवाँ सूत्र—आदितस्तिष्ठणा रचा गया । २३९
१५. आदि के तीन कर्म एवं अन्तराय कर्म की स्थिति समान बताकर; अब मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पन्द्रहवाँ सूत्र—सप्ततिर्मोहनीयस्य रचा गया । २३९
१६. नाम एवं गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सोलहवाँ सूत्र—विंशतिर्नामगोत्रयोः रचा गया । २४०
१७. आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्रहवाँ सूत्र—त्रयस्त्रिंशत्सागरोप रचा गया । २४०

आठों कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध का कथन करने के बाद; उन्हीं आठ कर्मों का जघन्य स्थिति बन्ध का प्रसङ्ग है ।

- १८, १९. अतः जिन पाँच कर्म प्रकृतियों का जघन्य स्थिति बन्ध समान है, उन्हें स्थगित करके, जिन कर्मों के कथन को थोड़े में कहना है । उन तीन कर्मों की जघन्य स्थिति बन्ध के लिए क्रमशः अठारहवाँ सूत्र—अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य एवं उन्नीसवाँ सूत्र—नामगोत्रयोरष्टौ रचा गया है । २४१

२०. शेष पाँच कर्मों का जघन्य स्थिति बन्ध कितना है ? इस जिज्ञासा के समाधान में बीसवाँ सूत्र—
शेषाणामन्तर्मुहूर्त्ता रचा गया । २४१
२१. अब क्रम प्राप्त तीसरा अनुभव बन्ध का कथन है, किन्तु पहले अनुभव का लक्षण क्या है ?
इस जिज्ञासा के समाधान में इक्कीसवाँ सूत्र—विपाकोऽनुभवः रचा गया । २४२
२२. इन आठों कर्मों के क्या अनुभव हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बाईसवाँ सूत्र—स यथानाम
रचा गया । २४२
२३. जिस कर्म के फल को अनुभव कर लेते हैं, उस कर्म का क्या होता है ? इसी जिज्ञासा के
समाधान में तेईसवाँ सूत्र—ततश्च निर्जरा रचा गया । २४२
२४. अब क्रम प्राप्त चौथा प्रदेश बन्ध है, उसका हेतु क्या है ? कब होता है ? निमित्त क्या है ?
स्वभाव क्या है ? किसमें होता है ? उसका परिमाण क्या है ? इन सब जिज्ञासाओं के समाधान
में चौबीसवाँ सूत्र—नामप्रत्ययाः रचा गया । २४३
२५. आस्रव का कथन करते समय छठवें अध्याय के सूत्र संख्या तीन में शुभ से पुण्य एवं अशुभ
से पाप का आस्रव होता है; कहा है, जिससे सिद्ध होता है कि बन्ध भी पुण्य एवं पापरूप होता
है, अतः आठों कर्म प्रकृतियों में कितनी पुण्य प्रकृति हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में
पच्चीसवाँ सूत्र—सद्-वेद्यशुभायुर्नाम रचा गया । २४४
२६. शुभ-पुण्य कर्म प्रकृतियों के कथन करने के बाद; पाप प्रकृतियाँ कौन-सी हैं ? इस जिज्ञासा
के समाधान में छब्बीसवाँ सूत्र—अतोऽन्यत्पापम् रचा गया । २४५

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या छब्बीस तक
अनुत्तर जिज्ञासा से आठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

अथ नवमोऽध्यायः—अनुत्तर जिज्ञासा

आठवें अध्याय में बन्ध तत्त्व को बन्ध पदार्थ में निर्देशित किया । अब क्रम प्राप्त संवर
तत्त्व एवं निर्जरा तत्त्व को संवर पदार्थ एवं निर्जरा पदार्थ में निर्देशित कर कथन करने के लिए
नौवें अध्याय का प्रारम्भ करेंगे ।

१. संवर तत्त्व किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पहला सूत्र—आस्रवनिरोधः संवरः
रचा गया । २४६
२. संवर पदार्थ किन हेतुओं के द्वारा होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में दूसरा सूत्र—स
गुप्तिसमिति रचा गया । २४७
३. इस अध्याय में संवर पदार्थ और निर्जरा दोनों का कथन किया है, अतः ऐसा कौन-सा हेतु
है, जिससे संवर और निर्जरा दोनों होते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तीसरा सूत्र—तपसा
निर्जरा च रचा गया । २४८
४. इस अध्याय के दूसरे सूत्र में जो संवर पदार्थ के हेतु कहे हैं, उनमें प्रथम गुप्ति है, अतः गुप्ति
किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौथा सूत्र—सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः रचा गया । २४८

५. प्रथम गुप्ति के कथन के बाद; दूसरा संवर का हेतु समिति है, अतः समिति कितनी हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पाँचवाँ सूत्र—ईर्याभाषैषणादान रचा गया । २४९
६. अब क्रम प्राप्त तीसरा संवर का हेतु धर्म है, अतः धर्म कितने हैं, उनके नाम क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में छठवाँ सूत्र—उत्तमक्षमामार्दवार्जव रचा गया । २४९
७. अब क्रम प्राप्त चौथा संवर का हेतु अनुप्रेक्षा है, अतः अनुप्रेक्षा के भेद सहित उसकी परिभाषा क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सातवाँ सूत्र—अनित्याशरण रचा गया । २५१
८. अब क्रम प्राप्त संवर के हेतुओं में पाँचवाँ हेतु परिषहजय है, अतः परिषह क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में आठवाँ सूत्र—मार्गाच्यवन रचा गया । २५८
९. वे परिषह कौन-से हैं एवं कितने हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में नौवाँ सूत्र—क्षुत्पिपासा रचा गया है; २५८
१०. ये क्षुधादिक बाईस परिषह मूल से प्राप्त हुए, किन्तु किनके, कितने परिषह हो सकते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में दशवाँ सूत्र—सूक्ष्मसाम्पराय रचा गया । २६७
११. जो अरिहन्त अवस्था में कर्म सापेक्ष हैं, उनके कितने परिषह होते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में ग्यारहवाँ सूत्र—एकादश जिने रचा गया । २६८
१२. सूक्ष्मसाम्पराय आदि स्थानों में अलग-अलग परिषह होते हैं तब बाईस परिषह कहाँ सम्भव हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बारहवाँ सूत्र—बादरसाम्पराये सर्वे रचा गया । २६८
१३. किस कर्म के सद्भाव में कौन-से परिषह होते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तेरहवाँ सूत्र—ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने रचा गया । २६९
१४. पूर्व सूत्र में ज्ञानावरण कर्म से प्रज्ञा और अज्ञान परिषह होते हैं; ऐसा कहा है, किन्तु अन्य-दूसरे परिषह किस कर्म के सद्भाव में होते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौदहवाँ सूत्र—दर्शनमोहान्तराययो रचा गया । २६९
१५. यदि दर्शनमोह एवं अन्तराय के सद्भाव में अदर्शन और अलाभ परिषह होते हैं तो चारित्रमोह के सद्भाव में कितने परिषह होंगे ? इस जिज्ञासा के समाधान में पन्द्रहवाँ सूत्र—चारित्रमोहे रचा गया । २७०
१६. कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनमोहनीय, अन्तराय एवं चारित्रमोहनीय के सद्भाव में कुल ग्यारह परिषह हुए, किन्तु शेष ग्यारह परिषह किस कर्म के सद्भाव में होते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सोलहवाँ सूत्र—वेदनीये शेषाः रचा गया । २७१
१७. बाईस परिषह में से एक आत्मा के एक साथ कितने परिषह हो सकते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्रहवाँ सूत्र—एकादयो भाज्या रचा गया । २७१
१८. दूसरे सूत्र के क्रमानुसार परिषहजय का कथन करने के बाद; चारित्र संवर का हेतु है, अतः चारित्र कितने और कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में अठारहवाँ सूत्र—सामायिक-च्छेदोपस्थापना रचा गया । २७२
१९. तीसरे सूत्र में तप से संवर एवं निर्जरा दोनों होती हैं; ऐसा कहा है, अतः तप कितने और कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में उन्नीसवाँ सूत्र—अनशनावमौदर्य रचा गया । २७४

२०. उन्नीसवें सूत्र में बाह्य तप के छह भेदों के नाम कहे हैं, इससे सिद्ध होता है कि अन्तरङ्ग तप भी होना चाहिए, अतः अन्तरङ्ग तप के भेद एवं नाम क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बीसवाँ सूत्र—प्रायश्चित्तविनय रचा गया । २७५
२१. बहिरङ्ग तप के कोई उत्तर भेद नहीं हैं, किन्तु अन्तरङ्ग तप के छह भेदों में भी प्रत्येक के भेद होते हैं, अतः उनके भेद बताने के लिए इक्कीसवाँ सूत्र—नवचतुर्दश रचा गया । २७५
२२. पूर्व सूत्र से अन्तरङ्ग तपों के यथाक्रम से भेद करने पर; पहले प्रायश्चित्त तप के नौ भेद कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में बाईसवाँ सूत्र—आलोचनप्रतिक्रमण रचा गया । २७६
२३. अब क्रम प्राप्त दूसरे विनय तप के चार भेद कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तेईसवाँ सूत्र—ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः रचा गया । २७७
२४. अब क्रम प्राप्त तीसरे वैयावृत्य तप के दश भेद कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौबीसवाँ सूत्र—आचार्योपाध्याय रचा गया । २७७
२५. अब क्रम प्राप्त चौथे स्वाध्याय तप के पाँच भेद कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में पच्चीसवाँ सूत्र—वाचनापृच्छना रचा गया । २७८
२६. अब क्रम प्राप्त पाँचवें व्युत्सर्ग तप के दो भेद कौन-से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में छब्बीसवाँ सूत्र—बाह्याभ्यन्तरोपधयोः रचा गया । २७९
२७. सूत्र संख्या इक्कीस में अन्तरङ्ग तपों की संख्या का कथन, प्राग्ध्यानात् अर्थात् ध्यान तप के पहले-पहले तक किया है, अतः क्रम प्राप्त ध्यान तप का कथन करना चाहिए, अतः पहले; ध्यान के स्वामी-स्वरूप और समय क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सत्ताईसवाँ सूत्र—उत्तमसंहननस्यैकाग्र रचा गया । २८०
२८. ध्यान के स्वामी, स्वरूप एवं समय निर्धारण करने बाद; ध्यान के कितने भेद हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में अट्ठाईसवाँ सूत्र—आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि रचा गया । २८०
२९. इन चार ध्यानों में से जो ध्यान; कर्मों के समूल नष्ट करने में समर्थ हैं, उनका कथन पहले करना चाहिए, क्योंकि जिस तप से कर्मों की निर्जरा होती है, उनसे ही मोक्ष होता है, अतः उन्तीसवाँ सूत्र—परे मोक्षहेतू रचा गया । २८१
३०. अब क्रम प्राप्त पहले आर्त्तध्यान के चार भेद हैं, क्रमशः प्रथम आर्त्तध्यान का नाम-भेद एवं स्वरूप क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में तीसवाँ सूत्र—आर्त्तममनोज्ञस्य रचा गया । २८१
३१. अब क्रम प्राप्त द्वितीय आर्त्तध्यान का नाम-भेद और स्वरूप क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्तीसवाँ सूत्र—विपरीतं मनोज्ञस्य रचा गया । २८२
३२. अब क्रम प्राप्त तृतीय आर्त्तध्यान का नाम-भेद और स्वरूप क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में बत्तीसवाँ सूत्र—वेदनायाश्च रचा गया । २८२
३३. अब क्रम प्राप्त चतुर्थ आर्त्तध्यान का नाम-भेद और स्वरूप क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में तैंतीसवाँ सूत्र—निदानं च रचा गया । २८२
३४. अब इन चारों आर्त्तध्यानों के स्वामी कौन-कौन से हो सकते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में चौँतीसवाँ सूत्र—तदविरतदेशविरत रचा गया । २८३

३५. चारों आर्तध्यानों का कथन करने के बाद; क्रम प्राप्त दूसरे रौद्रध्यानों के नाम, हेतु एवं स्वामियों के कथन के लिए पैंतीसवाँ सूत्र—हिंसानृतस्तेयाविषय रचा गया । २८३
३६. अब मूल क्रम प्राप्त तीसरे धर्मध्यान के क्रमशः भेद, स्वरूप और स्वामी का कथन करने के लिए छत्तीसवाँ सूत्र—आज्ञापाय रचा गया । २८४
३७. अब मूल क्रम प्राप्त चौथे शुक्लध्यान के नाम बाद में कहेंगे, किन्तु प्रसङ्गानुसार उन शुक्ल ध्यानों के स्वामी कौन हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में सैंतीसवाँ सूत्र—शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः रचा गया । २८५
३८. सूत्र संख्या सैंतीस के अनुसार पूर्वविद अर्थात् श्रुत-केवली; धर्मध्यानों के साथ ही आदि के दो शुक्लध्यान वाले होते हैं, किन्तु बाद के दो शुक्लध्यान किनके होते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में अडतीसवाँ सूत्र—परे केवलिनः रचा गया । २८६
३९. अब शुक्लध्यानों के भेद; नाम क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में उनतालीसवाँ सूत्र—पृथकत्वैकत्ववितर्क रचा गया । २८६
४०. इन चारों शुक्लध्यानों के अवलम्बन क्या हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में चालीसवाँ सूत्र—त्रैकयोग रचा गया । २८६
४१. इन चारों ध्यानों में आदि के दो शुक्लध्यानों में क्या विशेषता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में इक्तालीसवाँ सूत्र—एकाश्रये रचा गया । २८७
४२. आदि के दोनों शुक्लध्यानों में भी दूसरे शुक्लध्यान में क्या विशेषता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में ब्यालीसवाँ सूत्र—अवीचारं द्वितीयम् रचा गया । २८७
४३. सूत्र संख्या इक्तालीस में सवितर्क और सवीचार पद आये हैं, उनमें वितर्क किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में तैंतालीसवाँ सूत्र—वितर्कः श्रुतम् रचा गया । २८७
४४. क्रम प्राप्त सवीचार पद है, अतः वीचार किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में चबालीसवाँ सूत्र—वीचारोऽर्थ रचा गया । २८८
- विशेष—**सूत्र संख्या तीन में “तपसा निर्जरा च” ऐसा कहा है, इसके अनुसार तप के दो भेद; बाह्य और आभ्यन्तर किए पुनः आभ्यन्तर तप के छह भेदों के उत्तर भेदों में अन्तिम भेद ध्यान है, इसी ध्यान के भेद-प्रभेदों के स्वामियों आदि का कथन सूत्र संख्या सत्ताईस से चबालीस तक किया है ।
४५. तप से निर्जरा होती है, ऐसा कहा है, किन्तु किन-किन के, कितनी-कितनी निर्जरा होती है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पैंतालीसवाँ सूत्र—सम्यग्दृष्टिश्रावक रचा गया । २९०
४६. जिन तपों को धारण करने से विशेष निर्जरा होती है, उन तपों को धारण करने वाले साधु कितने प्रकार के होते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में छ्वालीसवाँ सूत्र—पुलाकबकुश रचा गया । २९२
४७. उन पुलाक आदि साधुओं की परस्पर क्या विशेषता होती है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सैंतालीसवाँ सूत्र—संयमश्रुत रचा गया । २९३

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या सैंतालीस तक
अनुत्तर जिज्ञासा से नौवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

अथ दशमोऽध्यायः—अनुत्तर जिज्ञासा

सात तत्त्वों में अन्तिम तत्त्व मोक्ष है, अतः क्रम प्राप्त मोक्षतत्त्व को मोक्ष पदार्थ निर्देशित करके दशवें अध्याय का प्रारम्भ किया है ?

१. मोक्ष जाने के पहले प्रत्येक जीव को केवलज्ञान होता है, अतः केवलज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पहला सूत्र—मोहक्षयाज्ज्ञान रचा गया । २९५
२. केवलज्ञान होने के बाद; मोक्ष के हेतु एवं मोक्ष का लक्षण; इन दोनों का कथन करने के लिए दूसरा सूत्र—बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां रचा गया । २९७
३. ऊपर दूसरे सूत्र में समस्त द्रव्य कर्मों के अभाव से मोक्ष कहा है, किन्तु जिन भाव कर्मों के अभाव से मोक्ष होता है, उन भावों को बतलाने के लिए तीसरा सूत्र—औपशमिकादि - - - - - रचा गया । २९८
४. तीसरे सूत्र अनुसार औपशमिकादि भावों के अभाव से मोक्ष होता है, इससे क्षायिक आदि भावों के अभाव का प्रसङ्ग आता है, अतः जिन भावों का अभाव; मोक्ष में नहीं होता है, उन भावों को बताने के लिये चौथा सूत्र—अन्यत्र केवलसम्यक्त्व रचा गया । २९९
५. संसार में अनेक धर्मों के अपने-अपने मोक्षस्थान हैं, उनके निराकरण के लिए मोक्ष प्राप्त जीव कहाँ जाता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में पाँचवाँ सूत्र—तदनन्तरमूर्ध्व रचा गया । २९९
६. मोक्ष प्राप्त जीव; ऊर्ध्व गति ही क्यों करता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में छठवाँ सूत्र—पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् रचा गया । ३००
७. मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति के कारण छठवें सूत्र में समझाये गए हैं, किन्तु इन कारणों को दृष्टान्तों से कैसे समझेंगे ? इस जिज्ञासा के समाधान में सातवाँ सूत्र—आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगत रचा गया । ३००
८. मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति होती है, किन्तु उसकी ऊर्ध्वगति लोक के अन्त तक होती है, ऐसा पाँचवें सूत्र में कहा है, किन्तु मुक्त जीव की गति; लोक के आगे अलोक में क्यों नहीं होती है ? इस जिज्ञासा के समाधान में आठवाँ सूत्र—धर्मास्तिकायाभावात् रचा गया । ३०१
९. मुक्त जीव अनन्त हैं, मोक्ष हो जाने पर उस मुक्त जीव के समस्त भेद समाप्त हो जाते हैं, किन्तु वे मुक्त जीव अनेक अवस्थाओं से मोक्ष प्राप्त करते हैं, जिनके कारण उन मुक्त जीवों में भी भेद हो सकते हैं ? इस जिज्ञासानुसार नौवाँ सूत्र—क्षेत्रकालगति रचा गया । ३०२

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या नौ तक

अनुत्तर जिज्ञासा से दशवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

- इति श्री पावन प्रशस्ति ३०५
- तत्त्वार्थसूत्र मूल पाठ-उच्चारण ३०६-३२१
- परमागम स्तुति ३२२-३२५

टिप्पणियों में उल्लिखित ग्रन्थों की सङ्केत-सूची

अन० धर्मा०	अनगार-धर्मामृत	न्या० दी०	न्यायदीपिका
अ० सह०	अष्टसहस्री	न्या० वि०	न्यायविनिश्चय - विवरण
आ० सा०	आचारसार	नि० सा०	नियमसार
आ० नु०	आत्मानुशासन	प्र० सा०	प्रवचनसार
आ० मी०	आप्तमीमांसा	पर० प्र०	परमात्मप्रकाश
आ० प०	आलापपद्धति	पं० का०	पञ्चास्तिकाय
का० अनु०	कार्तिकेयानुरेक्षा	पु० सि०	पुरुषार्थसिद्धचुपाय
गो० क०	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	महा० पु०	महापुराण
गो० जी०	गोम्मटसार जीवकाण्ड	यश० ति० च०	यशस्तिलक - चम्पू
च० प्र० च०	चन्द्रप्रभचरित	रत्नक० श्रा०	रत्नकरण्ड - श्रावकाचार
तत्त्व० ज्ञा० त०	तत्त्वज्ञानतरङ्गिणी	र० सा०	रयणसार
तत्त्व० सा०	तत्त्वार्थसार	रा० वा०	राजवार्तिक
तत्त्व० सू०	तत्त्वार्थसूत्र	वर्द्ध० पु०	वर्द्धमान पुराण
तत्त्व० श्लो० वा०	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार	स्व० स्तो०	स्वयम्भूस्तोत्र
तिरु०	तिरुक्कुरल	स० सा०	समयसार
द्र० सं०	द्रव्यसंग्रह	सर्वा० सि०	सर्वार्थसिद्धि
ध० पु०	धवल पुस्तक	सह० ना०	सहस्रनाम
न० च०	नयचक्र	सा० धर्मा०	सागार - धर्मामृत
न्या० सू०	न्यायसूत्र		

पद सङ्केतावली

अ०	अध्याय	श्लो०	श्लोक
पृ०	पृष्ठ	सू०	सूत्र
गा०	गाथा	प्रका०	प्रकाशक
भा०	भाग	प्र०	प्रत्यक्ष
वार्ति०	वार्तिक	परो०	परोक्ष
वृ०	वृत्ति		

श्रीमद्-उमास्वामी आचार्य विरचित

तत्त्वार्थसूत्र

(हिन्दी टीका-अनुत्तर जिज्ञासा)

अथ प्रथमोऽध्यायः

संसार में इष्ट कार्य की सिद्धि के लिए लौकिक-जनों को नमस्कार किया जाता है, लेकिन परमार्थ की सिद्धि के लिए परमार्थ साधक आत्माओं को नमस्कार किया जाता है। रविषेण आचार्य ने पद्मपुराण ग्रन्थ में लिखा है कि “महापुरुष नमस्कार मात्र से प्रसन्न होते हैं।”

चिन्तन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि महापुरुष आपके धन-वैभव के भूखे नहीं होते हैं, क्योंकि वे स्वयं ही अपने धन-वैभव को छोड़कर उस मार्ग पर चले हैं, लेकिन उनको नमस्कार करने का मतलब है कि हम स्वयं भी अपने अन्दर के अहङ्कारादि भावों को नष्ट करके, उनके जैसे गुणों की प्राप्ति करें।

मन जब नम होता है तब नमन होता है, नमन उनको होता है, जिनके न मन होता है अर्थात् जिनको संसार के विषय-सुख की कोई इच्छा नहीं होती है, वे ही महापुरुष होते हैं, इसीलिए कबीरदास जी ने कहा है कि—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बे-परवाह।
जिनको कछुँ न चाहिये, वे शाहन के शाह ॥

जिज्ञासा—संसार में क्या ऐसा कोई महापुरुष है जो समस्त इच्छाओं से रहित होकर; ऐसे महान गुणों से सहित हो कि उनके महान गुणों की महिमा सुनकर; स्वयं का मन भी उनके समान गुणों की प्राप्ति के लिए नम होकर झुक जाए ?

ऐसी जिज्ञासा होने पर; उमास्वामी आचार्य ने श्लोकरूप मङ्गलाचरण किया है जो निम्न प्रकार है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म-भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व-तत्त्वानां, वन्दे तद्-गुण-लब्धये ॥

अन्वयार्थ—(मोक्षमार्गस्य नेतारं) जो मोक्षमार्ग के नेता हैं (भेत्तारं कर्म-भूभृतां) कर्मरूपी पर्वतों को भेदने वाले हैं (विश्वतत्त्वानां ज्ञातारं) विश्व के समस्त तत्त्वों को जानने वाले हैं, ऐसे महापुरुष को (तद्-गुणलब्धये) इन विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिए उन्हें; (वन्दे) हम नमस्कार करते हैं।

अर्थ—जो मोक्षमार्ग के नेता हैं अर्थात् हितोपदेशी हैं। कर्मरूपी पर्वतों को भेदने वाले हैं अर्थात् वीतरागी हैं। विश्व के समस्त तत्त्वों को जानने वाले हैं अर्थात् सर्वज्ञ हैं, ऐसे विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिए उन्हें; मैं नमस्कार करता हूँ।

लब्धार्थ—“नेतृत्व भावं नेता” जो स्वयं सच्चे मार्ग पर चलकर अन्य पुरुषों को सच्चा मार्ग दिखलाते हैं, वे ही सच्चे नेता हैं। जो अपने नेतृत्व में सबके हित की बात कहें अर्थात् हितोपदेशी हों, वे ही सच्चे नेता हैं। कर्मरूपी पर्वतों को भेदन (नष्ट) करने वाले अर्थात् वीतरागी। विश्व के समस्त तत्त्वों को जानने वाले अर्थात् सर्वज्ञ हैं। हम; इनके इन तीन गुणों की प्राप्ति के लिए उन्हें नमस्कार करते हैं।

विशेषार्थ—इस मङ्गलाचरणरूप श्लोक में एक ऐसे सम्प्रदाय निरपेक्ष, सर्वगुण सम्पन्न महापुरुष के उन गुणों का चित्रण किया है, जिन गुणों की सभी को अपेक्षा होती है, क्योंकि संसार में श्रेष्ठ गुणों की ही पूजा-प्रशंसा होती है; किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, अतः इस मङ्गलाचरण में किसी का व्यक्तिगत नाम न लेकर, उनके तीन विशेष गुणों का कथन किया है।

इन तीन विशेष गुणों के धारक ही हमारे इष्ट, प्रभु, परमात्मा, ईश्वर, आप्त, अरिहन्त, तीर्थङ्कर, भगवान्, बुद्ध, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, अल्ला, ईसा आदि हजारों नाम से सम्बोधित होने वालों में भी यदि ये प्रमुख तीन गुण हों तो वह भी हमारे पूज्यनीय-वन्दनीय हैं।

यहाँ विशेष्य का उल्लेख नहीं करके; मात्र उनके विशेषणों का उल्लेख करके आचार्यश्री ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है कि मैं किसी व्यक्ति-नाम विशेष का पूजक-उपासक नहीं हूँ, गुणों का ही पूजक-उपासक हूँ अर्थात् जिनमें हितोपदेशिता, वीतरागता, सर्वज्ञता; ये तीन प्रमुख गुण हों, मैं उन्हीं का पूजक-उपासक हूँ।

जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध-वीर-जिन-हरि-हर-ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो ॥ —मेरी भावना

जिज्ञासा—ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण क्यों किया जाता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर निम्न कारण बतलाते हैं—

(१) **नास्तिकता का परिहार**—लौकिक दृष्टि में नास्तिक वह है जो किसी ईश्वर-प्रभु-परमात्मा को नहीं मानता है, इसलिए विश्व के कई दर्शन-धर्म; जैन धर्म को नास्तिक दर्शन कहते हैं; कारण कि जैन धर्म किसी ईश्वर-प्रभु-परमात्मा को विश्व-सृष्टि का कर्त्ता-स्रष्टा-रक्षक या संहारक नहीं मानता है, जिसके कारण अन्य धर्म के लोग; जैन धर्म को नास्तिक दर्शन कहते हैं।

इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर दिगम्बर जैनाचार्य ने मङ्गलाचरण में; एक ऐसे ईश्वर-प्रभो-परमात्मा को नमस्कार किया है जो पूर्णतः निर्दोष हो; इससे नास्तिकता का परिहार हो जाता है।

(२) **शिष्टाचार का परिपालन**—पूज्यों को आदर-सम्मान देना, अपनी उद्वण्डता को रोकना, अपने को लघु बनाना; यह शिष्टाचार का परिपालन है।

(३) **विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति**—मङ्गलाचरण से परिणामों में विशुद्धि विशेष होने से विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति होती है।

(४) **शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति**—शास्त्र रचते समय; शारीरिक, मानसिक, दैविक, भौतिक, साम्प्रदायिक आदि विघ्नों का प्रभाव न हो।

(५) **कृतज्ञता ज्ञापन**—“न हि कृतमुपकारं साधवः विस्मरन्ति” किये गये उपकार को सज्जन पुरुष भूलते नहीं है, अतः जिनसे हमें आत्महितकारी उपदेश एवं मार्ग मिला है, उनका पुण्यस्मरण, कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में किया जाता है।

(६) निरहङ्कारता की सिद्धि—इस ग्रन्थ का कर्त्ता मैं हूँ; इस प्रकार का अहङ्कार उत्पन्न न हो अर्थात् मैं इस ग्रन्थ का लेखन-टीका आदि का कर्त्ता नहीं हूँ, ऐसी भावना से निरहङ्कारता की सिद्धि होती है।

(७) ग्रन्थ की प्रामाणिकता—न्याय-शास्त्र का सूत्र है कि वक्ता की प्रमाणता से उनके वाक्य भी प्रमाणित माने जाते हैं। जैसे—न्यायालय (कोर्ट) में नशा युक्त एवं मानसिक विक्षिप्त व्यक्ति के बयान प्रमाणित नहीं होते हैं। वैसे ही रागी-द्वेषी व्यक्ति के वचन प्रमाणित नहीं होते हैं, निर्दोष भगवान्-वीतरागी सन्तों के वचन ही प्रमाणित होते हैं।

(८) ग्रन्थ पढ़ने-सुनने वालों में श्रद्धा की वृद्धि—मङ्गलाचरण पूर्वक ग्रन्थ पढ़ने से श्रद्धा की वृद्धि होती है, क्योंकि हमारे आचार्यों के वचन; पूर्वापर विरोध रहित, न्यूनता रहित, सन्देह रहित, अधिकता रहित, जैसे हैं वैसे और विपरीतता रहित होते हैं, जिससे श्रद्धा बढ़ती है।

वैसे तो इस मङ्गलाचरण की विशेषता में बहुत बड़ी व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि इसमें हितोपदेशिता, वीतरागता एवं सर्वज्ञता की सिद्धि के लिए न्याय-शास्त्र आदि का आधार प्रमाण है।

मोक्षमार्ग पद की सिद्धि से मीमांसक मत का खण्डन होता है, क्योंकि मीमांसक; मोक्ष नहीं मानते हैं।

भेत्तारं कर्मभूताम् पद से नैयायिक, वैशेषिक मत का खण्डन होता है, क्योंकि नैयायिक, वैशेषिक एवं सदाशिव; आत्मा को सदा कर्म मुक्त ही मानते हैं।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां पद से बौद्ध मत का खण्डन होता है, क्योंकि बौद्ध; सर्वज्ञता नहीं मानते हैं।

वन्दे तद्गुणलब्धये पद से चार्वाक आदि मत का खण्डन होता है, क्योंकि चार्वाक; परलोक आदि नहीं मानते हैं।

चारों पदों से; चारों अनुयोगों की चार-चार प्रकार से सिद्धि हो सकती है—

हितोपदेशी पद से ^१प्रथमानुयोग की सिद्धि—^१देखो, ^२प्रोत्साहन, ^३सीता का हुआ वनवास, ^४संवेग।
वीतराग पद से ^२करणानुयोग की सिद्धि—^१समझो, ^२पढ़ाई, ^३सीता का कर्मोदय से वनवास, ^४प्रशम।
नमस्कार पद से ^३चरणानुयोग की सिद्धि—^१करो, ^२परीक्षा, ^३सीता का लोकापवाद से वनवास, ^४अनुकम्पा।
सर्वज्ञ पद से ^४द्रव्यानुयोग की सिद्धि—^१बनों, ^२परीक्षा-फल, ^३सीता का दीक्षा से वनवास, ^४आस्तिक्य।

जिज्ञासा—इस ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में जो प्रथम “मोक्षमार्गस्य” पद-शब्द आया है, यह मोक्षमार्ग क्या है? ऐसी जिज्ञासा किसी भव्यात्मा ने निर्ग्रन्थ आचार्यवर्य से प्रकट की; उसकी सन्तुष्टि के लिए प्रथम सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

सूत्र उच्चारण—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-, चारित्राणि, मोक्षमार्गः ॥१॥

सन्धि विग्रह—सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र; इन तीनों की एकता का नाम ही मोक्षमार्ग है।

लब्धार्थ—सम्यग्दर्शन; तत्त्वार्थ का सम्यक् श्रद्धान। सम्यग्ज्ञान; तत्त्वार्थ का यथार्थरूप से ज्ञान।

सम्यक् चारित्र; संसार के कारणभूत कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तरूप क्रिया का त्याग । मोक्षमार्ग अर्थात् मुक्तिपथ । मोक्ष यानि निश्चय; मार्ग यानि व्यवहार, यही मोक्षमार्ग है ।

विशेषार्थ—इस सूत्र में मोक्षमार्ग की प्ररूपणा की गई है । मोक्षार्थी-भव्यात्मा किन-किन साधनों से मोक्ष प्राप्त करता है ? प्रथमतः कुछ लोग कहते हैं कि अकेला सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग है, अकेला सम्यग्ज्ञान मोक्षमार्ग है, अकेला सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान; ये दो ही मोक्षमार्ग है अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र; ये दो अथवा सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र; ये दो ही मोक्षमार्ग है । इन सभी मार्गों के निराकरण के लिए एवं इन तीनों की ही एकता दर्शाने के लिए बहुवचन “चारित्राणि” एवं अखण्डता दर्शाने के लिए “मोक्षमार्गः” एक वचन प्रयोग किया है ।

पूज्यपादाचार्य; सर्वार्थसिद्धि टीका में लिखते हैं कि जिस प्रकार रोग को दूर करने के लिए मात्र श्रद्धान, ज्ञान या आचरण; रोगी के रोग को दूर करने का उपाय नहीं है । इसी प्रकार अकेले-अकेले अथवा दो-दो का समूह मोक्षमार्ग नहीं है । पूज्यपादाचार्य अपने समय के महान आचार्य थे जो कुशल चिकित्सा शास्त्र के ज्ञाता थे ।

जैसे-घी, आटा एवं शक्कर; इन तीनों पदार्थों को सही अनुपात में; सही तरीके से मिलाने पर लड्डू बनता है तब उसमें नये स्वाद की उद्भूति होती है अर्थात् लड्डू का स्वाद; चिकना, मीठा, रवेदार न होकर लड्डू जैसा ही रहता है । इसी प्रकार रत्नत्रय की एकता ही मोक्षमार्ग है ।

हमारे व्यवहारिक जीवन में भी इस सूत्र की विशेष आवश्यकता होती है, क्योंकि हम लोग कहते हैं कि—“अच्छी तरह से देख-भाल कर चलना” ।

अच्छी तरह से=सम्यक् प्रकार से; देखना=दर्शन; भालना=ज्ञान; चलना=चारित्र ।

इस सूत्र में सम्यक् पद आगे ही क्यों लगा ? बीच में या पीछे भी लग सकता था, जिससे सूत्र निम्न प्रकार भी बन सकता था—

(१) दर्शनज्ञानचारित्राणि सम्यग्मोक्षमार्गः ।

(२) दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः सम्यक् ।

(३) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्राणि मोक्षमार्गः ।

न्याय-शास्त्र के अनुसार दीपक तीन प्रकार के होते हैं—(१) आदि-दीपक; (२) मध्य-दीपक; (३) अन्त-दीपक । तीनों दीपकों के भाव इस प्रकार से हैं—

आदि-दीपक; प्रारम्भ में रखा होने पर व्यक्ति की परछाई उसके आगे रहेगी ।

मध्य-दीपक; बीच में रखा होने पर व्यक्ति की परछाई उसके आदि दूर तक पीछे, उसके बाद आगे होगी ।

अन्त-दीपक; अन्त में रखा होने से व्यक्ति की परछाई उसके पीछे ही रहेगी ।

उसी प्रकार—आदि-दीपक; पदार्थ या वस्तु के अंश के कथन का प्रतीक है ।

मध्य-दीपक; पदार्थ के आदि भाग के अंश के पूर्ण-अपूर्ण का तथा अन्त भाग के पूर्ण-अपूर्ण होने का कथन करने का प्रतीक है ।

अन्त-दीपक; पदार्थ की पूर्णता के कथन करने का प्रतीक है। इस सूत्र में “सम्यक्” पद “आदि-दीपक” है, क्योंकि सम्यग्दर्शन; मोक्षमार्ग का एक अंश-अङ्ग है, पूरा मोक्षमार्ग नहीं है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान एवं चारित्र भी मोक्षमार्ग के अङ्ग हैं, पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं है, अतः सम्यक् पद इस सूत्र में आदि-दीपक है जो सूत्र के अनुकूल है।

यदि सम्यक् पद; मध्य में मोक्षमार्ग के साथ लगाते तब अर्थ होता कि दर्शन-ज्ञान मोक्षमार्ग के अङ्ग है एवं चारित्र पूर्ण है। इससे दर्शन-ज्ञान के बिना; चारित्र से ही मोक्षमार्ग की सिद्धि हो जाती।

यदि सम्यक् पद; मोक्षमार्ग पद के अन्त में लगाते तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र; ये तीनों स्वतन्त्ररूप से, अलग-अलग तीन मोक्षमार्ग हो जाते जो जैनागम के अनुकूल नहीं हैं।

इन तीनों दीपकों को सूत्रों में निम्न प्रकार से भी समझ लें, जिससे आगे के कई सूत्रों को समझने में भी सहायता मिल सके। जैसे-**आदि-दीपक; सूत्र**—उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः।

यहाँ सूत्र में “उत्तम” पद आदि-दीपक है, क्योंकि उत्तमक्षमा पूरा धर्म नहीं है; धर्म का एक अङ्ग-अंश है। इसी प्रकार उत्तम मार्दव आदि भी अङ्ग हैं, अतः सूत्र में “उत्तम” पद आदि-दीपक है।

मध्य-दीपक; सूत्र—औपशमिकक्षायिकौभावौ मिश्रश्च जीवस्यस्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च।

इस सूत्र में “जीवस्य स्वतत्त्व” मध्य दीपक है, क्योंकि जीव के इन पाँच भावों में प्रारम्भ के दो भावों में से प्रथम औपशमिक भाव नष्ट हो जाता है; क्षायिक भाव बचता है, बीच में मिश्र भाव दोनों भावों का मिश्ररूप है, लेकिन अन्त के दो भावों में से; प्रारम्भ के दो भावों के समान ही पहला औदयिक भाव नष्ट हो जाता है; पारिणामिक भाव बचता है, अतः इस सूत्र में “जीवस्य स्वतत्त्व” पद मध्य दीपक है।

अन्त-दीपक; सूत्र—जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।

इस सूत्र में “तत्त्व” पद अन्त-दीपक है जो आगे से सभी पदों के साथ लगेगा। जैसे ‘जीवतत्त्व’ इससे ध्वनित होता है कि जीव अपने आप में एक पूर्ण तत्त्व है; तत्त्व का अङ्ग या अंश नहीं है। इसी प्रकार अजीव तत्त्व आदि के साथ लगा लेना, अतः सूत्र में “तत्त्वम्” पद अन्त-दीपक है।

“णमो लोए सव्व साहूणं” इस पद में “लोए सव्व” पद अन्त-दीपक है जो आदि के सभी पदों के साथ लगेगा, क्योंकि “अरिहन्त” आदि अपने आप में पूर्ण पद हैं; अङ्ग या अंश नहीं हैं। जैसे “णमो लोए सव्व अरिहन्ताणं” अर्थात् लोक के सभी अरिहन्तों को नमस्कार हो, किन्तु अन्त पद में “लोए सव्व” पद लगाने से मन्त्र के अक्षर कम हो जाते हैं एवं इनका अर्थ पूर्णरूप से सही निकल आता है, अतः आचार्यों ने मन्त्र को संक्षिप्त करके लिखा है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन; मोक्षमार्ग का एक अङ्ग है, प्रथम सीढ़ी अवश्य है, किन्तु सम्यग्दर्शन होते ही; ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इन दोनों में कारण-कार्य का अन्तर है अर्थात् सम्यग्दर्शन कारण है एवं सम्यग्ज्ञान उसका कार्य है, सम्यक् चारित्र भजनीय है अर्थात् सम्यग्दर्शन के बाद सम्यक् चारित्र हो ही, यह जरूरी नहीं है। हाँ; सम्यग्दर्शन के साथ सम्यक्त्वाचरण होता है।

जिज्ञासा—प्रथम सूत्र में जो प्रथम पद “सम्यग्दर्शन” आया है, वह “सम्यग्दर्शन” क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर सन्तुष्टि के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

सूत्र उच्चारण—तत्त्वार्थ-श्रद्धानं, सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

सन्धि विग्रह—तत्त्व-अर्थ-श्रद्धानं सम्यक्-दर्शनम् ॥२॥

सूत्रार्थ—सम्यक् तत्त्व एवं सम्यक् अर्थ के सम्यक् श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

लब्धार्थ—तत्त्व—जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है, उसका उस रूप होना; यही सम्यक् तत्त्व है।

अर्थ—जो निश्चय किया जाता है; वह अर्थ है, इसे ही पदार्थ कहते हैं।

तत्त्वार्थ—तत्त्व और अर्थ; इन दो शब्दों से मिलकर तत्त्वार्थ शब्द बना है।

तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थ—अथवा तत्त्वं एव अर्थः तत्त्वार्थः। (सर्वार्थसिद्धि पृ० ७)

विशेषार्थ—इस सूत्र में सम्यग्दर्शन की प्ररूपणा की गई है यानि सम्यग्दर्शन का मूल विषय क्या है ? “तत्त्वार्थ श्रद्धानं” अर्थात् तत्त्वार्थ के यथार्थ श्रद्धान के बिना; सम्यग्दर्शन की परिभाषा पूर्ण नहीं हो सकती है।

इस सूत्र में “सम्यक्” पद मध्य दीपक है, जिससे सम्यक् तत्त्व, सम्यक् अर्थ एवं “सम्यक्”—श्रद्धान; इन तीनों की एकता का नाम ही सम्यग्दर्शन है। इन तीनों के साथ सम्यक् पद लगाने से इससे विपरीत मिथ्या तत्त्व, मिथ्या अर्थ=मिथ्या पदार्थों का निराकरण हो जाता है, क्योंकि विश्व के सभी दर्शनों-धर्मों ने अपने-अपने तरीके के तत्त्व-अर्थ स्वीकार किए हैं जो मोक्षमार्ग की कसौटी पर खरे नहीं हैं—बाधित हैं।

यहाँ सम्यग्दर्शन; मोक्षमार्ग का अङ्ग होने से इस सम्यग्दर्शन का यथार्थ-सम्यक् स्वरूप बतलाया है जो इस प्रकार है—

तत्त्व; भाववाची है और अर्थ-पदार्थ; जो पूर्णतः द्रव्यवाची है, क्योंकि “सर्व-द्रव्य-गुण पर्यायात्मकः इति पदार्थः” जो सभी द्रव्य, गुण, पर्यायमय हो, उसे पदार्थ कहते हैं। अर्थोऽभिधेयो पदस्य अर्थः पदार्थः अर्थात् प्रयोजनभूत अर्थ को पदार्थ कहते हैं। “द्व्यगुणपञ्जयत्थो अत्थो” प्रवचनसार गा० १०।

तत्त्व; हमेशा पदार्थ के आश्रय से रहता है, क्योंकि भाव; भाव वाले से पृथक् नहीं पाया जाता है, अतः आचार्यदेव ने सम्यक् तत्त्व एवं सम्यक् अर्थ; इन दोनों के सम्यक् श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, अकेले तत्त्व या अकेले अर्थ के श्रद्धान को नहीं; कारण कि विश्व के अन्य दर्शनों में; किसी ने अकेले तत्त्व को या अकेले अर्थ-पदार्थ को स्वीकार किया है अथवा दोनों के मिथ्या वस्तु स्वरूप का श्रद्धान माना है। इससे सम्यक् वस्तु-स्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती है। सर्वार्थसि० पृ० ७।

चारों अनुयोगों में सम्यग्दर्शन की सिद्धि—

प्रथमानुयोग—जो धर्म की सच्ची घटनाओं को देख-सुन-अनुभूत करके हो जाता है। जैसे—अञ्जन चोर का सम्यक्त्व; जिनदत्त सेठ कभी झूठ नहीं बोलता, इसी वाक्य से हो गया। सम्यक्त्व कौमुदी में, धर्मावृत्त ग्रन्थ में, धर्मपरीक्षा ग्रन्थ में अनेक ऐसे प्रसङ्ग हैं, जिनमें सम्यक्त्व होने की कथायें लिखी हैं। प्रथमानुयोग; चित्र की तरह जो चरित्र को दिखाता है, अतः देखो यह प्रथमानुयोग है।

करणानुयोग—एक मिथ्यात्व अथवा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति; इन तीन के साथ अनन्तानुबन्धी कषाय की चार; इस प्रकार कुल पाँच अथवा सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से विशुद्ध परिणाम हों, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। जो समझ में आये वह करणानुयोग है।

चरणानुयोग—आचरण की प्रधानता से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति; तीन मूढता, छह अनायतन, आठ मद, आठ शङ्कादि दोषों से रहित; सच्चा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, यही सम्यक्त्वाचरण है। इस सम्यग्दर्शन में चारित्र की प्रधानता होने से; इसके अतिचारों को दूर करने पर ही सम्यग्दर्शन होगा अन्यथा जिस प्रकार अक्षर-पद-मात्रा से हीन मन्त्र; विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता है। उसी प्रकार अङ्ग हीन सम्यक्त्व; संसार सन्तति का विनाशक नहीं हो सकता है। करो अर्थात् जो सम्यक् आचरण करने के लिए प्रेरित करे, वह चरणानुयोग है।

द्रव्यानुयोग—जीवादि सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जो शुद्ध बनने के लिए संकेत करता है अर्थात् बनो, वह द्रव्यानुयोग है।

अध्यात्म में पर-पदार्थों से भिन्न; शुद्धात्म तत्त्व के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) सराग; (२) वीतराग।

विशेष—सम्यक्त्व गुण है, सम्यग्दर्शन उसकी पर्याय है। *सर्वार्थसिद्धि* पृ० ५।

जिज्ञासा—द्वितीय सूत्र में सम्यग्दर्शन के श्रद्धान योग्य तत्त्व-विषय बतलाये हैं, लेकिन वह सम्यग्दर्शन किस प्रकार उत्पन्न होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर; उसकी सन्तुष्टि के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तन्निर्गमदधिगमाद्वा ॥३॥

सूत्र उच्चारण—तन्-निर्गम-दधिगमाद्-, वा ॥३॥

सन्धि विग्रह—तन्-निर्गमदधिगमाद्-वा ॥३॥

सूत्रार्थ—वह सम्यग्दर्शन; निर्गम से अथवा अधिगम से उत्पन्न होता है।

लब्धार्थ—जो सम्यग्दर्शन; पर के उपदेश के बिना-अपने आप (पूर्वभव के संस्कार से) उत्पन्न होता है, वह निर्गमज सम्यग्दर्शन है। जो सम्यग्दर्शन; गुरु आदि के उपदेश से उत्पन्न होता है, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार एक घर के दो बालक; अलग-अलग क्षयोपशम के कारण विद्याभ्यास करते हैं। उनमें एक बालक कुशाग्र बुद्धि होने के कारण उसे ट्यूशन की आवश्यकता नहीं है, वह अपनी पढ़ाई स्वतः कर लेता है, किन्तु उसकी पढ़ाई में पुस्तकादि सामग्री निमित्त अवश्य होती है, यह निर्गमज है। दूसरे बालक के पास पुस्तकादि सामग्री निमित्त होने पर भी वह स्वतः पढ़ाई नहीं कर पाता है, उसे ट्यूशन की आवश्यकता होती है, यह अधिगमज है।

दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन में दर्शनमोह के उपशम, क्षय और क्षयोपशम; अन्तरङ्ग कारण समान है, किन्तु निर्गमज का बहिरङ्ग कारण; जिनबिम्ब दर्शन, देवऋद्धि दर्शन है, इसमें भी पूर्व भव के उपदेश आदि का संस्कार होता है। अधिगमज में वर्तमान भव के उपदेशादि का प्रभाव होता है, क्योंकि दोनों सम्यग्दर्शनों में देशनालब्धि की मुख्यता है, अन्तरङ्ग कारण दोनों के समान हैं।

शङ्का—इस सूत्र में “तत्” पद सर्वनाम है, जिसके कारण इस तत् पद से सम्यग्दर्शन पद स्वतः सिद्ध हो जाता है, अतः सूत्र में तत् पद की आवश्यकता नहीं है?

समाधान—यदि इस सूत्र में “तत्” पद नहीं देते तब कई लोग तत् पद से ऐसा अर्थ लगा लेते कि मोक्षमार्ग दो प्रकार का होता है, अतः इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए सूत्र में तत् पद सम्यग्दर्शन के लिए लिखा गया है।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या दो में जिस तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, उसमें जिन सम्यक् तत्त्वों का श्रद्धान करना है, वे तत्त्व कौन-से हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

सूत्र उच्चारण—जीवा-जीवास्रव-, बन्ध-संवर-निर्जरा-, मोक्षास्-तत्त्वम् ॥४॥

सन्धि विग्रह—जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षाः तत्त्वम् ॥४॥

सूत्रार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष; ये सात सम्यक् तत्त्व हैं।

लब्धार्थ—जीव — जिसमें चेतना (ज्ञान-दर्शन शक्ति) पाई जाती है, वह जीव है।

अजीव — जिसमें चेतना न हो, वह अजीव है।

आस्रव — शुभ और अशुभ कर्मों के आने का द्वार आस्रव है।

बन्ध — आत्मा और कर्मों के प्रदेशों का संश्लेष (मिल जाना) बन्ध है।

संवर — आस्रवरूप कर्मों को रोकना संवर है।

निर्जरा — सत्तागत कर्मों का एक देश क्षय होना निर्जरा है।

मोक्ष — सत्तागत समस्त कर्मों का विशेष एवं प्रकृष्टरूप से छूट जाना मोक्ष है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्र; मोक्ष का शास्त्र है, मोक्ष ही महान एवं पूज्य है, अतः इस सूत्र में मोक्ष तत्त्व को पहले रखना चाहिए था, किन्तु जीवाजीव आदि तत्त्वों को मोक्ष के पहले रखा एवं मोक्ष तत्त्व को अन्त में रखा है, ऐसा क्यों ?

ज्ञातव्य है कि अजीव आदि सभी तत्त्वों का फल; जीव को मिलता है, अतः सबसे पहले जीव तत्त्व को रखा गया। दूसरा अजीव तत्त्व; जीव का उपकारी है, अतः जीव तत्त्व के बाद अजीव तत्त्व रखा गया, लेकिन जब जीव तत्त्व; अजीव तत्त्व में आसक्त होता है तब आस्रव तत्त्व आता है, अतः तीसरा तत्त्व; आस्रव रखा गया है। आस्रव पूर्वक बन्ध होता है, अतः आस्रव के बाद चौथा तत्त्व; बन्ध रखा गया है। आस्रव को रोकना ही संवर है, अतः आस्रव का प्रतिपक्षी पाँचवाँ तत्त्व; संवर रखा गया है। संवर पूर्वक ही निर्जरा होती है, अतः छटवाँ तत्त्व; निर्जरा रखा गया है। सम्पूर्ण निर्जरा होने के बाद ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः अन्त में सातवाँ तत्त्व; मोक्ष रखा गया है।

जैसे—नाविक जीव है। नाव अजीव है। नाव में छेद आस्रव है। पानी भरना बन्ध है। पानी आना रोकना संवर है। भरा हुआ पानी, थोड़ा-थोड़ा निकालना निर्जरा है। पूरा पानी निकल जाना मोक्ष है।

जैसे—एक राजा राजमहल में रहता था। एक दिन एक शत्रु राजा ने सेना सहित उस राजा के राज्य में प्रवेश करके उस राजा को राजमहल में ही बन्दी बना लिया, लेकिन राज्य पुरुषों-सैनिकों ने राजमहल का मुख्य दरवाजा बन्द कर दिया तथा शत्रु के सैनिकों को एक-एक करके सबको मार गिराया और अपने राजा को स्वतन्त्र करा लिया।

इस दृष्टान्त में राजा “जीव तत्त्व” है। राजमहल “अजीव तत्त्व” है। मिथ्यात्व-शत्रु राजा अपनी सेना के साथ जीव राजा को बन्धन में करने के लिए राजमहल के द्वार से प्रवेश करता है, यह “आस्रव तत्त्व” है। राजमहल में प्रवेश करके राजा को बन्धन में रखना “बन्ध तत्त्व” है। राजा के सैनिकों द्वारा प्रमुख द्वार बन्द करना “संवर तत्त्व” है। राजमहल में प्रविष्ट शत्रुओं को एक-एक करके मारकर निकालना “निर्जरा तत्त्व” है। शत्रु-राजा सहित उसके समस्त सैनिकों को पूर्णरूप से निकालकर उस राजा को दुश्मनों से पूर्ण मुक्त करा देना “मोक्ष तत्त्व” है।

जिज्ञासा—आपने जिन सात तत्त्वों के नाम कहे; वे मिथ्या (नकली) भी हो सकते हैं, अतः मिथ्या या सम्यक् तत्त्वों की पहचान कैसे हो सकती है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः ॥५॥

सूत्र उच्चारण—नाम-स्थापना-, द्रव्य-भावतस्-, तन्-न्यासः ॥५॥

सन्धि विग्रह—नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतः तन्-न्यासः ॥५॥

सूत्रार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव; इन चार उपायों से जीवादि सात तत्त्वों का न्यास-निक्षेप होता है।

लब्धार्थ—(१) गुण-क्रिया आदि रहित; वस्तु-व्यक्ति में व्यवहार के लिए जो संज्ञा-करण होता है, वह नाम निक्षेप है।

(२) गुण-क्रिया अधिकार आदि का आरोपण करके; किसी वस्तु-व्यक्ति में व्यवहार प्रसिद्धि के लिए जो व्यवहार होता है, उसे स्थापना निक्षेप कहते हैं।

(३) किसी वस्तु-व्यक्ति की; भूत एवं भविष्यरूप पर्याय को वर्तमान में कहना, वह द्रव्य निक्षेप है।

(४) जो वस्तु-व्यक्ति; वर्तमान में जिस पर्यायरूप है उसे; उसी प्रकार कहना, वह भाव निक्षेप है।

विशेषार्थ—(१) **सम्यक् नाम निक्षेप**—यद्यपि संसार की हर वस्तु-व्यक्ति का; चार प्रकार से न्यास-निक्षेप हो सकता है तो भी मोक्षमार्ग का प्रसङ्ग होने से निक्षेप विधि भी आवश्यक रूप से “सम्यक्” होना चाहिए, अतः इस निक्षेप विधि में सर्वप्रथम जिसकी जानकारी लेना है। जिस वस्तु या व्यक्ति का नामकरण करना है, उसका “सम्यक्” नामकरण हो, अतः “सम्यक् नाम निक्षेप” पहले रखा है।

जैसे-महावीर नाम का कोई महान व्यक्ति था, लेकिन हमने बच्चे का नाम महावीर रख दिया; यह महावीर नाम तो सम्यक् है, लेकिन व्यक्ति में महावीर जैसा बल-वीर्य आदि शक्ति नहीं है, अतः यह सम्यक् नाम निक्षेप मात्र है।

इस सूत्र में “सम्यक्” पद की अनुवृत्ति सूत्र संख्या दो से ली है, क्योंकि व्याकरण ग्रन्थ में पद की अनुवृत्ति एवं क्रिया का अध्याहार होता है।

(२) **सम्यक् स्थापना निक्षेप**—सम्यक् स्थापनाकरण उसी का हो सकता है जो पहले सम्यक् रूप में था अर्थात् “वह; यह है,” अतः नाम निक्षेप के बाद स्थापना निक्षेप रखा गया है।

जैसे-महावीर नाम का कोई प्रसिद्ध व्यक्ति आज नहीं है, लेकिन पहले था, उसके जैसी बल-वीर्य आदि शक्ति को मूर्ति आदि में स्थापना करना अर्थात् जितना सम्मान-पूजा-अधिकार हम साक्षात् उन महावीर को देते थे, उतना ही महत्त्व उनके आकार-प्रकार को देना, सम्यक् स्थापना निक्षेप है।

इसके दो भेद हैं—(१) तदाकार स्थापना—तदाकार स्थापना में वह ऐसे थे, अतः “वह; यह है,” ऐसा आकार देना तदाकार स्थापना है। (२) अतदाकार स्थापना—इसमें शतरंज की गोठों में बादशाह, वजीर आदि के अधिकार मानना, क्योंकि व्यवहार में बादशाह, वजीर आदि का अस्तित्व तो है, लेकिन शतरंज की गोठों में उनके आकार अनिश्चित हैं, अतः अतदाकार स्थापना निक्षेप है।

(३) सम्यक् द्रव्य निक्षेप—पहले भूत में; वर्तमान की यह वस्तु ऐसी थी, अब यही वर्तमान की वस्तु भविष्य में ऐसी बनेगी, यह सम्यक् द्रव्य निक्षेप है।

जैसे—महावीर भगवान्; भूत में सिंह पर्याय में थे, आज तीर्थङ्कर महावीर है, यही भविष्य में सिद्ध पर्याय को प्राप्त होंगे, यह सम्यक् द्रव्य निक्षेप है।

(४) सम्यक् भाव निक्षेप—भूत और भविष्य में यह वस्तु क्या थी या होगी? यह नहीं कहा जाता; केवल वर्तमान पर्याय का ग्रहण, यह सम्यक् भाव निक्षेप है।

जैसे—तीर्थङ्कर भगवान् महावीर पहले भूत में सिंह थे और भविष्य में सिद्ध बनेंगे, यह नहीं कह सकते, केवल वर्तमान में तीर्थङ्कर भगवान् महावीर कहना, यह सम्यक् भाव निक्षेप है।

समयसार जी में वस्तु स्वरूप की सिद्धि के लिए चार निक्षेप बतलाये हैं—(१) आगम; (२) युक्ति; (३) गुरु उपदेश; (४) स्वानुभव प्रत्यक्ष।

(१) आगम से सम्यक् नाम निक्षेप विधि है, क्योंकि कोई भी नाम; आगम सम्मत—सम्यक् होना चाहिए। जैसे—जीवादि तत्त्व या पदार्थों के नाम।

(२) युक्ति से सम्यक् स्थापना निक्षेप विधि है, क्योंकि सम्यक् स्थापना निक्षेप को युक्ति के द्वारा सिद्ध कर सकते हैं। जैसे—कोई व्यक्ति; भगवान् या मूर्ति को नहीं मानता है और मूर्ति आदि का विरोध भी करता है। यदि हम उसके उपदेशक—गुरु की तस्वीर पर पैर आदि रखकर अनादर करें या उनके समर्थन में पुष्पादि से पूजा करें तो उसे विषाद या हर्ष होता है, इस युक्ति से “वह; यह है” यह सम्यक् स्थापना निक्षेप बन जाता है।

(३) गुरु उपदेश से सम्यक् द्रव्य निक्षेप विधि है, क्योंकि जो गुरु परम्परा भूतकाल में थी, आज है और भविष्य में भी यही रहेगी, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। जैसे—परम्परा से गुरुओं ने जो छह द्रव्य आदि का स्वरूप बतलाया था, उसे ही आज बतला रहे हैं और यही स्वरूप भविष्य में भी बतलाते रहेंगे, यही सम्यक् द्रव्य निक्षेप विधि है।

(४) स्वानुभव प्रत्यक्ष से सम्यक् भाव निक्षेप विधि है, क्योंकि इस विधि में स्वयं के भावों से प्रत्यक्ष करके वस्तु-स्वरूप स्वीकार किया जाता है; पहले क्या था, आगे क्या होगा? इन सबका महत्त्व समाप्त हो जाता है। यह विधि केवल वर्तमान काल का अनुगमन करती है, अतः इसमें सम्यक् भाव निक्षेप विधि की सिद्धि होती है।

“बिन जानें तैं दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये”

इस वाक्यानुसार नाम आदि की मिथ्या-निक्षेप विधि भी जान लेने से भ्रान्ति दूर होगी।

मिथ्या-निक्षेप विधि—(१) मिथ्या नाम निक्षेप—जिस वस्तु या व्यक्ति का जो नाम है, उससे ठीक विपरीत या बिगाड़ के उसका नाम रखना या कहना मिथ्या नाम निक्षेप है। जैसे—आम के वृक्ष को

नीम या नीम के वृक्ष को आम कहना, क्योंकि नीम; आम नहीं हो सकता और आम; नीम नहीं हो सकता। यदि ऐसा कहते हैं तो यह मिथ्या नाम निक्षेप है अथवा जिन नामों के कोई अर्थ ही न निकलें ऐसे नाम; जैसे-डब्बू, गब्बू।

(२) मिथ्या स्थापना निक्षेप—जिसका पहले से कोई आकार या निराकाररूप अस्तित्व ही नहीं हो, उसकी स्थापना से सिद्धि करना। जैसे—मानसिकरूप से कल्पित कोई देवी-देवता के आकार-प्रकार बनाना।

(३) मिथ्या द्रव्य निक्षेप—जिसका भूत में, वर्तमान में, भविष्य में कोई अस्तित्व ही नहीं हो, ऐसे द्रव्य की सिद्धि करना मिथ्या द्रव्य निक्षेप है। जैसे—गधे के सींग; न पहले थे, न आज हैं, न कभी होंगे फिर भी गधे के सींग की सिद्धि करना मिथ्या द्रव्य निक्षेप है।

(४) मिथ्या भाव निक्षेप—सम्यक् भावों के विपरीत ही मिथ्या भाव की सिद्धि होती है। ऐसे मिथ्या भावों का अनुकरण करके आत्म हित मानना मिथ्या भाव निक्षेप है। जैसे—मिथ्यात्व, अविरत, कषाय आदि भाव।

सम्यक्-नामादि निक्षेप एवं मिथ्या-नामादि निक्षेप; एक-दूसरे के स्वरूप से बाधित हैं, अतः मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से सम्यक् नामादि निक्षेप विधि को स्वीकार करना चाहिए। इसमें भी तीन निक्षेप गौरुरूप हैं, भाव निक्षेप की प्रधानता है, क्योंकि प्रारम्भ के नाम, स्थापना एवं द्रव्य; ये तीन निक्षेप तो समझाने के लिए हैं, लेकिन भाव निक्षेप समझने के लिए है। जैसे—कोई व्यक्ति अपनी मञ्जिल की ओर जा रहा है, आगे उसे एक चौराहा मिलता है, वह व्यक्ति; किसी जानकार व्यक्ति से अपनी मञ्जिल का मार्ग पूछता है तब उस व्यक्ति को; तीन मार्ग निषेधरूप में दिखाये जाते हैं तथा एक मार्ग मुख्यरूप से बताया जाता है। वैसे ही नाम, स्थापना एवं द्रव्य; ये तीन निक्षेप समझाने के लिए हैं एवं भाव निक्षेप समझने के लिए है।

जीवादि सात तत्त्वों का न्यास—निक्षेप; नाम, स्थापना आदि चार प्रकार से होता है, अतः इस सूत्र में नामादि के बाद तत् पद रखा है। इससे सिद्ध होता है कि इस नामादि निक्षेप विधि में जीवादि सात तत्त्व ही भाव निक्षेप विधि के द्वारा समझने योग्य हैं।

णाम जिणा जिण णामा, ठवण जिणा पुण जिणंद पडिमाओ ।

दव्व जिणा जिण जीवा, भाव जिणा समवसरणत्था ॥

अर्थ—जिनेन्द्र के गुणों की अपेक्षा न करके; किसी का नाम “जिन” रखना; नाम निक्षेप जिन है। जिन प्रतिमा; स्थापना निक्षेप से “जिन” है। भव्यात्मा; शक्ति की अपेक्षा जिन होने से द्रव्य निक्षेप से “जिन” है तथा साक्षात् समवशरण में स्थित भगवान वास्तव में भाव निक्षेप से “जिन” है।

जिज्ञासा—आपने सूत्र संख्या दो से लेकर, सूत्र संख्या पाँच तक सम्यग्दर्शन सहित, सम्यग्दर्शन के श्रद्धान योग्य तत्त्व-विषय-तत्त्वार्थ के साथ सम्यक् तत्त्वों को नामादि निक्षेपों के द्वारा समझाया, लेकिन हम तो अल्प बुद्धि हैं, अतः आप हमें यह बतलायें कि जीवादि तत्त्वार्थ या सम्यग्दर्शन आदि का ज्ञान संक्षेप से किस प्रकार हो सकता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

सूत्र उच्चारण—प्रमाण-नयैः, रधिगमः ॥६॥

सन्धि विग्रह—प्रमाण-नयैः अधिगमः ॥६॥

सूत्रार्थ—प्रमाण और नयों के द्वारा जीवादि तत्त्वार्थों का; सम्यग्दर्शन आदि का ज्ञान होता है।

लब्धार्थ—“सकलादेशः प्रमाणं” जो पदार्थ के सर्वदेश को ग्रहण करता है, वह प्रमाण है। समीचीन ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

“विकलादेशः नयः” जो पदार्थ के एक अंश को ग्रहण करता है, वह नय है। वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

विशेषार्थ—आपकी दुकान पर तीन प्रकार के ग्राहक आते हैं, पहला ग्राहक कहता है कि सस्ते से सस्ती वस्तु चाहिए, क्योंकि कीमती वस्तु खरीदने के लिए हमारे पास इतनी कीमत नहीं है। दूसरा ग्राहक कहता है कि न हमें सस्ती चाहिए, न अधिक कीमती वस्तु चाहिए। तीसरा ग्राहक कहता है कि कीमती से कीमती वस्तु चाहिए।

ठीक इसी प्रकार से तीन प्रकार के जिज्ञासु शिष्य होते हैं जो जीवादि तत्त्वार्थों की संक्षेप, मध्यम अथवा विस्तार से जानकारी चाहते हैं, अतः यह सूत्र संक्षेपरुचि शिष्य को ध्यान में रखकर बनाया गया है, क्योंकि महापुरुषों का लक्ष्य सभी के उपकार के लिए होता है।

जो पहली बार कहा जाये वह प्रमाण है। जैसे—आपसे किसी ने पूछा—आप कहाँ से आये? आपने कहा कि पटना शहर से आये हैं। इसमें “पटना शहर” नाम का शब्द; प्रमाण है।

जो इस प्रमाण में भेद कर दे, वह नय कहलाता है। जैसे—पटना शहर का नाम; प्रमाण है, लेकिन पटना के किस मुहल्ले (वार्ड) से आये, यह पूछना या बताना नय है।

ज्ञातुः अभिप्रायः नयः, ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। जब तक वस्तु-पदार्थ में भेद होता चला जाता है तब तक नय व्यवस्था चलती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जीवादि तत्त्वार्थों के स्वरूप का ज्ञान एवं सम्यग्दर्शनादि की संक्षेप जानकारी; प्रमाण और नयों के द्वारा होती है। जैसे—जीव के बारे में जानकारी लेना है, अतः जीव; प्रमाण है। जो जानकारी है, वह नय है। संसारी और मुक्त; जीव के भेद-प्रभेद, नय हैं। सम्यग्दर्शन प्रमाण है, उसके भेद-प्रभेद, नय हैं। इसी प्रकार अन्य शब्दों के साथ भी लगा लेना चाहिए।

जो प्रमाण के द्वारा प्रमित अर्थात् जाने जाते हैं। जो नयों के द्वारा नीत अर्थात् भेद किए जाते हैं।

प्रमाण को सब धर्म मानते हैं, लेकिन नय को जैन धर्म ही मानता है, क्योंकि अनेकान्त प्रमाण है, स्याद्वाद नय है। प्रमाण; थोक दृष्टि है, नय; फुटकर दृष्टिकोण है।

प्रमाण पूज्य है, क्योंकि प्रमाण से ही नय की उत्पत्ति होती है, अतः सूत्र में प्रमाण के बाद नय शब्द को रखा है।

जिज्ञासा—यह संक्षेपरुचि शिष्य के लिए सूत्र था, अब मध्यमरुचि शिष्य के लिए जीवादि तत्त्वार्थों का ज्ञान कैसे हो? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

सूत्र उच्चारण—निर्देश-स्वामित्व-, साधनाधिकरण-, स्थिति-विधानतः ॥७॥

सन्धि विग्रह—निर्देश-स्वामित्व-साधन-अधिकरण-स्थिति-विधानतः ॥७॥

सूत्रार्थ—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति एवं विधान; इन छह अनुयोगों के द्वारा भी तत्त्वार्थों एवं सम्यग्दर्शनादि का ज्ञान होता है।

लब्धार्थ—(१) निर्देश—जिसके बारे में कहना या पूछना है, उसका नामकरण करना निर्देश है अर्थात् जिसके बारे में जानना-कहना है, उसका नाम क्या है ? यही निर्देश है।

(२) स्वामित्व—वस्तु के अधिकार को स्वामित्व कहते हैं अर्थात् उसका स्वामी कौन है ? इसका निर्णय करना स्वामित्व है।

(३) साधन—वस्तु की उत्पत्ति के कारण को साधन कहते हैं अर्थात् प्राप्ति के उपाय को साधन कहते हैं।

(४) अधिकरण—वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं, जो वस्तु जहाँ प्राप्त होती है, वह अधिकरण है।

(५) स्थिति—वस्तु के अस्तित्व काल को स्थिति कहते हैं अर्थात् वस्तु के समय-काल की मर्यादा को स्थिति कहते हैं।

(६) विधान—वस्तु के प्रकारों को विधान कहते हैं अर्थात् वस्तु की भेद गणना को विधान कहते हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन के परिप्रेक्ष्य में निर्देश आदि छह अनुयोग द्वारों को निम्न प्रकार समझना—

(१) निर्देश—बहुत-सी वस्तुओं में जिसका कथन करना है, उसका निर्णय करना निर्देश है। जैसे—जीवादि तत्त्वार्थों में से मात्र जीव के कथन के बारे में; रत्नत्रय में से मात्र सम्यग्दर्शन के बारे में कहने का निर्णय करना, यह निर्देश कथन है।

(२) स्वामित्व—सम्यग्दर्शन; प्रत्येक जीव को प्राप्त नहीं हो सकता, उसकी पात्रता का चुनाव स्वामित्व है। जैसे—भव्य, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक, जागृत, उपयोगमय जीव ही सम्यग्दर्शन का स्वामी है।

(३) साधन—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साधन दो प्रकार के हैं—

(१) अन्तरङ्ग साधन—एक दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व एवं चार चारित्र मोहनीय अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; ये चार कषाय, इन पाँचों का अथवा दर्शन मोहनीय की तीन; मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व, सम्यक्-प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी की चार; इन सातों कर्म प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम, ये अन्तरङ्ग कारण सभी भव्य जीवों के समान हैं।

(२) बहिरङ्ग साधन—चारों गतियों में निम्न प्रकार से हैं—(१) नरक गति—प्रथम नरक से तीसरे नरक तक जातिस्मरण, वेदना एवं धर्मश्रवण, चौथे से सातवें नरक तक जाति-स्मरण एवं वेदना; ये दो ही साधन हैं; कारण कि तीसरे नरक से आगे कोई भी मित्र-देव; नरकों में सम्बोधन के लिए नहीं जाते हैं, जिससे धर्मश्रवण निमित्त का अभाव है। (२) तिर्यञ्च गति—इस गति में जातिस्मरण, धर्म श्रवण, जिनबिम्ब दर्शन; ये तीन ही साधन हैं। (३) मनुष्य गति—इस गति में भी जातिस्मरण, धर्मश्रवण,

जिनबिम्ब दर्शन; ये तीन ही साधन हैं। (४) देवगति—इस गति में जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमा दर्शन, देवऋद्धि दर्शन; ये चार ही साधन हैं। देवगति के देव; जिनेन्द्र भगवान् के पञ्चकल्याणक पूजा के माहात्म्य से सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, अतः जिनमहिमा दर्शन; सम्यक्त्व में कारण है। छोटे देव; ऊपर के बड़े देवों की ऋद्धि को देखकर, अपने ज्ञान से उनकी ऋद्धि का चिन्तन करते हैं कि इस देव ने किस कारण से इतनी ऋद्धियाँ प्राप्त की हैं? इस चिन्तन से देवऋद्धि दर्शन भी सम्यक्त्व में कारण हो जाता है, किन्तु बारहवें स्वर्ग के ऊपर के देवों में शुक्ल लेश्या के कारण देवऋद्धि का औत्सुक्य नहीं होता है, अतः देवऋद्धि दर्शन बारहवें स्वर्ग तक ही होता है। नौवें ग्रैवेयक से ऊपर के सभी देव पञ्चकल्याणक पूजा में नहीं आते हैं, अतः उन्हें जातिस्मरण एवं धर्मोपदेश; ये दो ही निमित्त हैं। अनुदिश एवं अनुत्तर विमानों में सम्यग्दृष्टि जीव ही पैदा होते हैं।

विशेष—तिर्यञ्च एवं मनुष्य गति में नारकियों के समान वेदना से सम्यग्दर्शन नहीं होता है; कारण कि तिर्यञ्च और मनुष्यों के पास वेदना के प्रतिकार के साधन हैं। दूसरी बात; मनुष्य और तिर्यञ्चों को जिन कारणों से वेदना होती है, वे उस वेदना के दूर होने पर पुनः वैसी ही वेदना के साधन जुटा लेते हैं। जैसे—कोई गर्भवती नारी; प्रसूति की पीड़ा को सहन नहीं कर पाती, लेकिन प्रसूति होने के कुछ समय बाद पुनः गर्भ धारण कर लेती है, अतः तिर्यञ्च और मनुष्यों में वेदना से सम्यग्दर्शन नहीं होता है। नारकियों में निरन्तर वेदना होने से उनके वेदना से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

प्रश्न—जैसे—देवों को देवों की देवऋद्धि देखकर सम्यग्दर्शन होता है। वैसे ही मनुष्यों को मनुष्यों के वैभव को देखकर सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है?

उत्तर—एक देव; दूसरे देव के वैभव को देखकर उसके पुण्यादि सत्कर्मों का चिन्तन करता है, जिससे उसे देवऋद्धि से सम्यग्दर्शन हो जाता है, किन्तु एक मनुष्य; दूसरे मनुष्य के वैभव को ईर्ष्या-द्वेष प्रतिस्पर्धा का कारण मानता है, इस कारण से उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

(४) **अधिकरण**—सम्यग्दर्शन के अधिकरण दो प्रकार के हैं—(१) बाह्य अधिकरण—एक राजू लम्बी-चौड़ी और चौदह राजू ऊँची, त्रसनाड़ी है। इस स्थान में त्रस जीव बहुलता से पाये जाते हैं, अतः त्रसनाड़ी यह संज्ञा है, यह सामान्य कथन है। त्रसनाड़ी के बाहर के क्षेत्र को निष्कृत क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्र में मात्र इतर निगोदिया जीव ही रहते हैं। (२) आभ्यन्तर अधिकरण—सम्यग्दर्शन का आभ्यन्तर अधिकरण भव्य जीव ही है।

(५) **स्थिति**—उपशम, क्षयिक, क्षयोपशम; इन तीनों सम्यग्दर्शनों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। अड़तालीस मिनट के अन्दर में एक-एक समय कम करके, उसमें जितने समय हैं, वे सब अन्तर्मुहूर्त हैं। अड़तालीस मिनट में प्रारम्भ का एक समय कम करने का समय भिन्न मुहूर्त कहलाता है। उपशम सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। क्षयोपशम सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागर है। क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम; दो पूर्व कोटि वर्ष अधिक तैंतीस सागर है।

(६) **विधान**—(१) सामान्य से सम्यग्दर्शन एक प्रकार का है। (२) निसर्गज एवं अधिगमज की अपेक्षा अथवा सराग और वीतराग की अपेक्षा सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। (३) उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है। (४) सम्यग्दर्शन का कथन करने वाले शब्द संख्यात हैं, अतः सम्यग्दर्शन संख्यात प्रकार का है। जैसे—आज्ञा, बीज सम्यक्त्व आदि। (५) सम्यग्दर्शन

को धारण करने वाले जीवों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन असंख्यात प्रकार का है, क्योंकि सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले जीवों की संख्या; असंख्यात है। (६) श्रद्धान करने योग्य पर्याय सहित पदार्थ अनन्त प्रकार के हैं, अतः सम्यग्दर्शन अनन्त प्रकार का है।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा जीवादि तत्त्वार्थों में भी छह अनुयोग द्वारों को लगा लेना चाहिए।

जिज्ञासा—संक्षेप रुचि, मध्यम रुचि शिष्यों की अपेक्षा छट्वाँ एवं सातवाँ सूत्र कहा, अब विस्तार रुचि शिष्य की अपेक्षा जीवादि तत्त्वार्थों का एवं सम्यग्दर्शनादि का ज्ञान कैसे हो सकता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सत्सङ्ख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

सूत्र उच्चारण—सत्-सङ्ख्या-, क्षेत्र-स्पर्शन-, कालान्तर-, भावाल्प-बहुत्वैश्च ॥८॥

सन्धि विग्रह—सत्-सङ्ख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-काल-अन्तर-भाव-अल्पबहुत्वैः च ॥८॥

सूत्रार्थ—सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव एवं अल्पबहुत्व; इन आठ अनुयोग द्वारों से जीवादि तत्त्वार्थों का ज्ञान होता है।

लब्धार्थ—(१) सत्—“है” या अस्तित्व।

(२) संख्या—कितनी है? गणना।

(३) क्षेत्र—कहाँ है? किस स्थान में है?

(४) स्पर्शन—कहाँ से कहाँ तक? कहाँ से आयी; कहाँ तक जा सकती है?

(५) काल—कब तक रहेगी? समय-सीमा या मर्यादा।

(६) अन्तर—विरह काल; अन्तर है। एक बार मिलकर विछुड़ जाये पुनः दुबारा मिलने तक के समय को अन्तर कहते हैं।

(७) भाव—पदार्थ किस गुण या भाव का है।

(८) अल्पबहुत्व—थोड़ा-बहुत की तुलना करना।

विशेषार्थ—(१) सत्—जिस वस्तु या व्यक्ति के बारे में जानकारी लेना है, उस वस्तु आदि का अस्तित्व है भी या नहीं, अतः उसके होने की स्वीकृति को “सत्” कहते हैं। जैसे—ग्राहक; दुकानदार से पूछता है—कपड़ा है? “है” यह सत् है।

(२) संख्या—वस्तु आदि की गणना पूछना “संख्या” है। जैसे—दुकानदार; ग्राहक से पूछता है—कितना चाहिए? “कितना” यह संख्या है।

(३) क्षेत्र—वस्तु आदि के वर्तमान अस्तित्व स्थान को “क्षेत्र” कहते हैं। जैसे—ग्राहक; दुकानदार से पूछता है—“कहाँ रखा है? कहाँ है?” यह क्षेत्र है।

(४) स्पर्शन—वस्तु के त्रैकालिक निवास को “स्पर्शन” कहते हैं। जैसे—दुकानदार; ग्राहक से कहता है, मील से आया था, नमूना (सैम्पिल) यहाँ है, गोदाम से मँगवा लेंगे। मील से आया था; यह भूत है। नमूना; वर्तमान है। गोदाम; भविष्य है। “कहाँ से कहाँ तक?” यह स्पर्श है।

(५) काल—वस्तु के अस्तित्व के समय को “काल” कहते हैं। जैसे—यह वस्तु कितनी पुरानी है? “कब तक चल” सकती है? यह काल है।

(६) अन्तर—वस्तु के समाप्त या नष्ट होने के बाद; जब तक वह वस्तु पुनः प्राप्त नहीं हो तब तक का विरह काल “अन्तर” है। जैसे—दुकानदार के पास यदि वह वस्तु नहीं है तब वह समय देता है कि इतने दिन बाद मिलेगी अर्थात् “फिर कब?” यह अन्तर है अथवा वस्तु को एक बार ले जायें पुनः समाप्त होने पर; लेने आये तब उतने समय का अन्तर कहा जायेगा।

(७) भाव—वस्तु के गुण (मूल्य) को भाव कहते हैं। जैसे—ग्राहक के द्वारा वस्तु की गुणवत्ता (भाव) तय करना। भाव; “अब” इतने में तय करना।

(८) अल्पबहुत्व—वस्तु के गुण (भाव) तय होने पर; गुणवत्ता वाली वस्तु लेने के लिए नियत करना अल्पबहुत्व है। जैसे—कम भाव वाले कितने? अधिक भाव वाले कितने? “थोड़ा-बहुत” यह अल्पबहुत्व अनुयोग द्वार है।

सामान्य से सत् संख्या आदि अनुयोग द्वार को जीवादि के साथ लगा लेना चाहिए। इस सूत्र का विस्तार सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में तथा षट्खण्डागम की ध्वला टीका-सोलह पुस्तकों में है, यह सब; विस्तार रुचि शिष्य के लिए है। अधिक बार पढ़ने पर ही समझ में आता है।

बीसवीं शताब्दी में सहारनपुर (उ०प्र०) के पं० रतनचन्द्र जी मुख्तार, जिन्हें धवलत्रय के बीस हजार पृष्ठ कण्ठस्थ थे। जो भारत देश के सभी जैन विद्वानों आदि की शङ्काओं के समाधान आगमानुसार करते थे, उनके ही व्यवहार-शिष्य; पं० जवाहरलाल जी सिद्धान्त शास्त्री, भीण्डर (राज०) वाले धवलत्रय के जानकार हैं।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या दो से सूत्र संख्या आठ तक सम्यग्दर्शन आदि का कथन किया, अब सम्यग्ज्ञान के भेद एवं उनके स्वरूप के बारे में बतलायें; ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥

सूत्र उच्चारण—मति-श्रुतावधि-, मनःपर्यय-, केवलानि, ज्ञानम् ॥९॥

सन्धि विग्रह—मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम् ॥९॥

सूत्रार्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान; ये पाँचों सम्यग्ज्ञान हैं।

लब्धार्थ—(१) मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन के द्वारा पदार्थों का जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

(२) श्रुतज्ञान—मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ का जो विशेष ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

(३) अवधिज्ञान—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा पूर्वक, इन्द्रियादि की सहायता के बिना; आत्मशक्ति से वस्तु के रूपी स्वरूप को एक देश स्पष्ट जानता है, वह अवधिज्ञान कहलाता है।

(४) मनःपर्ययज्ञान—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा पूर्वक, इन्द्रियादि की सहायता के बिना; आत्म शक्ति से परकीय मनोगत; चिन्तित, अर्द्ध चिन्तित रूपी पदार्थ को स्पष्ट एक देश; मनुष्य क्षेत्र प्रमाण जानता है, वह मनःपर्ययज्ञान है।

(५) केवलज्ञान—जो इन्द्रिय और मन आदि की सहायता के बिना ही, सकल आत्म प्रदेशों से; विश्व के समस्त चराचर द्रव्यों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को युगपत् जानता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान का प्रकरण होने से ये पाँचों ही ज्ञान; सम्यग्ज्ञान हैं। इस सूत्र में ज्ञान के आगे सम्यक् पद विशेषण प्रथम सूत्र से अनुवृत्ति द्वारा ग्रहण किया गया है, अतः ये पाँचों ही ज्ञान; सम्यग्ज्ञान हैं।

पाँच भेदरूप होने से ये पाँचों ज्ञान; ज्ञान की पर्याय हैं, क्योंकि चेतन-आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है, मति-श्रुतज्ञानादि उसकी पर्यायें हैं। सिद्धों में शुद्ध आत्म द्रव्य होने से, शुद्ध ज्ञान गुण रहता है, अतः सिद्धों में केवलज्ञान न कहकर मात्र ज्ञान कहा जाता है।

पाँचों ज्ञानों में केवलज्ञान पूज्य और महान है फिर भी इसकी उत्पत्ति सबसे अन्त में होती है, अतः इसे सबसे अन्त में रखा है। मनःपर्ययज्ञान; केवलज्ञान के समीप रखा है, क्योंकि ये दोनों ज्ञान; सकल संयमी के ही होते हैं। अवधिज्ञान को मध्य में रखा है, क्योंकि अवधिज्ञान; संयमी-असंयमी दोनों को हो सकता है। मति-श्रुतज्ञान को पहले इसलिए रखा है कि असंयत सम्यग्दृष्टि जीव; बिना अवधिज्ञान के, बिना संयम के भी इन दोनों ज्ञानों का अनुभव करते हैं।

जिज्ञासा—संसार में सभी जीवों-लोगों के पास ज्ञान है, लेकिन कोई इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सन्निकर्ष आदि को ज्ञान मानते हैं जबकि आपने इन पाँचों ज्ञानों को ही सम्यग्ज्ञान माना है। इसके अलावा आपने सूत्र संख्या छह में कहा था कि प्रमाण और नयों के द्वारा भी ज्ञान होता है, अतः कौन-से ज्ञान कितने प्रमाणरूप हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तत्प्रमाणे ॥१०॥

सूत्र उच्चारण—तत्, प्रमाणे ॥१०॥

सूत्रार्थ—वह पाँचों सम्यक्ज्ञान ही दो प्रमाणरूप हैं।

लब्धार्थ—“प्रमिणोति इति प्रमाणं” जो सम्यक् प्रकार से जानता है, वह प्रमाण है। “सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं”, अतः ये पाँचों सम्यग्ज्ञान ही परोक्ष और प्रत्यक्ष; ये दो प्रमाणरूप हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञानों की पुष्टि के लिए मिथ्याज्ञानों के निराकरण के लिए इस सूत्र को बनाया है। ये पाँचों ज्ञान ही दो प्रमाणरूप हैं, क्योंकि सूत्र में प्रमाणे पद द्विवचनरूप है, जिसका अर्थ है कि प्रमाण दो प्रकार के हैं, इनसे ही जीवादि तत्त्वार्थों का सम्यग्ज्ञान होता है।

इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सन्निकर्ष से जो ज्ञान होता है, वह अपूर्ण एवं विरोधाभासरूप ज्ञान होता है, क्योंकि सन्निकर्ष ज्ञान से सूक्ष्म-परमाणु आदि। व्यवहित-दूरवर्ती, राम रावणादि। विप्रकृष्ट-अधिक द्रव्य आदि का ग्रहण नहीं हो सकता है, अतः सन्निकर्ष ज्ञान; अपूर्ण ज्ञान है।

जिज्ञासा—जो पाँचों सम्यग्ज्ञान हैं, वे दो प्रमाणरूप हैं, अतः प्रथम प्रमाण का नाम क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आद्ये परोक्षम् ॥११॥

सूत्र उच्चारण—आद्ये, परोक्षम् ॥११॥

सूत्रार्थ—आदि अर्थात् प्रारम्भ के दो ज्ञान; परोक्ष प्रमाण हैं।

लब्धार्थ—“आद्ये” पद में द्विवचन होने से आदि यानि प्रारम्भ के मति और श्रुतज्ञान; ये दो परोक्षज्ञान हैं।

विशेषार्थ—मति और श्रुतज्ञान; परोक्ष प्रमाण हैं, क्योंकि ये दोनों ज्ञान; इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियाँ और मन; आत्मा से परे हैं, अतः ये परोक्षज्ञान हैं।

परोक्षज्ञान को न्याय शास्त्र में सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा है।

अध्यात्म शास्त्र में इसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा है। (तत्त्वार्थसार)

जिज्ञासा—जब परोक्ष प्रमाणरूप आदि के दो ज्ञान हैं तब दूसरे प्रमाणरूप बाकी के तीन ज्ञान क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

सूत्र उच्चारण—प्रत्यक्ष-, मन्यत् ॥१२॥

सन्धि विग्रह—प्रत्यक्षम्-अन्यत् ॥१२॥

सूत्रार्थ—शेष तीन ज्ञान; अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

लब्धार्थ—मति और श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष; अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान; ये तीनों प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। जो ज्ञान; बाह्य इन्द्रियादिक की अपेक्षा से न होकर, केवल आत्मा के अवलम्बन से होता है, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

विशेषार्थ—प्रति+अक्ष=प्रत्यक्ष। प्रति का अर्थ भाग या हिस्सा, अक्ष का अर्थ आत्मा, जिसका आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

पहले यहाँ परोक्षज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान में अन्तर समझ लेना आवश्यक है।

जो ज्ञान; अधूरा और अस्पष्ट जानता है, वह परोक्षज्ञान है।

जो ज्ञान; पूरा और स्पष्ट जानता है, वह प्रत्यक्षज्ञान है।

प्रत्यक्षज्ञान के दो भेद हैं—(१) देश प्रत्यक्ष—जो एक देश स्पष्ट जानें, वह देश प्रत्यक्ष है। (२) सकल प्रत्यक्ष—जो सर्व देश स्पष्ट जानें, वह सकल प्रत्यक्ष है।

करणानुयोग की अपेक्षा क्षयोपशम ज्ञान तो एक देश प्रत्यक्ष है ही, लेकिन क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ होने वाला ज्ञान भी एक देश प्रत्यक्ष हो सकता है; कारण कि क्षयोपशम ज्ञान को बारहवें गुणस्थान तक अज्ञान भाव माना है। तेरहवें गुणस्थान में केवलदर्शन के साथ होने वाला केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

अवधि और मनःपर्ययज्ञान; एक देश प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि ये दोनों ज्ञान; द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा में; रूपी पदार्थों को आत्मा से एक देश प्रत्यक्ष और स्पष्ट जानते हैं।

जैसे-घर की खिड़की से शहर को देखना, एकदेश प्रत्यक्ष है। घर की छत से शहर को देखना, सर्वदेश प्रत्यक्ष है।

जिज्ञासा—सम्यग्ज्ञानों के पाँच भेद बताकर उसके दो भेद कहे, अब आप मतिज्ञान के बारे में बतलायें, ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

सूत्र उच्चारण—मतिः स्मृतिः संज्ञा, चिन्ताऽभिनिबोध, इत्य-नर्थान्तरम् ॥१३॥

सन्धि विग्रह—मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता-अभिनिबोध इति-अन्-अर्थ-अन्तरम् ॥१३॥

सूत्रार्थ—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध; ये पाँचों नाम मतिज्ञान के ही पर्यायवाची हैं अर्थात् मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं अर्थात् अर्थान्तर नहीं हैं, क्योंकि ये पाँचों नाम वाले मतिज्ञान; मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

लब्धार्थ—व्युत्पत्ति अर्थ—(१) मति—“मननं मतिः”, मनन करने को मति कहते हैं।

(२) स्मृति—“स्मरणं स्मृतिः”, स्मरण करने को स्मृति कहते हैं।

(३) संज्ञा—“संज्ञानं संज्ञा”, विशेष जानने को संज्ञा कहते हैं।

(४) चिन्ता—“चिन्तनं चिन्ता”, तर्क ज्ञान को चिन्ता कहते हैं।

(५) अभिनिबोध—“अभि निबोधनं” अभिनिबोधः”, अनुमान ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं।

विशेषार्थ—(१) मति—पाँचों इन्द्रिय और मन से जो ज्ञान होता है, वह मति है। जैसे—यह देवदत्त है।

(२) स्मृति—पहले जानी देखी हुई वस्तु-व्यक्ति के स्मरण को स्मृति कहते हैं। जैसे—यह; वही देवदत्त है, जिसे कल देखा था।

(३) संज्ञा—वर्तमान वस्तु की पहचान बनाना संज्ञा है। जैसे—यह देवदत्त है।

(४) चिन्ता—व्याप्तिज्ञान को चिन्ता कहते हैं। जैसे—जहाँ-जहाँ धूम, वहाँ-वहाँ अग्नि है।

(५) अभिनिबोध—साधन से ही साध्य के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनुमान ज्ञान भी है। जैसे—ठण्डी हवा से पानी गिरने का ज्ञान हो जाना।

अभि=चारों ओर से, नि=नियम से, बोध=ज्ञान होना-अभिनिबोध है, इस ज्ञान में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा के साधनों से साध्य का ज्ञान होता है।

इस सूत्र में “इति” शब्द का अर्थ “आदि” है। जिससे आदि शब्द का अर्थ; और, या, अन्य भी होता है। जैसे—इति शब्द से प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदि का ग्रहण किया है, इनको भी मतिज्ञान जानना चाहिए।

प्रतिभा—जिसमें कारण के बिना ही; कार्य का स्वतः प्रतिभास (ज्ञान) हो जाता है, उसे प्रतिभा कहते हैं। जैसे—किसी दीवाल की ऊँचाई को; बिना मीटर या फिट लगाकर भी सही बता देना कि इस दीवाल की ऊँचाई, इसी दीवाल की आधी ऊँचाई से दूनी है।

बुद्धि—अर्थ ग्रहण करने की शक्ति को बुद्धि कहते हैं। जैसे—कहाँ-किस प्रसङ्ग में कौन-सी बात कहनी है या कौन-सा कार्य करना है?

मेधा—पाठ ग्रहण करने की शक्ति को मेधा कहते हैं। जैसे—शतावधानी व्यक्ति; सौ अलग-अलग शब्दों को सुनकर पुनः उसी क्रम से बोल देते हैं।

विशेष—उमास्वामी आचार्य ने यह शब्दकोशरूप सूत्र बनाया है। सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष एवं स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं।

जिज्ञासा—मतिज्ञान कैसे उत्पन्न होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

सूत्र उच्चारण—तदिन्द्रिया-ऽनिन्द्रिय-, निमित्तम् ॥१४॥

सन्धि विग्रह—तद्-इन्द्रिया-अनिन्द्रिय-निमित्तम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—वह मतिज्ञान; इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से उत्पन्न होता है अर्थात् जो इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थों को जानता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

लब्धार्थ—इन्द्र; जो आज्ञा और ऐश्वर्य को प्राप्त होता है, उसे इन्द्र कहते हैं, परन्तु यहाँ इन्द्र शब्द का अर्थ “आत्मा” है, उस आत्मा का जो लिङ्ग या चिह्न है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। नामकर्मरूपी इन्द्र के द्वारा जो रची जाती हैं, वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं।

विशेषार्थ—इन्द्रियों को आत्मा का लिङ्ग या चिह्न इसलिए कहा गया है, क्योंकि स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ; आत्मा के सूक्ष्म अस्तित्व का ज्ञान कराती हैं अर्थात् इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा; पर-पदार्थों के विषयों के ज्ञान को ग्रहण करती है। जैसे-अग्नि के बिना धूम नहीं होता है। उसी प्रकार आत्मा के बिना; इन्द्रिय विषयों का ज्ञान नहीं होता है, अतः इन्द्रियाँ; आत्मा के लिङ्ग हैं।

अनिन्द्रिय-अनिन्द्रिय; मन को कहते हैं। अनिन्द्रिय, मन, अन्तःकरण; तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जिस प्रकार इन्द्रियाँ; नियत देश और नियत विषय को ग्रहण करने वाली हैं, वैसे ही मन; नियत देश-विषय वाला स्थायी नहीं है, इसलिए मन को अनिन्द्रिय कहते हैं।

मन को अन्तःकरण इसलिए कहते हैं, क्योंकि मन को गुण-दोष विचार आदि कार्यों में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रहती है तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के समान मन की बाह्य चिह्नों के द्वारा उपलब्धि भी नहीं होती, इसलिए अन्तःकरण है। सूत्र में “तत्” पद; पूर्व (पहले) तथा पर (बाद) से सम्बन्ध जोड़ने के लिए है। पूर्व से मतिज्ञान, पर से अवग्रह, ईहा आदि जोड़ लेना।

जिज्ञासा—जब मतिज्ञान एक प्रकार का है तब प्रत्येक जीव का मतिज्ञान एक-सा होना चाहिए, परन्तु एक-सा नहीं होता, अतः उसमें भेद का कारण क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

सूत्र उच्चारण—अवग्रहे-हावाय-, धारणाः ॥१५॥

सन्धि विग्रह—अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणाः ॥१५॥

सूत्रार्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा; ये चार भेद मतिज्ञान के हैं।

लब्धार्थ—(१) अवग्रह—“कुछ है” सफेद-सा यानि आभास-आहट।

(२) ईहा—“क्या है?” सीप या चाँदी यानि विशेष जानने की इच्छा।

(३) अवाय—“ये है” चाँदी है यानि निर्णयात्मक ज्ञान।

(४) धारणा—“यही था” यही चाँदी थी यानि भविष्य में भूलना नहीं।

विशेषार्थ—सम्यक्-मतिज्ञान का कथन होने पर भी संसार के समस्त प्राणियों के मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम भिन्न-भिन्न है, अतः सभी का मतिज्ञान एक-सा नहीं है। मतिज्ञान के प्रारम्भ होने से उसके पूर्ण होने तक उसके चार प्रमुख भेद हो जाते हैं, उत्तर भेद ३३६ हैं।

(१) अवग्रह—विषय-विषयी के सन्निपातरूप दर्शन के पश्चात् जो अर्थ-पदार्थ का प्रथम ग्रहण होता है, वह अवग्रह कहलाता है। जैसे—यह “कुछ” सफेद-सा है।

(२) ईहा—अवग्रह से ज्ञात पदार्थों का विशेषरूप से जानने की इच्छा करना ईहा है। जैसे—यह सफेद-सा “क्या है?” सीप है या चाँदी।

(३) अवाय—विशेष चिह्न देखने से वस्तु का निर्णय हो जाना सो अवाय है। जैसे—सफेद वस्तु का लक्षण से परीक्षण करने पर “यह चाँदी ही है”।

(४) धारणा—अवाय से निर्णय किए गए पदार्थ को कालान्तर में भी नहीं भूलना धारणा है। जैसे—“यह; वही चाँदी है” जो उस सीप के साथ मिली थी।

विशेष—स्मृति; मतिज्ञान का नाम है। धारणा; मतिज्ञान का एक भेद है। प्रत्यभिज्ञान; भूत और वर्तमान का जोड़रूप ज्ञान है। इन तीनों में धारणा और स्मृति; कारण है, प्रत्यभिज्ञान; कार्य है अर्थात् धारणा; स्मृति में कारण है, स्मृति; प्रत्यभिज्ञान में कारण है।

ईहा में; यह होना चाहिए, ऐसे निर्णय के लिए ईहा होती है, अतः ईहा; संशय नहीं है (रा० वा०)। संशय में; वस्तु को पूर्ण लक्षणों से जानने-देखने के बाद भी निर्णय नहीं होता है।

अध्यात्म में अवग्रहादि—पर पदार्थ से लक्ष्य हटाकर; मन और बुद्धि को आत्म सन्मुख करने से जो ज्ञातारूप सामान्यज्ञान होता है, वह अवग्रह है। विशेष अनुभव की ओर ललक रखना ईहा है।

अतीन्द्रिय आनन्द के चिह्न द्वारा; यही आत्मा है, ऐसा निश्चय होना अवाय है। अतीन्द्रिय आनन्द को कभी न भूलना धारणा है।

राग-द्वेष की बातों में अवग्रह हो तो ईहा आदि में नहीं सोचना चाहिए।

जिज्ञासा—अवग्रह आदि जो मतिज्ञान के भेद हैं, वे कितने प्रकार से; कहाँ-कहाँ, किस-किस पदार्थ में लगते हैं? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बहुबहुविधक्षिप्राऽनिःसृताऽनुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

सूत्र उच्चारण—बहु-बहुविध-, क्षिप्रा-ऽनिःसृता-, ऽनुक्त-ध्रुवाणां, सेतराणाम् ॥१६॥

सन्धि विग्रह—बहु-बहुविध-क्षिप्रा-अनिःसृत-अनुक्त-ध्रुवाणां स-इतराणाम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनसे उल्टे एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, अध्रुव; इन बारह प्रकार के पदार्थों के अवग्रहादिक ज्ञान होते हैं।

लब्धार्थ—बहु का उल्टा एक, बहुविध का उल्टा एकविध, क्षिप्र का उल्टा अक्षिप्र, अनिःसृत का उल्टा निःसृत, अनुक्त का उल्टा उक्त, ध्रुव का उल्टा अध्रुव। इस तरह बहु आदि के बारह भेद हो जाते हैं।

विशेषार्थ—बहु शब्द; संख्यावाची और वैपुल्यवाची भी है। संख्यावाची—जैसे एक, दो, तीन आदि। वैपुल्यवाची—जैसे बहुत से गेहूँ, बहुत से चावल आदि।

(१) बहु—यहाँ एक समान वस्तु के प्रकार में बहुत्व का प्रयोग होता है, वह बहु है। जैसे—बहुत गेहूँ, बहुत चावल।

(२) एक—यहाँ एक समान वस्तु के प्रकार में एक का प्रयोग होता है, वह एक है। जैसे—बहुत गेहूँ में से एक गेहूँ, बहुत चावल में से एक चावल।

(३) बहुविध—यहाँ एक समान वस्तु के प्रकार में बहुत प्रकार का प्रयोग होता है, वह बहुविध है। जैसे—एक गेहूँ की बहुत प्रकार की जातियाँ, बहुत प्रकार के चावल आदि।

(४) एकविध—यहाँ एक समान वस्तु के प्रकार में एक ही प्रकार का प्रयोग होता है, वह एकविध है। जैसे—एक गेहूँ की एक ही प्रकार की जाति।

ये चारों; संख्या एवं वैपुल्यवाची हैं अर्थात् एक, बहु; संख्यावाची। विध शब्द; एक, बहु के प्रकार वाची है। जैसे—एक; संख्या (क्वान्टिटी) है; एक विध, एक प्रकार (क्वालिटी) है।

(५) क्षिप्र—जिसका ज्ञान शीघ्र हो, वह क्षिप्र है। जैसे—गतिशील वस्तु का शीघ्रता से ज्ञान होना।

(६) अक्षिप्र—जिसका ज्ञान धीरे-धीरे हो, वह अक्षिप्र है। जैसे—स्थिर वस्तु का धीरे-धीरे ज्ञान हो।

(७) अनिःसृत—पदार्थ के एक देश को देखकर; सर्वदेश का ज्ञान हो, वह अनिःसृत ज्ञान है। जैसे—सूड़ से हाथी का ज्ञान होना।

(८) निःसृत—पदार्थ के पूर्ण प्रकट होने पर जो ज्ञान हो, वह निःसृत ज्ञान है। जैसे—पूरे हाथी को देखकर ही हाथी का ज्ञान होना।

(९) अनुक्त—बिना कहे ही अभिप्राय समझ लेना अनुक्त है। जैसे—सूखे हुए ओंठ को देखकर ही उसके प्यासे होने का ज्ञान होना।

(१०) उक्त—कहने पर ही अभिप्राय समझना उक्त है। जैसे—प्यासे व्यक्ति के कहने पर ही पानी पिलाना।

(११) ध्रुव—बहुत समय तक जिसका ज्ञान यथार्थ बना रहे, वह ध्रुव है। जैसे—पर्वत आदि स्थिर पदार्थ को जानना।

(१२) अध्रुव—चञ्चल वस्तु के ज्ञान को अध्रुव कहते हैं। जैसे—बिजली, जलतरङ्ग आदि।

जिज्ञासा—अवग्रहादि ज्ञान तो बहुविध आदि को जानते हैं, लेकिन बहु आदि किसके विशेषण (भेद) हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अर्थस्य ॥१७॥

सूत्रार्थ—ये बहु आदि पदार्थ के विशेषण हैं अर्थात् ये पदार्थ के भेद हैं।

लब्धार्थ—बहु आदि बारह; पदार्थ के भेद हैं, इन बहु आदि पदार्थों में ही अवग्रह आदि ज्ञान की प्रवृत्ति होती है।

विशेषार्थ—अर्थ के अवग्रह आदि चारों; मतिज्ञान से होते हैं।

ये बहु, बहुविध आदि बारह भेद पदार्थ के हैं; मतिज्ञान के नहीं हैं, अतः मतिज्ञान के द्वारा ये पदार्थ जाने जाते हैं। यहाँ तक अर्थावग्रह का प्रकरण है अर्थात् २८८ प्रकार का अर्थावग्रह है, क्योंकि आगे अठारहवें सूत्र में व्यञ्जनावग्रह का कथन है।

जिज्ञासा—ये चारों अवग्रहादि ज्ञान; पदार्थों के सभी बारह भेदों को जानते हैं क्या? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

सूत्र उच्चारण—व्यञ्जनस्याव-ग्रहः ॥१८॥

सन्धि विग्रह—व्यञ्जनस्य-अवग्रहः ॥१८॥

सूत्रार्थ—व्यञ्जन अर्थात् अव्यक्त पदार्थ का अवग्रह ज्ञान होता है।

लब्धार्थ—अव्यक्त पदार्थ का अवग्रह ज्ञान होता है; ईहा आदि तीन ज्ञान नहीं होते हैं।

विशेषार्थ—अवग्रह दो प्रकार का होता है—(१) अर्थावग्रह जो पूर्व सूत्र में कहा है; (२) व्यञ्जनावग्रह जो इस सूत्र में कहा है। इस अस्पष्ट पदार्थ में ईषत् व्यक्त, ईषत् अव्यक्तरूप रहता है। जैसे-हलुआ पदार्थ में, घी-आटा ईषत् व्यक्त है, लेकिन शक्कर ईषत् अव्यक्त है।

पूर्वस्मृति; मन के बिना कार्य नहीं करती है, पहले दर्शन फिर व्यञ्जनावग्रह होता है फिर अर्थावग्रह पुनः ईहा, अवाय इस क्रम से होते हैं (धवला जी ग्रन्थ)। जैस-कान में एक हल्की-सी आवाज का मामूली-सा भान होकर रह गया, इसके बाद फिर भी नहीं जान सके कि किसकी आवाज है? ऐसी अवस्था में केवल व्यञ्जनावग्रह ही होकर रह जाता है, परन्तु धीरे-धीरे यह आवाज यदि स्पष्ट हो जाती है तो व्यञ्जनावग्रह के बाद; अर्थावग्रह और फिर ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं, इसलिए अस्पष्ट पदार्थों का केवल व्यञ्जनावग्रह ज्ञान ही होता है, स्पष्ट पदार्थों के चारों ज्ञान ही होते हैं।

जिज्ञासा—व्यञ्जनावग्रह को अव्यक्त क्यों कहा गया है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं —

सूत्र—न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

सूत्र उच्चारण—न चक्षुः, रनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

सन्धि विग्रह—न चक्षुः अनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

सूत्रार्थ—व्यञ्जनावग्रह; चक्षु और मन से नहीं होता है।

लब्धार्थ—अव्यक्त पदार्थ का अवग्रह; चक्षु और मन को छोड़कर, शेष चार इन्द्रियों से होता है।

विशेषार्थ—चारों इन्द्रियों से पहले व्यञ्जनावग्रह होता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण एवं कर्ण; ये चारों इन्द्रियों के विषयों का प्रारम्भ व्यञ्जनावग्रह से होता है, चक्षु और मन का विषय इसमें नहीं होता है; कारण कि चक्षु इन्द्रिय; वस्तु के आकार को ग्रहण करती है एवं मन यह सोचकर बता देगा कि यह वस्तु कौन-सी है? अतः इस व्यञ्जनावग्रह में चक्षु और मन का कार्य नहीं होता है।

जैसे-एकेन्द्रिय आदि जीव; अपनी स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा अव्यक्त पदार्थ का ग्रहण करते हैं तब उन जीवों के चक्षु के अभाव में वस्तु का आकार अनिश्चित है एवं मन के अभाव में उस वस्तु का नाम भी अनिश्चित है, वैसे ही संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव के चक्षु इन्द्रिय एवं मन रहते हुए भी चक्षु और मन के उपयोग से रहित जो वस्तु का ज्ञान होता है, वह व्यञ्जनावग्रह है।

अर्थावग्रह=पाँच इन्द्रिय+एक मन=छह

अवग्रह आदि चार ज्ञान=चार, $६ \times ४ = २४$

इन चौबीस को बहु आदि बारह भेद से गुणा करने से, $२४ \times १२ = २८८$

$$\begin{aligned}\text{व्यञ्जनावग्रह} &= \text{एक अवग्रह} \times \text{चार इन्द्रिय} = \text{चार} \\ \text{चार} \times \text{बहुआदि बारह} &= ४८ + २८८ = ३३६\end{aligned}$$

मन और चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी हैं, इसलिए चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है। शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं।

अप्राप्यकारी—विषय वस्तु से दूर रह कर ही उसका ज्ञान होता है। जैसे—अग्नि को देखने से आँखों में उष्णता नहीं आती है।

प्राप्यकारी—विषय वस्तु से दूर और निकट रहकर भी उसका ज्ञान होता है। जैसे—दूर से बोलने वाले के शब्द; कान से ही सुनाई दे देते हैं। रसना; चखकर स्वाद बतला देती है, अतः प्राप्यकारी है।

वीरसेनाचार्य ने व्यञ्जनावग्रह एवं अर्थावग्रह; पाँचों इन्द्रिय एवं मन से होते हैं, ऐसा कहा है यह सामान्य कथन है।

बचपन में जब हम भाषा ज्ञान करते हैं तब स्वर, व्यञ्जन का उच्चारण करते हैं। जैसे—अ-आ-इ-ई पुनः दो-चार वर्णों को जोड़कर शब्द बनाते हैं। जैसे—इधर आओ, इसमें भी अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा; इन चारों का क्रम रहता है, लेकिन हम कहते हैं कि हमने एक साथ पढ़ लिया।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या तेरह से सूत्र संख्या उन्नीस तक मतिज्ञान का कथन किया, अब क्रम प्राप्त श्रुतज्ञान के बारे में बतलाइये। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

सूत्र उच्चारण—श्रुतं मतिपूर्वं, द्व्यनेक-द्वादश-, भेदम् ॥२०॥

सन्धि विग्रह—श्रुतं मतिपूर्वं द्वि-अनेक-द्वादश-भेदम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—श्रुतज्ञान; मतिज्ञान पूर्वक होता है। उसके दो, अनेक एवं बारह भेद होते हैं।

लब्धार्थ—मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है, उसके अङ्ग बाह्य एवं अङ्ग प्रविष्ट; ये दो भेद होते हैं। अङ्ग बाह्य के अनेक एवं अङ्ग प्रविष्ट के बारह भेद होते हैं।

विशेषार्थ—श्रुतज्ञान; मतिज्ञान के बाद होता है अर्थात् बिना मतिज्ञान के श्रुतज्ञान नहीं होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—(१) अङ्ग बाह्य, इसके अनेक भेद हैं। (२) अङ्ग प्रविष्ट; इसके बारह भेद हैं।

(१) **अङ्ग बाह्य**—प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित (लिखित-संकलित) जो शास्त्र हैं, वे अङ्ग बाह्य हैं। जैसे—समयसार, तत्त्वार्थसूत्र, आदिपुराण, जीवकाण्ड आदि अनेक ग्रन्थ जो हम पढ़ते हैं। अङ्ग पूर्व से; अङ्ग बाह्य ज्ञान भिन्न है।

(२) **अङ्ग प्रविष्ट**—गणधर, आचार्य, तीर्थङ्कर की वाणी सुनकर जो द्वादशाङ्ग की रचना होती है, वह अङ्ग प्रविष्ट है। वर्तमान में इसका अभाव है। जो ज्ञान; अङ्ग-पूर्व से भिन्न नहीं है, वह अङ्ग प्रविष्ट है। अङ्ग एवं पूर्वों के नाम अन्यत्र शास्त्रों से जान लेना चाहिए।

इस सूत्र में क्रम प्राप्त सम्यक्-श्रुतज्ञान का कथन है, कुश्रुतज्ञान का नहीं है, क्योंकि पाँचों सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण हैं, मिथ्याज्ञान नहीं।

यदि सूत्र में “द्वि” पद का अर्थ; द्रव्यश्रुत एवं भावश्रुत लगाते हैं तब आगे क्रम प्राप्त अर्थ होगा कि द्रव्यश्रुत के अनेक एवं भावश्रुत के बारह भेद हैं, लेकिन ऐसा कथन आगम विरुद्ध होने से अमान्य है, अतः पहले द्वि पद का अर्थ अङ्ग बाह्य एवं अङ्ग प्रविष्ट ही करना। हाँ; कुछ आचार्य अङ्ग बाह्य के दो भेद मानते हैं। पहला; चौदह भेद, दूसरा; अनेक भेद। अनेक भेद मानने वाले अङ्ग बाह्य को भी गणधर प्रणीत मानते हैं।

सौधर्मेन्द्र देव, लौकान्तिक देव, सर्वार्थसिद्धि के देव; चौदह पूर्वधर होते हुए भी श्रुतकेवली नहीं है, क्योंकि श्रुतकेवली; अङ्ग बाह्य एवं अङ्ग प्रविष्ट दोनों के ज्ञाता होते हैं।

श्रुतकेवली एवं गणधर के श्रुतज्ञान में कोई अन्तर नहीं है, लेकिन गणधरदेव के तिरेसठ ऋद्धियाँ होती हैं। श्रुतकेवली आहार करते हैं, देवगति जा सकते हैं, लेकिन गणधरदेव नियम से मोक्ष जाते हैं।

द्रव्यश्रुतज्ञान; भावश्रुतज्ञान को व्यक्त करने का साधन-कारण है, अतः द्रव्यश्रुत होने पर भावश्रुत हो यह जरूरी नहीं है।

श्रुतज्ञान पूर्वक भी श्रुतज्ञान हो सकता है। सुना हुआ श्रुतज्ञान; मतिज्ञान पूर्वक होता है। मतिज्ञान; श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त मात्र है। मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञान कार्य है।

यह सब भेद वक्ता की अपेक्षा भी रखते हैं, क्योंकि श्रुत की प्ररूपणा करने वाले तीन प्रकार के वक्ता हैं। (१) सर्वज्ञ-तीर्थङ्कर अथवा सामान्य-केवली। (२) श्रुतकेवली। (३) आरातीय-आचार्य। जिन्होंने शिष्यों के उपकार के लिए दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे हैं, वे आरातीय हैं।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या बीस में ही समस्त सम्यक्-श्रुतज्ञान का कथन पूर्ण हुआ, अब आगे अवधिज्ञान के बारे में बतलायें। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

सूत्र उच्चारण—भव-प्रत्ययोऽवधि-, देव-नारकाणाम् ॥२१॥

सन्धि विग्रह—भव-प्रत्ययः अवधिः देव-नारकाणाम् ॥२१॥

सूत्रार्थ—भव प्रत्यय नाम का अवधिज्ञान; देव और नारकियों के होता है।

लब्धार्थ—आयु और नामकर्म के उदय से जीव की पर्याय विशेष को भव कहते हैं।

प्रत्यय-कारण या निमित्त को प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय दो प्रकार के हैं—(१) भवप्रत्यय-भव ही जिसका निमित्त होता है, उस अवधिज्ञान को भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। यह अवधिज्ञान; देव और नारकियों के होता है। (२) गुणप्रत्यय-जो सम्यक्त्व या संयम के साथ होता है, उसे गुणप्रत्यय कहते हैं।

विशेषार्थ—अभी तक सम्यग्ज्ञान का कथन होने से; मति और श्रुतज्ञान के बारे में कथन किया, अब अवधिज्ञान का कथन किया जा रहा है, लेकिन इस सूत्र में जो भवप्रत्यय अवधिज्ञान; देव-नारकियों के होता है, यह सामान्य कथन है, क्योंकि समस्त देव-नारकियों के अवधिज्ञान है, लेकिन यहाँ जिस अवधिज्ञान की चर्चा है, वह सम्यग्दृष्टि देव-नारकियों की चर्चा है, लेकिन मिथ्यादृष्टि देव-नारकियों के कुअवधि-विभङ्गज्ञान होता है, अतः सामान्य कथन से देव-नारकियों के अवधिज्ञान होता है, ऐसा कथन किया है।

पहले-दूसरे स्वर्ग या पटल में समान आयु वाले देवों के समान अवधिज्ञान होता है। जैसे-जैसे उनकी आयु बढ़ती जाती है ऊपर के पटल आदि में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा-सीमा

बढ़ती जाती है। दस हजार वर्ष से एक समय अधिक वालों का समान अवधिज्ञान, दश हजार वर्ष से दो समय अधिक वालों का समान अवधिज्ञान होता है। जीवकाण्डानुसार तीर्थङ्कर के जन्म से भवप्रत्यय अवधिज्ञान हो जाता है। चक्रवर्तियों के अवधिज्ञान होने का नियम नहीं है।

देव या चक्रवर्ती के देशावधि अवधिज्ञान ही होता है। परमावधि, सर्वावधिज्ञान, अकेले मुनिराजों को होता है।

नरकों में अवधिज्ञान के कारण जीव; सुखी-दुखी नहीं होते, अवधिज्ञान का कार्य तो अकेले ज्ञान कराना है कि तुम्हारा; इसका पूर्व-जन्म का कोई सम्बन्ध है। सुख-दुख का अनुभव तो मतिज्ञान; श्रुतज्ञान के कारण होता है। जैसे-पक्षियों में आकाशगमन; भव निमित्तिक है, उसमें शिक्षा-गुण आदि की अपेक्षा नहीं है। वैसे ही देव-नारकियों के व्रत-संयम आदि के अभाव में भी अवधिज्ञान होता है, अतः इसे भवनिमित्तिक कहा है, इसमें ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम भी होता है, इस कारण से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में हीनाधिकता होती है।

जिज्ञासा—जब देव-नारकियों के भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है तब शेष बचे मनुष्य और तिर्यज्चों को अवधिज्ञान; किस प्रकार होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

सूत्र उच्चारण—क्षयोपशम-निमित्तः, षड्विकल्पः, शेषाणाम् ॥२२॥

सूत्रार्थ—क्षयोपशम के निमित्त से, छह भेद वाला अवधिज्ञान; शेष अर्थात् मनुष्य और तिर्यज्चों के होता है।

लब्धार्थ—जो अवधिज्ञान; व्रत नियम या सम्यक्त्व आदि के द्वारा अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है, उसे क्षयोपशम निमित्तिक (गुण प्रत्यय) कहते हैं। वह छह भेद वाला अवधिज्ञान; मनुष्य और तिर्यज्चों के होता है।

विशेषार्थ—गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद निम्न प्रकार से हैं—(१) **अनुगामी**—जो अवधिज्ञान; सूर्य के प्रकाश की तरह, इस भव से दूसरे भव में जीव के साथ बना रहता है, वह अनुगामी है।

(२) **अननुगामी**—जो अवधिज्ञान; एक भव से दूसरे भव में नहीं जाता है, वह अननुगामी अवधिज्ञान है। जैसे-छाया में आने से सूर्य प्रकाश द्वारा निर्मित परछाई लोप हो जाती है।

(३) **वर्द्धमान**—जो अवधिज्ञान; शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह बढ़ता रहता है, वह वर्द्धमान अवधिज्ञान है।

(४) **हीयमान**—जो अवधिज्ञान; कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह घटता रहता है, वह हीयमान अवधिज्ञान है।

(५) **अवस्थित**—जो अवधिज्ञान; सूर्यबिम्ब के समान या तिल के समान एक-सा बना रहे, न घटे-न बढ़े, वह अवस्थित अवधिज्ञान है।

(६) **अनवस्थित**—जो अवधिज्ञान; हवा से तरङ्गित जल की तरह घटता-बढ़ता रहता है, एक-सा नहीं रहता, वह अनवस्थित है।

भवानुगामी अवधिज्ञान में क्षेत्र से क्षेत्रान्तर भी होता है, लेकिन इसे क्षेत्रानुगामी नहीं कहेंगे, क्योंकि यहाँ मुख्यता भव या पर्याय की है। जैसे-भवप्रत्यय वालों के भी क्षयोपशम रहता है, लेकिन उसे क्षयोपशम निमित्तक नहीं कहते हैं।

सम्यक्त्व एवं चारित्र की विशुद्धि-संकलेश के कारण अवधिज्ञान बढ़ता-घटता है, लेकिन देव-नारकियों के हीनाधिक नहीं होता है।

अनुगामी अवधिज्ञान के भेद—क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी एवं क्षेत्रभवानुगामी।

क्षेत्रानुगामी—जो अवधिज्ञान; एक क्षेत्र में उत्पन्न होकर स्वतः या परतः प्रयोग द्वारा; जीव के स्वक्षेत्र या परक्षेत्र में विहार करने पर नष्ट नहीं होता है।

भवानुगामी—जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर इस जीव के साथ अन्य भव में जाता है।

क्षेत्रभवानुगामी—जो भरत, ऐरावत और विदेह आदि क्षेत्रों में तथा चारों गतियों में साथ रहता है।

क्षेत्र, भव एवं क्षेत्रभव; ये तीनों अननुगामी के भेद जानना चाहिए।

नारकी, देव एवं गृहस्थतीर्थङ्कर; इन तीनों का जो अवधिक्षेत्र है, उसके भीतर ये सर्वाङ्ग से जानते हैं और शेष जीव; शरीर के एक देश से जानते हैं।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान; श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, नंदावर्त आदि शारीरिक चिह्नों के निमित्त से होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान; सम्यक्-दृष्टियों के ही होता है।

अवधिज्ञान के तीन भेद भी हैं—(१) देशावधि; (२) परमावधि; (३) सर्वावधि। देशावधिज्ञान चारों गतियों में हो सकता है, परन्तु परमावधि और सर्वावधिज्ञान चरमशरीरी मुनियों के ही होता है। तीर्थङ्करों को गृहस्थावस्था में एवं देव-नारकियों को तद्भव अवस्था में देशावधिज्ञान होता है।

देशावधि—देश का अर्थ है सम्यक्त्व; यह चारों गतियों में होता है, अतः देशावधिज्ञान चारों गति में होता है। देशावधि के आठ भेद हैं। जैसे-क्षयोपशम निमित्त के छह और उनके प्रतिपाती एवं अप्रतिपाती ये दो; ऐसे ये आठ भेद हैं। परमावधि में हीयमान व प्रतिपाती नहीं होते हैं। सर्वावधि के अवस्थित, अप्रतिपाती, अननुगामी, अनुगामी; ये चार भेद होते हैं।

परमावधि—परम का अर्थ असंख्यात लोक मात्र भेद ही जिस ज्ञान की मर्यादा है, वह परमावधि है।

सर्वावधि—सर्व का अर्थ केवलज्ञान है, उसका विषय जो अर्थ-पदार्थ होता है, वह भी उपचार से सर्व कहा जाता है। सर्वावधि-मर्यादा; जिस ज्ञान की हो वह सर्वावधिज्ञान है।

विशेष—तीनों अवधिज्ञानों का विस्तृत वर्णन राजवार्तिक ग्रन्थ में देखें।

जिज्ञासा—मति-श्रुत-अवधिज्ञान के बारे में कथन किया, अब क्रम प्राप्त मनःपर्ययज्ञान के बारे में बतलायें। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

सूत्र उच्चारण—ऋजु-विपुलमती, मनःपर्ययः ॥२३॥

सूत्रार्थ—मनःपर्ययज्ञान; ऋजुमति एवं विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है।

लब्धार्थ—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा में; बिना सहायता के दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जानें, उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। इस के दो भेद हैं—

(१) ऋजुमति—जो सरल मन-वचन-काय से चिन्तित दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को एक देश स्पष्ट जानता है, उसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। जैसे-सीधे-सीधे; सोची-कही या सङ्केतिक वस्तु-व्यक्ति के बारे में मात्र वर्तमान काल की मर्यादा से बतलाता है कि यह क्या चाहता है? क्या कह रहा है? क्या कर रहा है?

(२) विपुलमति—सरल तथा कुटिल मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से चिन्तित, अर्द्धचिन्तित, अचिन्तित; दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को तीनों काल की मर्यादा से एक देश स्पष्ट जाने, उसे विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। जैसे-घर आये मेहमान से सीधे-सीधे यह तो नहीं पूछ सकते कि आप कब जा रहे हैं? अतः कुछ इस तरह से घुमा-फिरा कर पूछते हैं कि वह मेहमान अपने जाने का समय बतला दे। जैसे-आप बहुत दिनों में आये हैं; जाने की जल्दी नहीं करना, आपसे बहुत बातें करना हैं अथवा घर वालों का मन लेने के लिए मेहमान कहता है कि जल्दी करो, हमें अभी जाना है, जिससे घर वाले उसे रुकने का आग्रह करें। ये उदाहरण मात्र हैं, मनःपर्ययज्ञान मात्र मुनिराज को ही होता है।

विशेषार्थ—विपुलमति मनःपर्ययज्ञान का सूक्ष्म द्रव्य; अवधिज्ञान के अनन्तर्वे भाग है, उत्कृष्ट क्षेत्र; मनुष्य लोक—पैंतालीस लाख योजन अर्थात् प्रश्न करने वाला; सैनी तिर्यञ्च, देव अथवा मनुष्य प्रश्न करे तब जानता है, उतने क्षेत्र में स्थित पदार्थ को जानता है।

मनुष्य लोक का प्रमाण पैंतालीस लाख योजन है, अतः मुनिराज अढाई द्वीप प्रमाण के अन्दर के क्षेत्र में स्थित पदार्थ को जानते हैं। (सर्वा०सि०)

जिज्ञासा—ऋजुमति एवं विपुलमति में विशेष अन्तर क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्-विशेषः ॥२४॥

सूत्र उच्चारण—विशुद्ध्य-प्रतिपाताभ्यां, तद्-विशेषः ॥२४॥

सन्धि विग्रह—विशुद्धि-अप्रतिपाताभ्यां तद्-विशेषः ॥२४॥

सूत्रार्थ—विशुद्धि और अप्रतिपाती की अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति ज्ञान में अन्तर विशेष है।

लब्धार्थ—मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो उज्ज्वलता है, उसे विशुद्धि कहते हैं। संयम स्थान की वृद्धि होने से यह नीचे नहीं गिरता है, अतः अप्रतिपाती है। ऋजुमति; स्थूलज्ञान है। विपुलमति; सूक्ष्मज्ञान है, यह विशुद्धिकृत अन्तर है।

विशेषार्थ—(१) विपुलमति; ऋजुमति से अधिक विशुद्ध होता है।

(२) ऋजुमति होकर छूट भी जाता है। विपुलमति; केवलज्ञान होने तक रहता है।

(३) सभी गणधर विपुलमतिज्ञान के धारी होते हैं, अतः उसी भव से मोक्ष जाते हैं।

(४) गणधर मुनिराज उपशम श्रेणी आरोहण नहीं करते हैं, अतः अप्रतिपाती हैं।

(५) ऋजुमतिज्ञान; विपुलमतिज्ञान बन सकता है, लेकिन विपुलमतिज्ञान; ऋजुमति ज्ञान कभी नहीं बन सकता है।

(६) विपुलमतिज्ञान; वर्द्धमान चारित्र वालों के ही होता है।

(७) वर्द्धमान चारित्र की विशेषता है कि यदि वे दो उपवास प्रारम्भ कर दें तो पुनः एक या दो नहीं करेंगे; तीन या चार ही करेंगे।

यदि आदिनाथ भगवान एक हजार वर्ष छद्मस्थ काल में रहे, उन्होंने प्रथम छह माह का उपवास किया; पुनः एक बार आहार को उठे भी; किन्तु आहार का योग न बनने के कारण पुनः छह माह से कुछ अधिक समय बाद आहार लिया। इससे सिद्ध होता है कि पुनः आहार लेने के लिए उन्होंने एक वर्ष से अधिक उपवास किये होंगे। इस प्रकार एक हजार वर्ष के समयों में कितने आहार किये? इसका गणित निकाला जा सकता है। इस कथन से यह धारणा या भ्रान्ति दूर होती है कि कोई व्यक्ति एक वर्ष तक ही उपवास कर सकता है, इससे अधिक समय तक नहीं।

कर्मण द्रव्य का अनन्तवाँ भाग; ऋजुमतिज्ञान जानता है। उसका भी अनन्तवाँ भाग; विपुलमतिज्ञान जानता है, यह भी स्कन्ध है। (रा०वा०पृ० ३२४)

जिज्ञासा—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान—ये दोनों ज्ञान; द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा पूर्वक निश्चित स्वरूप को जानते हैं फिर इन दोनों में क्या विशेषता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥२५॥

सूत्र उच्चारण—विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-, विषयेभ्योऽवधि-, मनःपर्यययोः ॥२५॥

सन्धि विग्रह—विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्यः अवधि-मनःपर्यययोः ॥२५॥

सूत्रार्थ—अवधि और मनःपर्ययज्ञान में; विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा विशेष अन्तर है।

लब्धार्थ—विशुद्धि—विशुद्धि का अर्थ आत्म परिणामों की निर्मलता है।

क्षेत्र—जितने स्थान में स्थित भावों को जानता है, वह क्षेत्र है।

स्वामी—इस ज्ञान के अधिकारी—स्वामी हैं।

विषय—ज्ञेय पदार्थ को विषय कहते हैं।

विशेषार्थ—(१) अवधिज्ञान से मनःपर्ययज्ञान विशुद्धतर है। (२) मनःपर्ययज्ञान का क्षेत्र; मानुषोत्तर पर्वत के भीतर पैंतालीस लाख योजन है, ऊँचाई में एक लाख-चालीस योजन; ये मेरु पर्वत की ऊँचाई तक क्षेत्र है। जबकि अवधिज्ञान का क्षेत्र सर्वलोक है, अतः मनःपर्ययज्ञान का क्षेत्र कम है। (३) मनःपर्ययज्ञान; प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय तक के उत्कृष्ट चारित्र गुणयुक्त जीवों के ही पाया जाता है। उनमें भी सप्त ऋद्धिधारियों में से किसी एक ऋद्धिधारी मुनि को ही उत्पन्न होता है; सबके नहीं होता, अवधिज्ञान चारों गति में होता है। (४) अवधिज्ञान की प्रवृत्ति रूपी पदार्थों में होती है, जबकि मनःपर्ययज्ञान की प्रवृत्ति अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में होती है। इस प्रकार विशुद्धि एवं विषय; मनःपर्ययज्ञान के अधिक हैं, किन्तु क्षेत्र एवं स्वामी; अवधिज्ञान के अधिक हैं।

विशेष—मतिज्ञान आदि में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव; इन चार प्रकार से जानना। श्रुतज्ञान में चारों प्रकार लक्षण देखकर मानना। अवधिज्ञान में चारों प्रकार से वस्तु के स्वरूप को जोड़ना, मनःपर्ययज्ञान में वस्तु स्वरूप को चार प्रकार से लगाना पड़ता है। जोड़ना और लगाने में कार्य; आत्मा का है, मन का नहीं है। जानने और सोचने में इन्द्रिय और मन का अवलम्बन है। केवलज्ञान में मात्र देखना होता है।

जो समझ में आ गया वह ज्ञान है। जो समझ में नहीं आया वह अज्ञान है। जो सही को गलत समझे वह मिथ्यात्व है। जो गलत को सही समझे वह मूढ़ता है। जिसे अब कुछ भी समझना बाकी नहीं बचा वह पूर्ण केवलज्ञान है।

जिज्ञासा—पूर्व सूत्रों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की परिभाषा एवं भेदादि कहे हैं, लेकिन मति-श्रुतज्ञान किन विषयों को जानते हैं; ये नहीं बतलाया? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

सूत्र उच्चारण—मति-श्रुतयो-निबन्धो, द्रव्येष्व-सर्व-, पर्यायेषु ॥२६॥

सन्धि विग्रह—मति-श्रुतयोः निबन्धः द्रव्येषु-असर्वपर्यायेषु ॥२६॥

सूत्रार्थ—मति और श्रुतज्ञान का विषय सम्बन्ध; सभी द्रव्यों की कुछ पर्यायों में होता है।

लब्धार्थ—मति और श्रुतज्ञान; रूपी और अरूपी सभी द्रव्यों की कुछ-कुछ पर्यायों को जानते हैं, सब पर्यायों को नहीं।

विशेषार्थ—मति और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति; अरूपी—धर्म-अधर्म-आकाश एवं काल द्रव्यों की कुछ पर्यायों में; इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर अनिन्द्रिय के द्वारा धर्मादि द्रव्यों की कुछ पर्यायों का अवग्रह आदिरूप से ग्रहण होता है, अतः मति-श्रुतज्ञान द्वारा धर्मादि अरूपी-द्रव्यों की कुछ पर्यायों को जानने में कोई विरोध नहीं है।

जिज्ञासा—पूर्व सूत्र में मति-श्रुतज्ञान के विषयों को नियत किया, अब क्रम प्राप्त अवधिज्ञान का विषय क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—रूपिष्ववधेः ॥२७॥

सूत्र उच्चारण—रूपिष्व-वधेः ॥२७॥

सन्धि विग्रह—रूपिषु-अवधेः ॥२७॥

सूत्रार्थ—अवधिज्ञान का विषय सम्बन्ध रूपी द्रव्यों में होता है।

लब्धार्थ—अवधिज्ञान; रूपी-पुद्गल एवं कर्म सहित संसारी जीवों की कुछ पर्यायों को विषय करता है।

विशेषार्थ—अवधिज्ञान; रूपी द्रव्यों की कुछ पर्यायों को जानता है, क्योंकि सूत्र संख्या छब्बीस से “असर्वपर्यायेषु” पद की इस सूत्र में अनुवृत्ति है। अनुवृत्ति विधि का मतलब पिछले से सम्बन्ध जोड़ने वाले पद को ग्रहण करना।

जिज्ञासा—इस सूत्र में अवधिज्ञान का विषय नियत करके, अब क्रम प्राप्त मनःपर्ययज्ञान का विषय क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥

सूत्र उच्चारण—तदनन्त-भागे, मनःपर्ययस्य ॥२८॥

सन्धि विग्रह—तद्-अनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥

सूत्रार्थ—तत् अर्थात् उस अवधिज्ञान के अनन्तर्वे भाग में मनःपर्ययज्ञान की प्रवृत्ति होती है।

लब्धार्थ—अवधिज्ञान के अनन्तर्वे भागरूप विषय को मनःपर्ययज्ञान जानता है।

विशेषार्थ—जिस रूपी द्रव्य को सर्वावधि ज्ञान जानता है, उसके एक भाग को मनःपर्ययज्ञान जानता है, क्योंकि अवधिज्ञान से मनःपर्ययज्ञान का विषय अत्यन्त सूक्ष्म है। यहाँ भी असर्वपर्यायेषु पद की अनुवृत्ति लगा लेना।

जिज्ञासा—मनःपर्ययज्ञान का विषय नियत करके, अब क्रम प्राप्त केवलज्ञान का विषय क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

सूत्र उच्चारण—सर्वद्रव्य-पर्यायेषु, केवलस्य ॥२९॥

सूत्रार्थ—सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों में केवलज्ञान का सम्बन्ध होता है।

लब्धार्थ—केवलज्ञान; सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को एक साथ जानता है।

विशेषार्थ—लोक में न कोई ऐसा द्रव्य है और न कोई ऐसा पर्याय समूह है जो केवलज्ञान का विषय न हो। केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है। यह ज्ञान; त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य एवं उनकी समस्त पर्यायों को युगपत् जानता है, उसका काल अक्षय-अनन्त है। यह ज्ञान; निरावरण-क्षायिक है, अतः इसका विषय सभी द्रव्य एवं उनकी सब पर्यायें हैं।

वर्तमान के कुछ आचार्य एवं उनके समर्थक विद्वान्; केवलज्ञान का विषय सभी द्रव्यों की अनन्त पर्याय मानते हैं, उनका मानना है कि केवली भगवान्; भूत एवं भविष्य की अनन्त पर्याय एवं वर्तमान की सब पर्यायों को जानते हैं।

यदि हम इस सूत्र का ऐसा अर्थ करेंगे तब केवलज्ञान तीन प्रकार का हो जायेगा; यह पहली बात है। दूसरी बात; द्रव्य की भूत-भविष्य की अनन्त पर्याय स्वीकार करने पर जिस द्रव्य की सादि-सान्त पर्याय है, उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। तीसरी बात; वर्तमान में सब पर्याय मानने पर, वर्तमान की सब पर्यायों की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि सब पर्यायों का प्रमाण क्या है? यदि आचार्यों को सभी द्रव्य की अनन्त पर्याय ऐसा मानना था तब सूत्र ऐसा बनता कि “सर्व द्रव्य अनन्तपर्यायेषु,” लेकिन सूत्र “सर्वद्रव्य पर्यायेषु” ऐसा बना है, जिससे “सर्वपद, पर्यायेषु” के साथ भी घटित होता है। पर्याय के साथ अनन्त पद घटित नहीं होता।

एक बार हमारे शिक्षा गुरु आचार्यकल्पश्री श्रुतसागर जी महाराज से किसी ने पूछा कि सर्वज्ञ; तीनों कालों की सभी पर्यायों को जानते हैं तब वे भूतकाल की सभी पर्यायों को भी जानते होंगे? यदि भूतकाल की सभी पर्यायों को जानते हैं तब यह भी जान सकते हैं कि सबसे पहले सिद्ध कौन हुए? यदि सबसे पहले सिद्ध को नहीं जानते हैं तो उनकी सर्वज्ञता का कोई महत्त्व नहीं है। यदि सबसे पहले सिद्ध को जान लेते हैं तब वे अन्तिम सिद्ध भी जान लेंगे। यदि अन्तिम सिद्ध को जान लेते हैं तब अनादि-अनिधनता का सिद्धान्त समाप्त हो जाता है?

तब हमारे शिक्षागुरु ने उत्तर दिया था जो निम्न प्रकार से था—सबसे पहले पर्यायों के भेद करें कि द्रव्यों में पर्याय कितने प्रकार की होती हैं ? गुरुजी ने बतलाया कि पर्यायों के अनेक भेद होते हैं। जैसे कि अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-सान्त, सादि-अनन्त, नियत पर्याय, अनियत पर्याय, ध्रुव पर्याय, अध्रुव पर्याय। इस प्रकार सर्वज्ञ; इन सभी प्रकार की पर्यायों को एक साथ जानते हैं। समस्त पर्यायों में अनन्त भी समाहित हो जाता है, लेकिन अनन्त में समस्त नहीं हो सकता है, अतः सर्वज्ञ; अनादि को अनादिरूप से, अनन्त को अनन्तरूप से, सान्त को सान्तरूप से, सादि को सादिरूप से, नियत को नियतरूप से, अनियत को अनियतरूप से, ध्रुव को ध्रुवरूप से, अध्रुव को अध्रुवरूप से जानते हैं।

(१) अनादि-अनन्त—जो पर्याय अनादिकाल से अनन्तकाल तक रहेगी, उसे अनादि-अनन्त कहते हैं। जैसे—अभव्य जीव, दूरान्दूर भव्य जीव। मेरु पर्वत आदि। काल की अनादि-अनन्त पर्यायें हैं।

(२) अनादि-सान्त—जो पर्याय अनादिकाल से तो है, परन्तु अन्त सहित है, उसे अनादि-सान्त कहते हैं। जैसे—भव्य जीव; अनादि से है, परन्तु मोक्ष में भव्य भाव; सान्त हो जाता है।

(३) सादि-सान्त—जिसकी शुरुआत होकर अन्त भी हो जाता है, उसे सादि-सान्त कहते हैं। जैसे—तीर्थङ्कर प्रकृति, सादि होकर सान्त हो जाती है।

(४) सादि-अनन्त—जिसकी शुरुआत होकर अन्त नहीं होता, उसे सादि-अनन्त कहते हैं। जैसे—सिद्ध पर्याय।

(५) नियत पर्याय—जिस पर्याय का एक-दूसरे से सम्बन्ध हो, उसे नियत पर्याय कहते हैं। जैसे—बद्धायुष्क जीव की पर्यायें। उदाहरण—किसी व्यक्ति ने मुनिराज को उत्कृष्ट भावों से आहार दिया, जिससे भोगभूमि में पैदा हुआ, भोगभूमि का जीव मरकर नियम से स्वर्ग में (देवगति) पैदा होता है, वहाँ से मरकर मनुष्य होता है; इस तरह उसके चार भव हुए पुनः उसी जीव ने यदि तीव्र पाप कर्म किया, मरकर सातवें नरक में गया, सातवें नरक का जीव नियम से खूंखार तिर्यञ्च बनता है और पुनः मरकर नरक में जाता है, इस तरह उसके पुनः तीन भव बन जाते हैं, जीव की गति-आगति से नियत पर्यायों का कथन मिल सकता है।

परमाणु; पुद्गल की नियत पर्याय है, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल द्रव्य के प्रदेश नियत पर्यायरूप हैं, क्योंकि इनका आकार-प्रकार कभी छोटा-बड़ा नहीं होता है।

(६) अनियत पर्याय—जिस पर्याय का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध न हो, उसे अनियत पर्याय कहते हैं। अबद्धायुष्क जीव अथवा मिथ्यात्व से सम्यक्त्व को प्राप्त जीव के आयु का अपकर्षण-उत्कर्षण आदि होना।

उदाहरण—जैसे एक मुनिराज; केले के वृक्ष के नीचे तपस्या कर रहे थे, रास्ते से गुजरते एक श्रद्धालु-श्रावक ने नमस्कार किया। मुनिराज ने उसे धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देते हुए पूछा—आगे कहाँ जा रहे हो ? श्रावक ने कहा कि समवशरण की ओर जा रहा हूँ। मुनिराज ने कहा कि भगवान से हमारे संसार के भव पूछकर आना। श्रावक ने भगवान का उपदेश सुनकर पुनः उन मुनिराज के शेष भव पूछे। दिव्य ध्वनि में खिरा कि मुनिराज जिस वृक्ष के नीचे बैठे मिलेंगे, उस वृक्ष के जितने पत्ते हैं, उतने ही उनके भव शेष हैं।

श्रावक; भगवान की वाणी सुनकर मुदित हुआ, क्योंकि मुनिराज केले के वृक्ष के नीचे बैठे हैं, उसके आठ-दस पत्ते हैं, उतने ही उनके भव शेष हैं, लेकिन जब श्रावक; मुनिराज के पास आकर देखता है कि मुनिराज एक इमली के वृक्ष के नीचे बैठे हैं तब श्रावक ने कहा कि भगवान की दिव्य ध्वनि में खिरा है कि मुनिराज जिस वृक्ष के नीचे बैठे मिलेंगे, उस वृक्ष में जितने पत्ते हों, उनके उतने ही भव शेष हैं। वे मुनिराज अपने शेष भवों की संख्या सुनकर, निदानबन्ध करके इतर निगोद में भवों की संख्या पूर्णकर मोक्ष चले गए।

एक राजा ने अपने छोटे बालक को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली, दीक्षा के बाद उसके पड़ोसी शत्रु राजा ने उस बालक के राज्य पर चढ़ाई कर दी। मार्ग में चलते हुए लोग चर्चा करते जा रहे थे कि ये देखो, मुनिराज बने खड़े हैं और उधर शत्रु राजा ने बालक समझ कर राज्य पर चढ़ाई कर दी। ये शब्द मुनिराज के कानों में पड़े तब उन मुनिराज के मन में राज्य का विकल्प उत्पन्न हो गया। मुनिराज के मन में युद्ध सम्बन्धी विचार उठने लगे, धीरे-धीरे उनके अन्दर युद्ध के हाव-भाव, मुख-हाथों में झलकने लगे। उधर से गुजरते हुए कुछ श्रावकों ने उन मुनिराज को ऐसी विकृत मुद्रा में देखा तब समवशरण में उन श्रावकों ने पूछा कि मार्ग में तप करते हुए मुनिराज की ऐसी विकृत मुद्रा क्यों हो रही है? तब भगवान की वाणी में खिरा कि उनके अन्दर मानसिक युद्ध हो रहा है। यदि अभी जाकर कोई सम्बोधन कर दे तो वे मुनिराज मोक्ष जा सकते हैं अन्यथा वे दुर्गति के पात्र हो जावेंगे, यह अनियत पर्याय का कथन है।

एक व्यक्ति ने हाथ में चिड़िया बन्द करके मुनिराज की परीक्षा हेतु पूछा कि यह चिड़िया मरी है या जिन्दा। मुनिराज ने कहा—यह तेरे हाथ में है। यह अनियत पर्याय का दृष्टान्त है। जैसे—आटे के पिण्ड में अनियत पर्याय हैं, क्योंकि आटे से रोटी, पराठा, पूड़ी आदि कुछ भी बना सकते हैं।

(७) ध्रुव पर्याय—जो जिस रूप में अवस्थित हैं, उसका उस रूप में रहना ही ध्रुव पर्याय है। जैसे—मेरु पर्वत आदि ध्रुव पर्याय है।

(८) अध्रुव पर्याय—जिसका आकार-प्रकार-स्थान आदि भी बदलते रहें, वह अध्रुव पर्याय है। जैसे—बालू के पर्वत आदि।

अनादि-अनन्त में एवं ध्रुव में क्या अन्तर है?

काल अपेक्षा; अनादि-अनन्त है, जो वस्तु के अस्तित्व की ओर इङ्गित करती है।

द्रव्य अपेक्षा; ध्रुवता है, यह वस्तु के स्वभाव की ओर इङ्गित करती है।

अनियत पर्याय एवं अध्रुव पर्याय में क्या अन्तर है?

अनिश्चितता; अनियत है, अस्थिरता; अध्रुव है, इन दोनों में यही अन्तर है।

निष्कर्ष यह है कि सर्व पर्याय में अनन्त पर्याय तो आ सकती है, लेकिन अनन्त पर्याय में सर्व पर्याय नहीं आ सकती है, अतः केवलज्ञान में भूत और भविष्य की अनन्त पर्याय न होकर केवल “सर्व पर्याय” ही लेना।

जिज्ञासा—पूर्वोक्त पाँच प्रकार के सम्यक्-ज्ञानों में से एक जीव के एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥३०॥

सूत्र उच्चारण—एकादीनि भाज्यानि, युगपदे-कस्मिन्ना, चतुर्भ्यः ॥३०॥

सन्धि विग्रह—एक-आदीनि भाज्यानि युगपद्-एकस्मिन्-आ चतुर्भ्यः ॥३०॥

सूत्रार्थ—एक जीव में एक साथ; एक को आदि लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं।

लब्धार्थ—भाज्यानि-विकल्प या भेद करने योग्य को भाज्यानि कहते हैं। आ-चतुर्भ्यः-चार संख्या की सीमा तक।

विशेषार्थ—यदि एक जीव में एक साथ पाँचों ज्ञानों में से एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान अथवा मतिज्ञान, क्योंकि पूज्यपादाचार्य एवं अकलङ्कदेव ने इसे स्वीकार किया है। दो ज्ञान हों तो मति-श्रुतज्ञान। तीन हों तो मति-श्रुत-अवधि अथवा मति-श्रुत-मनःपर्यय। चार हों तो मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय; ये चार ज्ञान। एक साथ पाँचों ज्ञान किसी जीव के नहीं होते हैं।

कातन्त्र व्याकरण में व्यञ्जन सन्धि के नियम में एकस्मिन् पद के बाद सूत्र संख्या ७९ के अनुसार उपधा संज्ञा होकर सूत्र संख्या ८० के कारण ह्रस्व की उपधा को द्वित्व होने से एकस्मिन् के न् को द्वित्व हो गया, जिससे पूर्ण सन्धि होकर “एकस्मिन्ना” पद बना है।

पाँचों ज्ञानों में केवलज्ञान; निरावरण और क्षायिक है तथा मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्ययज्ञान; सावरण और क्षायोपशमिक है। क्षायिक और क्षायोपशमिक; ये दो ज्ञान एक आत्मा में एक समय में नहीं रह सकते हैं, अतः पाँच ज्ञान एक साथ; एक आत्मा में कभी नहीं होते हैं। हाँ; क्षयोपशम एक साथ चार ज्ञान का हो सकता है, परन्तु जिस ज्ञान की प्रमुखता होगी, उपयोग उसी का कहा जायेगा।

जैसे-बिजली से अलग-अलग मशीनें चलती हैं। कोई मशीन एक फेस से, कोई दो फेस से, कोई तीन फेस से, कोई चार फेस से चलती हैं, लेकिन बिजली का पावर हाऊस एक ही होता है, फेस के तारों में अन्तर होता है। इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान तो एक ही, किन्तु क्षयोपशम की अपेक्षा इन चारों ज्ञानों को लगा लेना चाहिए।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या नौ से सूत्र संख्या तीस तक पाँचों सम्यग्ज्ञानों का कथन किया, लेकिन सभी जीवों में सम्यग्ज्ञान नहीं पाये जाते हैं, अतः सम्यक् से विपरीत; मिथ्याज्ञान कितने और कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

सूत्र उच्चारण—मति-श्रुतावधयो, विपर्ययश्च ॥३१॥

सन्धि विग्रह—मति-श्रुत-अवधयः विपर्ययः च ॥३१॥

सूत्रार्थ—मति, श्रुत और अवधि; ये तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं।

लब्धार्थ—मति, श्रुत और अवधिज्ञान जब मिथ्या होते हैं तब इनके नाम भी कुमति, कुश्रुत और कुअवधि (विभङ्गज्ञान) कहलाते हैं। विपर्यय अर्थात् उल्टा या विपरीत अर्थात् जो सम्यक् से विपरीत हो वह मिथ्या कहलाता है।

विशेषार्थ—इन तीनों में मिथ्यापन; मिथ्यात्व के संसर्ग से होता है। जैसे-कड़वी-तुम्बी के संसर्ग से मीठा दूध भी कड़वा हो जाता है। वैसे ही मिथ्यात्व के संसर्ग से अनादिकाल से जीव का ज्ञान; मिथ्यात्व रूप हो रहा है।

जिज्ञासा—जिस वाक्य को सम्यग्दृष्टि कहता है, उसी वाक्य को मिथ्यादृष्टि भी कहता है फिर दोनों के वाक्य में अन्तर क्यों आ जाता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सदसतोरविशेषाद्-यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

सूत्र उच्चारण—सद-सतो-, र-विशेषाद्-, यदृच्छोप-लब्धे-, रुन्मत्तवत् ॥३२॥

सन्धि विग्रह—सद्-असतः अविशेषाद्-यदृच्छ-उपलब्धेः उन्मत्तवत् ॥३२॥

सूत्रार्थ—सत्य और असत्य पदार्थों में बिना किसी विशेषता के भेद रहित, पागल व्यक्ति के ज्ञान की तरह मिथ्यादृष्टि का ज्ञान; मिथ्या होता है ।

लब्धार्थ—सत्-प्रशस्त-यथार्थज्ञान को सत् कहते हैं । अस्तित्व सत् है ।

असत्-अप्रशस्त-अयथार्थज्ञान को असत् कहते हैं । अविद्यमान असत् है ।

उन्मत्तवत्-पागल की तरह बोलने वाला पुरुष; उन्मत्तवत् कहलाता है ।

मिथ्याज्ञान-यथार्थज्ञान के अनुरूप जो ज्ञान नहीं होता, वह मिथ्याज्ञान है ।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान में विपर्यय को प्राप्त आत्मा; कभी सत्-विद्यमान को; असत्-अविद्यमान को; असत् को सत् अथवा सत् को सत्, असत् को असत् ही मानता है, अतः उसका ज्ञान; मिथ्याज्ञान ही है ।

पागल दो प्रकार के होते हैं—(१) जन्म-जात; (२) मानसिक-विक्षिप्त । (१) जन्मजात पागल, किसी को हानि नहीं पहुँचाता है, कम बोलता है । (२) मानसिक-विक्षिप्त, जो पढ़-लिखकर पागल हो जाता है जो मानसिक रोगी है, उसके वाक्य सत्य होते हुए भी अविश्वसनीय हैं, क्योंकि उसकी मानसिक अस्थिरता से उसके वचन अप्रमाणिक हैं । जैसे—कोर्ट में मानसिक विक्षिप्त एवं नशा युक्त व्यक्ति के वयान-गवाही प्रमाणित नहीं मानी जाती है । ठीक उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के वाक्य प्रमाणित नहीं माने जाते हैं । वैसे ही मिथ्यादृष्टि; माँ को माँ या माँ को बहिन आदि कहता है तो भी मिथ्यात्व का संसर्ग होने से मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि उसके वस्तु स्वरूप के श्रद्धान का अभाव है ।

जिज्ञासा—आपने सूत्र संख्या छह में “प्रमाणनयैरधिगमः” ऐसा कहा था कि प्रमाण और नयों से जीवादि तत्त्वार्थों का ज्ञान होता है; तदनुसार अभी तक प्रमाण के बारे में कथन किया, अब क्रम प्राप्त नय के बारे में बतलायें । ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरुढैवम्भूता नयाः ॥३३॥

सूत्र उच्चारण—नैगम-संग्रह-, व्यवहा-र्जुसूत्र-, शब्द-समभिरुढे-, वम्भूता, नयाः॥३३॥

सन्धि विग्रह—नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरुढ-एवम्भूता नयाः॥३३॥

सूत्रार्थ—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ एवं एवम्भूत; ये सात नय होते हैं, जिनसे जीवादि तत्त्वार्थों का ज्ञान होता है ।

लब्धार्थ—प्रमाण का एक देश; नय है । वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक की मुख्यता करके; अन्य धर्मों का विरोध न करते हुये; पदार्थ को जानना, नय कहलाता है । सम्यक्-नयों के सात भेद हैं,

इस सूत्र में भी “सम्यक्” पद की अनुवृत्ति लगा लेना, क्योंकि संसार में मिथ्या नयों का भी प्रचलन है, किन्तु यहाँ मोक्षमार्ग का प्रसङ्ग होने से तथा सम्यक्-तत्त्वार्थों का ज्ञान भी सम्यक्-नयों से ही होगा, अतः सूत्र में “सम्यक्” पद लगा लेना चाहिए।

विशेषार्थ—(१) नैगम नय—जो ज्ञान; अनिष्पन्न (अप्रकट) अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करता है, उसे नैगम नय कहते हैं। संकल्प में थोड़े से परिवर्तन की सम्भावना को अनिष्पन्न या अप्रकट अर्थ कहते हैं। जैसे—चावल चुगती हुई किसी महिला को देखकर, कोई उससे पूछता है कि आप क्या कर रही हैं? वह कहती है—“मैं भात पका रही हूँ”। उस समय यद्यपि वह भात नहीं पका रही है, परन्तु “भात पका रही हूँ”, यहाँ भात पकाने का संकल्प है फिर भी यदि उसके विचारों में खिचड़ी अथवा खीर पकाने की बात आ जाए तो वह महिला जिन चावलों में भात पकाने का संकल्प लिया था, उसी में थोड़ा परिवर्तन करके खिचड़ी अथवा खीर पका लेती है। इसमें जो पकाने का “संकल्प” है तथा “परिवर्तन” खिचड़ी का अथवा खीर है। चाहे वह भात पकावे या खिचड़ी-खीर; इन सब में “पकाने के संकल्प” की मुख्यता है। जैसे—कोई व्यक्ति सम्मोदशिखर जी की यात्रा का संकल्प लेता है, लेकिन वह बीच के कई तीर्थक्षेत्रों का भी दर्शन करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि “संकल्प” में जो अप्रकट अभिप्राय है, वह भी सम्मिलित है जिसे कि “संकल्प” में व्यक्त नहीं किया गया है, अतः जो पर्याय अभी निष्पन्न नहीं हुयी, उसे वह निष्पन्न मानकर व्यवहार करता है, यह नैगम नय है।

(२) संग्रह नय—भेद सहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करने वाला ज्ञान; संग्रह नय कहलाता है। जैसे—नैगम नय के द्वारा कथित संकल्प में; मैं भात पका रही हूँ, लेकिन भात अकेला तो खाया नहीं जायेगा, उसके साथ दाल, सब्जी आदि की भी योजना होती है, अतः संग्रह नय में भात के साथ जितने भी भोज्य पदार्थ हैं, उन सबका संग्रह होता है, जिसे हम रसोई कहते हैं।

(३) व्यवहार नय—जो ज्ञान; संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को विधि पूर्वक भेद करता है, उसे व्यवहार नय कहते हैं। जैसे—संग्रह नय के द्वारा जो रसोई का कथन है, उसमें भेद करना कि रसोई में इतना भात, इतनी दाल, इतनी सब्जी आदि बनायी है, यह सब व्यवहार नय का विषय है। कभी-कभी महिलायें; सुविधानुसार दाल-भात सब्जी आदि बना लेती हैं, इसमें कोई क्रम नहीं रहता, यह आनुपूर्वी क्रम विधि कहलाती है। इस व्यवहार नय की प्रवृत्ति वहीं तक होती है, जहाँ तक वस्तु में फिर कोई विभाग करना सम्भव नहीं हो अर्थात् यह नय वहाँ तक चलता है, जहाँ तक भेद हो सकते हैं।

(४) ऋजुसूत्र नय—ऋजु का अर्थ सरल है अर्थात् जो भूत और भविष्य की पर्याय को छोड़कर, वर्तमान स्थूल पर्याय को सरलरूप से ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र नय है। जैसे बनें हुए दाल-भात-सब्जी को मात्र “भोजन” कहना; भूत की पर्याय सूखे दाल-चावल हैं, भविष्य की पर्याय पेट में जाने के बाद मलरूप होना है, अतः केवल वर्तमान की पर्याय को भोजन कहना ऋजुसूत्र नय का विषय है।

(५) शब्द नय—जो ज्ञान; लिङ्ग, संख्या, साधन आदि के व्यभिचार को दूर करता है, उसे शब्द नय कहते हैं। यह नय; लिङ्गादि के भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करता है।

लिङ्ग—जैसे—पुष्प-पुल्लिङ्ग, तारका-स्त्रीलिङ्ग और नक्षत्र-नपुंसकलिङ्ग है, इनको मिला देने से लिङ्ग व्यभिचार है।

संख्या—एकवचनान्त, बहुवचनान्त का विशेषण, विशेष्यरूप से प्रयोग करना संख्या व्यभिचार है। जलं आपः, वर्षाः ऋतु आदि।

साधन—जहाँ साधन से सम्बन्ध एवं सम्बन्ध से कारक होता है, अतः कारक की शुद्धि के लिए साधन की शुद्धि का ध्यान रखना चाहिए। यदि कारक शुद्धि का ध्यान नहीं है तो वह साधन व्यभिचार है। जैसे—“सेना पर्वतमधिवसति” सेना; पर्वत पर रहती है। यहाँ पर अधिकरण कारक के अर्थ में सप्तमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति है, अतः साधन व्यभिचार है। जैसे—अंग्रेजी में ऑन दी टेबिल वाक्य सही है, इन दी टेबिल गलत है। इनमें लिङ्ग, संख्या, साधन-कारक आदि के दोषों को दूर करने का काम शब्द नय करता है।

(६) समभिरूढ नय—जो ज्ञान; अनेक अर्थों को छोड़कर; प्रधानता से एक अर्थ में रूढ होता है, वह समभिरूढ नय कहलाता है। यह नय; पर्याय के भेद से अर्थ को भी भेद से ग्रहण करता है।

जैसे—“गो” शब्द के वाणी आदि अनेक अर्थ होते हैं तो भी वह “पशु” इस अर्थ में रूढ है। परम्परा अर्थ को रूढ कहते हैं। जैसे—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर; ये तीनों ही देवेन्द्र के वाची होते हुए भी अनेक अर्थों में अभिरूढ होता है। इन्द्र-आज्ञा, ऐश्वर्यवान्। शक्र-समर्थ। पुरन्दर-नगर का दारण करने वाला।

(७) एवम्भूत नय—जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुयी है, उसी रूप निश्चय कराने वाले नय को एवम्भूत नय कहते हैं।

जिस शब्द का जो वाच्य है, उस रूप क्रिया के परिणामन के समय ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है; अन्य समय में नहीं, यही एवम्भूतनय है। जैसे इन्द्र वही है जो आज्ञा या ऐश्वर्यवान् हो। पूजा-अभिषेक आदि करने वाला नहीं, क्योंकि एवम्भूत नय; तत्पर्याय से परिणत परिणाम वाला होता है।

ऋजुसूत्र एवं एवम्भूत नय में अन्तर—ऋजुसूत्र नय; पूजा-अभिषेक करने वाले मनुष्य को भी इन्द्र कहता है, लेकिन एवम्भूतनय; देव पर्याय के इन्द्र को भी तभी इन्द्र कहता है जब वह आज्ञा-ऐश्वर्य के साथ इन्द्र सभा में बैठा हो। यदि वह अभिषेक-पूजा करता है तो वह इन्द्र पर्याय परिणत नहीं है।

शब्द नय एवं समभिरूढ नय में अन्तर—जो किसी एक ही वस्तु-व्यक्ति के पर्यायवाची शब्दों को बिना भेद के लिङ्ग, संख्या, कारक की शुद्धि पूर्वक ग्रहण करे, वह शब्द नय कहलाता है। जैसे—अरिहन्त, सकल परमात्मा, जिन अथवा पुष्प, तारका, नक्षत्र आदि।

समभिरूढ नय—जो किसी एक वस्तु-व्यक्ति के पर्यायवाची शब्दों को अलग-अलग अर्थ में ग्रहण करे वह समभिरूढ नय है। जैसे—मति, स्मृति, चिन्ता आदि मतिज्ञान के ही पर्यायवाची शब्द हैं फिर भी अर्थ की अपेक्षा अलग-अलग हैं। इन्द्र, शक्र, पुरन्दर भी अर्थ की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं।

एक ही दृष्टान्त द्वारा सातों नयों का कथन—

(१) नैगम नय—जङ्गल की ओर कुल्हाड़ी ले जाते हुए मनुष्य से पूछा—“कहाँ जा रहे हो?” मनुष्य ने कहा—“प्रस्थ (पाँच किलो लगभग अनाज मापने का लकड़ी का पात्र) लेने जा रहा हूँ।” इस कथन में प्रस्थ योग्य लकड़ी का लक्ष्य-संकल्प है, जिसमें लकड़ी के अलावा टहनियाँ एवं पत्ते आदि भी हैं अर्थात्

इसमें प्रस्थ योग्य लकड़ी सत् है एवं टहनियाँ और पत्ते असत् रूप हैं, यह नैगम नय का अर्थ है।

(२) संग्रह नय—जङ्गल से प्रस्थ योग्य लकड़ी को चुनना, इसमें टहनियाँ एवं पत्ते कम कर दिए अर्थात् असत् को कम कर दिया, यह संग्रह नय का कार्य है।

(३) व्यवहार नय—प्रस्थ योग्य लकड़ी के छिलके आदि उतार कर काटना-छाँटना आदि, यह व्यवहार नय का कार्य है।

(४) ऋजुसूत्र नय—प्रस्थ योग्य लकड़ी में सूत्र आदि डालकर आकार-प्रकार देना, यह ऋजुसूत्र नय का कार्य है।

(५) शब्द नय—प्रस्थ के आकार-प्रकार नियत करके उसका नामकरण करना, शब्द नय है, क्योंकि अलग-अलग देशों में उस प्रस्थ को अन्य कोई दूसरे शब्द में कहा जाता है, यह शब्द नय का कार्य है।

(६) समभिरूढ नय—प्रस्थ के पात्र को प्रयोजनवशात् अनेक कार्यों में लेना समभिरूढ नय का कार्य है।

(७) एवम्भूत नय—प्रस्थ के पात्र को मात्र धान्य मापने के ही काम लेना अन्य कार्यों में नहीं लेना, यह एवम्भूत नय का कार्य है।

इन सातों नयों को ऊपर के क्रम से बताने में हेतु; विषयों की स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर दृष्टि एवं उपयोगिता है।

इन सातों नयों के दो भेद हैं—(१) द्रव्यार्थिक नय; (२) पर्यायार्थिक नय। इन सातों में से नैगम, संग्रह एवं व्यवहार; ये तीन द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं तथा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत; ये चार पर्यायार्थिक नय के विषय हैं।

इनके ज्ञान नय (उपचार), अर्थ नय एवं शब्द नय; ये तीन भेद भी हैं। नैगम नय; ज्ञान नय—उपचार है। संग्रह, व्यवहार एवं ऋजुसूत्र; ये तीन अर्थ नय हैं। शब्द नय, समभिरूढ नय तथा एवम्भूत नय; ये तीन शब्द नय हैं।

नय; अंश के द्वारा वस्तु को स्पर्श करने वाला एक विकल्प है।

प्रमाण; ज्ञान के समान वस्तु को स्पर्श नहीं करता है, अतः निरपेक्ष नय को मिथ्या नय एवं सापेक्ष नय को सम्यक् नय कहा गया है।

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या तैंतीस तक मोक्षमार्ग के आधारभूत जीवादि के श्रद्धान-सम्यक्ज्ञान का कथन करने वाला पहला अध्याय पूर्ण हुआ।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

जिज्ञासा—आपने जो प्रथम अध्याय के चौथे सूत्र में सात तत्त्व बतलाये; उनमें भी जो जीव तत्त्व मुख्य है, उस जीव तत्त्व के स्वतत्त्व क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च ॥१॥

सूत्र उच्चारण—औपशमिक-क्षायिकौ, भावौ मिश्रश्च, जीवस्य स्वतत्त्व-, मौदयिक-पारिणामिकौ च ॥१॥

सन्धि विग्रह—औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रः च जीवस्य स्वतत्त्वम्-औदयिक-पारिणामिकौ च ॥१॥

सूत्रार्थ—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक एवं पारिणामिक; ये पाँच भाव जीव के स्वतत्त्व अर्थात् अपने निजी भाव हैं।

लब्धार्थ—(१) उपशम के भाव को औपशमिक कहते हैं।

(२) क्षय के भाव को क्षायिक कहते हैं।

(३) क्षय और उपशम के मिले हुए भाव को मिश्र कहते हैं।

(४) उदय के भाव को औदयिक कहते हैं।

(५) परिणाम के भाव को पारिणामिक कहते हैं।

विशेषार्थ—(१) **उपशम**—द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति के प्रगट न होने को उपशम कहते हैं। जैसे—फिटकरी के निमित्त से जल में मिश्रित मैल नीचे जम जाता है एवं ऊपर स्वच्छ पानी रह जाता है।

(२) **क्षय**—कर्म के समूल विनाश को क्षय कहते हैं। जैसे—ऊपर के स्वच्छ पानी को किसी दूसरे पात्र में निकाल लेना क्षायिक है।

(३) **मिश्र अथवा क्षयोपशम**—जिसमें कुछ कर्मों का उदय से अभावरूप क्षय होकर; उन्हीं का सत्तारूप उपशम होते हुए, कुछ कर्मों का उदय भी रहता है, ऐसे कर्मों की स्थिति वाले परिणामों को मिश्र या क्षयोपशम कहते हैं। ऊपर क्षय, नीचे उपशम, बीच में उदय; यही क्षयोपशम है।

जैसे—मैले जल में फिटकरी डालने से जल का मैल शनैः-शनैः नीचे बैठ जाता है। उस जल में जो मैल के कण हैं, उन्हें हम दो भागों में बाँट लेते हैं, मानो एक कण के पिण्ड से दस कण के पिण्डों तक देशघाती संज्ञा है तथा ग्यारह से बीस तक के कण-पिण्डों की सर्वघाती संज्ञा है।

जब जल में मैल के कण नीचे बैठेंगे तब सबसे पहले बीस कण वाले पिण्ड नीचे बैठेंगे, उसके बाद उन्नीस, अठारह आदि ग्यारह तक कण पिण्ड बैठेंगे पुनः देशघाती के कण पिण्ड क्रमशः दश, नौ, आठ आदि नीचे बैठेंगे।

क्षयोपशम की परिभाषानुसार, सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं का सद-वस्थारूप उपशम अर्थात् बीस से ग्यारह तक के मैल कणों का उदय से अभावरूप क्षय है, सत्ता से अभावरूप नहीं तथा उन्हीं का सद अवस्थारूप उपशम का अर्थ है कि जो सर्वघाती स्पर्धक नीचे दबे रहने के कारण भी वे सर्वघाती स्पर्धकरूप ही रहेंगे; देशघाती स्पर्धकरूप नहीं होंगे।

देशघाती स्पर्धकों का उदय अर्थात् एक से लेकर दस तक के कण पिण्डों का स्वच्छ पानी की नीची सतह में मिल जाना मिश्र है। जैसे-कि स्वच्छ पानी में कुछ मैल के कण नीचे घूमते रहते हैं, ऊपर स्वच्छ पानी रहता है। वैसे ही देशघाती कर्म के स्पर्धक आत्म परिणामों में चल-मल-अगाढदोष उत्पन्न करते हैं। जिस भाव में उसी कर्म का; ऊपर क्षय और नीचे उपशम हो उसका नाम क्षयोपशम है।

सर्वघाती स्पर्धक—जो कर्मवर्गणायें; जीव के ज्ञानादि अनुजीवि गुणों को पूर्णरूप से घातती हैं या ढक देती हैं, वे सर्वघाती स्पर्धक हैं।

देशघाती स्पर्धक—जो कर्म; जीव के एक देश-अंश का घात करते हैं या ढकते हैं, उन्हें देशघाती स्पर्धक कहते हैं।

(४) **औदयिक भाव**—कर्मों के उदय से जो भाव होते हैं, उन्हें औदयिक भाव कहते हैं। जैसे-पूरे पानी में मैल मिला हुआ घूमता है।

उदय-द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावादि के निमित्त से कर्मों का फल देना उदय कहलाता है, स्थिति पूरी करके कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं।

(५) **पारिणामिक भाव**—जो भाव; कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम एवं उदय की अपेक्षा के बिना होते हैं, उन्हें पारिणामिक भाव कहते हैं। जैसे-प्रकृति से ही निकाला गया स्वच्छ जल।

आठ कर्मों की विशेष अवस्थायें—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय; इन तीन घातिया कर्मों की उदय, क्षय और क्षयोपशम; ये तीन अवस्थायें होती हैं। मोहनीय कर्म की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम; ये चार अवस्थायें होती हैं तथा शेष आयु, नाम, गोत्र एवं वेदनीय की उदय और क्षय; ये दो अवस्थायें होती हैं।

इस सूत्र में पाँच भावों के मध्य “जीवस्य स्वतत्त्व” शब्द मध्य दीपकवाची है, जिसका अभिप्राय यह है कि आगे औपशमिक भाव क्षय होते हैं, क्षायिक भाव बचते हैं। पीछे औदयिक भाव नष्ट होते हैं, पारिणामिक भाव बचता है, यह पहला कारण है।

दूसरा कारण; भावौ अर्थात् औपशमिक एवं क्षायिक भाव; भव्यों के ही होते हैं। जीवस्य अर्थात् तीन भाव जीव के ही होते हैं। औदयिक और पारिणामिकों का अर्थ है कि ये दो भाव; जीव और पुद्गल में भी होते हैं। औदयिक भाव; केवल कर्म वर्गणाओं में बनते हैं, वह भी पर के संयोग से, इसलिए औदयिक भाव पहले रखा तथा पारिणामिक भाव सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं, अतः उसे अन्त में रखा है।

औपशमिक भाव वाले सबसे कम, क्षायिक भाव वाले असंख्यात गुणे, क्षायिक से क्षयोपशम वाले अनन्त गुणे, क्षायोपशमिक वाले से औदयिक अनन्तगुणे, औदयिक से पारिणामिक वाले अनन्तगुणे होते हैं।

मिश्र को बीच में लेने का कारण पहले के तीन भाव भव्य में तथा मिश्र सहित बाद के दो भाव अभव्य में भी पाये जाते हैं। अन्त में च शब्द से कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि शुद्ध नय से पारिणामिक भाव लगा लेना।

जिज्ञासा—इन औपशमिकादि भावों के पाँच भेद हैं या अन्य भेद भी हो सकते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—दिनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

सूत्र उच्चारण—द्वि-नवाष्टा-, दशैकविंशति-, त्रि-भेदा, यथाक्रमम् ॥२॥

सन्धि विग्रह—द्वि-नव-अष्टादश-एकविंशति-त्रि-भेदा यथाक्रमम् ॥२॥

सूत्रार्थ—दो, नव, अठारह, इक्कीस एवं तीन भेद; पाँचों भावों में क्रम के अनुसार लगा लेना चाहिए।

लब्धार्थ—औपशमिक भाव के दो भेद, क्षायिक भाव के नौ भेद, क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद, औदयिक भाव के इक्कीस भेद, पारिणामिक भाव के तीन भेद; इस क्रम से लगा लेना चाहिए।

विशेषार्थ—औपशमिकादि पाँच भाव एवं द्वि-नव आदि पाँच संख्याओं को यथाक्रम से लगा लेना चाहिए।

जिज्ञासा—ऊपर के सूत्र में जो औपशमिक भाव के संख्यात्मक दो भेद कहे हैं, उन दो भेदों के नाम क्या हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

सूत्र उच्चारण—सम्यक्त्व-, चारित्रे ॥३॥

सूत्रार्थ—औपशमिक सम्यक्त्व एवं औपशमिक चारित्र; ये दो औपशमिक भाव के भेद हैं।

लब्धार्थ—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व एवं सम्यक् प्रकृति; इन सातों प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

अनादि मिथ्यादृष्टि या कोई सादि मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी की चार और मिथ्यात्व की एक, ऐसी पाँच प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

विशेषार्थ—अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव कर्मोदय से कलुषता को प्राप्त होते हुए भी काल लब्धि आदि के निमित्त से उपशम भावों को प्राप्त कर लेता है।

काल लब्धि—सम्यक्त्व के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की प्राप्ति को काल लब्धि कहते हैं। यह काल लब्धि तीन प्रकार की होती है—

(१) **प्रथम काल लब्धि—**कर्म युक्त कोई भव्यात्मा अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने के योग्य होता है, यह प्रथम काल लब्धि है, यह लब्धि; समय निमित्तिक है।

(२) **द्वितीय काल लब्धि—**इस काल लब्धि का सम्बन्ध कर्मस्थिति से है अर्थात् जब बँधने वाले कर्मों की स्थिति; अन्तःकोटाकोटि सागर प्रमाण होती है और विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार कम अन्तःकोटाकोटि सागर प्रमाण प्राप्त होती है तब यह भव्य जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है, यह लब्धि; कर्म निमित्तिक है।

(३) **तृतीय काल लब्धि—**जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक, चारों गतियों में से कोई एक गति वाला, जागृत, सर्वविशुद्ध एवं उपयोगमय है, वही प्रथमसम्यक्त्व के योग्य होता है, यह लब्धि; भव निमित्तिक है। जातिस्मरण, वेदना आदि भी भव निमित्तिक लब्धियाँ हैं।

अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल—प्रत्येक पञ्चपरावर्तन काल के द्रव्य परावर्तन में द्रव्यपुद्गल परावर्तन के भेदरूप नोकर्म पुद्गल परावर्तन काल के अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल का समय व्यतीत होने पर यदि इस समय जीव ने पुरुषार्थ करके सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया तो उसका संसार परिभ्रमण का काल भी अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परिमाण रह जाता है। यदि सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया तो अनन्तकाल संसार परिभ्रमण करना होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भव; इन पाँच परिवर्तनों में से, द्रव्य परावर्तन के दो भेद होते हैं—(१) कर्मपुद्गल परावर्तन; (२) नोकर्म पुद्गल परावर्तन। इसमें नोकर्म पुद्गल परावर्तन काल के आधे होने के पश्चात् शेष काल को अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण कहते हैं।

अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती ही है ऐसा नियम नहीं है, लेकिन इस काल के बिना भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं है ऐसा नियम है, अतः जो इस प्रकार के निमित्त पाकर उपशम भाव को प्राप्त होते हैं, उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

औपशमिक चारित्र—बादर संज्वलन के उदय से और मोहनीय कर्म के उपशम से जो संयम भाव उत्पन्न होते हैं, उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय का अन्तःकरण उपशम नहीं होता है, इसका अनुदयरूप उपशम होता है। मिथ्यात्व का अन्तःकरणरूप उपशम होता है।

जिज्ञासा—क्रम प्राप्त क्षायिकभाव के नौ भेदों के नाम कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

सूत्र उच्चारण—ज्ञान-दर्शन-, दान-लाभ-, भोगोप-भोग-, वीर्याणि च ॥४॥

सन्धि विग्रह—ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्याणि च ॥४॥

सूत्रार्थ—क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य; ये सात एवं च शब्द से ऊपर के दो भाव। सम्यक्त्व एवं चारित्र; ये भी क्षायिकरूप होते हैं, अतः इन दोनों को मिला देने से नौ क्षायिक भाव के भेद हो जाते हैं।

लब्धार्थ—नौ क्षायिक भावों को बतलाने के लिए यह सूत्र बना है, लेकिन इस सूत्र में संख्यानुसार सात भावों के ही नाम दिए हैं, दो भावों के नाम कम हैं, इन दो भावों की पूर्ति के लिए सूत्र में “च” शब्द रखा है, जिससे इस सूत्र का पूरा अर्थ होगा कि सूत्र संख्या तीन में जो दो भाव; सम्यक्त्व एवं चारित्र कहे हैं, उन्हें भी जोड़ लेना, क्योंकि सम्यक्त्व एवं चारित्र भाव; क्षायिक भी होते हैं, अतः सूत्र में लाघवता (छोटारूप) करने के लिए एवं पुनरावृत्ति को दूर करने के लिए “च” शब्द का प्रयोग किया है।

विशेषार्थ—इस सूत्र की टीकानुसार अनन्त पद; क्षायिक का विशेषण है, अतः पहले विशेष्य-विशेषण को समझना जरूरी है। पहले अनन्त पद दो प्रकार का है—(१) संख्यात्मक। जैसे-एक-दो-तीन की संख्या का अनन्त। (२) सीमात्मक अनन्त। जैसे-आकाश की सीमा अनन्त है।

ठीक इसी प्रकार क्षायिक भी दो प्रकार का है—(१) जो कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है, वह क्षायिक है। (२) अन्तराय (व्यवधान) रहित क्षायिक अर्थात् क्षय रहित क्षायिक है।

प्रथम दो; ज्ञान और दर्शन एवं अन्तिम दो; सम्यक्त्व एवं चारित्र, ये चारों सीमात्मक अनन्त एवं कर्म सापेक्ष क्षायिक हैं, क्योंकि ये चारों अरिहन्तों एवं सिद्धों में समान रूप से पाये जाते हैं। केवल बीच के पाँच भाव; जो अन्तराय कर्म के पाँच भेदों को क्षय करके उत्पन्न हुए हैं, उनमें जो अनन्त विशेषण हैं, यही अनन्त पद विशेषण चिन्तनीय है।

(१) **क्षायिक दान**—दानान्तराय कर्म के पूर्णक्षय से अनन्त प्राणियों के समुदाय का उपकार करने वाला क्षायिक अनन्त अभयदान होता है।

अब प्रश्न होता है कि जब दान चार प्रकार के होते हैं तब चारों ही दान क्षायिक होना चाहिए, अकेले अभय दान को ही क्षायिक अनन्त क्यों कहा है? श्रावक के अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत में चार प्रकार के दान कहे हैं जो सभी जानते हैं। सोलह कारण भावना के शक्तितस्त्याग भावना में औषधिदान को छोड़कर तीन दान लिखे हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि औषधिदान को दान क्यों नहीं कहा?

समाधान—श्रावकों के द्वारा प्रदत्त चार प्रकार के दान; आहार, औषधि, उपकरण एवं वसतिका हैं, इनमें ज्ञानदान एवं अभयदान नहीं लिखा, क्योंकि श्रावकों को ज्ञान और अभयदान देने का अधिकार नहीं है। उपकरणदान से ज्ञान उपकरण की सामग्री एवं वसतिका दान से साधुओं की सुरक्षा का स्थान देने का कर्तव्य श्रावकों का होता है। प्रसङ्गानुसार दान; आग्रह भाव का अनुकरण करता है, अतः कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता है कि हम हमेशा औषधिदान देते रहें। औषधि सेवन करने वाला पात्र भी निरन्तर औषधि सेवन का भाव नहीं रखता है, अतः औषधिदान मजबूरी है, तीनों दान जरूरी हैं।

चूँकि यहाँ सोलहकारण भावना का प्रसङ्ग होने से भावों में विशुद्धि होना जरूरी है, अतः यहाँ औषधिदान नहीं लिया है, क्योंकि औषधि देने वाले और औषधि लेने वाले पात्रों में संक्लेश देखा जाता है। कोई भी पात्र; औषधि, अहो! भाव से नहीं खाता है।

सूक्ष्म चिन्तन करने पर वैयावृत्य भावना में औषधि का प्रयोग हो सकता है, लेकिन इसे दानरूप ग्रहण नहीं कर सकते हैं, यहाँ मात्र उपचार कर सकते हैं।

दश धर्मों की व्याख्या करते समय; पूज्यपादाचार्य ने उत्तम त्याग धर्म का जहाँ वर्णन किया है, वहाँ ज्ञानादि दान को ही उत्तम त्याग धर्म में लिया है, आहार-औषध को नहीं लिखा।

यहाँ भी प्रसङ्गानुसार दश धर्मों के पूर्ण प्रतिपालक साधु-मुनि ही होते हैं, अतः वे आरम्भ आदि हिंसा के त्यागी होने से आहार, औषधि दान का उपदेश तो दे सकते हैं, क्योंकि आहार-औषधि प्रमुखरूप से श्रावकों के द्वारा दान करने योग्य हैं, लेकिन स्वयं आहार-औषधि का दान नहीं कर सकते हैं, अतः उनके देने योग्य ज्ञान दान एवं अभय दान शेष रहता है।

इसके पूर्ण प्रसङ्गानुसार अन्त में जब कोई भव्यात्मा; दानान्तराय को क्षय करके तीर्थङ्कर-अरिहन्त अवस्था को प्राप्त होता है तब उसके अनन्त प्राणियों का उपकार करने वाला क्षायिक अभय दान होता है; कारण कि तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध करने वाले भव्य जीव; अपनी पूर्व पर्यायों में तीन लोकों के अनन्त प्राणियों के कल्याण की; सुखी होने की भावना करते हैं, जिसके फलस्वरूप तीर्थङ्कर-अरिहन्त अवस्था मिलती है।

तीर्थङ्कर—अरिहन्त अवस्था में भी निरन्तर अनन्त जीवों की विराधना न होने से क्षायिक अनन्त अभयदान है, जिसके प्रभाव से परस्पर वैर-विरोध रखने वाले प्राणी भी निरन्तर अभयरूप अनुभव करते हैं। भगवान् के विहार के समय भी सौ-सौ योजन तक सुभिक्ष आदि का होना भी क्षायिक अनन्त अभयता का ही प्रतीक है।

निष्कर्ष यह है कि तीर्थङ्कर-अरिहन्त आदि आहार-औषधि के दान का उपदेश तो दे सकते हैं, लेकिन स्वयं बनाकर नहीं दे सकते हैं। रही ज्ञान दान की बात तो वे दिव्यध्वनि द्वारा ज्ञान दान तो देते हैं, लेकिन दिव्यध्वनि निरन्तर नहीं खिरती, जिससे ज्ञान दान में भी व्यवधान रहता है, जिससे क्षायिक ज्ञानदान नहीं होता, अतः मात्र एक क्षायिक अनन्त अभय दान की सिद्धि होती है।

(२) **क्षायिक लाभ**—तीर्थङ्कर आदि को केवलज्ञान होते ही जो अरिहन्त अवस्था होती है, जिससे उनका सामान्य औदारिक शरीर; परमौदारिक हो जाता है। जब तक अरिहन्त अवस्था है तब तक परमशुभ-सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणुओं का अन्तराय रहित (निरन्तर) लाभ होता रहता है, अतः बीच में व्यवधान नहीं होने से क्षय रहित-क्षायिक है एवं निरन्तर अनन्त परमाणुओं का आगमन है, अतः अनन्त है। इस प्रकार उनके क्षायिक अनन्त लाभ की सिद्धि होती है, अतः सूत्र की टीकानुसार क्षायिक लाभ की निम्न परिभाषा बनती है—

पूर्ण लाभान्तराय कर्म के क्षय से कवलहार क्रिया से रहित जो केवलियों के क्षायिक लाभ होता है, जिससे उनके शरीर को बल प्रदान करने में कारणभूत; दूसरे सामान्य मनुष्यों को असाधारण अर्थात् कभी न प्राप्त होने वाले; परमशुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रति समय (अन्तराय रहित) क्षय रहित सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, उसे अनन्त क्षायिक लाभ कहते हैं।

(३) **क्षायिक भोग**—समस्त भोगान्तराय कर्म के क्षय से अतिशय वाले क्षायिक अनन्त भोग का प्रादुर्भाव होता है, जिससे कुसुमवृष्टि आदि अतिशय विशेष होते हैं।

यहाँ पर जो कुसुमवृष्टि आदि अनन्त भोग; अतिशय शब्द से सम्बोधित हैं। इसका अभिप्राय यह है कि उनके भोग में आने वाली पुष्पवृष्टि या पगतल कमल रचना अतिशय के रूप में निरन्तर होती रहती है, अतः उनके अनन्त-क्षायिक भोग सिद्ध होता है।

(४) **क्षायिक उपभोग**—समस्त उपभोगान्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से अनन्त क्षायिक उपभोग होता है, जिससे सिंहासन, चामर, तीन छत्र आदि विभूतियाँ उत्पन्न होती हैं।

यहाँ पर भी जो सिंहासन आदि अनन्त क्षायिक उपभोग सामग्री है, वह भी भगवान् के अतिशय से ही उत्पन्न होती है, अतः उनके अनन्त क्षायिक उपभोग सिद्ध होता है।

पूजन आदि में पढ़ते हैं कि अरिहन्त भगवान् के छ्यालीस मूलगुण होते हैं। “कहवत के छ्यालिस गुण गम्भीर,” अरिहन्तों के छ्यालीस मूलगुण तीर्थङ्कर-अरिहन्तों की अपेक्षा से कहे हैं, क्योंकि जन्म के दश अतिशय तीर्थङ्कर केवली के ही होते हैं, सामान्य केवलियों के नहीं होते हैं, देवकृत चौदह, केवलज्ञान के दश, प्रातिहार्य के आठ एवं चार अनन्त चतुष्टय; ये छत्तीस गुण सभी सामान्य केवलियों के होते हैं पुनः योग निरोध होने पर सभी अतिशय विलीन हो जाते हैं, विलीन होने के बाद पुनः उत्पन्न नहीं होते, अतः उनके सयोग काल में अनन्त क्षायिकरूप से बने रहते हैं।

(५) अनन्त वीर्य—पूर्ण वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से क्षायिक अनन्तवीर्य शक्ति प्रकट होती है। जिससे पूर्वोक्त सभी प्रकार के अनन्तज्ञान दर्शन आदि धारण करने की अनन्त शक्ति आती है, उसे क्षायिक वीर्य कहते हैं, क्योंकि सभी प्रकार के अनन्तों को झेलने की शक्ति; अनन्त वीर्य से ही आती है।

सिद्धों के आठ कर्म नष्ट होने से उनके भी अन्तराय कर्म के क्षय से क्षायिक अभयदान आदि भाव उत्पन्न होने का प्रसङ्ग प्राप्त होने पर उसके निराकरण के लिए पूज्यपादाचार्य कहते हैं कि क्षायिक अभयदान आदि के होने में शरीर नामकर्म एवं तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय की अपेक्षा रहती है, क्योंकि अभयदान; शरीरधारी जीवों के प्रति ही घटित होता है। यदि शरीरधारी जीव न हों तो अभयदान भी व्यर्थ ठहरता है, अतः शरीर नामकर्म वाले एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के सभी जीव; अभयदान योग्य ठहरते हैं।

दूसरी बात; दान हमेशा दो के बीच होता है। देने वाला; दाता है, लेने वाला; पात्र है। यहाँ जो अनन्त जीव रक्षणीय हैं, वे सब शरीर नामकर्मधारी हैं, वे पात्र हैं। जिनसे अनन्त जीव रक्षित होते हैं, वे तीर्थङ्कर-अरिहन्त केवली हैं, वे दाता हैं।

सिद्धों के ऐसा कोई प्रसङ्ग नहीं है जो शरीर नामकर्मधारी अनन्त जीव रक्षणीय हों या सिद्धों को उनके रक्षा करने का भाव हो। यदि ऐसा मानें तो उनके अतिप्रसङ्ग दोष उत्पन्न होता है। हाँ; यहाँ सिद्ध दशा के जो अनन्त क्षायिक गुण या लब्धियाँ हैं, वे सब सीमात्मक अनन्त हैं तथा सिद्धों के जो कुल आठ मूलगुण हैं, वे कर्मों के पूर्ण क्षय से उत्पन्न हुए हैं, अतः क्षायिक हैं।

यही; तीर्थङ्कर अरिहन्त-केवली एवं सिद्ध दशा के अनन्त क्षायिक में भेद समझना। तीर्थङ्कर-अरिहन्त अवस्था में तद्गत कर्मक्षय से उत्पन्न कुछ सामग्री की व्यवस्था देव, देवियाँ अवश्य करते हैं, क्योंकि देवगण भी पुण्यवानों के दास हैं। सिद्धों के पुण्य प्रकृतियाँ समाप्त होने से उनके कार्य भी समाप्त हो जाते हैं।

(६) क्षायिक ज्ञान—जो ज्ञानावरण कर्म के क्षय से होता है, वह क्षायिक ज्ञान है।

(७) क्षायिक दर्शन—जो दर्शनावरण कर्म के क्षय से होता है, वह क्षायिक दर्शन है।

(८) क्षायिक सम्यक्त्व—जो सात प्रकृतियों के क्षय से होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है।

(९) क्षायिक चारित्र—जो मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के क्षय से होता है, वह क्षायिक चारित्र है।

आत्मिक गुण कभी क्षायिक या औदयिक नहीं होते हैं, गुण तो हमेशा पारिणामिक होते हैं, कर्मों के उदय, क्षय आदि की अपेक्षा उन गुणों का प्रकटीकरण होता है।

जिज्ञासा—क्रमप्राप्त तीसरे मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव के अठारह भेद कौन से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र — ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमा-
संयमाश्च ॥५॥**

सूत्र उच्चारण—ज्ञान-ज्ञान-, दर्शन-लब्धयश्-, चतुस्-त्रि-त्रि-, पञ्च-भेदाः, सम्यक्त्व-चारित्र-, संयमासंयमाश्च ॥५॥

सन्धि विग्रह — ज्ञान-अज्ञान-दर्शन-लब्धयः-चतुः-त्रि-त्रि-पञ्च-भेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमाः च ॥५॥

सूत्रार्थ—क्रमशः संख्या एवं शब्दों के जोड़ से सूत्रार्थ निकलता है। चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच लब्धि, एक सम्यक्त्व, एक चारित्र, एक संयमासंयम; ये कुल मिलाकर अष्टारह भेद मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव के होते हैं।

लब्धार्थ—मति-श्रुत-अवधि एवं मनःपर्यय; ये चार ज्ञान। कुमति-कुश्रुत एवं कुअवधि; ये तीन अज्ञान। चक्षु, अचक्षु एवं अवधि; ये तीन दर्शन। दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य; ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। त्रस जीवों की हिंसा त्याग होने से संयम एवं स्थावर हिंसा का त्याग न होने से असंयम होता है, अतः देशव्रती के व्रतों को संयमासंयम भी कहते हैं।

जो क्षायिक भावों में पाँच लब्धियाँ कही हैं, वह अन्तराय कर्म के क्षय की अपेक्षा से कही हैं एवं क्षायोपशमिक भाव की जो पाँच लब्धियाँ हैं, वे अन्तराय कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से कही हैं।

विशेषार्थ—चार सुज्ञान एवं तीन अज्ञान का कथन प्रथम अध्याय में कर आए हैं। तीन दर्शन का कथन आगे करेंगे। पाँच लब्धियों का स्वरूप पिछले सूत्र में किया ही है, अन्तर केवल उनके क्षायिक एवं क्षयोपशम भाव का है। क्षयोपशम की परिभाषा इस अध्याय के प्रथम सूत्र में बतला आए हैं। अब रहे सम्यक्त्व, चारित्र एवं संयमासंयम; इन तीनों को उपशम, क्षायिक एवं मिश्र भावों में इस प्रकार घटित कर लेना चाहिए। उपशम से औपशमिक, क्षय से क्षायिक तथा क्षयोपशम के भाव निम्न प्रकार से हैं—

(१) **क्षयोपशम सम्यक्त्व**—अनन्तानुबन्धी चार कषाय, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व इन छः प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती स्पर्धक वाली सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

(२) **क्षायोपशमिक चारित्र**—४ अनन्तानुबन्धी, ४ अप्रत्याख्यान, ४ प्रत्याख्यान; इन बारह कषायों के उदयाभावी क्षय होने से और उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने से तथा चार संज्वलनों में से किसी एक देशघाती प्रकृति के उदय होने पर और नौ कषायों का यथासंभव उदय होने पर जो त्यागरूप पूर्ण परिणाम होता है, उसे क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं।

(३) **संयमासंयम**—चार अनन्तानुबन्धी, चार अप्रत्याख्यान; इन आठ प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय होने तथा सदवस्थारूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के और संज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्धकों के उदय होने पर तथा नौ कषायों का यथासंभव उदय होने पर जो विरताविरत परिणाम होते हैं, उसे संयमासंयम कहते हैं।

इस सूत्र में “च” शब्द अन्त में रखने से मिश्र अर्थात् तीसरे गुणस्थान का भी ग्रहण होता है, क्योंकि मिश्रगुणस्थान में भी क्षायोपशमिक भाव पाया जाता है। जात्यन्तर होने से सत्ता में सर्वघाती रहती है और उदय में देशघाती है।

अन्तराय कर्म के देशघाती के उदय से तो भाव बनते हैं, लेकिन सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से किसी कर्म के भाव नहीं बनते। यदि सर्वघाती स्पर्धकों का उदय माना जाए तो अन्तराय कर्म का कभी क्षयोपशम नहीं होगा; जिससे ज्ञानादिक, दानादिक का क्षयोपशम भी नहीं होगा।

ये भाव; अपने प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम से होते हैं, अतः क्षायोपशमिक हैं। शुभ-अशुभ कर्म फल भोगने की शक्ति; आत्मा में वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से

आती है। आहारादि भोगने की शक्ति भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से तथा पचाने की शक्ति वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से आती है। (रा०वा०पृ० ३४४)

क्षायोपशमिक संज्ञित्व भाव का मतिज्ञान में; सम्यक् मिथ्यात्व में सम्यक्त्व का अंश होने से सम्यक्त्व भाव में तथा योग का क्षायोपशमिक वीर्यलब्धि में अन्तर्भाव होता है। (रा०वा०पृ० ३४२)

जिज्ञासा—क्रम प्राप्त चौथे औदयिक भाव के इक्कीस भेद कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्ये-
कैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥**

सूत्र उच्चारण—गति-कषाय-लिङ्ग-, मिथ्यादर्शना-ज्ञाना-, संयता-सिद्ध-लेश्याश्, चतुश्-चतुस्-,
त्ये-कै-कै-कैक-, षड्-भेदाः ॥६॥

सन्धि विग्रह—गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शन-अज्ञान-असंयत-असिद्ध-लेश्याः-चतुः-चतुः-
त्रि-एक-एक-एक-एक-षड्-भेदाः ॥६॥

सूत्रार्थ—चार गति, चार कषाय, तीन लिङ्ग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धत्व और छह लेश्यायें; ये इक्कीस भेद औदयिक भाव के हैं।

लब्धार्थ—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति एवं देवगति; ये चार गतियाँ। क्रोध, मान, माया, लोभ; ये चार कषायें। स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक; ये तीन लिङ्ग। एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम और एक असिद्धत्व और कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म एवं शुक्ल; ये छह लेश्यायें। इस प्रकार इक्कीस भाव औदयिक भाव के हैं।

विशेषार्थ—गति, कषाय आदि इक्कीस भावों का उदय निमित्त है, अतः उन्हें औदयिक भाव कहा जाता है। दर्शनमोह के उदय से जो तत्त्व में अतत्त्व श्रद्धान होता है, वह मिथ्यादर्शन है।

ज्ञानावरण के उदय से जो ज्ञान प्रकट नहीं होता है, वह अज्ञान है। जैसे-अवधिज्ञानावरण के उदय से अवधिज्ञान का अभाव है।

सूत्र संख्या पाँच में मनःपर्ययज्ञान को सम्यग्ज्ञान के अन्तर्गत लिया, क्योंकि यह ज्ञान; सम्यक्त्व का आश्रय होने से सम्यग्ज्ञान है, लेकिन सूत्र संख्या छह में जो मनःपर्ययज्ञान को अज्ञान भाव कहा; वह केवलज्ञान की अपेक्षा से अज्ञान भाव में ग्रहण किया है, क्योंकि मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है और पुनः छूट भी सकता है, इसलिए मनःपर्ययज्ञान को अज्ञान भाव में भी गिना जाता है। जो जिस विषय का जानकार नहीं है, वह उस विषय का अज्ञानी है। चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वधाती स्पर्धकों के उदय से असंयत भाव होता है। इसका सद्भाव प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक रहता है। जब तक सिद्धत्व की प्राप्ति नहीं होती तब तक असिद्धत्व भाव होता है। असिद्धत्व भाव चार अघातिया कर्मों के उदय से आता है। यदि अघातिया के उदय से असिद्धत्व नहीं मानेंगे तो तेरहवें गुणस्थान में असिद्धत्व भाव समाप्त हो जाना चाहिए।

असिद्धत्व भाव; दसवें गुणस्थान तक आठ कर्मों के उदय से, ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में सात कर्मों के उदय से और तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में चार अघातिया कर्मों के उदय से होता है। (रा०वा०पृ० ३४२)

मिथ्यादर्शन; औदयिक भाव में अदर्शन का; तीनों लिङ्गों में छह नौ कषायों का; गति में अघातिया कर्मों के सभी जीवविपाकी भावों का अन्तर्भाव हो जाता है। (रा०वा०पृ० ३४२)

जिज्ञासा—क्रम प्राप्त पाँचवें पारिणामिक भाव के तीन भेद कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

सूत्र उच्चारण—जीव-भव्या-, भव्यत्वानि च ॥७॥

सन्धि विग्रह—जीव-भव्य-अभव्यत्वानि च ॥७॥

सूत्रार्थ—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व; ये तीन पारिणामिक भाव के भेद हैं।

लब्धार्थ—आत्मा का वह भाव; जो किसी कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं रखता है, वह पारिणामिक भाव है। इन तीनों भावों में “त्व” प्रत्यय लगने से; ये तीनों भाववाची बन गए। जैसे—स्वच्छ सरोवर का निर्मल जल; जिसमें प्रकृत्या ही निर्मलता है।

विशेषार्थ—(१) जीवत्व—इस का अर्थ चेतन स्वभाव वाला है अर्थात् जिसमें ज्ञान-दर्शन चेतना पाई जाती है, उसे जीवत्व भाव कहते हैं।

(२) भव्यत्व—जिस चेतना में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य प्रकट करने की योग्यता होती है, उसे भव्यत्व भाव कहते हैं।

(३) अभव्यत्व—जिस चेतना को सम्यक् प्रकार के सभी साधन मिलने के बाद भी रत्नत्रय प्राप्ति की योग्यता नहीं होती है, उसे अभव्यत्व भाव कहते हैं। जैसे—बठर मूँग। यह जीव; अनन्तबार द्रव्यमुनि बनकर; अनन्तबार नव ग्रैवेयक तक की यात्रा कर लेता है, लेकिन मोक्ष नहीं जा पाता, यही अभव्यत्व भाव है।

विशेष—“भवितं योग्यः भव्यः” यानि जिसके भविष्य में कुछ होने योग्य शक्ति विद्यमान हो, उसे भव्य कहते हैं। जैसे—बीज में वृक्ष बनने की सामर्थ्य। बीज में वृक्ष का अस्तित्व है, लेकिन जब तक उस बीज को उसके योग्य द्रव्य, क्षेत्र, कालादि वातावरण में नहीं बोयेंगे तब तक उसमें वृक्ष प्रकट नहीं हो सकता। उसी प्रकार इस जीवात्मा में जो भव्यत्व भाव है अर्थात् जिसमें भगवान् बनने की शक्ति छिपी है, उस योग्यता को द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव मिलने पर भगवत्त्व प्रकट हो जाता है, यही भव्यत्व भाव है।

(१) आसन्न भव्य—इसी भव से मोक्ष जाने वाला जीव आसन्नभव्य है। जैसे—पूर्ण गर्भवती स्त्री सन्तान को जनेगी। जिनका भविष्य; मुनिराज ने उसी भव से मोक्ष जाने को कह दिया।

(२) निकट भव्य—जो अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल के अन्दर मोक्ष जाने की योग्यता वाला जीव है, वह निकट भव्य है। जैसे—नव विवाहित दम्पति निकट भविष्य में सन्तान उत्पन्न करेंगे। मारीची के जीव के समान।

(३) दूर भव्य—जो पञ्च परावर्तन संसार को तोड़कर मोक्ष जाने की पात्रता रखते हैं, वे दूरभव्य हैं। जैसे—कुंवारी कन्या; जब तक ऋतु काल नहीं आता तब तक सन्तान नहीं होगी।

(४) दूरान्दूर भव्य—जो अभव्यों के समान भव्य हैं, वे दूरान्दूर भव्य हैं अर्थात् जिन जीवों के रत्नत्रय उत्पन्न करने की योग्यता होते हुए भी उनके तद्योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि का अभाव होने से रत्नत्रय प्रकट नहीं हो पाते; वे दूरान्दूर भव्य हैं। दूरान्दूर भव्य जीव का निवास स्थान नित्य निगोद है जो अनादि से अनन्तकाल तक वहीं निवास करते हैं।

सूत्र में “च” शब्द से अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व आदि सामान्य भावों (गुणों) का भी ग्रहण होता है।

अस्तित्वादि के लक्षण-परिभाषाये जैन सिद्धान्त प्रवेशिका के दूसरे अध्याय में देखना चाहिए।

जिज्ञासा—तीन पारिणामिक भावों में जो पहला जीवत्व भाव कहा है, अतः जीव का लक्षण या पहचान कैसे होती है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

सन्धि विग्रह—उपयोगः लक्षणम् ॥८॥

सूत्रार्थ—जीव का लक्षण उपयोग है।

लब्धार्थ—चैतन्य के साथ होने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं।

विशेषार्थ—जो बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग; इन दोनों प्रकार के निमित्तों से होता है और जो चैतन्य के साथ ही रहने वाला है अर्थात् चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता है, ऐसा जीव का परिणाम उपयोग कहलाता है।

उप यानि समीप; योग यानि सम्बन्ध; जिसका आत्मा के निकट का सम्बन्ध है, उसे उपयोग कहते हैं।

यद्यपि उपयोग; जीव का लक्षण होने से आत्मस्वरूप ही है तथापि इसमें लक्ष्य-लक्षण की अपेक्षा महान भेद है। आत्म स्वरूप (स्वतत्त्व) लक्ष्य है और उपयोग लक्षण है, क्योंकि लक्ष्य कभी लक्षण नहीं हो सकता है। लक्षण से लक्ष्य तक पहुँचा जाता है।

जिज्ञासा—वह उपयोग कितने प्रकार का है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

सूत्र उच्चारण—स, द्वि-विधोऽष्ट, चतु-र्भेदः ॥९॥

सन्धि विग्रह—स द्वि-विधः अष्ट चतुः भेदः ॥९॥

सूत्रार्थ—वह उपयोग दो प्रकार का है, इन दोनों के आठ एवं चार भेद होते हैं।

लब्धार्थ—उपयोग दो प्रकार का होता है—(१) ज्ञानोपयोग, इसके आठ भेद हैं। (२) दर्शनोपयोग, इसके चार भेद हैं।

विशेषार्थ—ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं—(१) कुमतिज्ञान; (२) कुश्रुतज्ञान; (३) कुअवधि या विभङ्गज्ञान (४) मतिज्ञान; (५) श्रुतज्ञान; (६) अवधिज्ञान; (७) मनःपर्ययज्ञान; (८) केवलज्ञान।

दर्शनोपयोग के चार भेद हैं—(१) चक्षुदर्शन; (२) अचक्षुदर्शन; (३) अवधिदर्शन; (४) केवलदर्शन। सामान्य सत्ता के अवलोकन मात्र को दर्शन कहते हैं। चक्षु इन्द्रिय से जो सामान्य सत्ता का अवलोकन होता है, वह चक्षुदर्शन है। चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर; जो अन्य इन्द्रियों और मन से सत्ता का अवलोकन (आभास) होता है, वह अचक्षुदर्शन है। अवधिज्ञान के पहले जो दर्शन होता है, वह अवधिदर्शन है। केवलज्ञान के साथ जो दर्शन होता है, वह केवलदर्शन है। मनःपर्ययज्ञान के पहले अवधिदर्शन होता है, मनःपर्यय नाम का कोई दर्शन नहीं है। विध और भेद में क्या अन्तर है? विध-प्रकार वाची है एवं भेद-संख्या वाची है। प्रकार-वैरायटी, क्वालिटी है। भेद-क्वान्टिटी है।

जिज्ञासा—आपने पिछले सूत्र संख्या नौ के द्वारा मुख्य जीवत्व भाव के दो भेद किए हैं, लेकिन हम सबके देखने में अनेक प्रकार के जीव आते हैं, अतः उस बारह प्रकार के उपयोग को धारण करने वाले जीव कितने प्रकार के होते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

सूत्र उच्चारण—संसारिणो, मुक्ताश्च ॥१०॥

सन्धि विग्रह—संसारिणः मुक्ताः च ॥१०॥

सूत्रार्थ—संसारी एवं मुक्त; ये दोनों प्रकार के जीव; उपयोग सहित हैं।

लब्धार्थ—कर्म सहित जीव; संसारी एवं कर्म रहित जीव; मुक्त कहलाते हैं।

विशेषार्थ—कर्म सहित संसारी जीव के मुख्यरूप से सात ज्ञानोपयोग एवं तीन दर्शनोपयोग होते हैं। मुक्त जीव के एक ज्ञानोपयोग, एक दर्शनोपयोग होता है। संसारी जीव; संख्या एवं उपयोग की अधिकता के कारण अधिक हैं, अतः संसारी पद सूत्र में आगे रखा है। मुक्त जीव; संसारियों की संख्या अपेक्षा कम है एवं उनके उपयोग भी कम हैं, अतः मुक्त जीव को बाद में रखा है। “च” शब्द से जीवन्मुक्त अरिहन्त परमेष्ठी भी ले सकते हैं, क्योंकि वे सकल परमात्मा होते हुए भी केवल ज्ञान-दर्शन; ये दो उपयोग वाले हैं। इनका समस्त मोह कर्म नष्ट होने से भाव मोक्ष हो चुका है, परन्तु अघातिया कर्म रहने से द्रव्य मोक्ष नहीं हुआ है। यह सूत्र संक्षेप रुचि शिष्य की अपेक्षा बनाया है।

जिज्ञासा—संसारी जीव भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—समनस्काऽमनस्काः ॥११॥

सूत्र उच्चारण—स-मनस्का-, ऽमनस्काः ॥११॥

सन्धि विग्रह—स-मनस्का-अ-मनस्काः ॥११॥

सूत्रार्थ—संसारी जीव; समनस्क अर्थात् सैनी, अमनस्क अर्थात् असैनी; ऐसे दो प्रकार के होते हैं।

लब्धार्थ—मन सहित जीव; समनस्क कहलाते हैं। मन रहित जीव; अमनस्क कहलाते हैं।

विशेषार्थ—जिनमें सोचने-विचारने, शिक्षा-उपदेश आदि ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न होती है, उसे मन कहते हैं। जिनमें हिताहित सोचने-विचारने की शिक्षा-उपदेश आदि ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न नहीं होती है, उन्हें मन रहित-अमन कहते हैं। मन के भी दो भेद हैं—(१) द्रव्य मन; (२) भाव मन।

द्रव्य मन—पुद्गल विपाकी अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से जो अष्ट कमलाकार रचना होती है, उसे द्रव्य मन कहते हैं।

भाव मन—वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भाव मन कहते हैं।

अरिहन्त केवलियों के द्रव्य मन तो होता है, जिससे उनकी छह पर्याप्तियों के कारण मनोवर्गणायें निरन्तर आती हैं, किन्तु भाव मन नहीं होता, क्योंकि भाव मन क्षायोपशमिक है। यह सूत्र मध्यम रुचि शिष्य की अपेक्षा से है।

जिज्ञासा—जिन संसारी जीवों में समनस्क-अमनस्क; दो भेदरूप व्यवहार होता है, वे जीव किस नाम से जाने जाते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

सूत्र उच्चारण—संसारिणस्-, त्रस-स्थावराः ॥१२॥

सन्धि विग्रह—संसारिणः त्रस-स्थावराः ॥१२॥

सूत्रार्थ—संसारी जीव के त्रस और स्थावर; ये दो भेद होते हैं।

लब्धार्थ—जिन जीवों के त्रस नामकर्म का उदय है, वे त्रस कहलाते हैं। जिन जीवों के स्थावर नामकर्म का उदय है, वे स्थावर कहलाते हैं।

विशेषार्थ—त्रस जीव के दो भेद हैं—(१) सकलेन्द्रिय; (२) विकलेन्द्रिय।

सकलेन्द्रिय के दो भेद हैं—सैनी, असैनी।

विकलेन्द्रिय के तीन भेद हैं; दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय। विकलेन्द्रिय में असैनी पञ्चेन्द्रिय को ग्रहण करने से विकलचतुष्क कहलाते हैं।

स्थावर—एक इन्द्रिय जीव; स्थावर हैं, ये एक इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीव नियम से असैनी ही होते हैं। पञ्चेन्द्रिय जीवों में देव, नारकी एवं मनुष्य; ये सैनी ही होते हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यज्चों में सैनी-असैनी दो भेद होते हैं। इसमें भी पानी वाले सर्प एवं कोई-कोई तोते असैनी होते हैं। यह सूत्र विस्ताररुचि शिष्य की अपेक्षा से है।

जिज्ञासा—स्थावर जीवों के कितने भेद हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

सूत्र उच्चारण—पृथि-व्यप्-तेजो-, वायु-वनस्पतयः, स्थावराः ॥१३॥

सन्धि विग्रह—पृथिवी-अप्-तेजः वायु-वनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

सूत्रार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति; ये पाँच स्थावर कायिक जीव हैं।

लब्धार्थ—पृथ्वी कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक, वनस्पति कायिक; ये पाँच स्थावर जीव के भेद हैं।

विशेषार्थ—स्थावर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुयी जीव की अवस्था (पर्याय) विशेष को स्थावर कहते हैं, इनके केवल एक ही स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

(१) पृथ्वी कायिक; (२) जल कायिक; (३) अग्नि कायिक; (४) वायु कायिक; (५) वनस्पति कायिक; ये पाँच स्थावर काय हैं।

१. पृथ्वी के चार भेद—(१) पृथ्वी—जिसमें पृथ्वी नामकर्म का उदय नहीं है, जीव रहित है, लेकिन पृथ्वी के समान कठोर गुण वाली है एवं जो प्राकृतिक परिणमनों से बनी है, वह पृथ्वी है। यह सामान्य संज्ञा है। जैसे—अनुमानतः ज्वालामुखी से निकला हुआ लावा आदि।

(२) पृथ्वी काय—पृथ्वी जीव के द्वारा छोड़े गए शरीर को पृथ्वी काय कहते हैं। यह जीव रहित है। जैसे—शिला-पाषाण-नग आदि।

(३) पृथ्वी कायिक—जीव सहित पृथ्वी को अथवा पृथ्वी नामकर्म सहित पृथ्वी को पृथ्वी कायिक कहते हैं। जैसे—पहाड़-खदान आदि।

(४) पृथ्वी जीव—पृथ्वी नामकर्म के उदय से पृथ्वी में उत्पन्न होने वाले जीव को; पृथ्वी जीव कहते हैं। जैसे—विग्रह गति का जीव।

२. जल के चार भेद—(१) जल—जिसमें जल नामकर्म का उदय नहीं हो, जीव रहित हो, लेकिन जल के समान तरल हो एवं प्राकृतिक परिणमन से बना हो, वह जल है। यह सामान्य संज्ञा है। जैसे—अनुमानतः चन्द्रकान्त मणि से उत्पन्न हुआ शुद्ध जल।

(२) जल काय—जीव रहित किए गए जल को जल काय कहते हैं। जैसे—उबला हुआ जल।

(३) जल कायिक—जल नामकर्म के उदय से पैदा हुआ, जीव सहित जल को जल कायिक कहते हैं। जैसे—कुर्यें-बावड़ी, तालाब आदि का जल।

(४) जल जीव—जल काय में उत्पन्न होने के लिए विग्रह गति में स्थित जीव; जल जीव है।

३. अग्नि के चार भेद—(१) अग्नि—जिसके अग्नि नामकर्म का उदय नहीं है, लेकिन अग्नि जैसे स्वभाव वाली ज्वलनशील है जो प्राकृतिक परिणमन से उत्पन्न है, वह अग्नि है। जैसे—ज्वालामुखी की अग्नि।

(२) अग्नि काय—अग्नि जीव द्वारा छोड़े गए शरीर को अग्निकाय कहते हैं। जैसे—कोयला-राख आदि।

(३) अग्नि कायिक—अग्नि नामकर्म के उदय से जो अग्नि स्वभाव वाली है, उसे अग्निकायिक जीव कहते हैं। जैसे—जलती लकड़ी-कोयले आदि।

(४) अग्नि जीव—अग्निकाय में उत्पन्न होने के लिए विग्रह गति में स्थित जीव; अग्नि जीव है।

४. वायु के चार भेद—(१) वायु—जिसके वायु नामकर्म का उदय नहीं है, लेकिन वायु स्वभाव वाली है, वह वायु है। जैसे—प्राकृतिक गैसें।

(२) वायुकाय—वायुजीव द्वारा छोड़े गए शरीर को वायु काय कहते हैं। जैसे—गुब्बारे की हवा, पंखे की हवा।

(३) वायु कायिक—वायु नामकर्म के उदय से जो वायु स्वभाव वाला है, उसे वायु कायिक कहते हैं। जैसे—समीर-बवण्डर आदि।

(४) वायुजीव—वायुकाय में उत्पन्न होने के लिए विग्रह गति में स्थित जीव; वायु जीव है।

५. वनस्पति के चार भेद—(१) वनस्पति—जिनके वनस्पति नामकर्म का उदय नहीं है, लेकिन वनस्पति स्वभाव वाली है, वह वनस्पति है। जैसे—अनुमानतः जादुगर द्वारा उगाया गया आम का वृक्ष।

(२) वनस्पति काय—वनस्पति जीव द्वारा छोड़ा गया शरीर वनस्पतिकाय है। जैसे—वृक्ष से तोड़े गये फल, फूल, डाली आदि।

(३) वनस्पति कायिक—वनस्पति नामकर्म के उदय से उत्पन्न वृक्ष आदि वनस्पति कायिक है।

(४) वनस्पति जीव—वनस्पति नामकर्म के उदय से; वनस्पति में उत्पन्न होने के लिए विग्रह गति में स्थित जीव; वनस्पति जीव है।

पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु; इन चारों को आचार्यों ने धातु कहा है। अणु ही इन चारों रूप परिणमन करते हैं। पृथ्वी; पिघलकर जल बनती है। (रा०वा०पृ० ३५८)

जिज्ञासा—पाँच स्थावरों का कथन करने के बाद; त्रस जीव नाम कहाँ से प्रारम्भ होते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

सूत्र उच्चारण—द्वीन्द्रियादयस्-, त्रसाः ॥१४॥

सन्धि विग्रह—द्वि-इन्द्रिय-आदयः त्रसाः ॥१४॥

सूत्रार्थ—द्वि इन्द्रिय आदि जीव; त्रस कहलाते हैं।

लब्धार्थ—त्रस नामकर्म के उदय से जीव; त्रसों में उत्पन्न होता है। जिससे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय; त्रस जीव कहलाते हैं।

विशेषार्थ—द्वीन्द्रिय जीव—द्वि इन्द्रिय नामकर्म से युक्त स्पर्शन और रसना; इन दो इन्द्रियों वाले, कृमि शंख, कौड़ी, केंचुवा, सीप, जौंक, उदरकृमि आदि; ये सब द्वीन्द्रिय जीव हैं।

त्रीन्द्रिय जीव—जो त्रि इन्द्रिय नामकर्म से युक्त स्पर्शन, रसना, घ्राण; इन तीन इन्द्रियों वाले, बिच्छु, जूँ, लीख, खटमल और चींटी आदि; ये सब त्रीन्द्रिय जीव हैं।

चतुरिन्द्रिय जीव—जो चतुः इन्द्रिय नामकर्म से युक्त स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु; इन चार इन्द्रियों वाले; दंश, वनमक्षिका, डाँस-मच्छर, पतङ्गा, भ्रमर, मधुमक्खी आदि; ये सब चार इन्द्रिय जीव हैं।

पञ्चेन्द्रिय जीव—जो पञ्चेन्द्रिय नामकर्म से युक्त स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण; इन पाँच इन्द्रियों वाले, सर्प, पक्षी, कुत्ता, बिल्ली, सिंह, गाय, भैंस, नारकी, देव, मनुष्य आदि; ये सब पञ्चेन्द्रिय जीव हैं।

जिज्ञासा—आपने पूर्व सूत्र में जो द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ऐसा कहा है, परन्तु त्रस कितनी इन्द्रिय तक होते हैं अथवा इन्द्रियाँ कितनी होती हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

सन्धि विग्रह—पञ्च-इन्द्रियाणि ॥१५॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियाँ पाँच होती हैं।

लब्धार्थ—जिनसे संसारी जीवों की पहचान होती है, उसे इन्द्रिय कहते हैं।

विशेषार्थ—पूर्व सूत्रानुसार उपयोग का प्रकरण होने से यहाँ उपयोगवान् इन्द्रियों का ग्रहण किया है, क्रिया की साधनभूत इन्द्रियों का नहीं। अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से जितने भी अङ्गोपाङ्ग की रचना होती है, वे सब क्रिया के साधन हैं, अतः कर्मेन्द्रियाँ पाँच ही हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है।

जिज्ञासा—उपयोगवान् इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की हैं, परन्तु उनके कितने प्रकार से अनुभव किए जा सकते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्विविधानि ॥१६॥

सूत्र उच्चारण—द्वि-, विधानि ॥१६॥

सूत्रार्थ—उन पाँचों इन्द्रियों के आकार-प्रकार दो रूप से अनुभव किए जा सकते हैं।

लब्धार्थ—(१) द्रव्येन्द्रिय; (२) भावेन्द्रिय; इन दो रूप पाँचों इन्द्रियों के आकार-प्रकार होते हैं।

विशेषार्थ—द्रव्येन्द्रिय; नामकर्म की रचना है। भावेन्द्रिय; ज्ञानावरण का क्षयोपशम है।

जिज्ञासा—प्रथम प्रकार की द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

सूत्र उच्चारण—निर्वृत्युप-करणे, द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

सन्धि विग्रह—निर्वृत्ति-उपकरणे द्रव्य-इन्द्रियम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

लब्धार्थ—अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से होने वाली इन्द्रियों की रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति के सहायक (उपकारक) को उपकरण कहते हैं।

विशेषार्थ—निर्वृत्ति के दो भेद हैं—(१) आभ्यन्तर निर्वृत्ति; (२) बाह्य निर्वृत्ति।

(१) **आभ्यन्तर निर्वृत्ति—**आत्मा के प्रदेशों का इन्द्रियाकार होना।

(२) **बाह्य निर्वृत्ति—**पुद्गल के परमाणुओं का इन्द्रियाकार होना।

उपकरण के भी दो भेद हैं—(१) आभ्यन्तर उपकरण; (२) बाह्य उपकरण।

(१) **आभ्यन्तर उपकरण—**नेत्र में काला-सफेद मण्डल है, वह आभ्यन्तर उपकरण है।

(२) **बाह्य उपकरण—**नेत्र के ऊपर पलकें-भौंहें रोम आदि, बाह्य उपकरण है।

निर्वृत्ति और उपकरण की रचना केवल इन्द्रियों में होती है, मन में यह रचना नहीं होती है। मन स्थायी नहीं है; चल है। टीकाकारों ने अष्ट कमलाकार रचना मानी है, लेकिन मूल में प्रमाण नहीं है।

धवला जी ग्रन्थ में अङ्गुल के संख्यातवें भाग प्रमाण आभ्यन्तर निर्वृत्ति प्रत्येक इन्द्रिय की जानना।

सर्वार्थसिद्धि में आभ्यन्तर निर्वृत्ति को उसके आकार प्रमाण कहा है। जैसे-आँख में आभ्यन्तर निर्वृत्ति के अन्दर जो काला छोटा भाग दिख रहा है, उसमें फैले आत्म प्रदेश बाह्य और सफेद भाग बाह्य उपकरण पलक आदि।

आभ्यन्तर निर्वृत्ति में इन्द्रियों के स्थान पर ही आत्म प्रदेश परिभ्रमण करते हैं।

जिज्ञासा—द्वितीय प्रकार की भावेन्द्रिय का स्वरूप क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

सूत्र उच्चारण—लब्ध्युप-योगौ, भावेन्द्रियम् ॥१८॥

सन्धि विग्रह—लब्धि-उपयोगौ भाव-इन्द्रियम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।

लब्धार्थ—लब्धि अर्थात् क्षयोपशम, उपयोग अर्थात् आत्मिक शक्ति।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं। लब्धि के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है, उसे उपयोग कहते हैं। जीव में देखने की शक्ति तो है, किन्तु उसका उपयोग दूसरी ओर होने से वह सामने स्थित वस्तु को भी नहीं देख सकता है। इसी प्रकार किसी वस्तु को जानने की इच्छा होते हुए भी यदि क्षयोपशम नहीं हो तो जान नहीं सकता है, अतः ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो जानने की शक्ति प्रकट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा का पदार्थों की ओर अभिमुख होना उपयोग कहलाता है। लब्धि एवं उपयोग के मिलने से ही पदार्थ का ज्ञान होता है।

जिज्ञासा—इन्द्रियाँ पाँच होती हैं, ऐसा सूत्र संख्या पन्द्रह में कहा है, अतः उन पाँचों इन्द्रियों के क्रमिक नाम क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

सूत्र उच्चारण—स्पर्शन-रसन-घ्राण-, चक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

सूत्रार्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु एवं कर्ण; ये पाँच इन्द्रियों के क्रमिक नाम हैं।

लब्धार्थ—वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के अवलम्बन से जिसके द्वारा स्पर्श करता है, वह स्पर्शन इन्द्रिय है।

तद् योग्य क्षयोपशम द्वारा जिससे स्वाद आता है, वह रसनेन्द्रिय है।

तद् योग्य क्षयोपशम द्वारा जिससे सूँघता है, वह घ्राणेन्द्रिय है।

तद् योग्य क्षयोपशम द्वारा जिससे पदार्थों को देखता है, वह चक्षुरिन्द्रिय है।

तद् योग्य क्षयोपशम द्वारा जिससे सुनता है, वह श्रोत्रेन्द्रिय है।

विशेषार्थ—सूत्रानुसार संसारी जीवों का कथन चल रहा है, सभी संसारी जीवों की पहचान इन्द्रियों से होती है, इन सभी संसारी जीवों के प्रथम स्पर्शन इन्द्रिय अवश्य पायी जाती है, इसके बाद ही अन्य इन्द्रियों का क्रम आता है, अतः प्रथम ही स्पर्शन इन्द्रिय को कहा है। (रा०वा०)

इन सभी इन्द्रियों के लिए वीर्यान्तराय व मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का आलम्बन आवश्यक है।

जैसे-वीर्यान्तराय-करेन्ट युक्त ताँबे का वायर; क्षयोपशम-बल्व आदि, अङ्गोपाङ्ग-फिटिंग आदि। इन सब साधनों से ही प्रकाश होता है। वैसे इन्द्रिय के उपयोग का विषय जानना चाहिए।

जिज्ञासा—ऊपर सूत्र में पाँचों इन्द्रियों के नाम बतलाये हैं, परन्तु ये पाँचों इन्द्रियों के उपयोग-विषय क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदार्थाः ॥२०॥

सूत्र उच्चारण—स्पर्श-रस-गन्ध-, वर्ण-शब्दास्-, तदार्थाः ॥२०॥

सन्धि विग्रह—स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दाः तद्-अर्थाः ॥२०॥

सूत्रार्थ—(१) स्पर्श; (२) रस; (३) गन्ध; (४) वर्ण; (५) शब्द; ये सब उन पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं।

लब्धार्थ—(१) स्पर्श-स्पर्शन का विषय स्पर्श अथवा जो स्पर्श किया जाता है, वह स्पर्श है।

(२) रस—रसना का विषय रस अथवा जो चखा जाता है, वह रस है।

(३) गन्ध—घ्राण का विषय गन्ध अथवा जो सूँघा जाता है, वह गन्ध है।

(४) वर्ण—चक्षु का विषय वर्ण अथवा जो देखा जाता है, वह वर्ण है।

(५) शब्द—कर्ण का विषय शब्द अथवा जो सुना जाता है, वह शब्द है।

विशेषार्थ—तद् पद से; पूर्व सूत्र में कही गई इन्द्रियों का क्रम लेना चाहिए। अर्थात् विषय; पूर्णपद तदार्थाः उन इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ। इस प्रकार स्पर्शनादि शब्दों की कर्म साधन में नियुक्ति की गई है। (श्लो० वा०)

स्पर्शन, रसना, घ्राण; ये तीन नौ-नौ योजन तक के विषय को ग्रहण करते हैं। चक्षु; ४७२६३ योजन से कुछ अधिक तक के विषय को ग्रहण करता है। कर्ण; बारह योजन तक के विषय को ग्रहण करता है। इन्द्रियों की विशेष जानकारी जीवकाण्ड ग्रन्थ से लेनी चाहिए।

जिज्ञासा—पाँचों इन्द्रियों के नाम एवं उनके विषय बतलाये, लेकिन सूत्रों में मन को भी अनिन्द्रिय, नोइन्द्रिय, ईषत् इन्द्रिय कहा है, अतः मन का विषय क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

सन्धि विग्रह—श्रुतम्-अनिन्द्रियस्य ॥२१॥

सूत्रार्थ—श्रुत; मन का विषय है।

लब्धार्थ—मन का विषय श्रुत है, क्योंकि श्रुतज्ञान का विषयभूत पदार्थ; मन का विषय है।

विशेषार्थ—मन के निमित्त से मात्र श्रुतज्ञान ही होता है, ऐसा नहीं है। यहाँ पर आचार्यश्री का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मतिज्ञान; इन्द्रिय और अनिन्द्रिय दोनों के निमित्त से होता है। उसी प्रकार श्रुतज्ञान दोनों से न होकर केवल अनिन्द्रिय के निमित्त से होता है। इन्द्रियों की सहायता करना ही मन का प्रयोजन है।

जिज्ञासा—पाँचों इन्द्रियों में क्रम प्राप्त पहली स्पर्शन इन्द्रिय है, अतः इस एक इन्द्रिय के स्वामी कौन-से जीव हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

सूत्र उच्चारण—वनस्पत्यन्ताना-, मेकम् ॥२२॥

सन्धि विग्रह—वनस्पति-अन्तानाम्-एकम् ॥२२॥

सूत्रार्थ—वनस्पति कायिक तक के जीवों की; एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

लब्धार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पतिकायिक; ये पाँचों स्थावर एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले होते हैं।

विशेषार्थ—इन पाँचों स्थावरों का क्रम बतलाते हुए राजवार्तिक में आचार्यश्री अकलङ्कदेव जी ने कहा है कि सुखपूर्वक ग्रहण होने से, स्थूल मूर्तित्व होने से, बहुत उपकारक होने से पृथ्वी को प्रथम ग्रहण किया है; कारण कि पृथ्वी नहीं होती तो पानी आदि कहाँ पर स्थित होकर उपकार करते, अतः सबसे पहले पृथ्वी को ग्रहण किया है।

पृथ्वी के बाद जल को ग्रहण किया है, क्योंकि पृथ्वी; जल का आधार है और जल आधेय है।

जल के बाद अग्नि को ग्रहण किया है, क्योंकि जल का परिपाक अग्नि के द्वारा होता है।

अग्नि के बाद वायु को ग्रहण किया है, क्योंकि वायु; अग्नि का उपकारक है।

वायु के बाद वनस्पति को ग्रहण किया है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु; ये चारों ही निमित्त होते हैं तथा सब जीवों की अपेक्षा इनकी संख्या अनन्तगुणी भी है, अतः सबके अन्त में वनस्पति को ग्रहण किया है।

जिज्ञासा—एकेन्द्रिय स्थावरों की इन्द्रियाँ निश्चित करने के बाद; द्वि इन्द्रियादि त्रस जीवों की इन्द्रियाँ, नाम सहित बतलायें? ऐसी जिज्ञासा होने के बाद आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

सूत्र उच्चारण—कृमि-पिपीलिका-, भ्रमर-मनुष्यादीना-, मेकैक-वृद्धानि ॥२३॥

सन्धि विग्रह—कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्य-आदीनाम्-एक-एक-वृद्धानि ॥२३॥

सूत्रार्थ—कृमि, पिपीलिका, भ्रमर, मनुष्य आदि के क्रम से एक-एक इन्द्रिय वृद्धि को प्राप्त होती है।

लब्धार्थ—लट आदि, चींटी आदि, भौंरा आदि तथा मनुष्य आदि के; क्रम से एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है।

विशेषार्थ—कृमि-लट आदि के स्पर्शन, रसना; ये दो। पिपीलिका आदि के स्पर्शन, रसना, घ्राण; ये तीन। भ्रमर आदि के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु; ये चार। मनुष्य आदि के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु एवं कर्ण; ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या ग्यारह के अनुसार संसारी जीव समनस्क एवं अमनस्क; ये दो प्रकार के होते हैं, लेकिन समनस्क किसे कहते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सज्जिनः समनस्काः ॥२४॥

सूत्र उच्चारण—सज्जिनः, स-मनस्काः ॥२४॥

सूत्रार्थ—मन सहित जीव को संज्ञी कहते हैं।

लब्धार्थ—मन सहित जीव को संज्ञी कहते हैं। अर्थापत्ति न्याय से यह सिद्ध हुआ कि संज्ञी के अतिरिक्त सब संसारी जीव असंज्ञी ही होते हैं। एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के सब जीव असंज्ञी ही होते हैं। सम्मूर्च्छन उत्पन्न कोई पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च असैनी भी होते हैं। नारकी, देव, मनुष्य सैनी ही होते हैं। तिर्यञ्चगति में ही सैनी-असैनी के भेद होते हैं। कोई-कोई तोते, पानी के सर्प असैनी होते हैं।

विशेषार्थ—संज्ञा शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे संज्ञा अर्थात् नाम। संज्ञा अर्थात् आहारादि संज्ञा। संज्ञा अर्थात् मतिज्ञान। इन सब अर्थ से बचने के लिए सूत्र में समनस्क शब्द रखा है, जिससे सभी अवस्था वाले संज्ञी जीव ग्रहण किए गए हैं।

जो दार्शनिक; सभी संसारी जीवों को मन सहित ही मानते हैं या मन रहित ही मानते हैं, उन दोनों मतों को खण्डन करने के लिए यह सूत्र लिखा है।

हित और अहित की परीक्षा तथा गुण-दोष का विचार अथवा स्मरणादि करने को संज्ञी कहते हैं।

जिज्ञासा—इस सूत्र संख्या दस से सूत्र संख्या चौबीस तक इन्द्रिय और मन के स्वरूप भेद, उपयोग आदि का वर्णन किया जो हम सबके देखने-सुनने एवं अनुभव करने में आता है, लेकिन इस शरीर के मृत होने पर सब इन्द्रियाँ एवं मन काम करना बन्द कर देते हैं तब यह जीव किस विधि से इस गति को छोड़कर; दूसरी गति में जाता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

सूत्र उच्चारण—विग्रह-गतौ, कर्म-योगः ॥२५॥

सूत्रार्थ—विग्रहगति में कर्मण काययोग होता है।

लब्धार्थ—विग्रह शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—मोड़ (टर्न), मूर्ति, विरुद्ध, नया शरीर आदि। यहाँ प्रसङ्गानुसार नये शरीर को धारण करने के लिए जो गति होती है, उसे विग्रहगति कहते हैं।

कर्म शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—क्रिया, भाग्य आदि, लेकिन यहाँ प्रसङ्गानुसार ज्ञानावरण आदि आठ कर्म हैं, इन कर्मों के समूह को कर्मण शरीर कहते हैं अथवा सब शरीरों की उत्पत्ति के निमित्त को कर्मण शरीर कहते हैं।

योग शब्द के भी अनेक अर्थ हैं। जैसे—जोड़, सम्बन्ध, व्यायाम, निमित्त आदि। यहाँ प्रसङ्गानुसार योग शब्द निमित्त अर्थ में हैं, अतः कर्म निमित्त अर्थात् कर्म योग, उससे पूर्ण अर्थ होगा, विग्रहगति में कर्मण काययोग होता है।

विशेषार्थ—बचपन से सभी को जन्म-मरण की एक जिज्ञासा रहती है कि जीव जन्म कैसे लेता है एवं मरता कैसे है? यह तो नियम है कि जो जन्मेगा वह मरेगा भी, अतः जन्म की जिज्ञासा के पहले; मरण की जिज्ञासा को समझना आवश्यक है।

बचपन में सत्यवान—सावित्री की कहानी सभी ने सुनी या पढ़ी होगी। जिसमें सावित्री अपने पति की आत्मा को यमराज से वरदान के रूप में वापिस माँग लेती है, अतः लोक प्रचलित कथानुसार मरते समय यमराज; आत्मा को पहले ऊपर स्वर्ग लोक में धर्मराज के दरबार में ले जाते हैं, वहाँ चित्रगुप्त जी उस आत्मा के अतीत कर्मों का लेखा-जोखा करके बतलाते हैं कि इसे कहाँ भेजा जाए? यदि

यमराज भूल से किसी गलत व्यक्ति की आत्मा को ऊपर ले आते हैं तब उसे ऊपर से ही नीचे फेंक देते हैं। जिससे नीचे मृत समझे जाने वाले शरीर में अन्तिम संस्कार के पहले ही चेतनता आ जाती है। जिससे उसके शरीर में हलन-चलन होने लगती है या वह व्यक्ति उठकर बैठ भी जाता है।

उस समय वह व्यक्ति; यमराज के ले जाने से लेकर ऊपर धर्मराज, चित्रगुप्त आदि के द्वारा किया गया व्यवहार सभी को बतलाता है कि वहाँ हमारे साथ क्या-क्या किया गया ?

इसी प्रकार ईसाई धर्म में फरिश्ते आते हैं। मुस्लिम धर्म में दूत आते हैं। किञ्चित् मूढमति जैन भी कहते हैं कि स्वर्ग के देव लेने आते हैं। जिसके कारण इस जीव के मरण की अनेक घटनायें सुनने-सुनाने में आती हैं।

एक बार हमने स्वयं एक पढ़े-लिखे डॉक्टर-विद्वान्, हिन्दु-पण्डित जी से पूछा कि संसार में यमराज कितने हैं ? उनका उत्तर था; एक है। जब संसार में यमराज एक ही है तब संसार में निरन्तर मरने वाले जीवों को यमराज किस प्रकार ले जाता होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में डॉक्टर साहब निरुत्तर-मौन थे।

अब रही लौकिक संस्कारों से घटनाओं की बात; जो व्यक्ति यमराज आदि की घटनाओं का वर्णन करते हैं, उन घटनाओं का क्या होगा ?

इसके उत्तर में चिन्तन करने पर विचार प्राप्त होते हैं कि बचपन के सुने हुए किस्से-कहानियों के संस्कार जो अवचेतन मन में बैठ जाते हैं, मृत्यु-भय से वैसे ही दृश्य दिखने लगते हैं।

जैसे-आप किसी धर्मशाला आदि धार्मिक स्थान आदि में प्रतिदिन रात्रि आदि के समय भी आते-जाते रहते हो, लेकिन यदि आपको कोई कह दे कि इस स्थान में रात्रि के समय भूत नाचते हैं तब आप जब भी उस स्थान से दिन में भी निकलेंगे तो भूत ही नाचते नजर आयेंगे; वैसे ही जब किसी का मरण समय नजदीक आता है तब उसे आभास होने लगता है, लेकिन पूर्व संस्कार से पढ़ी-सुनी कहानियों के आधार पर उसके मन में ऐसे दृश्य-परिदृश्य दिखलाई देते हैं।

जैसे-गहरे स्वप्न में कोई दृश्य देखकर उसे सत्य मान लेते हैं। मरने के पूर्व शारीरिक शिथिलता आदि के कारण तथा मारणान्तिक वेदना समुद्घात आदि के कारण लोग उसे मृत समझ लेते हैं, लेकिन अनुकूलता मिलने पर पुनः चेतनता आ जाती है, अतः पूर्वोक्त धारणाओं का निरसन हो जाता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि इस गति से मरकर, दूसरी गति तक जाने में जीव की कौन सहायता करता है ? इसी बात का कथन जैन आचार्यों ने इस सूत्र के द्वारा किया है।

टीकाकार पूज्यपादाचार्य ने इस सूत्र में योग का अर्थ वचनवर्गणा, मनोवर्गणा एवं कायवर्गणा लिखा है। क्रम में वचनवर्गणा पहले देने का अभिप्राय है कि वचनों से ही मन तथा काय योग प्रभावित हैं। यह कथन उत्कृष्टता की अपेक्षा लिखा है। विग्रह गति में तो मात्र कर्मण काययोग के निमित्त से ही कर्म आते हैं, अतः कर्म के निमित्त जो योग होता है, वह कर्मयोग है जो विग्रहगति में होता है।

जलते हुए नाग-नागिन को णमोकार मन्त्र की वचनवर्गणाओं ने ही प्रभावित किया था। रोते हुए बच्चों को चुप कराने के लिए ध्वनिरूप शब्द वर्गणायें काम करती हैं। अहिंसाव्रत की पाँच भावनाओं में सबसे पहले वचनगुप्ति है।

जिज्ञासा—एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करने की जो गति होती है, उसे विग्रह गति कहते हैं, लेकिन उस गति में निमित्त कार्मण काययोग होता है जो कि पौद्गलिक है, जिससे सिद्ध होता है कि जीव और पुद्गल गमनशील हैं, लेकिन इनकी गति का भी कोई नियम होना चाहिए ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

सूत्र उच्चारण—अनुश्रेणि, गतिः ॥२६॥

सूत्रार्थ—गति; श्रेणी के अनुसार होती है ।

लब्धार्थ—गमनागमन गति है ।

श्रेणी—तीन लोक के मध्य से लेकर अर्थात् मध्यभाग से नीचे सात राजू, ऊपर सात राजू लम्बी तथा तिरछी निष्कृत क्षेत्र सहित आड़ी आकाश प्रदेशों की पंक्ति (कतार-लाइनों) को श्रेणी कहते हैं । जैसे-वस्त्र में ताना और बाना धागा होता है । उसी प्रकार आकाश में भी प्रदेशों की पंक्ति होती है ।

विशेषार्थ—अनुश्रेणी गति के लिए काल नियम एवं देश नियम; ये दो नियम होते हैं । काल नियम अर्थात् कितने समय में ? देशनियम अर्थात् कितनी दूरी ?

(१) **काल नियम**—मरण के समय जब जीव एक भव को छोड़कर दूसरे भव के लिए गमन करते हैं और मुक्त जीव जब ऊर्ध्वगमन करते हैं तब उनकी गति; अनुश्रेणी ही होती है । इसमें जितना समय लगेगा वह काल नियम है ।

(२) **देश नियम**—जब कोई जीव; ऊर्ध्वलोक से अधोलोक के लिए आता-जाता है और तिर्यक्-लोक से अधोलोक या अधोलोक से ऊर्ध्वलोक की ओर आता-जाता है तब उस अवस्था में जीव की गति; अनुश्रेणी ही होती है । उसी प्रकार पुद्गलों की लोक के अन्त को प्राप्त कराने वाली जो गति होती है, वह अनुश्रेणी ही होती है । जैसे-शुद्ध पुद्गल परमाणु एक समय में चौदह राजू लोकाकाश अनुश्रेणी गति से जाता है और इसके अतिरिक्त जो गति होती है, वह अनुश्रेणी एवं विश्रेणी भी होती है । जैसे-चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क विमानों की और मेरु की प्रदक्षिणा करते समय विद्याधरों की गति; विश्रेणी भी देखी जाती है । इन सब में देश नियम है ।

आज के वैज्ञानिक युग में दूरसंचार प्रणाली, टेलीफोन-मोबाइल, टी.वी., कम्प्यूटर, इलेक्ट्रानिक घड़ियाँ आदि; ये सभी अनुश्रेणी गति के आधार पर काम करते हैं । जैसे-कम्प्यूटर की स्क्रीन में ग्राफ्स होते हैं, जिससे उसके चित्रों में चौकोर आकार दिखाई देते हैं । इलेक्ट्रानिक घड़ियों में शून्य; गोल न होकर चौकोर बनता है । मिशाइल एवं रडार प्रणाली भी काल नियम एवं देश नियम पर ही सञ्चालित है । इसी प्रकार और भी उपकरणों में लगा लेना चाहिए ।

जिज्ञासा—इस सूत्र के प्रसङ्गानुसार जीव एवं पुद्गल के गमनागमन का नियम निर्धारण किया है, लेकिन सूत्र संख्या दस के अनुसार जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) संसारी; (२) मुक्त, अतः मुक्त जीव की गति कैसी होती है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

सूत्र उच्चारण—अविग्रहा, जीवस्य ॥२७॥

सूत्रार्थ—मुक्त जीव की गति; विग्रह रहित होती है।

लब्धार्थ—श्रेणी के अनुसार होने वाली गति के दो भेद होते हैं—(१) विग्रहवती अर्थात् मुड़ने वाली; (२) अविग्रहवती अर्थात् बिना मुड़ने वाली।

विग्रह का अर्थ व्याघात-कुटिलता है अर्थात् मोड़ सहित।

अविग्रह का अर्थ कुटिलता रहित है अर्थात् मोड़ रहित।

विशेषार्थ—इस सूत्र में मुक्त जीव की गति का कथन है; कारण कि आगे अट्टाईसवें सूत्र में संसारी जीवों की गति का कथन है, सूत्रों को लघु बनाने के लिए पदों की अनुवृत्ति कर ली जाती है, क्योंकि सूत्र उपस्कार सहित होते हैं, अतः इस सूत्र में मुक्त जीव की गति; विग्रह रहित-मोड़ रहित होती है।

सूत्र संख्या अट्टाईस में दिये गए “संसारिणः” पद से सब जीवों की अविग्रह गति सिद्ध हो सकती है, लेकिन सूत्र संख्या छब्बीस से जीव और पुद्गलों की विश्रेणी गति भी देखी जाती है, अतः उससे पृथक् करने के लिए भी यह सत्ताईसवाँ सूत्र बनाया है। संसारी जीवों की गति का कथन अधिक है, अतः मुक्त जीवों का कथन पहले किया है।

निष्कर्ष यह है कि इस सूत्र में कर्मों को क्षय करके सिद्धशिला के प्रति गमन करने वाले जीवों की गति; अविग्रह गति अर्थात् ऋजुगति होती है।

जिज्ञासा—मुक्त जीवों की गति निर्धारण करके, अब संसारी जीवों की गति किस प्रकार होती है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

सूत्र उच्चारण—विग्रहवती च, संसारिणः, प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

सूत्रार्थ—संसारी जीव की गति; विग्रह रहित और विग्रह सहित दोनों प्रकार की होती है। उसमें विग्रह-मोड़ वाली गति; चार समय से पहले अर्थात् तीन समय तक होती है।

लब्धार्थ—काल की सबसे छोटी इकाई को समय कहते हैं।

इस सूत्र में “च” शब्द से ऊपर के सूत्र संख्या सत्ताईस से अविग्रह पद का भी ग्रहण किया है, जिससे इस सूत्र में अविग्रह पद की भी सिद्धि हो जाती है। सूत्र में “प्राक् चतुर्भ्यः” पद; समय निश्चित करने के लिए आया है अर्थात् चार समय के पहले तक ही मोड़े वाली गति होती है यानि तीन मोड़े ही होते हैं, चार मोड़े नहीं।

विशेषार्थ—संसारी जीवों की गति; विग्रह (मोड़ सहित) एवं अविग्रह (मोड़ रहित) दो प्रकार से होती है। मोड़ सहित जीव को एक, दो एवं तीन मोड़े तक लेना पड़ते हैं, अतः एक मोड़े में दो समय, दो मोड़े में तीन समय एवं तीसरे मोड़े में चार समय लगते हैं, उस चौथे समय में कहीं न कहीं यह जीव नए शरीर को धारण कर लेता है, इसलिए ही विग्रहगति का समय; चार समय के पहले-पहले तक कहा है। इन अविग्रह-विग्रह गतियों के चार नाम कहे गये हैं—(१) ऋजुगति-इषुगति; (२) पाणिमुक्ता; (३) लाङ्गलिका; (४) गोमूत्रिका।

(१) ऋजु गति—एक समय वाली जो सीधी गति होती है, वह ऋजु गति है। इसे ही मोड़ रहित-अविग्रह गति कहा जाता है।

ऋजु गति से गमन करने वाले जीव का क्षायोपशमिक एवं क्षायिक ज्ञान आदि व्यवधान रहित; एक भव से दूसरे भव में ज्यों का त्यों सुरक्षित पहुँच जाता है, अतः ऋजु गति से जन्म लेने वाले जीवों का; संक्लेश रहित होने से उनका क्षायोपशमिक ज्ञान सुरक्षित रहता है।

मुक्त जीव का गमन भी ऋजु गति से होता है, जिससे सिद्धावस्था में उनका इस मनुष्य पर्याय में उत्पन्न क्षायिक ज्ञान-दर्शन आदि व्यवधान रहित, सुरक्षित रहता है।

मोड़ सहित गमन करने वाले जीवों में संक्लेश उत्पन्न होने से पूर्व पर्याय के क्षयोपशम ज्ञान के संस्कार नष्ट हो जाते हैं, जिससे जीव को; अपने पूर्व पर्याय का ज्ञान विस्मृत हो जाता है।

(२) पाणिमुक्ता गति—इस गति में एक मोड़ के कारण दो समय लगते हैं। जैसे—सीधे हाथों में रखी वस्तु पहले अँगुलियों तक सीधे जायेगी, पुनः नीचे की ओर गिरेगी, जिससे हाथ की अँगुलियों के किनारे पर एक मोड़ बन जायेगा, अतः इस गति को पाणिमुक्ता यानि सीधे हाथों से मुक्त अर्थात् छूटी हुयी वस्तु की गति; पाणिमुक्ता कही जाती है।

(३) लाङ्गलिका गति—इस गति में दो मोड़ों के कारण तीन समय लगते हैं। जैसे—हल में ऊपर हत्था एवं नीचे फाल में मोड़ होते हैं, इस कारण इसे लाङ्गलिका गति कहते हैं।

(४) गोमूत्रिका गति—इस गति में तीन मोड़ों के कारण चार समय लगते हैं। जैसे—चलता हुआ बैल मूत्र करता है तब उसके कई मोड़ बनते चले जाते हैं, इस कारण से इस गति को गोमूत्रिका गति कहते हैं।

यह चारों गतियाँ संसारी जीवों की होती हैं, लेकिन प्रथम ऋजु गति संसारी एवं मुक्त दोनों जीवों की होती हैं, यह सूत्र संख्या २७ एवं २८ से सिद्ध हुआ।

तीन मोड़ों; चार समय वाली गति; उत्कृष्ट निष्कृत क्षेत्र से उत्कृष्ट निष्कृत क्षेत्र में जन्म लेने वाले जीव की होती है।

त्रसनाड़ी के बाहर के क्षेत्र को निष्कृत क्षेत्र कहते हैं।

त्रसनाड़ी; लोक के ठीक मध्य भाग के तेरह राजू लम्बे एवं एक-एक राजू चौड़े क्षेत्र को त्रसनाड़ी कहते हैं।

तीन लोक के नक्शे में पूरी चौदह राजू ऊँचाई है। जिसमें नीचे सात-सात राजू लम्बा-चौड़ा है। नीचे से ऊपर सात राजू की ऊँचाई पर चौड़ाई एक राजू है पुनः यहाँ साढ़े तीन राजू की ऊँचाई पर चौड़ाई पाँच राजू है पुनः साढ़े तीन राजू की ऊँचाई पर चौड़ाई एक राजू है, यहीं पर सिद्धशिला है।

कोई निगोदिया जीव पाँच राजू के कोने वाले उत्कृष्ट निष्कृत क्षेत्र से नीचे सात राजू के कोने के उत्कृष्ट निष्कृत क्षेत्र में जन्म लेता है तब वह पहले सीधे तीन राजू त्रस नाड़ी में आयेगा वहाँ से सीधा मुड़के साढ़े दश राजू नीचे जायेगा, अतः वहाँ ऊपर तीन-राजू पर पहला मोड़ होगा। नीचे साढ़े दश राजू से सीधे सामने मुड़कर चार राजू वातवलय की ओर आता है, यहाँ उसका दूसरा मोड़ होता है पुनः उसी वातवलय से मुड़कर कोने में जन्म लेता है, वहाँ उसका तीसरा मोड़ होकर चार समय पूरे होते हैं। (विशेष—धवल पु० ४, पृ० में देखो)

उदाहरण हमेशा उत्कृष्ट या निकृष्ट के दिए जाते हैं। यह तीन मोड़े, चार समय का उत्कृष्ट उदाहरण है, क्योंकि निष्कृत क्षेत्र ऊपर पाँच राजू के भाग में एवं नीचे सात राजू के भाग में अधिक पाया जाता है।

जिज्ञासा—आपने ऊपर वाले सूत्र में विग्रह अर्थात् मोड़े वाली जीव की गति का समय निर्धारित किया है, लेकिन अविग्रह अर्थात् बिना मोड़े वाली जीव की गति का कितना समय है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

सूत्र उच्चारण—एक-समया-, ऽविग्रहा ॥२९॥

सन्धि विग्रह—एक-समया-अविग्रहा ॥२९॥

सूत्रार्थ—मोड़ रहित गति; एक समय वाली होती है।

लब्धार्थ—एक समय वाली गति का नाम इषुगति है। जिस प्रकार इषु अर्थात् बाण की गति वेध्य पर्यन्त सरल होती है। उसी प्रकार मोड़ रहित सिद्ध एवं संसारी जीवों की गति एक समय वाली होती है।

विशेषार्थ—इस सूत्र में समय और विग्रह शब्द को स्त्रीलिङ्ग क्यों कहा है? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि “अनुश्रेणिगतिः” इस सूत्र से गति पद की अनुवृत्ति करके समान अधिकरण हो जाने से गति की अपेक्षा समय और अविग्रह पद को स्त्रीलिङ्ग में समया और अविग्रहा इस प्रकार कहा है। (श्लो० वा०)

यहाँ गति का प्रकरण है, अतः स्त्रीलिङ्ग निर्देश करने के लिए कहा है कि एक है समय जिसका; वह है एक समया। नहीं है विग्रह जिसके; वह है अविग्रहा।

जिज्ञासा—पुराना शरीर छूट गया, कर्म सहित जीव दूसरी गति की ओर गमन कर गया, लेकिन नए शरीर की रचना के योग्य, पुद्गल परमाणुओं को कब तक ग्रहण नहीं करता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

सूत्र उच्चारण—एकं द्वौ, त्रीन्-वा-, ऽनाहारकः ॥३०॥

सन्धि विग्रह—एकं द्वौ त्रीन्-वा-अनाहारकः ॥३०॥

सूत्रार्थ—विग्रहगति में अर्थात् नए शरीर को धारण करने के पहले जीव; एक समय, दो समय अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है।

लब्धार्थ—जब तक जीव; नये शरीर-औदारिक, वैक्रियिक और आहारक; ये तीन शरीर तथा छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण नहीं करता है तब तक अनाहारक कहलाता है। इनके योग्य पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करते ही आहारक हो जाता है।

विशेषार्थ—एक मोड़े वाला; दो समय लेता है, अतः वह पहले एक समय में अनाहारक रहता है, लेकिन दूसरे समय में आहारक हो जाता है।

दो मोड़े वाला; तीन समय लेता है, अतः वह पहले दो समय में अनाहारक रहता है, लेकिन तीसरे समय में आहारक हो जाता है।

तीन मोड़े वाला; चार समय लेता है, अतः वह पहले तीन समय में अनाहारक रहता है, लेकिन चौथे समय में आहारक हो जाता है।

इस प्रकार विग्रहगति को प्राप्त जीव; एक समय, दो समय, तीन समय तक अनाहारक होते हैं, आहारक नहीं, इसकी सिद्धि के लिए यह सूत्र बनाया है। सूत्र में “वा” पद व्यवस्थावाची है, जिसका अभिप्राय है कि एक, दो, तीन समयों वाले अनाहारक जीव अपने-अपने समयों में अलग-अलग ही होते हैं, क्योंकि एक जीव; एक बार में ही अपने मोड़ों के अनुसार अनाहारक रहेगा। इससे जीव के चार मोड़ों का भी निषेध हो जाता है। त्रस जीवों का जन्म; दो मोड़े तीन समय से अधिक में नहीं होता अर्थात् त्रस जीवों के तीन मोड़े, चार समय कभी नहीं होते। (धवल पु० १४)

जिज्ञासा—जो जीव पुराने शरीर को छोड़कर, विग्रह-अविग्रह गति से गमन करके नए शरीर धारण करने के लिए आता है तब उसका कर्मानुसार जन्म कितने प्रकार का होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

सूत्र उच्चारण—सम्मूर्च्छन-, गर्भोप-पादा, जन्म ॥३१॥

सन्धि विग्रह—सम्मूर्च्छन-गर्भ-उपपादा जन्म ॥३१॥

सूत्रार्थ—सम्मूर्च्छन, गर्भ एवं उपपाद; ये जन्म के तीन भेद हैं।

लब्धार्थ—संसार में जन्म लेने वाले सभी प्राणियों के जन्म तीन ही प्रकार के हो सकते हैं, अतः जन्म के भेद चारों गतियों में तीन प्रकार के ही हैं।

विशेषार्थ—नवीन शरीर को धारण करने की प्रक्रिया को जन्म कहते हैं।

(१) **सम्मूर्च्छन जन्म**—चारों तरफ के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके जो जन्म होता है, उसे सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं। तिर्यञ्च एवं मनुष्य गति में ही सम्मूर्च्छन जीव पाए जाते हैं।

(२) **गर्भ जन्म**—स्त्री के उदर में रज और वीर्य के संयोग से जो जन्म होता है, वह गर्भ जन्म है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं मनुष्यगति में ही गर्भ जन्म वाले जीव पाए जाते हैं।

(३) **उपपाद जन्म**—निश्चित स्थान की उपपाद शय्याओं एवं बिलों में जो जन्म होता है, वह उपपाद जन्म है। जहाँ जन्म लेते ही जीव; अन्तर्मुहूर्त में ही पूर्ण यौवनवान हो जाता है। देव एवं नारकियों का जन्म; उपपाद जन्म ही होता है।

जन्म क्रम में सम्मूर्च्छन जन्म को प्रथम ग्रहण किया है, क्योंकि इनकी संख्या सबसे अधिक है, आयु अल्प है, जन्म प्रत्यक्ष है अर्थात् देखते ही देखते पैदा हो जाते हैं। गर्भ जन्म वालों की संख्या; सम्मूर्च्छन जन्म वालों से कम हैं, आयु अधिक है, इनके जन्म स्थान अप्रत्यक्ष हैं, अतः सम्मूर्च्छन जन्म के बाद गर्भ जन्म ग्रहण किया है।

गर्भ जन्म के बाद उपपाद जन्म ग्रहण किया है, क्योंकि इनकी संख्या गर्भ जन्म से अधिक है, आयु भी इनसे अधिक है, अतः उपपाद जन्म अन्त में रखा है। (रा०वा०)

जन्म सामान्य की अपेक्षा जन्म को एक वचन में ही रखा है; सूत्र में जन्म पद अन्त दीपक होने से सभी के जन्म पूर्णतावाची हैं, किसी के अङ्ग या अंश नहीं है। (रा०वा०)

जिज्ञासा—आपने पूर्व सूत्र में जन्म के भेद बतलाये, लेकिन जिस स्थान पर जीव जन्म लेता है, उस स्थान को क्या कहते हैं, उसको भेद सहित समझाओ ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

सूत्र उच्चारण—सचित्त-शीत-, संवृताः सेतरा, मिश्राश्-चैकशस्-, तद्-योनयः ॥३२॥

सन्धि विग्रह—सचित्त-शीत-संवृताः स-इतराः मिश्राः च एकशः तद्-योनयः ॥३२॥

सूत्रार्थ—सचित्त, शीत, संवृत; इसके विपरीत-अचित्त, उष्ण, विवृत और एक-एक के मिले हुए मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृत-विवृत, ऐसे ये नौ; उन तीनों जन्मों की योनियों के भेद हैं।

लब्धार्थ—जीवों की उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। योनि आधार है एवं जन्म आधेय है।

विशेषार्थ—(१) सचित्त योनि—चेतना सहित योनि को सचित्त योनि कहते हैं।

(२) अचित्त योनि—चेतना रहित योनि को अचित्त योनि कहते हैं।

(३) शीत योनि—शीत स्पर्श युक्त योनि को शीत योनि कहते हैं।

(४) उष्ण योनि—उष्ण स्पर्श युक्त योनि को उष्ण योनि कहते हैं।

(५) संवृत योनि—ढकी हुयी योनि को संवृत योनि कहते हैं।

(६) विवृत योनि—खुली हुयी योनि को विवृत योनि कहते हैं।

(७) सचित्ताचित्त योनि—सचित्त और अचित्त; दोनों की मिश्रित अवस्था को सचित्ताचित्त योनि कहते हैं।

(८) शीतोष्ण योनि—शीत एवं उष्ण; दोनों की मिश्रित अवस्था को शीतोष्ण योनि कहते हैं।

(९) संवृत-विवृत योनि—ढकी एवं खुली; दोनों की मिश्रित अवस्था को संवृतविवृत योनि कहते हैं।

सचित्त योनि; साधारण शरीर के। अचित्त योनि; देव-नारकी के। सचित्ताचित्त योनि; गर्भज के। शीत योनि; तेजस्काय एवं देव-नारकियों को छोड़कर। उष्ण योनि; तेजस्काय के। शीतोष्ण योनि; देव-नारकियों के। संवृत योनि; देव-नारकियों एवं एकेन्द्रियों के। विवृत योनि; विकलेन्द्रिय के। संवृत-विवृत योनि; गर्भज के।

मुख्यतः योनियों के दो भेद हैं—(१) गुण योनि; (२) आकार योनि।

(१) गुण योनि के सचित्तादि नौ भेद हैं एवं इसके उत्तर भेद चौरासी लाख हैं, अतः सूत्र में च शब्द लिया है। तद् पद तीनों जन्मों के लिए है अर्थात् ये तीनों जन्मों की योनियाँ हैं।

(२) आकार योनि के तीन भेद हैं—(१) वंशपत्र; (२) कूर्मोन्नत; (३) शंखावर्त।

(१) वंशपत्र योनि—बाँस के पत्ते के समान लम्बी वंशपत्र योनि है, इसमें सामान्य मनुष्यों का जन्म होता है।

(२) कूर्मोन्नत योनि—कछुवे की पीठ के समान उन्नत कूर्मोन्नत योनि है, इसमें तीर्थङ्कर जैसे महापुरुष जन्म लेते हैं।

(३) शंखावर्त योनि—शंख के समान आकार वाली शंखावर्त योनि है, इसमें गर्भ नहीं ठहरता है, यह योनि चक्रवर्ती की पटरानी की है।

जिज्ञासा—जन्म के तीन भेद कहे थे, उनमें गर्भ जन्म वालों की संख्या सबसे कम कही थी, अतः गर्भ जन्म किन-किन जीवों के होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

सूत्र उच्चारण—जरायु-जाण्डज-, पोतानां, गर्भः ॥३३॥

सन्धि विग्रह—जरायुज-अण्डज-पोतानां गर्भः ॥३३॥

सूत्रार्थ—जरायुज, अण्डज एवं पोत; इन तीनों प्रकार के जीवों का गर्भ जन्म ही होता है।

लब्धार्थ—जर से अथवा जाल के समान आवरण से उत्पन्न होने वाले को जरायुज कहते हैं। जैसे-मनुष्यादि।

जो नख की त्वचा के समान कठिन है, गोल है और जिनका आवरण शुक्र और शोणित से बना है, उसे अण्डा कहते हैं, उस अण्डे से जो उत्पन्न हो उसे अण्डज कहते हैं। जैसे-चील, कबूतर आदि पक्षी।

जिनके शरीर के साथ गर्भ में कोई आवरण आदि नहीं रहता तथा उत्पन्न होते ही जो चलने-फिरने लगते हैं, वे पोत जन्म वाले हैं। जैसे-सिंह, व्याघ्र, हरिण आदि।

विशेषार्थ—जरायुज एवं अण्डज के पीछे “ज” प्रत्यय लगा है, जिसका अर्थ होता है कि गर्भ से बाहर निकलने के बाद भी उनका जन्म दूसरी बार जेर या जाल से होता है, अतः उसे जरायुज जन्म कहते हैं।

ठीक इसी प्रकार अण्डज के पीछे “ज” प्रत्यय लगा है, जिसका अर्थ होता है कि गर्भ से अण्डे का जन्म होता है एवं अण्डे से पक्षी का जन्म होता है, अतः उसे अण्डज जन्म कहते हैं।

पोत जन्म वाले का एक ही बार गर्भ से जन्म होता है, अतः उसके पीछे ‘ज’ प्रत्यय नहीं लगा है।

नौ योनियों से सहित तीन जन्म; सब जीवों के अनियम से प्राप्त हुए हैं, अतः गर्भ जन्म निश्चय करने के लिए यह सूत्र कहा है। (स०सि०)

जिज्ञासा—गर्भ जन्म वालों से उपपाद जन्म वालों की संख्या अधिक है, अतः उपपाद जन्म वाले कौन-कौन हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

सूत्र उच्चारण—देव-नारकाणा-, मुपपादः ॥३४॥

सन्धि विग्रह—देव-नारकाणाम्-उपपादः ॥३४॥

सूत्रार्थ—देव और नारकियों के उपपाद जन्म होता है।

लब्धार्थ—उपपाद; यह देव और नारकियों के उत्पत्ति स्थान विशेष की संज्ञा है।

विशेषार्थ—देव की उपपाद शय्यायें निश्चित हैं, वहाँ जन्म लेकर जीव अन्तर्मुहूर्त में हलन-चलन करके पूर्ण यौवन पद को प्राप्त हो जाता है। नारकियों का जन्म उनके अनेक प्रकार के आकार वाले बिलों में होता है। यही उपपाद जन्म की विशेषता है।

जिज्ञासा—गर्भ जन्म एवं उपपाद जन्म वालों की संख्या से सम्मूर्च्छन जन्म वाले सबसे अधिक हैं, अतः सम्मूर्च्छन जन्म वाले कौन-कौन हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

सूत्र उच्चारण—शेषाणां, सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

सूत्रार्थ—गर्भ और उपपाद जन्म वालों से भिन्न जितने भी जीव हैं, उन सबका सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

लब्धार्थ—हवा, मिट्टी, पानी, गर्मी आदि के संयोग से जिनका जन्म होता है, वे सम्मूर्च्छन जन्म वाले हैं।

विशेषार्थ—एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यज्ज्यों का नियम से सम्मूर्च्छन जन्म होता है। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का भी सम्मूर्च्छन जन्म होता है। स्वयम्भूरमण समुद्र में उत्पन्न सैनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यज्ज्यों का भी सम्मूर्च्छन जन्म होता है। जैसे—शालिसिक्थ या तन्दुल मत्स्य आदि।

जिज्ञासा—संसार में जन्मने वाले जीव; जिन तीन जन्मों को धारण करते हैं, उनके कितने प्रकार के शरीर हो सकते हैं? उनके भेद एवं नाम बतलायें? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकर्मणानि शरीराणि ॥३६॥

सूत्र उच्चारण—औदारिक-वैक्रियि-, काहारक-तैजस-, कर्मणानि, शरीराणि ॥३६॥

सन्धि विग्रह—औदारिक-वैक्रियिक-आहारक तैजस-कर्मणानि शरीराणि ॥३६॥

सूत्रार्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस एवं कर्मण; ये पाँच प्रकार के शरीर हैं।

लब्धार्थ—जो शरीर नामकर्म से प्राप्त हो करके; शीर्यन्ते अर्थात् गलते हैं, वे शरीर हैं।

विशेषार्थ—(१) औदारिक शरीर—उदार शब्द महानता का वाचक है। उदार शब्द का अर्थ स्थूल भी होता है। उदार का अर्थ जो स्वयं कष्ट-संकट को सहन करके दूसरों का उपकार करे। जैसे—उदर में रखा हुआ भोजन पूरे शरीर का उपकार करता है और स्वयं उस भोजन को पचाने आदि की मेहनत करता है फिर भी उसे मल के सिवाय कुछ नहीं मिलता है।

वैसे ही औदारिक शरीर; आत्मा को कर्मों से छुड़ाने के लिए संयम, तप, त्याग, उपसर्ग-परीषहों के कष्ट सहन करता है, अतः औदारिक शरीर उदार अर्थात् महान है।

मनुष्य और तिर्यज्ज्यों का शरीर औदारिक है, क्योंकि इनमें आत्महित करने की पात्रता है अर्थात् महाव्रत-अणुव्रत अङ्गीकार कर सकता है, यह कथन मुख्यता से है। एकेन्द्रिय से असैनी पञ्चेन्द्रिय तक का औदारिक शरीर होता है, लेकिन वे जीव आत्महित स्वयं नहीं कर पाते, लेकिन दूसरों की साधना में प्रत्यक्ष-परोक्षरूप से साधक-निमित्त बन जाते हैं, अतः इन्हें भी उपकाररूप ग्रहण करना चाहिए। जैसे—पञ्च स्थावरों के शरीर; रसोई, पूजन आदि निमित्त-उपकार करते हैं, विकलत्रय के शरीर; खेती आदि के द्वारा एक-दूसरे का उपकार करते हैं।

(२) वैक्रियिक शरीर—जो एक-अनेक, छोटा-बड़ा, हल्का-भारी आदि अनेक रूप बना सके, उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह शरीर देव-नारकियों के होता है। विक्रिया ऋद्धि इससे भिन्न है जो औदारिक शरीर में होती है।

(३) आहारक शरीर—जो शुभ, विशुद्ध, व्याघात रहित है, ऐसा आहारक शरीर छटवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के ही होता है। जिसका कार्य; सूक्ष्म पदार्थ के निर्णय करने के लिए केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में जाना है। मनःपर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धिसंयम एवं आहारक शरीर; ये तीनों एक साथ नहीं होते हैं। आहारक शरीर का बन्ध सातवें गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छटवें भाग तक होता है एवं उदय छटवें गुणस्थान में ही होता है।

(४) तैजस शरीर—औदारिक, वैक्रियिक एवं आहारक शरीर को कान्ति देने वाले शरीर को तैजस शरीर कहते हैं अथवा जो तीनों शरीरों की दीप्ति का कारण है, उसे तैजस शरीर कहते हैं।

(५) कर्मण शरीर—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कर्मण शरीर कहते हैं अथवा कर्मों का कार्य; कर्मण शरीर है।

जिज्ञासा—ऊपर सूत्र में जो पाँच शरीर बतलाये हैं, उनमें से हमें एक ही औदारिक शरीर दिखाई देता है, शेष चार शरीर क्यों नहीं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

सूत्र उच्चारण—परं परं, सूक्ष्मम् ॥३७॥

सन्धि विग्रह—परम् परम् सूक्ष्मम् ॥३७॥

सूत्रार्थ—बाद-बाद के शरीर सूक्ष्म हैं।

लब्धार्थ—औदारिक शरीर सबसे स्थूल है, इसके बाद से आगे-आगे के शरीर सूक्ष्म होते गए।

विशेषार्थ—औदारिक से वैक्रियिक सूक्ष्म है, वैक्रियिक से आहारक सूक्ष्म है, आहारक से तैजस सूक्ष्म है, तैजस से कर्मण सूक्ष्म है, अतः आगे के चार शरीर आँखों से दिखाई नहीं देते हैं।

जिज्ञासा—इन चार शरीरों के उत्तरोत्तर सूक्ष्म होने से क्या उनके प्रदेशों की संख्या भी कम होती चली जायेगी? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रदेशतोऽसङ्ख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

सूत्र उच्चारण—प्रदेशतोऽसङ्ख्येय-गुणं, प्राक् तैजसात् ॥३८॥

सन्धि विग्रह—प्रदेशतः असङ्ख्येय-गुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

सूत्रार्थ—प्रदेशों की अपेक्षा उन शरीरों के प्रदेश; तैजस शरीर के पहले-पहले असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे हैं।

लब्धार्थ—यहाँ प्रदेश का अर्थ; परमाणु है, परमाणु की अपेक्षा से तैजस शरीर से पहले के शरीर के प्रदेश असंख्यातगुणे हैं।

विशेषार्थ—औदारिक शरीर से वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक से आहारक शरीर के प्रदेश-परमाणु असंख्यातगुणे हैं अर्थात् औदारिक से वैक्रियिक के असंख्यातगुणे और वैक्रियिक से आहारक के असंख्यातगुणे प्रदेश हैं।

जिज्ञासा—तीन शरीरों के प्रदेश असंख्यात-असंख्यातगुणे हैं तब बाद के छोटे हुए तैजस एवं कर्मण शरीर के प्रदेशों की संख्या कितनी है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनन्तगुणे परे ॥३९॥

सूत्र उच्चारण—अनन्त-गुणे, परे ॥३९॥

सूत्रार्थ—परे अर्थात् बाद के दो शरीर अनन्त-गुणे प्रदेश वाले हैं।

लब्धार्थ—परे अर्थात् आहारक शरीर से अनन्तगुणे प्रदेश तैजस शरीर के हैं, तैजस शरीर से अनन्तगुणे प्रदेश कर्मण शरीर के हैं।

विशेषार्थ—आगे-आगे के शरीर सूक्ष्म होते हुए भी उनके प्रदेशों की संख्या अधिक-अधिक होती है। इसका कारण यह है कि उनमें आगे-आगे प्रदेशों का घनत्व पाया जाता है, जिससे सूक्ष्म शरीर होते हुए भी अधिक-अधिक प्रदेश समावेश होते हैं।

जैसे-एक किलो रुई का ढेर देखने में बड़ा है, लेकिन उसके प्रदेशों की संख्या कम है। वहीं एक किलो लोहे का बाँट देखने में छोटा है, लेकिन उनके प्रदेशों की संख्या अधिक है। आजकल वैज्ञानिकों ने एक इञ्च घन लोहे के टुकड़े में पचास से लेकर पैंसट टन तक घनत्व संग्रहीत किया है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु सूक्ष्म-छोटी होते हुए भी उसमें प्रदेशों की संख्या अधिक से अधिक हो सकती है और वस्तु स्थूल-बड़ी होते हुए भी प्रदेशों की संख्या कम से कम हो सकती है।

इसी प्रकार औदारिक आदि तीन शरीर स्थूल होते हुए भी प्रदेशों की संख्या कम हैं एवं तैजस-कर्मण शरीर सूक्ष्म होते हुए भी प्रदेशों की संख्या अधिक है।

जिज्ञासा—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक; इन तीन शरीरों के स्वभाव; द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव आदि से व्याघात या बन्धन को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे-मनुष्य का औदारिक शरीर एवं आहारक शरीर; मनुष्य लोक अर्थात् अढाईद्वीप तक गमनागमन कर सकता है। नारकियों का वैक्रियिक शरीर; मनुष्य या देव लोक में नहीं आता। देवों का वैक्रियिक शरीर भी तीसरे नरक के नीचे नहीं जाता, ऊपर देव लोक में भी उनकी मर्यादा है तब क्या तैजस एवं कर्मण शरीर भी व्याघात या बन्धन सहित है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अप्रतीघाते ॥४०॥

सूत्रार्थ—तैजस और कर्मण शरीर; अप्रतीघात अर्थात् बाधा रहित हैं।

लब्धार्थ—तैजस एवं कर्मण शरीर; तीनों लोकों में किसी भी मूर्त-अमूर्त पदार्थ से न स्वयं रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं, इसी कारण से इन्हें व्याघात रहित-अप्रतीघात कहा जाता है।

विशेषार्थ—वैक्रियिक एवं आहारक शरीर सूक्ष्म होते हुए भी तीन लोक में गमनागमन नहीं कर सकते, अतः इन्हें अप्रतिघात नहीं कहा है।

जिज्ञासा—औदारिक आदि शरीरों का सम्बन्ध इसी भव से होता है; कारण कि मरने के बाद वे शरीर यहीं छूट जाते हैं। इसी प्रकार मरने के बाद तैजस-कर्मण शरीर भी छूट जाना चाहिए। यदि वे शरीर नहीं छूटते तब जीव एवं तैजस-कर्मण शरीर का कैसा सम्बन्ध है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥

सूत्र उच्चारण—अनादि-, सम्बन्धे च ॥४१॥

सूत्रार्थ—तैजस एवं कर्मण शरीर का सम्बन्ध; आत्मा के साथ अनादि से भी है एवं “च” शब्द से सादि भी है, क्योंकि पुरानी कर्मवर्गणाओं का फल भोगने पर वे खिर जाती हैं तथा नयी वर्गणायें आ जाती हैं, इस अपेक्षा सादि भी है।

लब्धार्थ—जिस प्रकार वृक्ष और बीज का अनादि सम्बन्ध है, हम लोग यह नहीं कह सकते कि पहले बीज हुआ या वृक्ष। उसी प्रकार संसारी जीवों का आत्मा और कर्मों का (तैजस-कर्मण) अनादि काल से सम्बन्ध है, लेकिन तीर्थङ्कर नामकर्म प्रकृति एवं आहारक-द्विक प्रकृति आदि का सादि ही सम्बन्ध होता है, अतः च शब्द से सादि सम्बन्ध भी सिद्ध होता है।

विशेषार्थ—सम्बन्ध तीन प्रकार का है—(१) संयोग सम्बन्ध; (२) संश्लेष सम्बन्ध; (३) तादात्म्य सम्बन्ध।

(१) **संयोग सम्बन्ध—**जो किसी संयोग या निमित्त से सम्बन्ध होता है, उसे संयोग सम्बन्ध कहते हैं। जैसे—औदारिक, वैक्रियिक आदि शरीरों की प्राप्ति संयोग से ही होती है पुनः यह संयोग सम्बन्ध अकस्मात् छूट भी जाता है। जैसे—हमारा शरीर; कर्म संयोग से आत्मा को प्राप्त हुआ है।

(२) **संश्लेष सम्बन्ध—**जो कर्म निमित्त होते हुए आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह एकमेक अभिन्न हो रहा है, वह संश्लेष सम्बन्ध है अर्थात् आत्मा और कर्मों का संश्लेष सम्बन्ध है। जैसे—दूध को विशेष विधि से गरमादि करके, उससे पानी का सम्बन्ध छुड़ाया जा सकता है। उसी प्रकार कर्मों को तप आदि की विधि से आत्म के सम्बन्ध से छुड़ाया जा सकता है।

(३) **तादात्म्य सम्बन्ध—**जैसे—स्वर्ण के पीलेपन का, दूध के सफेदीपन का उनसे तादात्म्य सम्बन्ध है। वैसे ही ज्ञान-दर्शन आदि का आत्मा से तादात्म्य सम्बन्ध है, अतः यह सम्बन्ध आत्मा से कभी नहीं छूटता है।

जिज्ञासा—किन-किन जीवों का तैजस-कर्मण शरीर के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सर्वस्य ॥४२॥

सूत्रार्थ—सभी संसारी जीवों का तैजस एवं कर्मण शरीर से अनादिकाल का सम्बन्ध है।

लब्धार्थ—सूत्र में अनादि पद की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से ग्रहण करना एवं प्रसङ्गानुसार कर्म सहित जीव का कथन चल रहा है, अतः इससे सिद्ध होता है कि तैजस एवं कर्मण शरीर; अनादि काल से सभी संसारी जीवों के होते हैं।

विशेषार्थ—इस सूत्र से उन लोगों की मान्यता का खण्डन हो जाता है जो लोग आत्मा को त्रैकालिक शुद्ध-बुद्ध मानते हैं।

जिज्ञासा—पूर्व सूत्रों में जो पाँच शरीरों का कथन किया है, उनमें से संसारी जीव के एक साथ; एक समय में कितने शरीर हो सकते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या^१ चतुर्भ्यः ॥४३॥

सूत्र उच्चारण—तदादीनि भाज्यानि, युगपदे-कस्या, चतुर्भ्यः ॥४३॥

सन्धि विग्रह—तद्-आदीनि भाज्यानि युगपद्-एकस्य-आ चतुर्भ्यः ॥४३॥

सूत्रार्थ—उन तैजस एवं कर्मण शरीर को आदि लेकर, एक साथ एक जीव के चार शरीर तक हो सकते हैं।

लब्धार्थ—एक जीव के एक साथ दो शरीर हों तो तैजस और कर्मण। तीन हों तो तैजस, कर्मण, औदारिक अथवा तैजस, कर्मण, वैक्रियिक। चार हों तो तैजस, कर्मण, औदारिक एवं आहारक अथवा तैजस, कर्मण, औदारिक एवं वैक्रियिक शरीर होते हैं।

विशेषार्थ—विग्रह गति में एक जीव के तैजस एवं कर्मण; ये दो ही शरीर होते हैं। मनुष्यों के तथा तिर्यज्यों के औदारिक, तैजस एवं कर्मण; ये तीन शरीर होते हैं। देव, नारकियों के वैक्रियिक, तैजस एवं कर्मण; ये तीन शरीर ही होते हैं। प्रमत्त संयत मुनि के औदारिक, आहारक, तैजस एवं कर्मण; ये चार शरीर अथवा औदारिक, वैक्रियिक, तैजस एवं कर्मण; ये चार शरीर होते हैं। एक जीव के एक समय में पाँच शरीर कभी नहीं होते हैं।

जिज्ञासा—पाँच शरीरों में अन्तिम कर्मण शरीर विग्रहगति में रहता है तब वह औदारिक शरीर आदि रहित होने से इन्द्रिय आदि विषयों को कैसे ग्रहण करता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

सूत्र उच्चारण—निरुप-भोग-, मन्त्यम् ॥४४॥

सन्धि विग्रह—निर्-उपभोगम्-अन्त्यम् ॥४४॥

सूत्रार्थ—अन्त का अर्थात् कर्मण शरीर; निरुपभोग अर्थात् उपभोग रहित है।

लब्धार्थ—इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि के ग्रहण को उपभोग कहते हैं, वह उपभोग विग्रहगति में कर्मण शरीर से नहीं होता है, अतः निरुपभोग है। इस समय अनाहारक होने से नए शरीर के योग्य नो कर्मवर्गणाओं को भी ग्रहण नहीं करता है, अतः निरुपभोग है।

विशेषार्थ—उपभोग रहित अर्थात् विग्रहगति में भावेन्द्रियाँ तो होती हैं, लेकिन द्रव्येन्द्रियाँ नहीं होती हैं, अतः विग्रह गति वाला जीव; वहाँ शब्दादि विषयों का ग्रहण नहीं कर पाता, इसी कारण से अन्त के कर्मण शरीर को निरुपभोग कहा है।

इन्द्रिय आदि विषयों को ग्रहण न करते हुए भी कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है, क्योंकि विग्रहगति में कर्मण काय योग होता है और यह योग; कर्मों के आस्रव एवं बन्ध में कारण है।

जिज्ञासा—आपने पूर्व सूत्रों में तीन प्रकार के जन्म एवं पाँच प्रकार के शरीरों का कथन किया है, लेकिन किस जन्म वाले के कौन-सा शरीर होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गर्भसम्पूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥

सूत्र उच्चारण—गर्भ-सम्पूर्च्छनज-, माद्यम् ॥४५॥

सन्धि विग्रह—गर्भ-सम्पूर्च्छनजम्-आद्यम् ॥४५॥

सूत्रार्थ—गर्भ और सम्पूर्च्छन जन्म से पहला औदारिक शरीर उत्पन्न होता है।

जिज्ञासा—जब गर्भ और सम्पूर्च्छन जन्म वालों के प्रथम औदारिक शरीर होता है तब शेष रहा उपपाद जन्म; उसके कौन-सा शरीर होगा ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

सूत्रार्थ—उपपाद जन्म वालों के वैक्रियिक शरीर होता है।

लब्धार्थ—उपपाद जन्म वाले देव एवं नारकी होते हैं, अतः उनका शरीर वैक्रियिक होता है।

विशेषार्थ—देवों का जन्म उपपाद शैय्या पर होता है, जो अड़तालीस मिनट में सर्वाङ्ग सुन्दर षोडस वर्ष के राजकुमार की तरह पूर्ण यौवनवान् हो जाता है।

नारकियों का जन्म; ढोल के समान पोल वाले अनेक प्रकार के मुख आकार के बिलों में होता है जो अड़तालीस मिनट में पूर्ण होकर नरक भूमि का स्पर्श करते हैं।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या तैंतालीस में औदारिक शरीर के साथ वैक्रियिक शरीर भी कहा था, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

सूत्रार्थ—लब्धि के कारण भी वैक्रियिक शरीर उत्पन्न होता है।

लब्धार्थ—तपस्या विशेष करने से जो ऋद्धि प्राप्त होती है वह लब्धि है, इससे वह वैक्रियिक शरीर बनता है। जैसे-विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त थी।

विशेषार्थ—मनुष्य और तिर्यज्चों के औदारिक शरीर ही होता है। औदारिक शरीर भी दो प्रकार का है—(१) विक्रियात्मक; (२) अविक्रियात्मक।

जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है, वह मनुष्य और तिर्यज्चों के वैक्रियिकरूप से कहा जाता है, किन्तु इसमें नाना गुण और ऋद्धियों के अभाव के कारण उसको वैक्रियिक शरीर में ग्रहण नहीं किया गया, अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य और तिर्यज्चों में जो विक्रिया देखी जाती है, वह औदारिक शरीर की ही विक्रिया है। जैसे-चक्रवर्ती की औदारिक शरीर की विक्रिया होती है, यह पूर्व जन्म के तप विशेष के संस्कार से होती है।

भोगभूमि के मनुष्य एवं तिर्यज्चों में दोनों प्रकार की औदारिक विक्रिया पाई जाती है।

जिज्ञासा—उपपाद जन्म वाले के वैक्रियिक शरीर होता है एवं तपस्या आदि से भी वैक्रियिक शरीर हो जाता है। क्या तपस्या आदि से अन्य कोई शरीर भी बनता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तैजसमपि ॥४८॥

सन्धि विग्रह—तैजसम्-अपि ॥४८॥

सूत्रार्थ—तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय होता है।

लब्धार्थ—मात्र मनुष्यों के मुनि अवस्था में यह तैजस शरीर निकलता है, वह लब्धि प्रत्ययिक है।

विशेषार्थ—तैजस शरीर भी दो प्रकार का होता है—(१) अभिन्न तैजस; (२) भिन्न तैजस।

(१) **अभिन्न तैजस**—यह तीनों शरीरों को कान्ति देने वाला होता है जो मूलरूप से तैजस वर्णणाओं से बनता है, इसे अनिस्सरणात्मक अभिन्न तैजस शरीर भी कहते हैं।

(२) **भिन्न तैजस**—जो मात्र ऋद्धिधारी मुनियों के होता है, वह भिन्न तैजस है, इसे निस्सरणात्मक तैजस शरीर भी कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—(१) शुभ भिन्न तैजस; (२) अशुभ भिन्न तैजस। (१) शुभ भिन्न तैजस—उग्र तपस्या वाले भावलिङ्गी मुनिराज के दयाभाव आदि के निमित्त से दाहिने कन्धे से; सफेद रङ्ग का बारह योजन प्रमाण क्षेत्र में सुभिक्ष करने वाला शुभ तैजस पुतला निकलता है। (२) अशुभ भिन्न तैजस—उग्र तपस्या वाले भावलिङ्गी मुनिराज के क्रोधादि के निमित्त से बायें कन्धे से; सिन्दूरी रङ्ग का बिलाव के आकार का पुतला; बारह योजन प्रमाण क्षेत्र को जला देता है पुनः लौटकर उन मुनिराज के शरीर में प्रवेश करता है। अशुभ तैजस के निकलने से लेकर वापिस आने तक मुनिराज भावलिङ्गी ही रहते हैं। शरीर में प्रवेश होते ही मुनिराज मिथ्यादृष्टि होकर मरण को प्राप्त हो जाते हैं।

जिज्ञासा—आपने पाँच शरीरों में से औदारिक, वैक्रियिक, तैजस एवं कर्मण; इन चार शरीरों की विशेषतायें बतला दीं, लेकिन आहारक शरीर के बारे में अभी तक कुछ नहीं कहा? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शुभं विशुद्धमव्याधाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

सूत्र उच्चारण—शुभं विशुद्ध-, मव्याधाति, चाहारकं, प्रमत्त-संयतस्यैव ॥४९॥

सन्धि विग्रह—शुभं विशुद्धम्-अव्याधाति च-आहारकं प्रमत्त-संयतस्य-एव ॥४९॥

सूत्रार्थ—जो शुभ है, विशुद्ध है और व्याधात रहित है, ऐसा आहारक शरीर छटवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के ही होता है।

लब्धार्थ—यह शरीर; तत्त्वज्ञान को ग्रहण करता है, अतः यह आहारक शरीर कहलाता है।

शुभ—यह शरीर; शुभ ऋद्धि विशेष से उत्पन्न होता है, मन को प्रीतिकर होता है और आहारक काय योगरूप कार्यों का कारण होने से शुभ है।

विशुद्ध—संदिग्ध अर्थ के निर्णय का कारण होने से तथा संक्लेश रहित होने से; यह शरीर विशुद्ध कहलाता है।

अव्याघाती—आहारक शरीर के द्वारा अन्य पदार्थ या अन्य पदार्थ के द्वारा आहारक शरीर का व्याघात नहीं होता है, अतः अव्याघाती है।

प्रमत्तसंयत—छटवें गुणस्थानवर्ती मुनि को ही प्रमत्तसंयत कहते हैं।

विशेषार्थ—भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में किसी मुनि के; केवलज्ञानी के अभाव में जब तत्त्वों में संशय उत्पन्न होता है तब तत्त्व का निश्चय करने के लिए एवं पञ्च विदेहों में से किसी भी विदेह में स्थित केवली के समीप; औदारिक शरीर के जाने से मुनि के असंयम का भय होता है, अतः संयम की रक्षा के लिए, रोमाग्र के अष्टम भाग प्रमाण शिर स्थित दसवें द्वार से यानि मस्तक से; एक हाथ प्रमाण, शुभ, विशुद्ध एवं व्याघात रहित पुतला निकलता है जो अपनी शङ्काओं का समाधान करता है, समाधान न होने पर प्रति प्रश्न भी कर सकता है। तीर्थङ्कर-केवली आदि सहित तीर्थक्षेत्रों की, गुरुओं की वन्दना करके पुनः औदारिक शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। यह शरीर ढाईद्वीप के बाहर नहीं जा सकता है।

एक बार में अढाई द्वीप में छप्पन मुनिराज आहारक शरीर ऋद्धि वाले हो सकते हैं एवं एक मुनिराज के एक बार में चौअन आहारक शरीर ऋद्धि के द्वारा निकाल सकते हैं।

यह आहारक शरीर; विग्रहगति के आहारक शरीर से भिन्न है, क्योंकि विग्रहगति वाला आहारक शरीर; तीन शरीर एवं छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्म पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करता है तब आहारक कहलाता है।

आहारक ऋद्धि वाले शरीर की यह विशेषता है कि इसका बन्ध सातवें गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छटवें भाग तक होता है एवं उदय छटवें गुणस्थान में होता है।

परिहारविशुद्धि संयम एवं मनःपर्ययज्ञान जिन मुनिराजों को होता है, उनके आहारक ऋद्धि वाला शरीर नहीं होता है, क्योंकि इन तीनों में एक साथ होने में परस्पर विरोध है।

आहारक शरीर हमारे चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं हैं, लेकिन दूसरे अवधिज्ञानी मुनि उसे देख सकते हैं। यदि आहारक ऋद्धिधारी मुनि; अवधिज्ञानी हैं तो वे भी उस शरीर को देख सकते हैं—अनुभव कर सकते हैं।

जिज्ञासा—आपने अभी तक इन्द्रिय और शरीर आदि के बारे में ही जानकारी दी, लेकिन लोक व्यवहार में सभी को लिङ्ग आदि के बारे में जानने की उत्सुकता रहती है, अतः कौन-से जीव, किस लिङ्ग वाले होते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

सूत्र उच्चारण—नारक-सम्मूर्च्छिनो-, नपुंसकानि ॥५०॥

सन्धि विग्रह—नारक-सम्मूर्च्छिनः नपुंसकानि ॥५०॥

सूत्रार्थ—नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नियम से नपुंसक होते हैं।

लब्धार्थ—जिस नपुंसक वेद के उदय से द्रव्य चिन्ह भी नपुंसक होता है अर्थात् जिसमें स्त्री या पुरुष का चिह्न या लिङ्ग नहीं होता है, भाव से भी नपुंसक होता है। जिसमें स्त्री एवं पुरुष; दोनों में रमण करने का भाव होता है, उसे नपुंसक लिङ्ग कहते हैं।

विशेषार्थ—एक इन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीव नियम से नपुंसक होते हैं।

जिज्ञासा—जब नारकी एवं सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक होते हैं तब देवों के कौन-सा वेद होता है ?
ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—न देवाः ॥५१॥

सूत्रार्थ—देव; नपुंसक नहीं होते हैं।

लब्धार्थ—देवों के स्त्री एवं पुरुष; ये दो ही वेद होते हैं।

विशेषार्थ—पुण्य प्रकृति वाले देव; नपुंसक नहीं होते हैं।

जिज्ञासा—नारकी, सम्मूर्च्छन एवं देवों के लिङ्ग बतलाये, लेकिन मनुष्य एवं पञ्चेन्द्रिय तिर्यज्चों के लिङ्ग नहीं बतलाये। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

सूत्र उच्चारण—शेषास्-, त्रि-वेदाः ॥५२॥

सन्धि विग्रह—शेषाः त्रि-वेदाः ॥५२॥

सूत्रार्थ—शेष सभी तीन वेद वाले होते हैं।

लब्धार्थ—जो जीव; नारकी, सम्मूर्च्छन एवं देवों से शेष बचे हैं, वे सब तीनों वेद वाले हैं।

विशेषार्थ—मनुष्य एवं पञ्चेन्द्रिय तिर्यज्च; स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक; ये तीनों लिङ्ग वाले होते हैं तथा प्रत्यक्षतः देखने में भी आते हैं। भोगभूमि एवं म्लेच्छ खण्ड के मनुष्य एवं तिर्यज्च; स्त्री एवं पुरुष; ये दो वेद वाले ही होते हैं।

जिज्ञासा—चारों गतियों के जीव अपनी आयु पूर्ण करके ही मरण करते हैं या आयु पूर्ण किये बिना भी मरण करते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

सूत्र उच्चारण—औपपादिक-, चरमोत्तमदेहा-, ऽसङ्ख्येय-वर्षायुषो-, ऽनप-वर्त्यायुषः ॥५३॥

सन्धि विग्रह—औपपादिक चरम-उत्तमदेहा-असङ्ख्येयवर्ष-आयुषः अन्-अपवर्ति-आयुषः ॥५३॥

सूत्रार्थ—उपपाद जन्म वाले, चरम-उत्तमदेह वाले एवं असंख्यात वर्ष की आयु वालों का असमय में अर्थात् अकाल में मरण नहीं होता है; आयु पूरी भोगकर ही मरण को प्राप्त होते हैं।

लब्धार्थ—उपपाद जन्म वाले देव एवं नारकी। चरमोत्तम देह वाले तीर्थङ्कर तद्भव मोक्षगामी एवं असंख्यातवर्ष की आयुवाले भोगभूमियों के मनुष्य एवं तिर्यञ्च; इन सबकी अकाल मृत्यु नहीं होती है।

विशेषार्थ—चरमोत्तम शब्द चरम और उत्तम; इन दो शब्दों से मिलकर बना है। चरम शब्द अन्त्यवाची है। उत्तम शब्द उत्कृष्ट अर्थवाची है। जिनका शरीर; चरम और उत्तम है, वे चरमोत्तम देह कहलाते हैं। उसी भव से मोक्ष प्राप्त करने योग्य तीर्थङ्कर परम देव ही हैं, अतः वे ही चरमोत्तम देह वाले हैं।

तीन पाण्डव मोक्ष गये; क्योंकि उनने क्षपक श्रेणी आरोहण किया था। दो पाण्डव; नकुल एवं सहदेव सर्वार्थसिद्धि गये। उन दोनों के सर्वार्थसिद्धि जाने में कुछ विद्वानों का कथन है कि उनको अपने तीन भाइयों के जलने की शल्य हो गई थी, अतः वे सर्वार्थसिद्धि गये अन्यथा वे भी मोक्ष जाते।

उनके इस कथन से निम्न विरोध उत्पन्न होते हैं। पहला; निश्शल्योव्रती अर्थात् व्रती निश्शल्य होते हैं। दूसरा; उनके शल्यवान होने का आगम प्रमाण कहाँ? तीसरा; क्या शल्यवान व्यक्ति सर्वार्थसिद्धि जा सकता है?

उनके सर्वार्थसिद्धि जाने का कारण; उनका उपशम श्रेणी में मरण होना है, क्योंकि सर्वार्थसिद्धि के योग्य लेश्या एवं परिणाम; उपशम श्रेणी में मरण करने वाले जीव के ही होते हैं, अतः उनके चरम आदि लक्षण घटित नहीं होता, वे उपसर्ग केवली की तरह मरण को प्राप्त हुए।

नारायण नियम से नरकगामी होते हैं, अतः चरम देहधारी नहीं हो सकते। चक्रवर्तियों के भी तीन गति है; देव, नरक या मोक्ष, अतः चक्रवर्ती का चरमशरीरी होना नियामक नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि चरमोत्तम देह से केवल तीर्थङ्कर पद प्राप्त चरमशरीरी उत्तम देहधारी लेना। यदि हम इस पद को अलग-अलग तोड़कर अर्थ करते हैं तो अनर्थ होगा।

यदि चरमोत्तम देह के दो पद अलग-अलग होते तो चरमोत्तम देह “च” इस प्रकार च पद सूत्र में लगाते “देह” शब्द का भी द्विवचन में प्रयोग होता, अतः निष्कर्ष यह है कि चरमोत्तम देह पद से तीर्थङ्कर लेना। तीर्थङ्कर को छोड़कर, अन्य शलाका पुरुषों के सकाल मरण का नियम नहीं है।

जैसे-आम्र आदि फल को निश्चित परिपाक काल के पहले ही कागज, पयाल, कार्वाइड आदि के द्वारा असमय में ही पका दिया जाता है। उसी प्रकार निर्धारित मरणकाल के पहले ही उदीरणा द्वारा आयु की उदीरणा होकर अकाल मरण हो जाता है।

अष्टाङ्ग आयुर्वेद को जानने वाला निपुण वैद्य यथाकाल वातादि के उदय के पूर्व ही वमन, विरेचन आदि के द्वारा अनुदीर्ण ही कफ आदि दोषों को बलात् निकाल देता है, दूर कर देता है तथा अकाल मृत्यु को दूर करने के लिए औषधि-रसायन आदि का उपदेश देता है अन्यथा यदि अकाल मृत्यु नहीं हो तो औषधि-रसायन आदि का उपदेश व्यर्थ हो जाता। इस प्रकार होने से द्वादशाङ्ग के कल्याणवाद-पूर्व का स्वरूप-कथन निष्फल हो जाता।

केवल दुःख के प्रतिकार के लिए ही औषधि नहीं दी जाती है, किन्तु उत्पन्न रोग को दूर करने के लिए तथा शरीर शक्ति आदि बढ़ाने के लिए भी औषधि दी जाती है। जिस प्रकार औषध से असाता वेदनीय कर्म दूर किया जाता है, उसी प्रकार विष आदि के द्वारा आयु कर्म को कम भी किया जाता है तथा अनुकूल औषधि देकर आयुर्कर्म को असमय में खिरने से रोका भी जा सकता है।

उदीरणा में कर्म अपना फल समय से पहले देकर झड़ते हैं। जैसे गीला कपड़ा यदि तह बना कर रखा रहे तो अधिक समय तक गीला रहता है, लेकिन उसी को जब हम फैला देते हैं तो जल्दी सूख जाता है; वैसे ही उदीरणा के कारण मिलने पर आयु; समय से पहले ही झड़ जाती है, यही अकाल मरण है, इसे ही अपवर्त्य आयुष कहा जाता है।

आयु की उदीरणा निम्न निमित्तों से होती है—

विस-वेयण-रक्तक्वय, भय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहिं ।

उस्सासाहाराणं, णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥ कर्म० गा० ५६

अर्थ—विष खाने से, रक्त के क्षय से, शस्त्राघात से, संक्लेश से, श्वास के रुक जाने से, आहार के न मिलने से; आयु की उदीरणा होती है ।

उपघात के निमित्त; विष-शस्त्रादि बाह्य निमित्तों के मिलने पर जो आयु घट जाती है, वह अपवर्त्य आयु कहलाती है । अन्य प्रकार से जिनकी आयु घटती नहीं है, वह अनपवर्त्य आयु कहलाती है ।

पत्य आदि उपमा प्रमाण के द्वारा जिनकी आयु जानी जाती है, वे उत्तम-मध्यम-जघन्य भोगभूमियों में उत्पन्न हुए मनुष्य एवं तिर्यञ्च की असंख्यात वर्ष की आयु होती है, इनके अकाल मरण नहीं होता है ।

भुज्यमान आयु का उत्कर्षण नहीं होता है, केवल उदीरणा होकर आयु घट सकती है । बद्धमान आयु का सम्यक्त्व या मिथ्यात्व के निमित्त से उत्कर्षण-अपकर्षण हो सकता है ।

मरण; व्यवहार नय से है, निश्चय नय से तो आत्मा अजर-अमर है अर्थात् आत्मा का जन्म-मरण तो व्यवहार नय से ही कहा जाता है । निश्चय से आत्मा का न जन्म है, न मरण है ।

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या तिरेपन तक जीव तत्त्व एवं पदार्थ का कथन करने वाला दूसरा अध्याय पूर्ण हुआ ।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

जिज्ञासा—इसी तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय में इक्कीसवें सूत्र संख्या “भवप्रत्ययोऽवधि-देव नारकाणाम्” में नारक शब्द का प्रयोग हुआ है, वे नारकी कहाँ निवास करते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर तीसरे अध्याय में प्रथम सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाश-
प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥**

**सूत्र उच्चारण—रत्न-शर्करा-, वालुका-पङ्क-, धूम-तमो-, महातमःप्रभा, भूमयो-घनाम्बु-,
वाताकाश-प्रतिष्ठाः, सप्ताधोऽधः ॥१॥**

**सन्धि विग्रह —रत्न-शर्करा-वालुका-पङ्क-धूम-तमः महातमःप्रभाः भूमयः घन-अम्बु-वात-
आकाश-प्रतिष्ठाः सप्त-अधः-अधः ॥१॥**

सूत्रार्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा; ये सात नरक भूमियाँ हैं और क्रम से नीचे-नीचे; घनोदधिवात, घनवातवलय, तनुवातवलय एवं आकाश के आधार पर स्थित हैं।

लब्धार्थ—(१) रत्न प्रभा—रत्नों के समान प्रभा (कान्ति-चमक) वाली भूमि रत्न प्रभा है। इस भूमि में रत्नों जैसा प्रकाश होता है।

(२) शर्करा प्रभा—शक्कर के समान आभा वाली भूमि शर्करा प्रभा है। इस भूमि में शक्कर के समान चमकीला उजाला रहता है।

(३) वालुका प्रभा—बालू-रेती (बजरी) के समान प्रभा वाली भूमि वालुका प्रभा है। इस भूमि में बालू जैसी चमक होती है।

(४) पङ्क प्रभा—पङ्क-कीचड़ के समान प्रभा वाली भूमि पङ्क प्रभा है। इस भूमि में कीचड़ के समान कान्ति होती है।

(५) धूम प्रभा—धूम-धुआँ के समान आभा वाली भूमि धूम प्रभा है। इस भूमि का धुएँ के समान वर्ण होता है।

(६) तम प्रभा—तम-अन्धकार के समान काली दिखने वाली भूमि तम प्रभा है। इस भूमि का रङ्ग काला अन्धकार के समान होता है।

(७) महातम प्रभा—महातम-घोर अन्धकार के रूप में दिखने वाली भूमि महातम प्रभा है। इस भूमि का घोर अन्धकार के समान रङ्ग होता है।

विशेषार्थ—घन का अर्थ मोटा घनत्व वाला है। अम्बु का अर्थ जल है। वात का अर्थ वायु है। आकाश का अर्थ है, खाली स्थान। प्रतिष्ठा का अर्थ है, स्थित होना। अधोऽधः का अर्थ है एक-दूसरे के नीचे-नीचे अर्थात् जो न तिरछी है, न विपरीत है, न ऊपर की ओर है। संख्या में कुल सात भूमियाँ हैं।

ये सातों नरकों की भूमियाँ; धनोदधिवातवलय, घनवातवलय एवं तनुवातवलय; ये तीनों आकाश के आधार से वेष्टित हैं, आकाश स्वयं अपना आधार-आधेय है।

रत्नप्रभा भूमि एक-लाख अस्सी हजार योजन मोटी है, इसके तीन भाग हैं—(१) खर भाग; (२) पङ्क भाग; (३) अब्बहुल भाग।

प्रथम खर भाग के सोलह हजार योजन में सात प्रकार के व्यन्तर और नौ प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं।

द्वितीय पङ्क भाग के चौरासी हजार योजन में राक्षसों एवं असुरों के भवन हैं। तृतीय अब्बहुल भाग में अस्सी हजार योजन की “रत्नप्रभा” नामक भूमि में नारकी निवास करते हैं।

इन नरकों की सात भूमियों के लोक प्रचलित रौढ़िक नाम भी हैं अर्थात् रत्नप्रभा को धम्मा; शर्कराप्रभा को वंशा, वालुकाप्रभा को मेघा, पङ्कप्रभा को अज्जना, धूमप्रभा को अरिष्टा, तमप्रभा को मघवी एवं महातमप्रभा को माघवी भी कहते हैं।

योजन का मापदण्ड—महायोजन दो हजार कोश का एवं लघु योजन चार कोश का होता है।

जिज्ञासा—उन सात नरक भूमियों में नारकियों के रहने की क्या व्यवस्था है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

सूत्र उच्चारण—तासु त्रिंशत्-, पञ्चविंशति-, पञ्चदश-, दश-त्रि-, पञ्चोनैक-, नरक-शत-सहस्राणि, पञ्च चैव, यथाक्रमम् ॥२॥

सन्धि विग्रह—तासु त्रिंशत्-पञ्चविंशति-पञ्चदश-दश-त्रि-पञ्च-ऊन-एक-नरक-शत-सहस्राणि पञ्च च-एव यथाक्रमम् ॥२॥

सूत्रार्थ—उन सात नरक भूमियों में क्रमशः—

(१) त्रिंशत् शतसहस्राणि	———— तीस लाख
(२) पञ्चविंशति शतसहस्राणि	———— पच्चीस लाख
(३) पञ्चदश शतसहस्राणि	———— पन्द्रह लाख
(४) दश शतसहस्राणि	———— दश लाख
(५) त्रि शतसहस्राणि	———— तीन लाख
(६) पञ्चोनैक शतसहस्राणि	———— पाँच कम एक लाख
(७) पञ्च-च एव	———— और अकेले पाँच ही;

यथाक्रमम् पहले से सातवें नरकों के क्रमानुसार जानना चाहिए।

लब्धार्थ—रत्न प्रभा भूमि में तीस लाख नरक हैं।

शर्करा प्रभा भूमि में पच्चीस लाख नरक हैं।

वालुका प्रभा भूमि में पन्द्रह लाख नरक हैं ।
 पङ्क प्रभा भूमि में दश लाख नरक हैं ।
 धूम प्रभा भूमि में तीन लाख नरक हैं ।
 तम प्रभा भूमि में पाँच कम एक लाख नरक हैं ।
 महातम प्रभा भूमि में मात्र पाँच नरक हैं ।

इस प्रकार कुल चौरासी लाख नरक हैं ।

विशेषार्थ—पहले सूत्र में सात नरक भूमियाँ कही हैं, उन सात नरक भूमियों में; ये क्रमशः चौरासी लाख नरक-बिल हैं, उन्हें यहाँ संख्यात्मक सूत्र के द्वारा निर्धारित किया गया है । जैसे-अन्दर घुनी हुई लकड़ी में बाहर से खुला स्थान नहीं दिखता है, लेकिन अन्दर छिद्र होते हैं । वैसे ही इन सात भूमियों में नरक हैं, इन्हें ही नारकियों के चौरासी लाख आवास स्थान अर्थात् बिल कहते हैं ।

जिज्ञासा—सभी जानते-सुनते आये हैं कि नरकों में नारकियों को बहुत कष्ट होता है, लेकिन उनके दुख कितने प्रकार के हो सकते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥३॥

सूत्र उच्चारण—नारका नित्या-, शुभतर-लेश्या-, परिणाम-देह-, वेदना-विक्रियाः ॥३॥

सन्धि विग्रह—नारका नित्य-अशुभतर-लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ॥३॥

सूत्रार्थ—नरक में रहने से नारकी कहलाते हैं अथवा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव में कहीं भी रत अर्थात् आसक्त नहीं होते, अतः उन्हें नारत कहते हैं, नारत के भाव को धारण करने वाले होने से वे नारकी कहलाते हैं ।

ऐसे नारकी नियम से हमेशा अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देह, अशुभतर वेदना एवं अशुभतर विक्रिया वाले होते हैं ।

लब्धार्थ—जो सभी अवस्थाओं में परस्पर प्रीति को प्राप्त न हों, वे नारकी हैं ।

अशुभतर लेश्या—इन नारकियों की कृष्ण, नील एवं कपोत; ये तीन अशुभतर लेश्यायें होती हैं, ये द्रव्य लेश्यायें जीवन भर एक-सी रहती हैं, किन्तु ये तीनों भाव लेश्यायें; मन्द, मन्दतर, मन्दतम एवं तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम; इन छह भेदों से भी अन्तर्मुहूर्त में तारतम्यरूप से बदलती रहती हैं अर्थात् उन-उन लेश्याओं के अंश घटते-बढ़ते रहते हैं । (राजवार्तिक)

अशुभतर परिणाम—जिनके अशुभतर स्पर्श, गन्ध, वर्ण और शब्द हों, उसे अशुभतर परिणाम कहते हैं । यह क्षेत्र विशेष के निमित्त से अत्यन्त दुःख के कारण अशुभतर कहलाता है ।

अशुभतर देह—नारकियों के शरीर; अशुभ नामकर्म के उदय से उत्तरोत्तर अशुभतर होते चले जाते हैं, जिससे शरीर आदि में विकृति आती है, उनके हुण्डक संस्थान देखने में बुरे लगते हैं ।

अशुभतर वेदना—नारकियों के असातावेदनीय कर्म के उदय से शीत, उष्ण आदि बाह्य निमित्त से तीव्र वेदना उत्पन्न होती है, उसे अशुभतर वेदना कहते हैं ।

अशुभतर विक्रिया—नारकी; शुभ विक्रिया करेंगे, ऐसा विचार करते हैं, परन्तु उत्तरोत्तर अशुभ विक्रिया ही करते हैं।

विशेषार्थ—सूत्र में “नित्य” और “अशुभतर” शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे सिद्ध होता है जो अशुभ लेश्या आदि तिर्यञ्च गति में पायी जाती हैं, उनसे भी अधिक अशुभ लेश्या आदि होने से सूत्र में अशुभतर पद रखा है। इनकी तीनों अशुभ लेश्या होने पर भी उन-उन लेश्याओं के तीव्र मन्द अंश छह प्रकार से घटते-बढ़ते रहते हैं। नित्य पद निरन्तरवाची है अर्थात् हर समय सभी अशुभतर ही होता रहता है अर्थात् लेश्या, परिणाम, देह, वेदना, विक्रिया निरन्तर अशुभतर ही होते हैं। ये पाँच प्रकार के दुःख; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव एवं भाव की अपेक्षा कहे गए हैं।

जिज्ञासा—नारकियों को क्या ये पाँच प्रकार के नैमित्तिक दुःख हैं या अन्य भी दुःख हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

सूत्र उच्चारण—परस्परोदीरित-, दुःखाः ॥४॥

सन्धि विग्रह—परस्पर-उदीरित-दुःखाः ॥४॥

सूत्रार्थ—परस्पर उत्पन्न किए गए दुःख वाले होते हैं।

लब्धार्थ—परस्पर का अर्थ है, एक-दूसरे को। उदीरित का अर्थ है, उत्पन्न किए गए। दुःखाः बहुवचनवाची है अर्थात् बहुत दुःख देने वाले।

विशेषार्थ—नारकियों को भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है, किन्तु जिनके मिथ्यात्व के उदय से कुअवधि (विभङ्ग) ज्ञान होता है, वे इस कुज्ञान से हर अच्छी क्रिया-व्यवहार को भी विपरीत ही समझते हैं। समीप में आए नारकी को देखकर क्रोधाग्नि भभक उठती है, वह सोचता है, मैं इसके कारण नरक में आया और दूसरा सोचता है कि मैं इसके कारण नरक में आया, इस तरह पूर्व पर्याय का स्मरण होने से उनके वैर भाव जाग्रत हो जाते हैं, जिससे वे स्वयं ही कुत्ता-गीदड़ आदि के समान एक-दूसरे को मारने के लिए प्रवृत्त होते हैं।

एक-दूसरे को मारने के लिए अपनी ही विक्रिया से तलवार, बसूला, फरसा, हाथ से चलाने का तीर, बर्छी, तोमर, मुगदर, बरछा, हथौड़ा आदि अस्त्र-शस्त्र आदि बनाकर उनसे तथा अपने हाथ-पाँव, दाँतों से छेदना, भेदना, छीलना और काटना आदि के द्वारा परस्पर अतितीव्र अनेक दुःखों को उत्पन्न करते हैं। ये सब उनके पूर्व पर्याय सम्बन्धी वैर निमित्तिक दुःख हैं।

जिज्ञासा—क्या वे पूर्वपर्याय आदि के वैर-सम्बन्ध आदि से लड़-भिड़कर दुःख उठाते हैं या उनके अन्य दुःख भी बाह्य निमित्तों से उत्पन्न होते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

सूत्र उच्चारण—संक्लिष्टा-, ऽसुरोदीरित-, दुःखाश्च, प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

सन्धि विग्रह—संक्लिष्टा-असुर-उदीरित-दुःखाः च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

सूत्रार्थ—चौथी भूमि के पहले तक के वे नारकी; संक्लिष्ट असुरों के द्वारा उत्पन्न किए गए दुःखों को भोगने वाले होते हैं।

लब्धार्थ—**संक्लिष्ट**—पूर्व जन्म में किए गए अतितीव्र संक्लेशरूप परिणामों से उन्होंने जो पापकर्म उपार्जित किया था, उस तीव्र पापकर्म के उदय से; ये निरन्तर क्लेश से सहित होते हैं, अतः संक्लिष्ट कहलाते हैं।

असुर—देव गति नामकर्म के उदय से देवों में तो उत्पन्न होते हैं, किन्तु उनमें असुरकुमार जाति के स्वभाव वाले होने से; वे असुर कहलाते हैं अथवा “परान् अस्यन्ति” जो दूसरों को फेंकते हैं, उन्हें असुर कहते हैं।

विशेषार्थ—सूत्र में यद्यपि असुरों का संक्लिष्ट विशेषण दिया है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सब असुर संक्लिष्ट एवं नारकियों को दुःख देने वाले होते हैं, किन्तु अम्बाबरीष आदि कुछ असुरकुमार ही दुःख उत्पन्न करते हैं। किस नरक की भूमि तक दुःख उत्पन्न कराने जाते हैं? इस बात का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में प्राक् चतुर्थ्याः यह विशेषण दिया है, इससे यह अर्थ निकलता है कि चौथी पृथ्वी के पहले अर्थात् तीसरी भूमि तक ही असुरकुमार दुःख उत्पन्न कराने में निमित्त हैं, इससे आगे नहीं। सूत्र में च शब्द; पहले के दो सूत्रों में कहे गए दुःखों के समुच्चय के लिए है अर्थात् पूर्वोक्त दुःखों के साथ यह दुःख भी उन नारकियों को तीसरे नरक तक होते हैं।

जिज्ञासा—ऐसे दुःख; नरकों में जीव अधिक से अधिक कितने समय तक भोगते हैं अर्थात् उन सातों नरकों के नारकियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र — तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

सूत्र उच्चारण—तेष्वेक-, त्रि-सप्त-, दश-, सप्तदश-, द्वाविंशति-, त्रयस्त्रिंशत्-, सागरोपमा, सत्त्वानां, परा स्थितिः ॥६॥

सन्धि विग्रह —तेषु-एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्-सागर-उपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

सूत्रार्थ—उन नरकों के नारकी जीवों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः; एक, त्रि, सात, दश, सत्रह, बाइस एवं तैंतीस सागर की उपमा वाली है।

लब्धार्थ—पहले नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर है।

दूसरे नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु तीन सागर है।

तीसरे नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु सात सागर है।

चौथे नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु दश सागर है।

पाँचवें नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु सत्रह सागर है।

छटवें नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु बाइस सागर है।

सातवें नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर है।

विशेषार्थ—सागरोपम; समय की उपमा है, जिससे बृहद् आयु आदि की गणना की जाती है।

सागर—दश कोड़ा-कोड़ी अब्दापल्यों का एक सागर होता है। पल्य; गह्वे को कहते हैं। पल्य का माप तीन प्रकार से होता है—(१) व्यवहारपल्य; (२) उद्धारपल्य; (३) अब्दापल्य।

(१) **व्यवहारपल्य**—दो कोश गहरे-लम्बे-चौड़े गह्वे को उत्तम भोगभूमि के मेंढे के बालों के इतने छोटे टुकड़े कैंची से करो कि उनका दूसरा भाग कैंची से न कट सके। उन बालों से उस गह्वे को इस तरह भरें कि उस पर हाथी भी चल जाये तो वह दबे नहीं पुनः सौ-सौ साल में एक-एक बाल निकालना, जितने वर्षों में वह खाली हो उतने वर्षों के समय को व्यवहार पल्य कहते हैं।

व्यवहार पल्य से असंख्यातगुणा उद्धारपल्य होता है।

उद्धार पल्य से असंख्यातगुणा अब्दापल्य होता है।

ऐसे दशकोड़ाकोड़ी अब्दापल्यों का एक सागर होता है।

करोड़ से करोड़ को गुणा करने पर एक कोड़ाकोड़ी होता है।

जिज्ञासा—प्रथम सूत्र से छटवें सूत्र तक अधोलोक की नरक भूमियाँ एवं रहने वाले नारकी; उनके दुःख एवं उनकी उत्कृष्ट आयु का वर्णन किया, अब क्रम प्राप्त मध्यलोक का वर्णन करना चाहिए अथवा नारकी जीवों के दुःख सुनकर भव्य जीव घबड़ा गया एवं आचार्य महाराज से पूछने लगा कि नरकों की अशुभ भूमियाँ आपने बतलायी, लेकिन शुभ भूमियाँ कौन सी हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

सूत्र उच्चारण—जम्बूद्वीप-, लवणोदादयः, शुभनामानो, द्वीप-समुद्राः ॥७॥

सन्धि विग्रह—जम्बूद्वीप-लवण-उद्-आदयः शुभनामानः द्वीप-समुद्राः ॥७॥

सूत्रार्थ—इस मध्यलोक में जम्बूद्वीप आदि द्वीप, लवण आदि समुद्र; ये शुभनाम वाले द्वीप एवं समुद्र असंख्यात हैं।

लब्धार्थ—इस मध्य लोक के मध्य में जम्बूवृक्ष से उपलक्षित (नामाङ्कित-चिह्नित) होने के कारण, इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है। जम्बूवृक्ष; शाश्वत, अकृत्रिम एवं पृथ्वीकायिक है। सुदर्शन मेरु की उत्तर दिशा में विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि के मध्य जम्बू नामक वृक्ष है। जम्बूद्वीप के बाद लवण समुद्र है। इन द्वीप-समुद्रों में स्वर्ग एवं मोक्ष जाने की साधना के शुभ कार्य होते हैं, अतः ये सब शुभ हैं अथवा लोक जीवन में जामुन एवं नमक को शुभ माना जाता है। जामुन के पत्ते आदि शुभ कार्य में वन्दनवार या मण्डप बनाने के काम में आते हैं एवं लवण-नमक के बिना भोजन भी स्वादु एवं सुपाच्य नहीं बनता है, अतः इन सब कारणों से द्वीप-समुद्रों के साथ शुभनाम पद जोड़ा है।

विशेषार्थ—जम्बूद्वीप आदि द्वीप व लवण आदि समुद्रों के नाम इस प्रकार हैं—(१) जम्बू द्वीप, लवण समुद्र; (२) धातकी द्वीप, कालोदधि समुद्र; (३) पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर समुद्र; (४) वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र; (५) क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र; (६) घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र; (७) इक्षुवर द्वीप, इक्षुवर समुद्र; (८) नन्दीश्वर द्वीप, नन्दीश्वर समुद्र, (९) अरुणवर द्वीप, अरुणवर समुद्र; (१०)

अरुणाभास द्वीप, अरुणाभास समुद्र; (११) कुण्डलवर द्वीप, कुण्डलवर समुद्र; (१२) शंखवर द्वीप, शंखवर समुद्र; (१३) रुचकवर द्वीप, रुचकवर समुद्र। इस प्रकार असंख्यात द्वीप एवं समुद्र हैं और सबसे अन्त में स्वयम्भूरमण द्वीप एवं स्वयम्भूरमण समुद्र है।

जिज्ञासा—जम्बू आदि द्वीपों एवं लवण आदि समुद्रों की रचना; मध्यलोक में किस प्रकार से है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

सूत्र उच्चारण—द्वि-द्वि-विष्कम्भाः, पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो, वलयाकृतयः ॥८॥

सन्धि विग्रह—द्विः द्विः विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणः वलय-आकृतयः ॥८॥

सूत्रार्थ—प्रत्येक द्वीप-समुद्र एक-दूसरे से दूने-दूने विस्तार वाले हैं एवं पहले-पहले के द्वीप; समुद्रों को घेरे हुए चूड़ी के वलय के समान गोल आकार वाले हैं।

लब्धार्थ—जम्बूद्वीप से लवणसमुद्र का विस्तार दूना है, इससे आगे के द्वीप एवं समुद्रों का विस्तार दूना-दूना होता गया है। ये द्वीप-समुद्र आगे-आगे एक-दूसरे को घेरे हुए वलयाकार हैं।

विशेषार्थ—जम्बूद्वीप का विस्तार निकालने से; आगे के सभी समुद्रों एवं द्वीपों का दूना-दूना विस्तार निश्चित किया जा सकेगा, अतः यह सूत्र तो सभी द्वीप-समुद्रों के विस्तार एवं आकार का कथन करने वाला है।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या सात में; द्वीप-समुद्र के नाम जम्बूद्वीप एवं लवणसमुद्र से प्रारम्भ हुए हैं। सूत्र संख्या आठ में; द्वीप-समुद्रों का दूना-दूना विस्तार वाला एवं वलयाकार वाला कहा है, किन्तु सभी द्वीप-समुद्रों के मध्य कौन-सा द्वीप है? उसका विस्तार भी कितना है? जिससे आगे-आगे के समुद्रों एवं द्वीपों के विस्तार का ज्ञान हो सके? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

सूत्र उच्चारण—तन्-मध्ये, मेरु-नाभिर्वृत्तो, योजनशत-, सहस्र-विष्कम्भो, जम्बूद्वीपः ॥९॥

सन्धि विग्रह—तन्-मध्ये मेरु-नाभिः वृत्तः योजनशत-सहस्र-विष्कम्भः जम्बूद्वीपः ॥९॥

सूत्रार्थ—उन सब द्वीप-समुद्रों के ठीक बीच में मेरु है नाभि में जिसके; ऐसा गोल, एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है।

लब्धार्थ—इन सभी द्वीप-समुद्रों का प्रारम्भ; जम्बूद्वीप के ठीक बीच से होता है, जम्बूद्वीप के ठीक बीच में नाभिस्थान के समान एक लाख, चालीस योजन ऊँचा मेरु पर्वत है, लेकिन जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है।

विशेषार्थ—जम्बूद्वीप के ठीक मध्य स्थान में; शरीर में नाभि के समान बीच स्थान में सुमेरु पर्वत है। जो मेरु पर्वत एक-हजार योजन नीचे जमीन में नींव उसकी जड़ के समान है। निन्यानवे-हजार चालीस योजन की ऊँचाई; जमीन से चोटी तक है, इसमें ही चालीस योजन की चूलिका (चोटी) गिनी जाती है, अतः कुल योग—

१०००	योजन जड़ या नींव में
५००	योजन पर भद्रसाल वन
६२५००	योजन पर नन्दन वन
३६०००	योजन पर सौमनस वन
४०	योजन की चूलिका

१०००४० कुल योग

जिज्ञासा—जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है, लेकिन जम्बूद्वीप में भी कोई क्षेत्र विभाग है क्या ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

सूत्र उच्चारण—भरत-हैमवत-, हरि-विदेह-, रम्यक-हैरण्य-, वतैरावत-, वर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

सन्धि विग्रह—भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवत-ऐरावत-वर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

सूत्रार्थ—जम्बूद्वीप में भरत वर्ष, हैमवत वर्ष, हरि वर्ष, विदेह वर्ष, रम्यक वर्ष, हैरण्यवत वर्ष और ऐरावत वर्ष; ये सात क्षेत्र हैं ।

लब्धार्थ—(१) भरत क्षेत्र—“भरत” यह नाम अनादिकालीन है फिर भी अयोध्या नगरी में सर्व लक्षणों से सम्पन्न “भरत” नामक षट्खण्डाधिपति प्रथम चक्रवर्ती हुआ है, इस अवसर्पिणी के राज्य विभाग काल में उसने ही सर्वप्रथम इस क्षेत्र का उपभोग किया था, इसलिए उसके अनुशासन के कारण भी इस क्षेत्र का रौढ़िक नाम भरत क्षेत्र हुआ ।

भरत क्षेत्र का स्थान जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा के लवण समुद्र के किनारे से प्रारम्भ होता है अर्थात् भरतक्षेत्र के उत्तर में हिमवान् पर्वत एवं पूर्व-दक्षिण एवं पश्चिम; इन तीन दिशाओं में लवण समुद्र है ।

(२) हैमवत क्षेत्र—हिमवान् पर्वत के समीप होने से हैमवत क्षेत्र कहलाता है, यह क्षेत्र; दक्षिण हिमवान् पर्वत एवं उत्तर महाहिमवान् पर्वत से तथा पूर्व-पश्चिम लवण समुद्र से लगा हुआ है, इस क्षेत्र को शाश्वत जघन्य भोगभूमि कहते हैं ।

(३) हरि क्षेत्र—हरित वर्ण मनुष्यों के योग से हरि क्षेत्र कहलाता है । यह क्षेत्र; दक्षिण में महाहिमवान् पर्वत एवं उत्तर में निषध पर्वत से तथा पूर्व पश्चिम लवण समुद्र से लगा हुआ है, इस क्षेत्र को शाश्वत मध्यम भोगभूमि कहते हैं । यह क्षेत्र; दक्षिण में निषध पर्वत, बीच में सुमेरु पर्वत एवं उत्तर में नील पर्वत से तथा पूर्व पश्चिम दिशा में लवण समुद्र से लगा हुआ है ।

(४) विदेह क्षेत्र—इस क्षेत्र में रहने वाले मनुष्य; निरन्तर कर्म नाश करके देह रहित होते हैं अथवा संसार की कारणभूत देह का नाश करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, इस कारण से इस क्षेत्र का नाम विदेह क्षेत्र है, क्योंकि यहाँ हमेशा चारों दिशाओं सम्बन्धी चार विद्यमान तीर्थङ्कर हमेशा विराजमान रहते हैं, जिससे जिनधर्म का सदा प्रवर्तन होता है, धर्म का कभी अभाव नहीं होता है, अतः मनुष्य; धर्म धारण करके शरीर रहित सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं । यह शाश्वत कर्मभूमि है ।

(५) रम्यक क्षेत्र—यह क्षेत्र; दक्षिण में नील पर्वत एवं उत्तर में रुक्मि पर्वत से तथा पूर्व पश्चिम में लवण समुद्र से लगा हुआ है। इस क्षेत्र को शाश्वत मध्यम भोगभूमि कहते हैं।

(६) हैरण्यवत क्षेत्र—यह क्षेत्र; दक्षिण में रुक्मि पर्वत एवं उत्तर में शिखरिणि पर्वत से तथा पूर्व-पश्चिम में लवण समुद्र से लगा हुआ है। हिरण्य के समान रुक्मि पर्वत के समीप होने से इसे हैरण्यवत क्षेत्र कहा जाता है। यह शाश्वत जघन्य भोगभूमि है।

(७) ऐरावत क्षेत्र—यह क्षेत्र; दक्षिण में शिखरिणि पर्वत एवं उत्तर-पूर्व-पश्चिम; इन तीनों दिशाओं में लवण समुद्र से लगा हुआ है। भरत क्षेत्र के समान ही ऐरावत क्षत्रियों के योग से इसे ऐरावत क्षेत्र कहते हैं, क्योंकि रक्ता तथा रक्तोदा नदियों के बीच अयोध्या नगरी है, उस नगरी का शासक ऐरावत राजा था, अतः उसके नाम से इस क्षेत्र का रौढ़िक नाम ऐरावत क्षेत्र है।

विशेषार्थ—जघन्य एवं मध्यम भोगभूमियों के नाम इन सात क्षेत्रों में आ गए, लेकिन उत्कृष्ट भोगभूमि; पूर्व विदेह के उत्तर दिग्वर्ती गजदन्तों के बीच में उत्तरकुरु नाम से है, यहीं पर जम्बूवृक्ष भी है। पश्चिम विदेह के दक्षिण दिग्वर्ती गजदन्तों के बीच देवकुरु नाम से है।

इस सूत्र में वर्षाः का अर्थ क्षेत्र है एवं क्षेत्राणि का अर्थ भी क्षेत्र है, इन्हें दो बार देने का अर्थ है कि ये सब क्षेत्र ही हैं, द्वीप या पर्वत आदि नहीं हैं।

जिज्ञासा—इन भरत आदि सात क्षेत्रों का विभाजन किनके द्वारा होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

सूत्र उच्चारण—तद्-विभाजिनः, पूर्वा-परायता, हिमवन्-महाहिमवन्-, निषध-नील-, रुक्मि-शिखरिणो, वर्षधर-पर्वताः ॥११॥

सन्धि विग्रह—तद्-विभाजिनः पूर्व-अपर-आयता हिमवन्-महाहिमवन्-निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणः वर्षधर-पर्वताः ॥११॥

सूत्रार्थ—इन भरत आदि सातक्षेत्रों का विभाजन करने वाले; पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी; ये छह पर्वत अनादि-निधन हैं।

जिज्ञासा—संसार में दिखने वाले पर्वत; कोई हरियाली वाले हैं, कोई मिट्टी के हैं, कोई मात्र पत्थरों के हैं, अतः ये छह पर्वत कैसे दिखते हैं? अथवा किसके बने हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

सूत्र उच्चारण—हेमार्जुन-तपनीय-, वैडूर्य-रजत-, हेममयाः ॥१२॥

सन्धि विग्रह—हेम-अर्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत-हेममयाः ॥१२॥

सूत्रार्थ—ये छहों पर्वत; क्रम से सोना, चाँदी, तपाया सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और स्वर्णमय हैं।

लब्धार्थ—हिमवान् पर्वत का वर्ण हेममय, महाहिमवान् पर्वत का वर्ण अर्जुनमय, निषध पर्वत का वर्ण तपाये हुए सोने के वर्ण का, नील पर्वत का वर्ण वैडूर्यमय, रुक्मि पर्वत का वर्ण रजतमय और शिखरी पर्वत का वर्ण हेममय है।

विशेषार्थ—इस सूत्र में पर्वतों के वर्ण-रङ्ग के साथ मयट् प्रत्यय लगा है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि वे सभी पर्वत सोने-चाँदी आदि के रङ्ग के नहीं हैं, अपितु सोना-चाँदी के ही हैं, क्योंकि सोने-चाँदी जैसे रङ्ग तो किसी के भी हो सकते हैं।

जिज्ञासा—ऊपर के सूत्र में इन पर्वतों के वर्ण निश्चित किए हैं, लेकिन लोक में दिखने वाले पर्वतों के आकार चोटी वाले हैं, अतः इन छह पर्वतों के आकार किस प्रकार हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मणिविचित्रपाशर्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

सन्धि विग्रह—मणि-विचित्र-पाशर्वा, उपरि मूले च, तुल्य-विस्ताराः ॥१३॥

सूत्रार्थ—इन पर्वतों के पार्श्व भाग अर्थात् तट; अनेक रङ्ग वाली मणियों से चित्रित हैं, वे पर्वत; ऊपर, नीचे और बीच में समान विस्तार वाले हैं।

लब्धार्थ—इन छहों पर्वतों की रचना दीवाल के समान सपाट नहीं हैं, बल्कि इन पर्वतों का विस्तार; जितना ऊपर है, उतना ही मध्य में एवं उतना ही नीचे है। इसका अभिप्राय यह है कि ऊपर से मध्य की समानता तक आते-आते ऊबड़-खाबड़ अर्थात् कमती-बढ़ती विस्तार है। इसी प्रकार मध्य से नीचे तक की समानता तक पहुँचने में ऊबड़-खाबड़-कमती-ज्यादा विस्तार है। इस प्रकार सूत्रानुसार अर्थ—ऊपर, नीचे एवं मध्य के समान विस्तार वाले स्थान विचित्र मणियों से चित्रित हैं।

विशेषार्थ—इन छहों पर्वतों के आकार सपाट दीवाल जैसे नहीं हैं, क्योंकि सूत्र में ऊपर, नीचे एवं मध्य में समान विस्तार वाला कहा है। यदि पूरे पर्वत एक से विस्तार वाले होते तब “ऊपरि मूले च” पद न देकर सूत्र “मणिविचित्रपाशर्वा तुल्यविस्ताराः” आयामः पद से काम चल जाता। हाँ; मणि विचित्र पाशर्वा से ध्वनित होता कि ऊपर, नीचे एवं मध्य के तुल्य विस्तार वाले भाग ही विचित्र मणियों से चित्रित हैं, जिससे पर्वत का स्वरूप दीवाल में लगी तीन वार्डर के रङ्गों का होगा फिर भी यह सब परोक्ष है, माङ्गीतुङ्गी की दोनों शिखरों को देखने से लगता है कि इन छहों पर्वतों की आकृति ऐसी होगी।

जिज्ञासा—प्रकृति का नियम है कि पर्वतों पर जल के स्रोत होते हैं तब क्या इन पर्वतों पर भी जल स्रोत होते होंगे? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका हृदास्तेषामुपरि ॥१४॥

सूत्र उच्चारण—पद्म-महापद्म-, तिगिञ्छ-केसरि-, महापुण्डरीक-पुण्डरीका, हृदास्-तेषा-, मुपरि ॥१४॥

सन्धि विग्रह—पद्म - महापद्म - तिगिच्छ - केसरि - महापुण्डरीक - पुण्डरीका हृदाः तेषाम्-
उपरि ॥१४॥

सूत्रार्थ—इन छहों पर्वतों के ऊपर क्रमशः पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केसरी, महापुण्डरीक एवं पुण्डरीक; ये छह तालाब हैं।

लब्धार्थ—हिमवान् पर्वत पर पद्म, महाहिमवान् पर्वत पर महापद्म, निषध पर्वत पर तिगिच्छ, नील पर्वत पर केसरी, रुक्मि पर्वत पर महापुण्डरीक एवं शिखरी पर्वत पर पुण्डरीक; ये छहों तालाब, छहों पर्वत पर इस प्रकार हैं।

विशेषार्थ—हृद का अर्थ तालाब है, ये तालाब ही जल के स्रोत हैं।

जिज्ञासा—इन तालाबों की लम्बाई-चौड़ाई कितनी है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो हृदः ॥१५॥

सूत्र उच्चारण—प्रथमो, योजन-सहस्रायामस्-, तदर्द्ध-विष्कम्भो, हृदः ॥१५॥

सन्धि विग्रह—प्रथमःयोजन-सहस्र-आयामः तद्-अर्द्ध-विष्कम्भः हृदः ॥१५॥

सूत्रार्थ—प्रथम; पद्मनामक तालाब की लम्बाई; एक-हजार योजन एवं चौड़ाई इससे आधी अर्थात् पाँच-सौ योजन है।

लब्धार्थ—पद्म तालाब; पूरव-पश्चिम एक-हजार योजन लम्बा, उत्तर-दक्षिण में पाँच-सौ योजन चौड़ा है।

विशेषार्थ—इन तालाबों के तलभाग वज्र से बनें हुए हैं तथा किनारे अनेक प्रकार की मणियों एवं सोने से चित्रित हैं।

जिज्ञासा—प्रथम तालाब की लम्बाई-चौड़ाई तो ज्ञात हो गई, लेकिन उसकी गहराई कितनी है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—दशयोजनावगाहः ॥१६॥

सूत्र उच्चारण—दश-, योजनाव-गाहः ॥१६॥

सन्धि विग्रह—दश-योजन-अवगाहः ॥१६॥

सूत्रार्थ—प्रथम; पद्म तालाब दस योजन गहरा है।

जिज्ञासा—जिस प्रकार प्रत्यक्ष दिखने वाले तालाबों में कमल होते हैं, क्या उसी प्रकार इन तालाबों में भी कमल हैं, क्योंकि तालाबों की शोभा कमलों से होती है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

सूत्र उच्चारण—तन्-मध्ये, योजनं पुष्करम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—उस प्रथम तालाब के मध्य में एक योजन का कमल है।

लब्धार्थ—उस कमल के जो पत्ते हैं, वे एक कोस लम्बे तथा उनकी कर्णिका का विस्तार दो कोस है, अतः वह कमल एक योजन विस्तार वाला है।

विशेषार्थ—उन तालाबों के सभी कमल वनस्पतिकायिक नहीं हैं, बल्कि पृथ्विकायिक हैं।

जिज्ञासा—प्रथम सरोवर की एवं उसमें स्थित कमल की लम्बाई-चौड़ाई आदि का ज्ञान हुआ, लेकिन पद्म सरोवर के आगे आने वाले तालाब एवं कमलों की लम्बाई-चौड़ाई आदि का व्यास-विस्तार कितना है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तद्-द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

सूत्र उच्चारण—तद्-द्विगुण-, द्विगुणा ह्रदाः, पुष्कराणि च ॥१८॥

सूत्रार्थ—उस पद्म सरोवर से आगे के तालाब एवं कमल; पद्मसरोवर के व्यास से दूने-दूने हैं।

लब्धार्थ—उस पद्म सरोवर से आगे के महापद्म तालाब एवं कमल आदि का व्यास; पद्म सरोवर से दूना है। महापद्म सरोवर से आगे के तिगिञ्छ सरोवर एवं कमल आदि का व्यास; महापद्म सरोवर से दूना है।

विशेषार्थ—पद्म सरोवर से तिगिञ्छ सरोवर तक के ही तालाब एवं कमल; व्यास आदि में दूने-दूने हैं, क्योंकि यहाँ दक्षिण भाग के तालाब एवं कमलों का व्यास बताया जा रहा है, अतः उत्तर के तालाब एवं कमलों का व्यास; उत्तर के क्षेत्र एवं पर्वतों के हिसाब से होगा जो आगे सूत्र संख्या पच्चीस में कहा जायेगा।

जिज्ञासा—जिस प्रकार भूमि पर दिखने वाले तालाब के कमलों पर भौंरे-तितलियाँ आकर प्रवास करती हैं, क्या इसी प्रकार से उन पद्मादि तालाब के कमलों पर कौन ? किस प्रकार ? कितने समय तक निवास करते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीहीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पत्न्योपमस्थितयः
ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥**

**सूत्र उच्चारण—तन्-निवासिन्यो-देव्यः, श्री-ही-धृति-, कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्यः, पत्न्योपम-
स्थितयः, स-सामानिक-परिषत्काः ॥१९॥**

**सन्धि विग्रह —तन्-निवासिन्यः देव्यः श्री-ही-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्यः पत्न्य-उपमा-
स्थितयः स-सामानिक-परिषत्काः ॥१९॥**

सूत्रार्थ—उन पद्मादि छह सरोवरों पर क्रमशः श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि एवं लक्ष्मी; ये देवियाँ, सामानिक एवं परिषद् नामक देवों के साथ; एक पत्न्य की आयु तक निवास करती हैं।

लब्धार्थ—उन छह तालाबों के छहों कमलों में क्रमशः देवियों के प्रासाद हैं, पद्मसरोवर के कमल प्रासाद में श्री देवी, महापद्म के कमल प्रासाद पर ही देवी, तिगिञ्छ के कमल प्रासाद पर धृति देवी, केसरी के कमल प्रासाद पर कीर्ति देवी, पुण्डरीक के कमल पर बुद्धि देवी, महापुण्डरीक के कमल प्रासाद पर लक्ष्मी देवी का निवास है।

विशेषार्थ—इन्द्रों की सभा में आज्ञा एवं ऐश्वर्य को छोड़कर; बाकी समस्त वैभव इन्द्रों के समान होता है, अतः वे देव सामानिक कहलाते हैं।

परिषद् का अर्थ सभा होता है, सभा में रहने वालों को पारिषद् कहते हैं, वे पारिषद् देव; इन्द्रों के मित्र आदि के समान होते हैं, अतः वे देव; परिषद् कहलाते हैं।

इन श्री, ह्री आदि देवियों की आयु एक पल्य की होती है तथा सामानिक और पारिषद् देवों के साथ निवास करती हैं, लेकिन ये देवियाँ; देवों की नियोगनी नहीं होने से कुमारी कहलाती हैं, किन्तु सौधर्मइन्द्र की आज्ञाकारिणी श्री, ह्री, धृति; ये तीन देवियाँ और ऐशान इन्द्र की आज्ञाकारिणी कीर्ति, बुद्धि एवं लक्ष्मी; ये तीन देवियाँ होती हैं। शान्तिदेवी एवं पुष्टिदेवी; ये दो देवियाँ कुलाचल पर्वत से तीर्थङ्कर की माता की सेवा करने आती हैं।

जैसे-लौकान्तिक देव; देवियों के परिवार से रहित होते हुए भी बालब्रह्मचारी नहीं कहलाते। उसी प्रकार से अष्ट-कुमारी देवियाँ भी देवों के नियोग से रहित होने पर भी बालब्रह्मचारिणी नहीं कहलाती हैं, क्योंकि देव गति में संयम का अभाव है।

जिज्ञासा—पद्मादि तालाबों में स्रोतों से निकलने वाला जल; संग्रहीत होकर बाहर की ओर निकलता है, जिससे वह जल; नदियों का रूप धारण कर लेता है और उससे भरतादि क्षेत्रों में आर्य आदि क्षेत्रों का विभाग होता है, अतः उन नदियों के नाम बतलायें? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनर-
कान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥**

सूत्र उच्चारण— गङ्गा-सिन्धु-, रोहिद्-रोहितास्या-, हरिद्धरिकान्ता-, सीता-सीतोदा-, नारी-नरकान्ता-, सुवर्ण-रूप्यकूला-, रक्ता-रक्तोदाः, सरितस्-, तन्-मध्यगाः ॥२०॥

सन्धि विग्रह — गङ्गा-सिन्धु-रोहित्-रोहितास्या-हरित्-हरिकान्ता-सीता-सीतोदा-नारी-नरकान्ता-सुवर्ण-रूप्यकूला-रक्ता-रक्तोदाः सरितः तन्-मध्यगाः ॥२०॥

सूत्रार्थ—गङ्गा-सिन्धु, रोहित्-रोहितास्या, हरित्-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा; ये चौदह नदियाँ इन भरतादि क्षेत्रों के मध्य बहती हैं।

लब्धार्थ—प्रथम पद्मह्रद से तीन नदियाँ; गङ्गा, सिन्धु एवं रोहितास्य निकलती हैं। छटवें पुण्डरीक ह्रद से तीन नदियाँ; रक्ता, रक्तोदा एवं रूप्यकूला निकलती हैं। अन्य बीच के चार पर्वतों से शेष युगल अर्थात् दो-दो नदियाँ निकलती हैं। इस तरह छह पर्वतों के तालाबों से कुल चौदह नदियाँ निकलती हैं।

विशेषार्थ—ये सब नदियाँ हैं; तालाब नहीं हैं, अतः ये नदियाँ उन छह तालाबों के किस स्थान से निकलती हैं? इस का निश्चय कराने के लिए सूत्र में “तन्मध्यगाः” पद दिया है, जिससे ध्वनित होता है कि ये नदियाँ उन भरतादि क्षेत्रों के मध्य से गमन करती हैं अथवा पद्म आदि तालाबों की लम्बाई के मध्य से निकलती हैं।

जिज्ञासा—पूर्वोक्त चौदह नदियाँ; छह सरोवरों से किस प्रकार निकलती हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

सूत्र उच्चारण—द्वयो-द्वयोः, पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

सन्धि विग्रह—द्वयोः द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

सूत्रार्थ—इन चौदह नदियों में से दो-दो नदियों के युगल में से पहली-पहली नदियाँ; पूर्व दिशा के लवण समुद्र की ओर जाती हैं ।

लब्धार्थ—जैसे-गङ्गा-सिन्धु; इन दो नदियों में से पहली गङ्गा नदी पूर्व दिशा के लवण समुद्र की ओर जाती है । इसी प्रकार आगे की युगल नदियों में से पहली-पहली नदियाँ पूर्व समुद्र की ओर जाती हैं ।

विशेषार्थ—युगल नदियों में से पहली-पहली; गङ्गा, रोहित्, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला एवं रक्ता; ये सात नदियाँ पूर्व समुद्र की ओर जाती हैं ।

जिज्ञासा—युगल नदियों में से पहली-पहली नदियाँ; पूर्व समुद्र की ओर जाती हैं तब युगल नदियों की दूसरी-दूसरी नदियाँ; किस ओर जाती हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

सूत्र उच्चारण—शेषास्-, त्वपरगाः ॥२२॥

सन्धि विग्रह—शेषाः तु-अपरगाः ॥२२॥

सूत्रार्थ—शेष बची हुई सात नदियाँ; पश्चिम समुद्र की ओर जाती हैं ।

लब्धार्थ—उन्हीं युगल नदियों में से दूसरी-दूसरी शेष नदियाँ; पश्चिम समुद्र की ओर जाती हैं ।

विशेषार्थ—सिन्धु, रोहितास्या, हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रूप्यकूला और रक्तोदा; ये सात नदियाँ पश्चिम समुद्र की ओर जाती हैं । ये चौदह महानदियाँ कही जाती हैं ।

जिज्ञासा—इन चौदह महानदियों के जल स्रोत बहुत छोटे हैं, लेकिन इन नदियों में जलवृद्धि एवं उनका क्षेत्र विस्तार कैसे होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

सूत्र उच्चारण—चतुर्दश-नदी-, सहस्र-परिवृता, गङ्गा-सिन्ध्वादयो, नद्यः ॥२३॥

सन्धि विग्रह—चतुर्दश-नदी-सहस्र-परिवृता गङ्गा-सिन्धु-आदयः नद्यः ॥२३॥

सूत्रार्थ—गङ्गा-सिन्धु आदि नदियों के युगल क्रमशः चौदह-चौदह हजार नदियों से घिरे हुए हैं । जिससे उन नदियों के जल में वृद्धि और चौड़ाई आदि का विस्तार होता है ।

लब्धार्थ—गङ्गा-सिन्धु; इन युगल महानदियों की सहायक नदियाँ चौदह-चौदह हजार हैं । रोहित-रोहितास्या की सहायक नदियाँ अट्टाइस-अट्टाइस हजार हैं । हरित्-हरिकान्ता की सहायक नदियाँ छप्पन-छप्पन हजार हैं । सीता-सीतोदा की सहायक नदियाँ एक लाख बारह हजार हैं पुनः क्रमशः घटते

हुए अर्थात् नारी-नरकान्ता की सहायक नदियाँ छप्पन-छप्पन हजार हैं। सुवर्णकूला-रूप्यकूला की सहायक नदियाँ अट्टाइस-अट्टाइस हजार हैं। रक्ता-रक्तोदा की सहायक नदियाँ चौदह-चौदह हजार हैं। इस प्रकार इन सहायक नदियों से महानदियों के जल में वृद्धि एवं उनके क्षेत्र में विस्तार होता है।

विशेषार्थ—इन नदियों से भरत आदि क्षेत्रों के आर्य-म्लेच्छ आदि विभाग होते हैं।

जिज्ञासा—एक लाख योजन विस्तार वाले जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र का विस्तार कितने योजन प्रमाण है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भरतः षड्विंश^१ पञ्चयोजनशतविस्तारः षट्-चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥

सूत्र उच्चारण—भरतः षड्विंश-, पञ्चयोजन-, शत-विस्तारः, षट् चैकोन-विंशति-भागा, योजनस्य ॥२४॥

सन्धि विग्रह — भरतः षड्विंश-पञ्चयोजन-शत-विस्तारः षट् च-एक-ऊन-विंशति-भागा योजनस्य ॥२४॥

सूत्रार्थ—भरतक्षेत्र का विस्तार; पाँच-सौ छब्बीस सही छहबटे उन्नीस (५२६-६/१९) योजन है।

लब्धार्थ—भरत क्षेत्र का प्रमाण; दक्षिण से उत्तर की ओर पाँच-सौ छब्बीस सही छहबटे उन्नीस योजन है अर्थात् पाँच-सौ छब्बीस योजन सहित एक योजन के छहबटे उन्नीस भाग प्रमाण है।

विशेषार्थ—भरत क्षेत्र का प्रारम्भ; जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग से होता है।

जिज्ञासा—जम्बूद्वीप के माप में से भरत क्षेत्र का विस्तार निश्चित हो गया, लेकिन भरत क्षेत्र से आगे-आगे वाले पर्वतों एवं क्षेत्रों का कितना विस्तार है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तद्-द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

सूत्र उच्चारण—तद्-द्विगुण-, द्विगुण-विस्तारा, वर्षधर-वर्षा, विदेहान्ताः ॥२५॥

सन्धि विग्रह—तद्-द्विगुण-द्विगुण-विस्तारा वर्षधर-वर्षा विदेह-अन्ताः ॥२५॥

सूत्रार्थ—उस भरत क्षेत्र से दूने-दूने विस्तार वाले पर्वत एवं क्षेत्र; विदेह क्षेत्र तक हैं।

लब्धार्थ—प्रथम भरत क्षेत्र ५२६-६/१९ योजन है, अतः उसके आगे का प्रथम हिमवान् पर्वत इससे दूना अर्थात् १०५२-१२/१९ योजन है। इसके आगे का द्वितीय हिमवत क्षेत्र इससे दूना अर्थात् २१०५-५/१९ योजन है। इसके आगे का महाहिमवान् पर्वत ४२१०-१०/१९ योजन है। इसके आगे का तृतीय हरिक्षेत्र इससे दूना अर्थात् ८४२१-१/१९ योजन है। इससे आगे का तृतीय निषध पर्वत इससे दूना अर्थात् १६८४२-२/१९ योजन है। इसके आगे बीच का विदेह क्षेत्र इससे दूना अर्थात् ३३६८४-४/१९ योजन प्रमाण है।

विशेषार्थ—यह सब विस्तार जम्बूद्वीप के नक्षे में नीचे दक्षिण भाग से ऊपर की ओर बीच के विदेह क्षेत्र तक है, ऐसा इस सूत्र का भाव है।

जिज्ञासा—अभी भरत क्षेत्र से लेकर विदेह क्षेत्र तक के क्षेत्रों एवं पर्वतों का विस्तार ज्ञात हो गया, लेकिन विदेह क्षेत्र से ऊपर वाले पर्वतों एवं क्षेत्रों का विस्तार कितना है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

सूत्र उच्चारण—उत्तरा, दक्षिण-तुल्याः ॥२६॥

सूत्रार्थ—उत्तर दिशा के क्षेत्र एवं पर्वतों का विस्तार; पूर्वोक्त दक्षिण दिशा के क्षेत्र एवं पर्वतों के समान है ।

लब्धार्थ—दक्षिण दिशा से नीचे का प्रथम भरत क्षेत्र एवं उत्तर दिशा से ऊपर का ऐरावत क्षेत्र; ये दोनों ५२६-६/१९ योजन, तुल्य-समान प्रमाण हैं । दक्षिण दिशा से नीचे का प्रथम हिमवान् पर्वत एवं उत्तर दिशा से ऊपर का प्रथम शिखरी पर्वत; १०५२-१२/१९ योजन, ये दोनों तुल्य प्रमाण हैं । दक्षिण दिशा से नीचे का द्वितीय हैमवत क्षेत्र एवं उत्तर दिशा से ऊपर का द्वितीय हैरण्यवत क्षेत्र; २१०५-५/१९ योजन, ये दोनों तुल्य प्रमाण हैं । दक्षिण दिशा से द्वितीय महाहिमवान् पर्वत एवं उत्तर दिशा से ऊपर का रुक्मि पर्वत ४२१०-१०/१९ योजन; दोनों समान प्रमाण हैं । दक्षिण दिशा से नीचे का तृतीय हरिक्षेत्र एवं उत्तर दिशा के ऊपर से तृतीय रम्यक क्षेत्र ८४२१-१/१९ योजन; दोनों क्षेत्र समान हैं । दक्षिण दिशा से नीचे का तृतीय निषध पर्वत एवं ऊपर दिशा से ऊपर का नील पर्वत; ये दोनों पर्वत १६८४२-२/१९ योजन; समान प्रमाण हैं । सबसे बीच का विदेह क्षेत्र का प्रमाण दक्षिण के क्षेत्र एवं पर्वत; उत्तर के क्षेत्र एवं पर्वतों से समान योजन प्रमाण हैं । उसी प्रकार इन पर्वतों के तालाब एवं कमल आदि हैं, वे भी उसी प्रमाण से दूने-दूने विस्तार वाले हैं ।

क्षेत्र एवं पर्वतों की समानता, योजन प्रमाण में सन्दृष्टि-भरत एवं ऐरावत क्षेत्र ५२६-६/१९ योजन । हिमवान् एवं शिखरी पर्वत १०५२-१२/१९ योजन । हैमवत एवं हैरण्यवत क्षेत्र २१०५-५/१९ योजन । महाहिमवान् एवं रुक्मि पर्वत ४२१०-१०/१९ योजन । हरि एवं रम्यक् क्षेत्र ८४२१-१/१९ योजन । निषध एवं नील पर्वत १६८४२-२/१९ योजन ।

इन सब क्षेत्र एवं पर्वतों के मध्य; विदेहक्षेत्र है, जिसका विस्तार ३३६८४-४/१९ योजन प्रमाण है ।

जिज्ञासा—उत्तर के क्षेत्र एवं पर्वतों का विस्तार; दक्षिण के क्षेत्र एवं पर्वतों के विस्तार के समान हैं, लेकिन दक्षिण के भरत क्षेत्र एवं उत्तर के ऐरावत क्षेत्र की विशेषता में वहाँ के मनुष्यों के अनुभव आदि कैसे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भरतैरावतयोर्वृद्धिहासौ षट्समयाभ्यमुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

सूत्र उच्चारण—भरतै-रावतयो-, वृद्धि-हासौ, षट्समयाभ्या-, मुत्सर्पिण्य-, वसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

सन्धि विग्रह—भरत-ऐरावतयोः वृद्धि-हासौ षट्समयाभ्याम् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

सूत्रार्थ—भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में; छह समयों वाली उत्सर्पिणी में मनुष्य आदि के आयु, बल, देहादिक की वृद्धि एवं इतने ही समयों वाली अवसर्पिणी में उन मनुष्य आदि के आयु, बल, देहादिक में हानि होती है ।

लब्धार्थ—अवसर्पिणी के छह समय-काल	उत्सर्पिणी के छह समय-काल
(१) सुषम-सुषमा	(१) अतिदुष्षमा
(२) सुषमा	(२) दुष्षमा
(३) सुषमा-दुष्षमा	(३) दुष्षमा-सुषमा
(४) दुष्षमा-सुषमा	(४) सुषमा-दुष्षमा
(५) दुष्षमा	(५) सुषमा
(६) अतिदुष्षमा	(६) सुषम-सुषमा

अवसर्पिणी काल; सुषम-सुषमा से प्रारम्भ होकर, अति दुष्षमा पर समाप्त होता है एवं उत्सर्पिणी काल अति दुष्षमा से प्रारम्भ होकर सुषम-सुषमा पर समाप्त होता है।

विशेषार्थ—प्राकृतिक नियमानुसार भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में छह समयवाली उत्सर्पिणी नाम की वृद्धि एवं उतने ही समय वाला अवसर्पिणी नाम का ह्रास होता है।

जिस प्रकार सर्प; मुँह की ओर से मोटा एवं पूँछ की ओर से क्रमशः पतला होता जाता है। उसी प्रकार छह समयों में वृद्धि-ह्रास होता है। इस वृद्धि-ह्रास के कारण वहाँ के मनुष्य एवं तिर्यञ्चों में; आयु, बल, सुख-दुख एवं शरीर की ऊँचाई आदि में भी वृद्धि-ह्रास होता रहता है।

एक अवसर्पिणी काल का प्रमाण दस कोड़ा-कोड़ी सागर होता है, उतना ही एक उत्सर्पिणी काल का प्रमाण होता है। दोनों के समयों को मिलाने से एक कल्पकाल का समय होता है।

अवसर्पिणी काल के छह समयों की निम्न प्रकार से व्यवस्था रहती है—

(१) पहले सुषम-सुषमा काल का समय; चार कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है, जिसमें मनुष्यादिकों की आयु, बल, सुख, शरीर आदि की व्यवस्था उत्तम भोगभूमि; देव-उत्तर कुरु के समान रहती है।

(२) दूसरे सुषमा काल का समय; तीन कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है, जिसमें मनुष्यादिकों की आयु, बल, सुख, शरीर आदि की व्यवस्था मध्यम भोगभूमि; हरि क्षेत्र के समान रहती है।

(३) तीसरे सुषमा-दुष्षमा काल का समय; दो कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है। जिसमें क्रम से घटते हुए मनुष्यादिकों की आयु, बल, सुख, शरीर आदि जघन्य भोगभूमि; हैमवत क्षेत्र के समान व्यवस्था रहती है।

(४) चौथे दुष्षमा-सुषमा काल का समय; ब्यालीस हजार वर्ष कम; एक कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है। जिसमें क्रम से घटते हुए मनुष्यादिकों की आयु, बल, सुख, शरीर आदि विदेह क्षेत्र की कर्मभूमि के समान व्यवस्था है।

(५) पाँचवें दुष्षमा काल का समय; इक्कीस हजार वर्ष का है, इसमें भी कर्मभूमि की व्यवस्था होती है। जिसमें क्रम से घटते हुए मनुष्यादिकों की आयु, बल आदि होते हैं।

(६) छठवें दुष्षमा-दुष्षमा या अतिदुष्षमा काल का समय; भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है। जिसमें मनुष्यादिकों की आयु, बल आदि क्रमशः घटते-घटते अन्त की उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष, शरीर की ऊँचाई एक हाथ आदि प्रमाण रह जाती है। यहाँ के मनुष्यादि; भूमियों में बिल आदि बनाकर रहते हैं, कच्चा मांस या मिट्टी आदि का भक्षण करते हैं।

उत्सर्पिणी काल के छह समयों की व्यवस्था क्रमशः छटवें दुष्पमा-दुष्पमा काल से उल्टी क्रम में घटती है अर्थात् छटवें से छटवें, पाँचवें, चौथे, तीसरे, दूसरे एवं प्रथम काल के समान मनुष्यादिकों की आयु, बल, सुख, शरीर आदि बढ़ते चले जाते हैं, इसलिए इसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं।

असंख्यात-असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल बीतने पर एक हुण्डाव-सर्पिणी काल आता है, जिससे अन्य कालों की अपेक्षा कुछ अनहोनी-न होने योग्य घटनायें घटित होती हैं।

जैसे-भरत क्षेत्र में तीर्थङ्करों का जन्म; अयोध्या नगरी में एवं निर्वाण-मोक्ष; सम्मेदशिखर जी से ही होते हैं, लेकिन हुण्डावसर्पिणी इस काल के प्रभाव से कई तीर्थङ्करों का जन्म; अयोध्या के अलावा अन्य क्षेत्रों से भी होते हैं एवं मोक्ष भी सम्मेदशिखर जी के अलावा अन्य क्षेत्रों से होता है।

सभी तीर्थङ्करों के शरीर के वर्ण; स्वर्ण के समान पीत वर्ण ही होते हैं, लेकिन इस काल दोष के कारण उनके शरीर के रङ्ग; सफेद, लाल, हरे, नीले-काले भी हुए।

पाँच तीर्थङ्करों का बालब्रह्मचारी होना, तीर्थङ्करों के पुत्री होना, एक से अधिक पदवीधारी होना। जैसे-चक्रवर्ती, कामदेव सहित होना। चक्रवर्ती का मान भङ्ग होना।

तीर्थङ्करों पर मुनि अवस्था में उपसर्ग होना। तीर्थ का विच्छेद होना। धर्म को मलिन करने वाले कल्की, उपकल्की व्यक्तियों का होना। तीन वर्णों के अलावा ब्राह्मणवर्ण की स्थापना होना; ये सब हुण्डावसर्पिणी काल के दोष हैं।

वर्तमान पञ्चमकाल-हुण्डावसर्पिणी काल के नाम से चल रहा है। इन सभी काल सम्बन्धी जानकारी के लिए यतिवृषभाचार्य द्वारा रचित तिलोपपण्णत्ति ग्रन्थ पढ़िए।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या सत्ताइस में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में छह समयों की वृद्धि-हानि का कथन किया, लेकिन भरत-ऐरावत क्षेत्र को छोड़कर, अन्य दूसरे क्षेत्रों में परिवर्तन की क्या व्यवस्था है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

सूत्र उच्चारण—ताभ्या-मपरा, भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

सन्धि विग्रह—ताभ्याम्-अपरा भूमयः अवस्थिताः ॥२८॥

सूत्रार्थ—भरत एवं ऐरावत; इन दो भूमियों को छोड़कर; बाकी सब भूमियाँ अवस्थित हैं अर्थात् परिवर्तन से रहित हैं।

लब्धार्थ—भरत एवं ऐरावत; इन दो भूमियों में जिस प्रकार छह समय वाला वृद्धि-ह्रास होता है, वैसा वृद्धि-ह्रास अन्य क्षेत्रों में नहीं होता है अर्थात् जहाँ भोगभूमि है, वहाँ भोगभूमि एवं जहाँ कर्मभूमि है, वहाँ कर्मभूमि ही रहती हैं।

विशेषार्थ—हैमवत-हैरण्यवत, हरि-रम्यक, देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र युगल; क्रमशः जघन्य-मध्यम-उत्तम भोगभूमि के हैं एवं विदेह क्षेत्र कर्मभूमि का है, इन क्षेत्रों में हुण्डावसर्पिणी के समान कोई काल दोष नहीं हैं।

जिज्ञासा—जिन क्षेत्रों में आयु आदि का वृद्धि-हास नहीं होता है, उन क्षेत्रों के मनुष्य आदिकों की आयु कितनी होती है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥२९॥

सूत्र उच्चारण—एक-द्वि-त्रि-, पल्योपम-स्थितयो, हैमवतक-, हारिवर्षक-, दैवकुरवकाः ॥२९॥

सन्धि विग्रह—एक-द्वि-त्रि-पल्य-उपमा-स्थितयः हैमवतकः हारिवर्षकः दैवकुरवकाः ॥२९॥

सूत्रार्थ—हैमवत, हरिवर्ष एवं देवकुरु के मनुष्य एवं तिर्यज्च; क्रमशः एकपल्य, दो पल्य, तीन पल्य की आयु वाले होते हैं।

लब्धार्थ—हैमवत क्षेत्र; शाश्वत जघन्य भोगभूमि है, यहाँ के मनुष्य एवं तिर्यज्चों की आयु एक पल्य है। हरिवर्ष; शाश्वत मध्यम भोगभूमि है, यहाँ के मनुष्य एवं तिर्यज्चों की आयु दो पल्य है। देवकुरु; शाश्वत उत्तम भोगभूमि है, यहाँ के मनुष्य एवं तिर्यज्च की आयु तीन पल्य है।

विशेषार्थ—पल्य; गङ्गे को कहते हैं। उपमा के द्वारा मान करने से इसे पल्योपम कहते हैं। संख्यातवर्ष से ऊपर की संख्या; पल्य कहलाती है, अतः पूर्व कोटि की संख्या तक संख्या; संख्यात कहलाती है, असंख्यात का प्रमाण पल्य से गिना जाता है।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या उन्तीस में दक्षिण दिशा अर्थात् नीचे की भोगभूमियों की अवस्था का कथन किया, किन्तु उत्तर दिशा में ऐरावत क्षेत्र को छोड़कर अन्य तीन भूमियों के मनुष्यादिकों की आयु की व्यवस्था क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तथोत्तराः ॥३०॥

सन्धि विग्रह—तथा-उत्तराः ॥३०॥

सूत्रार्थ—दक्षिण दिशा के समान ही उत्तर दिशा की भोगभूमियों के मनुष्यादिकों की आयु, बल आदि की समान व्यवस्था है।

लब्धार्थ—हैरण्यवत क्षेत्र; शाश्वत जघन्य भोगभूमि है, यहाँ के मनुष्यादिकों की आयु एक पल्य है। रम्यक क्षेत्र; शाश्वत मध्यम भोगभूमि है, यहाँ के मनुष्यादिकों की आयु दो पल्य है। उत्तरकुरु; शाश्वत उत्तम भोगभूमि है; यहाँ के मनुष्यादिकों की आयु तीन पल्य है।

विशेषार्थ—शाश्वत भोगभूमियों में विकलत्रय जीव अर्थात् द्वीन्द्रिय, तीनेन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय जीव नहीं होते हैं।

इन सभी भोगभूमियों में जन्म लेने वाले मनुष्य या तिर्यज्च; उत्तम, मध्यम एवं जघन्य पात्रों को दान देने से या दान की अनुमोदना करने से होते हैं।

भोगभूमियाँ; मनुष्य एवं तिर्यञ्च मरकर नियम से देव गति में दूसरे स्वर्ग तक के देव बन सकते हैं।

जिज्ञासा—दक्षिण दिशा के एवं उत्तर दिशा के सभी क्षेत्रों की व्यवस्था का कथन किया, परन्तु सभी क्षेत्र एवं पर्वतों के मध्य में स्थित विदेह क्षेत्र के मनुष्यादिकों की आयु आदि की क्या व्यवस्था है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विदेहेषु सङ्ख्येयकालाः ॥३१॥

सूत्र उच्चारण—विदेहेषु, सङ्ख्येय-कालाः ॥३१॥

सूत्रार्थ—विदेह क्षेत्र में संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य एवं तिर्यञ्च होते हैं।

लब्धार्थ—विदेह क्षेत्रों में भोगभूमियों की तरह असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य एवं तिर्यञ्च नहीं होते हैं।

विशेषार्थ—कर्मभूमियाँ जीवों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि प्रमाण होती है।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या चौबीस में भरत क्षेत्र का विस्तार ५२६-६/१९ योजन प्रमाण कहा था, लेकिन भरत क्षेत्र; जम्बूद्वीप का एक भाग है, अतः भरतक्षेत्र; जम्बूद्वीप के कितने भाग में है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

सूत्र उच्चारण—भरतस्य विष्कम्भो, जम्बूद्वीपस्य, नवतिशत-भागः ॥३२॥

सन्धि विग्रह—भरतस्य विष्कम्भः जम्बूद्वीपस्य नवतिशत-भागः ॥३२॥

सूत्रार्थ—भरत क्षेत्र का विस्तार; जम्बूद्वीप के एक-सौ नब्बेवाँ भाग है।

लब्धार्थ—जम्बूद्वीप का विस्तार; एक-लाख योजन प्रमाण है, इसमें भरत क्षेत्र का भाग; एक-सौ नब्बेवाँ हिस्सा है।

विशेषार्थ—जम्बूद्वीप में जितने भी क्षेत्र एवं पर्वत हैं, उनका क्रम नीचे-दक्षिण के भरत क्षेत्र से प्रारम्भ होता है, उसके आगे हिमवान् पर्वत, उसके आगे हैमवत क्षेत्र है। उसके आगे महाहिमवान् पर्वत, उसके आगे हरिक्षेत्र है। उसके आगे निषध पर्वत, उसके आगे विदेह क्षेत्र तक; ये क्षेत्र एवं पर्वत दूने-दूने विस्तार वाले; सूत्र संख्या पच्चीस के अनुसार है।

विदेह क्षेत्र के बाद पुनः पर्वत एवं क्षेत्र आधे-आधे प्रमाण में घटते गये हैं, इस कारण से सभी क्षेत्र और पर्वतों का प्रमाण निम्न प्रकार से बनता है—

भरत क्षेत्र का एक भाग; हिमवान् पर्वत का दो भाग। हैमवत क्षेत्र का चार भाग; महाहिमवान् पर्वत का आठ भाग। हरिक्षेत्र का सोलह भाग, निषध पर्वत का बत्तीस भाग। विदेह क्षेत्र का चौंसठ भाग पुनः घटते क्रम में नील पर्वत का बत्तीस भाग, रम्यक क्षेत्र का सोलह भाग। रुक्मि पर्वत का आठ भाग, हैरण्यवत क्षेत्र का चार भाग। शिखरी पर्वत का दो भाग एवं ऐरावत क्षेत्र का एक भाग, इस प्रकार क्रमशः गिनती करें, इन सब भागों का योग एक-सौ नब्बे होता है।

इस एक-सौ नब्बे की संख्या का भाग; जम्बूद्वीप के एक-लाख योजन में देने से; भरत क्षेत्र का विस्तार, पाँच-सौ छब्बीस सही छहबटे उन्नीस भाग होता है।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या नौ से सूत्र संख्या बत्तीस तक, जम्बूद्वीप के समस्त क्षेत्र, पर्वत, तालाब, कमल, नदी आदिकों का विस्तार-प्रमाण बतलाया। जम्बूद्वीप के आगे, दो-लाख योजन प्रमाण लवण समुद्र है, अतः इसके बाद धातकीद्वीप है, उसमें क्षेत्रों आदि की संख्या का विस्तार-प्रमाण कितना है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्विधातकीखण्डे ॥३३॥

सूत्र उच्चारण—द्वि-, धातकी-खण्डे ॥३३॥

सन्धि विग्रह—द्विः धातकी-खण्डे ॥३३॥

सूत्रार्थ—धातकीखण्ड में क्षेत्र एवं पर्वत; जम्बूद्वीप से दूनी संख्या में है अर्थात् एक नाम के दो-दो क्षेत्र एवं दो-दो पर्वत हैं। धातकीद्वीप का विस्तार चार लाख योजन प्रमाण है।

लब्धार्थ—धातकीखण्ड में जितने क्षेत्र और पर्वत आदि हैं, वे सब जम्बूद्वीप के क्षेत्र-पर्वतों की संख्या से दूने-दूने हैं। जैसे-जम्बूद्वीप में एक भरत क्षेत्र है तो धातकीद्वीप में दो भरत क्षेत्र हैं। इसी प्रकार आगे के पर्वतों एवं क्षेत्रों की दूनी-दूनी व्यवस्था जानना चाहिए।

विशेषार्थ—धातकीद्वीप में भरत आदि क्षेत्र एवं हिमवान् आदि पर्वत; दो-दो की संख्या में होने का कारण है कि पूरा धातकीद्वीप दो खण्डों में विभक्त है, अतः इसे धातकीखण्ड भी कहते हैं। धातकीद्वीप को दो खण्डों में विभाग करने वाले, दक्षिण से उत्तर की ओर लम्बे दो इष्वाकार पर्वत हैं, उन दोनों पर्वतों के दोनों छोर; लवण समुद्र एवं कालोदधि समुद्र को स्पर्श करते हैं, इस कारण धातकीद्वीप दो खण्डों में विभाजित है, इन दोनों खण्डों को पूर्व धातकीखण्ड एवं पश्चिम धातकीखण्ड कहते हैं।

इन दोनों खण्डों के मध्य में विजय एवं अचल नामक दो मेरु पर्वत हैं। इन दोनों मेरु पर्वतों के दोनों ओर एक-एक भरत क्षेत्र एवं एक-एक हिमवान् आदि पर्वत हैं। इसी प्रकार अन्य नाम वाले क्षेत्र एवं पर्वत दो-दो जानना चाहिए, इस कारण से जम्बूद्वीप से धातकीद्वीप में क्षेत्र एवं पर्वतों की संख्या दूनी-दूनी है।

विशेषता यह है कि जम्बूद्वीप में जो क्षेत्र एवं पर्वतों का विस्तार है, उससे दूने विस्तार वाले धातकीखण्ड के भरत आदि क्षेत्र एवं हिमवान् आदि पर्वत हैं।

चक्के (पहिया) में जिस प्रकार आरे होते हैं। उसी प्रकार ये पर्वत; उन क्षेत्रों के मध्य में अवस्थित हैं। जैसे-चक्के में आरों के बीच खाली-खाली स्थान के आकार होते हैं। वैसे ही उन खाली स्थानों में क्षेत्र होते हैं।

जम्बूद्वीप के उत्तरकुरु में जम्बू (जामुन) नाम का अकृत्रिम पृथ्वीकायिक वृक्ष है, जिस कारण इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है। ठीक इसी प्रकार धातकीखण्ड में भी धातकी (आँवला) नाम का अकृत्रिम पृथ्वीकायिक वृक्ष है, जिस कारण इस द्वीप का नाम धातकीद्वीप है। इस द्वीप के चारों ओर घेरे हुए कालोद समुद्र है। इस समुद्र के किनारे (घाट) पत्थर पर टाँकी से काटे गए के समान हैं। इस समुद्र से आगे पुष्करद्वीप है, जिसका विस्तार सोलह-लाख योजन है।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या तैंतीस द्वारा धातकीखण्ड की जानकारी दी, लेकिन इसके आगे पुष्करवर द्वीप है, अतः उस द्वीप के क्षेत्र-पर्वतादि के विस्तार आदि क्या हैं? ऐसा पूछने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पुष्करार्द्धे च ॥३४॥

सन्धि विग्रह—पुष्कर-अर्द्धे च ॥३४॥

सूत्रार्थ—पुष्कारार्द्ध में भी उतने ही क्षेत्र-पर्वत हैं।

लब्धार्थ—जिस प्रकार धातकीखण्ड में; दो भरतक्षेत्र, दो हिमवान् आदि पर्वत हैं। उसी प्रकार पुष्करार्द्ध में भी दो भरतक्षेत्रादि, दो हिमवानादि पर्वत हैं।

विशेषार्थ—जिस प्रकार धातकीखण्ड द्वीप में भरत आदि क्षेत्र एवं हिमवान् आदि पर्वतों का विस्तार दूना है। उसी प्रकार पुष्करार्द्ध द्वीप का भी जानना चाहिए। उन क्षेत्रों एवं पर्वतों के वे ही नाम हैं जो धातकीखण्ड द्वीप के क्षेत्र और पर्वतों के नाम हैं।

पुष्करार्द्ध द्वीप में भी धातकीखण्ड द्वीप के समान दो इक्ष्वाकार पर्वत हैं। जिस प्रकार जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष है। उसी प्रकार पुष्करार्द्ध द्वीप में पुष्करवृक्ष है, इसीलिए इस द्वीप का नाम पुष्करद्वीप है। इसमें मन्दरमेरु; विद्युत्माली नाम के ये दो मेरु पर्वत हैं।

इस द्वीप के ठीक बीच में चारों तरफ गोल मानुषोत्तर पर्वत है, जिसके कारण इस आधे द्वीप को पुष्करार्द्ध द्वीप कहते हैं।

जिज्ञासा—जिस प्रकार धातकीखण्ड में क्षेत्र एवं पर्वतों की संख्या एवं विस्तार है, उतनी ही पुष्करार्द्ध में कही है, पूरे पुष्करद्वीप में क्यों नहीं कही? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

सूत्र उच्चारण—प्राङ्-मानुषोत्तरान्-, मनुष्याः ॥३५॥

सन्धि विग्रह—प्राङ्-मानुष-उत्तरान्-मनुष्याः ॥३५॥

सूत्रार्थ—मानुषोत्तर पर्वत के पहले तक ही मनुष्य हैं।

लब्धार्थ—पुष्करद्वीप के विस्तार के ठीक मध्य में चूड़ी के समान गोल मानुषोत्तर नाम का पर्वत है, उसके पहले ही मनुष्य हैं, उसके बाहर नहीं है, अतः उसके बाहर मनुष्यलोक के समान वहाँ क्षेत्र आदि का विभाग नहीं है।

विशेषार्थ—पुष्करार्द्धद्वीप में मानुषोत्तरपर्वत के आगे, उपपाद जन्म वाले अर्थात् मनुष्यगत्यानुपूर्वी वाले अथवा मनुष्य क्षेत्र के बाहर से मरकर मनुष्यायु एवं मनुष्यगति कर्म के कारण इस क्षेत्र से बाहर भी मनुष्य जीव पाये जाते हैं एवं मारणान्तिक और केवली-समुद्घात को प्राप्त हुए मनुष्यों को छोड़कर, अन्य कोई शक्तिशाली मनुष्य या विद्याधर अथवा ऋद्धिधारी मुनिराज भी सशरीर अथवा विक्रिया द्वारा वहाँ नहीं जा सकते हैं।

इस प्रकार से जम्बूद्वीप, धातकीद्वीप एवं पुष्करद्वीप का आधा भाग तथा लवण समुद्र एवं कालोद समुद्र मिलकर अढाईद्वीप कहलाता है, इसे मनुष्य लोक भी कहते हैं। जिसका कुल विस्तार पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या पैंतीस में मनुष्य क्षेत्र निर्धारित कर दिया, लेकिन उस मनुष्य क्षेत्र के मनुष्यों में सभी की वृत्ति; भोगभूमियाँ मनुष्य आदि की समानता का प्रसङ्ग प्राप्त होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

सूत्र उच्चारण—आर्या, म्लेच्छाश्च ॥३६॥

सन्धि विग्रह—आर्या म्लेच्छाः च ॥३६॥

सूत्रार्थ—आर्य और म्लेच्छ; ये दो मनुष्यों के प्रकार हैं।

लब्धार्थ—जो गुणों या गुणवालों द्वारा माने जाते हैं, उन्हें आर्य कहते हैं। जो धर्म एवं उसकी क्रिया आदि से बहिर्भूत हैं, उन्हें म्लेच्छ कहते हैं।

विशेषार्थ—आर्य मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—(१) ऋद्धि प्राप्त आर्य; (२) ऋद्धि रहित आर्य। ऋद्धि रहित आर्य; पाँच प्रकार के होते हैं—

(१) **क्षेत्र आर्य**—काशी, कौशल आदि क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्य क्षेत्रार्य कहलाते हैं।

(२) **जाति आर्य**—इक्ष्वाकु, ज्ञाति, भोज आदि जातियों में उत्पन्न मनुष्य जात्यार्य है।

(३) **कर्म आर्य**—कर्मार्थ तीन प्रकार के हैं—सावद्य कर्मार्थ, अल्पसावद्य कर्मार्थ और असावद्य कर्मार्थ।

सावद्य कर्मार्थ—असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वणिक्कर्म के भेद से छह प्रकार के हैं। तलवार, धनुष आदि शस्त्र-विद्या में निपुण मनुष्य असि कर्मार्थ हैं। द्रव्य के आय-व्यय आदि के लेखन में कुशल मनुष्य मषिकर्म-आर्य है। हल, कुलिश, दन्ताल आदि कृषि (खेती) के उपकरण-विधान को जानने वाला वा कृषिकार्य करने वाला कृषि कर्मार्थ कहलाता है। लेखन, गणित, चित्रादि पुरुष की बहत्तर (७२) कलाओं में चतुर मनुष्य विद्या कर्मार्थ है। चौंसठ कला गुणों से सम्पन्न स्त्री भी विद्या कर्मार्थ है। धोबी, नापित (नाई) लुहार, कुम्भकार, सुवर्णकार आदि शिल्प कर्मार्थ हैं। चन्दनादि गन्ध, घृतादिरस, चावल आदि धान्य, कार्पास आदि आच्छादन (कपड़ा), मोती, माणिक्य, सुवर्ण आदि द्रव्यों का संग्रह करने वाले बहुत प्रकार के वणिक्कर्मार्थ हैं, ये छहों प्रकार के मनुष्य; अविरति में प्रवीण होने से (व्रत रहित होने से) सावद्य कर्मार्थ कहलाते हैं।

अल्पसावद्य कर्मार्थ—विरति-अविरति से युक्त होने से पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक-श्राविकायें अल्प सावद्य कर्मार्थ हैं।

असावद्य कर्मार्थ—कर्म क्षय करने में उद्यत, विरति में रत यतिजन असावद्य कर्मार्थ हैं।

(४) **चारित्र आर्य**—चारित्रार्थ दो प्रकार के हैं—अधिगत चारित्रार्थ और अनधिगत चारित्रार्थ। चारित्रार्थ के ये दो भेद; बाह्य अनुपदेश और उपदेश की अपेक्षा से हैं। बाह्य उपदेश के बिना स्वयं ही चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से या क्षय से जो चारित्र परिणाम को प्राप्त होकर उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय को प्राप्त हुए हैं, वे अधिगत चारित्रार्थ हैं तथा अन्तरङ्ग में चारित्र मोह के क्षयोपशम का सद्भाव होने पर बाह्योपदेश का निमित्त पाकर विरति भाव को प्राप्त हुए हैं, वे अनधिगत चारित्रार्थ हैं।

(५) **दर्शन आर्य**—आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ रुचि के भेद से दर्शनार्थ दस प्रकार के हैं। भगवान् अर्हत्सर्वज्ञ प्रणीत आज्ञामात्र को मुख्य मानकर जो तत्त्वरुचि को प्राप्त हुए हैं, वे आज्ञारुचि नामक दर्शनार्थ हैं। अपरिग्रही मोक्षमार्ग के श्रवण मात्र से उत्पन्न रुचि सम्यग्दर्शन वाले मार्गरुचि नामक दर्शनार्थ हैं। तीर्थङ्कर, बलदेव आदि के चारित्रों में उपदेश को सुनकर जो श्रद्धान करते हैं, वे उपदेशरुचि दर्शनार्थ हैं। दीक्षा, मर्यादा आदि के निरूपक आचाराङ्ग आदि सूत्रों के सुनने से उत्पन्न सम्यग्दर्शन वाले सूत्ररुचि दर्शनार्थ हैं। बीजपदों के ग्रहणपूर्वक सूक्ष्मार्थ को सुनकर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान को प्राप्त हुए हैं, वे बीजरुचि दर्शनार्थ हैं। जीवादि पदार्थों के संक्षेप कथन को सुनकर जो श्रद्धान को प्राप्त हुए हैं, वे संक्षेपरुचि दर्शनार्थ हैं। अङ्गपूर्व के विषयभूत जीवादि पदार्थों के विस्तार, प्रमाण, नय आदि के निरूपण के बल से विस्ताररूप कथन सुनकर जो

श्रद्धान को प्राप्त हुए हैं, वे विस्ताररुचि दर्शनार्थ हैं। वचन के विस्तार के बिना केवल अर्थग्रहण से जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, वे अर्थरुचि दर्शनार्थ हैं। आचारादि द्वादशाङ्ग में जिनका अतिदृढ श्रद्धान है, वे अवगाढरुचि दर्शनार्थ हैं। परमावधि, केवलज्ञान-दर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थों के विषय में जो आत्म निर्मलता होती है, वह परमावगाढरुचि दर्शनार्थ है। इस प्रकार रुचि के भेद से सम्यग्दर्शन दस प्रकार का है और दर्शनार्थ भी दस प्रकार के हैं।

पहले ऋद्धि प्राप्त आर्य; आठ प्रकार के होते हैं—(१) बुद्धि ऋद्धि; (२) क्रिया ऋद्धि; (३) विक्रिया ऋद्धि; (४) तप ऋद्धि; (५) बल ऋद्धि; (६) औषधि ऋद्धि; (७) रस ऋद्धि; (८) अक्षीण ऋद्धि।

म्लेच्छ दो प्रकार के होते हैं—(१) अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ; (२) कर्मभूमिज म्लेच्छ। अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ को कुभोग-भूमिज कहा जाता है। कर्मभूमिज म्लेच्छ; शक, यवन, शबर, पुलिन्द आदि हैं, ये अणुव्रतों के अधिकारी हो सकते हैं। आर्य के भी दो भेद होते हैं—(१) कर्मभूमिज—जहाँ असि, मषि अथवा धर्मसाधन के उपाय हैं, वे कर्मभूमिज हैं। (२) अकर्मभूमिज—तीस भोगभूमियों के मनुष्यादि अकर्मभूमिज आर्य हैं; कारण कि यहाँ के उत्पन्न मनुष्य; एक-दूसरे स्त्री-पुरुषों को आर्या एवं आर्य नाम से सम्बोधन करते हैं। इस सब का विशेष वर्णन राजवार्तिक ग्रन्थ में देखें।

जिज्ञासा—अढाईद्वीप में जितनी भूमियों के नाम बतलाये हैं, उन भूमियों में से कितनी कर्मभूमियाँ हैं और कितनी भोगभूमियाँ हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

सूत्र उच्चारण—भरतै-रावत-विदेहाः, कर्मभूमयोऽन्यत्र, देवकुरुत्तर-कुरुभ्यः ॥३७॥

सन्धि विग्रह—भरत-ऐरावत-विदेहाः कर्मभूमयः अन्यत्र देवकुरु-उत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

सूत्रार्थ—देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर; भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र वाली ये सब कर्मभूमियाँ हैं।

लब्धार्थ—पाँच भरत, पाँच ऐरावत एवं पाँच विदेह; ये सब कर्मभूमियाँ कही जाती हैं, लेकिन विदेहक्षेत्र में देवकुरु एवं उत्तरकुरु भोगभूमियों का भी ग्रहण होता है, अतः इन दोनों भूमियों का निषेध करने के लिए “अन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः” पद रखा गया है। यहाँ अन्यत्र पद “निषेध” अर्थ में है।

विशेषार्थ—अढाईद्वीप में ही भरत आदि क्षेत्रों का विभाग है, उन सभी क्षेत्रों की कुल संख्या; जम्बूद्वीप के सात क्षेत्र, धातकीखण्ड के दूने चौदह क्षेत्र, पुष्करार्द्ध के भी चौदह क्षेत्र, इस प्रकार कुल मिलाकर पैंतीस क्षेत्र अढाईद्वीप में हैं। पाँचों विदेह के; पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु; ऐसे कुल दश क्षेत्रों को मिलाने से सब क्षेत्र पैंतालीस हुए। इनमें से पाँच भरत, पाँच ऐरावत एवं पाँच विदेह; ये पन्द्रह ही कर्मभूमियाँ हैं। बाकी तीस भोगभूमियाँ हैं।

जो शुभ और अशुभ कर्मों का आश्रय हो, उन्हें कर्मभूमि कहते हैं। वैसे तो तीनों लोक; कर्म का आश्रय है फिर भी इससे उत्कृष्टता का ज्ञान होता है कि ये प्रकर्षरूप से कर्म के आश्रय हैं।

जहाँ सातवें नरक तक ले जाने वाला निकृष्ट अशुभकर्म का एवं सर्वार्थसिद्धि तक ले जाने वाला उत्कृष्ट शुभ कर्म, तीर्थङ्कर नामकर्म की प्रकृति वाला शुभकर्म भी इन भरतादि क्षेत्रों में ही उपार्जित होता है, अतः इन्हें कर्मभूमि कहते हैं।

पात्रदान आदि के साथ कृषि आदि छह प्रकार के कर्म-क्रिया का आरम्भ भी इन क्षेत्रों में होता है, अतः भरतादि क्षेत्रों की कर्मभूमि संज्ञा है।

इसके अलावा जिन क्षेत्रों में दश प्रकार के कल्पवृक्षों से भोगों की प्राप्ति होती है, अतः इनको भोगभूमि कहते हैं।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या सैंतीस में अठाईद्वीप की पैंतालीस भूमियाँ कहीं हैं, जहाँ मनुष्य रहते हैं, लेकिन उन क्षेत्रों में रहने वाले समस्त मनुष्यों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु कितनी है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

सूत्र उच्चारण—नृ-स्थिती, परावरे, त्रिपल्योप-, मान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

सन्धि विग्रह—नृ-स्थिती पर-अवरे त्रिपल्य-उपमा-आ-अन्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

सूत्रार्थ—मनुष्यलोक के समस्त मनुष्यों की पर यानि उत्कृष्ट आयु; तीन पल्योपम एवं अवर यानि जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त तक है।

लब्धार्थ—समस्त मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु; तीन पल्य एवं जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त तक है।

विशेषार्थ—मनुष्यों में जो उत्तम भोगभूमिज मनुष्य हैं, उनकी ही उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की होती है, कर्मभूमिज मनुष्यों के नहीं। कर्मभूमिज मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण होती है एवं जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण तक होती है। मध्यम आयु अनेक प्रकार की है।

पल्य तीन प्रकार का होता है—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य, अद्धापल्य। पल्य; गड्ढे को कहते हैं।

(१) **व्यवहारपल्य**—प्रमाणाङ्गुल की गणना से एक-एक योजन लम्बे, चौड़े, गहरे तीन गड्ढे करो और इनमें से एक में; एक दिन से लेकर सात दिन तक के पैदा हुए मेढ़े (भेड़) के रोमों के अग्र भाग के कैंची से ऐसे टुकड़े करो कि जिनका पुनः दूसरा टुकड़ा न हो सके, ऐसे बालों से उस गड्ढे को ऐसा भरो कि हाथी भी निकल जाए तो पुनः दबे नहीं। उस गड्ढे के एक-एक रोम के टुकड़े को सौ-सौ वर्ष में निकालो, जितने समय में वह गड्ढा खाली हो जाए, उतने समय को व्यवहारपल्य कहते हैं।

(२) **उद्धारपल्य**—असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय हों उतने उन रोमच्छेदों में से प्रत्येक खण्ड करके उनसे दूसरे गड्ढे के भरने पर उद्धारपल्य होता है, इसमें से प्रत्येक समय में एक-एक रोम को निकालते हुए जितने रोमखण्ड हों उतने सब द्वीप और समुद्र हैं।

(३) **अद्धापल्य**—सौ वर्ष के जितने समय हों, उतने उद्धारपल्य के रोमखण्डों में से प्रत्येक के खण्ड करके और उनसे तीसरे गड्ढे के भरने से अद्धापल्य होता है, इनमें से प्रत्येक समय में एक-एक रोम के निकालने पर जितने समय में गड्ढा खाली हो जाए उतने काल का नाम अद्धा सागरोपम है।

ऐसे दश कोड़ा-कोड़ी अद्धा सागरों का एक अवसर्पिणी काल होता है एवं इतने ही समयों का एक उत्सर्पिणी काल होता है।

संख्या का प्रयोजक व्यवहार पल्य है। उद्धारपल्य से द्वीप-समुद्रों की गणना की जाती है अद्धापल्य से; नारकी, तिर्यञ्च, देव और मनुष्यों की कर्म स्थिति, भव स्थिति, आयु स्थिति एवं काय स्थिति की गणना करना चाहिए। (सर्वासि०पृ० १७४-१७५)

जिज्ञासा—सभी प्रकार के मनुष्यों की आयु का कथन किया, लेकिन तिर्यज्चों की आयु कितनी है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

सूत्र उच्चारण—तिर्यग्-, योनिजानां च ॥३९॥

सूत्रार्थ—तिर्यज्चों की आयु भी मनुष्यों की आयु के समान है ।

लब्धार्थ—तिर्यज्चों की उत्कृष्ट आयु भी मनुष्यों के समान तीन पल्य एवं जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है ।

विशेषार्थ—जो तिर्यज्च योनि में उत्पन्न होते हैं, वे तिर्यग्-योनिज कहलाते हैं, अतः सूत्र में “तिर्यग्योनिजानां” शब्द रखा है ।

आयु अर्थात् स्थिति दो प्रकार की होती है—(१) भव स्थिति; (२) काय स्थिति ।

एक पर्याय में जितना काल लगे, वह भव स्थिति है तथा उस पर्याय को छोड़कर, अन्य दूसरी पर्याय में उत्पन्न न होकर, पुनः-पुनः उसी पर्याय में निरन्तर उत्पन्न होने से जो स्थिति प्राप्त होती है, वह काय स्थिति है ।

इस सूत्र में मनुष्य एवं तिर्यज्चों की भव स्थिति का वर्णन है । इनकी जघन्य काय स्थिति; जघन्य भव स्थिति प्रमाण हैं, क्योंकि एक बार जघन्य आयु के साथ भव पाकर उसका अन्य पर्याय में जाना सम्भव है । जैसे—तिर्यज्च गति के निगोद जीवों का एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण होता है, उनमें एक बार का जन्म क्षुद्रभव गिना जाता है अर्थात् श्वास के अठारहवें हिस्से (भाग) के समय की आयु से क्षुद्र भव गिना जाता है ।

मनुष्यों की उत्कृष्ट काय स्थिति, पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक तीन पल्य है ।

पृथक्त्व—यह एक रौढ़िक संज्ञा (नाम) है, जिसकी तीन से ऊपर और नौ से नीचे की संख्या होती है अर्थात् पृथक्त्व शब्द जहाँ भी प्रयुक्त होता है, वहाँ उसकी संख्या का मान; तीन से ऊपर, नौ से कम होता है । जैसे—दिन पृथक्त्व, मास पृथक्त्व, वर्ष पृथक्त्व आदि । इसका भाव यही है कि तीन दिन से अधिक एवं नौ दिन से कम । इसी प्रकार अन्य संख्या में भी समझना चाहिए । तिर्यज्च जीवों की काय स्थिति; अनन्त काल है । जिसका प्रमाण अंसख्यात पुद्गल परिवर्तन है । यदि अन्य गति से आकर कोई जीव निरन्तर तिर्यज्च गति में परिभ्रमण करता रहता है तो अधिक से अधिक इतने काल तक वह मर-मरकर पुनः तिर्यज्च गति में रह सकता है । इसके बाद वह नियम से अन्य गति में जन्म लेगा । अनेक प्रकार के तिर्यज्चों की अपेक्षा उनकी काय स्थिति भी अनेक प्रकार की है ।

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या उन्तालीस तक नरक से लेकर मध्य लोक तक का कथन करने वाला तीसरा अध्याय पूर्ण हुआ ।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

जिज्ञासा—इसी तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में इक्कीसवें सूत्र संख्या “भव प्रत्ययोऽवधि-देव नारकाणाम्” में देव शब्द का प्रयोग हुआ है, वे देव कितने प्रकार के हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर चौथे अध्याय में प्रथम सूत्र कहते हैं—

सूत्र—देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

सूत्र उच्चारण—देवाश्-, चतु-र्णिकायाः ॥१॥

सन्धि विग्रह—देवाः चतुः णिकायाः ॥१॥

सूत्रार्थ—जिनके आभ्यन्तर (अन्तरङ्ग) कारण देवगति नामकर्म का उदय होने पर जो बाह्य में नाना प्रकार के वैभव से द्वीप-समुद्र आदि अनेक स्थानों में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, उन्हें देव कहते हैं। ये सभी देव; चार निकाय (समूह) वाले होते हैं।

विशेषार्थ—देव शब्द दिव् धातु से बना है, जिसका अर्थ क्रीड़ा करना होता है अर्थात् जो अपनी इच्छानुसार, द्वीप-समुद्र आदि में क्रीड़ा-कौतुक करते रहते हैं, वे देव कहलाते हैं। यहाँ देवगति नामकर्म भी विवक्षित है, अन्यथा अन्य हर व्यक्ति क्रीड़ा आदि करने से देव हो जायेगा।

इस देवगति के देवों को चार निकाय या श्रेणियों में विभाजित किया गया है—

(१) भवनवासी; (२) व्यन्तरवासी; (३) ज्योतिष्क; (४) वैमानिक; इन चारों निकाय की व्याख्या एवं भेद ही अगले सूत्रों में कहे जायेंगे।

विशेष—वर्तमान में ग्रहीत एवं अग्रहीत कुसंस्कारों के कारण व्यक्ति; देवों के यथार्थ स्वरूप को विकृत कर रहा है। जिसके कारण समाज में अनेक विसंवाद उत्पन्न हो रहे हैं। यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाए तो यह विसंवाद; व्यक्ति की स्वार्थ बुद्धि के हैं, आगमिक नहीं हैं, अतः जिन मान्यताओं में व्यक्ति विसंवादित है, उन मान्यताओं का एक समीक्षात्मक विश्लेषण निरपेक्ष भाव से करें तो कुछ समझ में आ सकता है। सामान्य अर्थ में “देव” शब्द “देने” अर्थ में आता है या जिनसे हमें कुछ मिल सकता है, वे देव हैं। यदि हम लोक प्रचलित मान्यता के अनुसार इन देवों के स्वरूप को विभाजित करें तो वे भी चार प्रकार की संख्या को प्राप्त कर सकते हैं—(१) अदेव; (२) कुदेव; (३) सुदेव; (४) देवाधिदेव।

(१) **अदेव**—जिनमें देवगति नामकर्म का उदय नहीं है और न ही इन देवों के निश्चित कोई स्वरूप हैं फिर भी लोक मान्यता में इनको देवों के समान पूजा-सत्कार नमस्कार आदि करते हैं, क्योंकि जन-साधारण लोगों की ऐसी मान्यता है कि इनको पूजने से, नमस्कार करने से धनादि की वृद्धि होती है। जैसे-दुकान में प्रथम ग्राहक से प्राप्त दामों को तिजोरी-गोलक (केस बाक्स) आदि से तराजू-मीटर आदि से छुआकर माथे से लगाना फिर उसमें रखना। दीपावली वाले दिन रुपये-पैसों की खाते बहियों की पूजा करना; अदेव पूजा है।

(२) कुदेव—जिनके देवगति नामकर्म उदय तो है, लेकिन ये क्षुद्र देव अपनी विक्रिया से दूसरे जीवों को परेशान-सताने आदि से कौतुक करते हैं। अपनी ऋद्धियों-शक्तियों का दुरुपयोग करते हैं, अनेक प्रकार के रूप धारण करके किसी के अच्छे कार्य में विरोध करते हैं, किन्तु उन्हें सम्यग्दृष्टि देवों के सम्बोधन-सम्पर्क में आने से या जाति स्मरण अथवा अपने से अधिक ऋद्धिधारी देवों की शक्ति-विभूति-वैभव को देखकर अथवा जिनमहिमा-पञ्चकल्याणक, नन्दीश्वरद्वीप आदि के माहात्म्य को समझकर अपनी क्रूरता-कौतुक छोड़कर सम्यक्त्व को भी ग्रहण कर लेते हैं, जिससे वे सुदेव कहलाने लगते हैं।

(३) सुदेव—जिनके देवगति नामकर्म का उदय तो है, लेकिन ये देव; सम्यग्दृष्टि होने से सच्चे देव-देवाधिदेव अरिहन्त देव की उपासना-प्रभावना करते हैं, क्योंकि अरिहन्तों के चौदह प्रकार के अतिशय इन्हीं सुदेवों के द्वारा होते हैं। सच्चे गुरु-दिगम्बर साधुओं की उपासना-प्रभावना करते हैं। सच्चे शास्त्र-तत्त्व की चर्चा करते हैं। सौधर्मेन्द्र आदि से ऊपर के जितने सम्यग्दृष्टि वैमानिक देव हैं, वे सब सुदेव हैं, किन्तु भवनत्रिक में जो सम्यग्दृष्टि देव हैं, वे भी सब सुदेव ही हैं, क्योंकि ये सब देवाधिदेव अरिहन्तदेव के उपासक-आराधक बन जाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अरिहन्त भगवान् को सौ इन्द्रों से वन्दनीय-पूजनीय कहा है—

इंद-सद-वंदियाणं तिहुअण-हिद-मधुर-विसद-वक्काणं ।

अंतातीत-गुणाणं णमो जिणाणं जिद-भवाणं ॥

“प्रवचनसार” मङ्गलाचरण ।

सौ-इन्द्रों की संख्या निम्न प्रकार है—

भवणालय चालीसा, वितरदेवाण होंति बत्तीसा ।

कप्पामर चउवीसा, चंदो सूरु णरो तिरियो ॥

“ब्रव्यसंग्रह” क्षेपक ।

भवनवासियों के ४०, व्यन्तरों के ३२, कल्पवासियों के २४ एवं ज्योतिष्क देवों के २ इन्द्र-चन्द्र-सूर्य, मनुष्यों का १ इन्द्र; चक्रवर्ती, तिर्यज्यों का १ इन्द्र; सिंह, इस प्रकार १०० इन्द्र होते हैं। इसमें कुछ इन्द्र; चौबीस तीर्थङ्करों के यक्ष-यक्षणियाँ भी होते हैं तथा जिनेन्द्र भक्त होने से सम्यग्दृष्टि होते हैं। सम्यग्दृष्टि; षट् आयतन सेवी होते हैं अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु एवं इन तीनों को मानने वाले; ऐसे छह आयतन हैं। सम्यग्दृष्टि देव तो मनुष्यों से भी अधिक आयतन सेवी होते हैं, क्योंकि देवों के सम्यग्दर्शन के कारणों में कारण सबसे अधिक हैं, देवऋद्धि दर्शन से उन्हें सम्यक्त्व हो जाता है। पावन प्रसङ्ग में व्यक्ति विशेष की महिमा का कथन नहीं है, बल्कि सम्यग्दर्शन के महत्त्व की चर्चा है, अतः सम्यग्दृष्टि यथायोग्य पूजा-सम्मान का पात्र है।

(४) देवाधिदेव—जो सर्वज्ञ, वीतराग एवं हितोपदेशी, अठारह दोषों से रहित हैं तथा जो समस्त देवगति के देवों के भी देव हैं अर्थात् सभी देवों से पूजनीय-वन्दनीय हैं, वे देवाधिदेव हैं। इन्हें अरिहन्त, तीर्थङ्कर, केवली आदि नाम से जानते हैं।

समीक्षा—आजकल मिथ्यात्व को हटाने के नाम पर; कुदेवों के हटाने के नाम पर सुदेवों का भी तिरस्कार किया जा रहा है। तीर्थङ्करों के यक्ष-यक्षिणी या स्थानगत रक्षक देवी-देवताओं को भी अभद्र शब्दों द्वारा, क्रियाओं द्वारा उपेक्षित-अनादरित किया जा रहा है।

आजकल जो कोई भी इन सुदेवों का अनादर-तिरस्कार कर रहे हैं, हम उनसे पूछना चाहते हैं कि जब भी वे कोई पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक महोत्सवों में जिन सामाजिक श्रेष्ठियों का, राजनैतिक नेताओं का, असंयमी विद्वानों का; अरिहन्त जिनबिम्ब, आचार्य-उपाध्याय, साधु परमेष्ठियों के समक्ष, धार्मिक मञ्चों पर उन लोगों का उपाधियों से; कीमती उपहारों से जो सम्मान किया जाता है, उनकी प्रशंसा की जाती है, वह कहाँ तक उचित है? उनके पर्व-उत्सवों में चन्दा आदि देकर सहयोग करना कहाँ तक अच्छा है? ऐसे लोगों के साथ खान-पान, रोटी-बेटी का व्यवहार करना कहाँ तक ठीक है?

कुछ लोगों का कहना है कि ये देव; अस्त्र-शस्त्र-वस्त्र आदि से सहित हैं, अतः अपूज्य हैं? इस शङ्का के समाधान में कहना है कि मात्र अस्त्र-शस्त्र-वस्त्र आदि सहित होने से ही उनके अपूज्यता का लक्षण घटित नहीं होता है, क्योंकि डाकु, गुण्डे, बदमाश भी अस्त्र-शस्त्र-वस्त्र सहित होते हैं एवं इनसे रक्षा करने वाले सैनिक, पुलिस, चौकीदार, बॉडीगार्ड भी अस्त्र-शस्त्र-वस्त्र सहित होते हैं। यदि आपकी कोई पारिवारिक, आर्थिक हानि या समस्या हो और इनके द्वारा आपकी सहायता हो जाती है तब आपका भी इनके प्रति आदर भाव बढ़ जाता है। आप उनका सम्मान भी उपाधियों एवं कीमती उपकरणों द्वारा करते हैं, यह क्यों?

कुछ लोगों का कहना है कि सम्यग्दृष्टि देव भी असंयमी होते हैं, अतः इनका सम्मान नहीं करना चाहिए? इस शङ्का के समाधान में कहना है कि यदि आप अपने स्वार्थ से मिथ्यादृष्टि, व्यसनी; पारिवारिक-सामाजिक-राजनैतिक एवं तथाकथित धार्मिक व्यक्तियों का विभिन्न समारोहों में सम्मान कर सकते हैं तब इन सुदेवों का सम्मान करने में क्या हानि है?

कुछ लोगों का कहना है कि देवताओं में कुछ-अच्छा बुरा करने की शक्ति नहीं है जो कुछ भी अच्छा-बुरा होता है, अपने पुण्य-पाप के निमित्त से होता है? यह बात सही है कि अच्छा-बुरा अपने ही पुण्य-पाप के निमित्त से होता है फिर भी पुण्य-पाप की सामग्री प्राप्त कराने में जो निमित्त बनता है, उसका श्रेय उसे ही मिलता है, अन्यथा ऐसे प्रसङ्गों पर श्रेय-अश्रेय का भाव क्यों होता है? यदि ऐसा नहीं है तो हमें यह मान लेना चाहिए कि हमारे पुण्य कर्म से हमें सुख मिलता है, इसमें दूसरे को श्रेय देना अथवा पाप कर्म से दुःख मिलता है, इससे दूसरों को दोष देना नहीं बन सकता है।

देवों में जो “प्रभाव” शक्ति है, उसे श्राप और अनुग्रह कहते हैं। ऐसा देखा जाता है कि जब कोई देवी-देवता किसी कारण से असन्तुष्ट होते हैं तो उस व्यक्ति-परिवार आदि की श्राप द्वारा शारीरिक-मानसिक-आर्थिक हानि आदि करते हैं एवं जब सन्तुष्ट होते हैं तो अनुग्रह द्वारा लाभ पहुँचाते हैं। आचार्यश्री ज्ञानसागरजी ने जयोदय काव्य के पृ० ७७, श्लोक ३९ में गृहस्थों को अपने कुल देवता आदि की उपासना करना चाहिये, ऐसा लिखा है। आचार्यश्री विद्यासागरजी ने भी रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना के समय वरोपलिप्स्या-श्लोक का विवेचन करते हुये कहा है कि जिनशासन के देवी-देवताओं का पान, सुपाड़ी आदि से सम्मान करना चाहिये। (वॉट्सऐप की रिकॉर्डिंग से)

सुदेवों के सम्मान की प्रामाणिकता—

(१) प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित अभिषेक पाठों में दश दिक्पालों एवं क्षेत्रपालों को सम्मान सामग्री अर्पण करते हुए आह्वान करना “भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित, ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि”।

(२) प्रतिष्ठा पाठों में भी विशेषरूप से देवागम विधि से इनका सम्मान किया है। (वसुबिन्दु प्र० पा०)

(३) पाँचवें स्वर्ग के देवों में जो लौकान्तिक देव हैं, वे देवर्षि कहलाते हैं, जिनकी अर्चा-पूजा स्वर्ग के अन्य देव भी करते हैं। “सर्वार्थसिद्धि; चौथा अध्याय”।

(४) पण्डित आशाधरसूरि ने सागार धर्माभूत ग्रन्थ में, पाक्षिक श्रावकों के लिए शासन देवताओं का सम्मान करने में दोष नहीं है; ऐसा कहा है, लेकिन दार्शनिक-प्रतिमाधारी श्रावकों को दोष कहा है, क्योंकि व्रती श्रावक; अव्रती ग्रहस्थ को अथवा देवी-देवताओं को नमस्कार आदि नहीं कर सकता है। हाँ; उन्हें धर्मवृद्धि-दर्शनविशुद्धि आदि कहकर आशीर्वाद दे सकता है—देता है।

(५) साधुओं की तेरह प्रकार की क्रियायें चरणानुयोग में कही हैं, पञ्च-परमेष्ठियों को नमस्कार; ये पाँच। छह आवश्यक; ये छह। निस्सही-आस्सही; ये दो, इस तरह कुल तेरह क्रियायें हैं। इसमें निस्सही एवं आस्सही शब्द; नगर-ग्राम-आवास-गृह-मन्दिर आदि में प्रवेश करते समय एवं छोड़ते समय प्रयोग किए जाते हैं। इसी के साथ मलमूत्र विसर्जन आदि के स्थान पर भी निस्सही-आस्सही शब्द का प्रयोग करते हैं। इन दोनों शब्दों का अभिप्राय यही है कि इस स्थान के नगरादि देवी-देवता या रक्षक इस स्थान के उपयोग की अनुमति दें तथा उपयोग के बाद उनके धन्यवाद ज्ञापनरूप इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि हम किसी का सम्मान नहीं करें तो कोई बात नहीं, लेकिन किसी का अपमान-अनादर नहीं करना चाहिए।

जैन संस्कृति संरक्षक संघ, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर (महा०) के संस्थापक ब्र० पं० जीवराज दोशी ने सन् १९५४ में; पं० सदासुखदास जी की रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा वचनिका के मराठी अनुवाद की प्रस्तावना के पृष्ठ संख्या ११ से २२ तक में जैन शासन के देवी-देवताओं को सम्यग्दृष्टि सिद्ध करते हुये उनके सम्मान का पुरजोर समर्थन किया है।

पं० पन्नालाल साहित्याचार्य-सागर (म० प्र०) वालों ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की प्रभाचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका का सम्पादन किया है, उसमें भी जिनशासन के देवी-देवताओं के सम्मान करने की पुष्टि की है। देवों के यथार्थ स्वरूप के अवर्णवाद से दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

चिन्तन में यह बात अवश्य है कि अतिरेक दोनों तरफ से हो रहा है, एक ने शासन देवी-देवताओं का पूर्णतः निषेध कर दिया है तो दूसरे ने इन्हें भगवान् या इससे भी महान् मान लिया है। यदि उनके पद-मर्यादा के योग्य व्यवहार किया जावे तो समस्त विसङ्गतियों से बचा जा सकता है।

जिज्ञासा—जिस प्रकार तीसरे अध्याय में नारकियों की लेश्या का वर्णन किया है, उसी प्रकार क्या देवों में भी लेश्या का महत्त्व है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

सूत्र उच्चारण—आदितस्-त्रिषु, पीतान्त-लेश्याः ॥२॥

सन्धि विग्रह—आदितः त्रिषु पीत-अन्त-लेश्याः ॥२॥

सूत्रार्थ—आदि के तीन निकायों में पीत पर्यन्त चार लेश्यायें हैं।

लब्धार्थ—आदि के तीन निकाय अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर एवं ज्योतिष्क; इन तीन निकायों में कृष्ण, नील, कापोत एवं पीत; ये चार लेश्यायें होती हैं।

विशेषार्थ—वैसे तो देवगति में भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों के पर्याप्त अवस्था में एक पीत लेश्या ही होती है, किन्तु ऐसा नियम है कि कृष्ण-नील-कापोत लेश्या के मध्यम अंशों से मरे हुए कर्मभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च एवं भोगभूमियों के मिथ्यादृष्टि मनुष्य एवं तिर्यञ्च; पीत लेश्या के मध्यम अंशों से मरकर भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं, इस कारण से मरते समय अपर्याप्त अवस्था में कर्मभूमियों की तीन अशुभ लेश्यायें एवं भोगभूमियों की एक पीत लेश्या होती है, इस प्रकार तीन निकायों में आदि की कुल चार लेश्यायें होती हैं।

जिज्ञासा—चौथे अध्याय के प्रथम सूत्र में देवों के चार निकाय कहे, किन्तु इन चारों निकायों के भी कोई अन्तर भेद हैं क्या? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥३॥

सूत्र उच्चारण—दशाष्ट-पञ्च-, द्वादश-विकल्पाः, कल्पोप-पन्न-, पर्यन्ताः ॥३॥

सन्धि विग्रह—दश-अष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पाः कल्प-उपपन्न-पर्यन्ताः ॥३॥

सूत्रार्थ—दश, आठ, पाँच एवं बारह भेद; क्रमशः कल्पोपन्न तक के देव; चारों निकायों में होते हैं।

लब्धार्थ—देव चार निकाय वाले होते हैं। इनके पहले निकाय; भवनवासी के दश भेद हैं। दूसरे निकाय; व्यन्तरवासी के आठ भेद हैं। तीसरे निकाय; ज्योतिष्क के पाँच भेद हैं। चौथे निकाय; वैमानिक देवों के कल्पोपपन्न पर्यन्त बारह भेद हैं।

विशेषार्थ—सूत्र में कल्प-उपपन्न पद रखने से वैमानिक देवों में प्रारम्भ के बारह भेद ही कल्पोपपन्न में आते हैं, जिससे सूत्रानुसार चौथे निकाय में वैमानिक देवों के कल्पोपपन्न तक ही बारह भेद आते हैं, इसके ऊपर ग्रैवेयक आदि देवों का निराकरण हो जाता है।

कल्प—जिनमें इन्द्र आदि दस प्रकार तक के भेद किए जा सकें, वे कल्प कहे जाते हैं। यद्यपि इन्द्र आदि की भेद-कल्पना भवनवासी आदिकों में भी है फिर भी रूढ़ि से कल्प का भेद वैमानिकों में ही किया जाता है, अतः जिनके अन्त तक कल्पोपपन्न देव हैं, उनको कल्पोपपन्न पर्यन्त कहा है।

जिज्ञासा—देवों के चारों निकायों में जो दश-आठ आदि भेद किए हैं, लेकिन जिन नामों के कारण उनमें भेद-कल्पना की जाती है, वे नाम कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्ण-
काभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥४॥**

**सूत्र उच्चारण—इन्द्र-सामानिक-, त्रायस्त्रिंश-, पारिषदात्मरक्ष-, लोकपालानीक-, प्रकीर्ण-
काभियोग्य-, किल्बिषिकाश्-, चैकशः ॥४॥**

**सन्धि विग्रह—इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद-आत्मरक्ष-लोकपाल-अनीक-प्रकीर्णक-
आभियोग्य-किल्बिषिकाः च-एकशः ॥४॥**

सूत्रार्थ—इन दश-आठ आदि में ही इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक; ये भेद-कल्पनारूप पदों के कारण इनके दश नाम हैं। ये दस पद प्रायः प्रत्येक निकाय में होते हैं।

लब्धार्थ—चारों निकायों के जो दश-आठ आदि भेद किए हैं, उनमें प्रत्येक निकाय के देवों में इन्द्र-सामानिक आदि दस-आठ आदि पद माने गए हैं।

विशेषार्थ—१. इन्द्र—जो अन्य देवों में असाधारण अणिमादि गुणों के सम्बन्ध से शोभते हैं, वे इन्द्र कहलाते हैं।

२. सामानिक—आज्ञा और ऐश्वर्य के सिवा जिनके स्थान, आयु, वीर्य, परिवार, भोग और उपभोग आदि समान हैं, उस समान में जो होते हैं, वे सामानिक कहलाते हैं। ये पिता, गुरु और उपाध्याय के समान सबसे बड़े हैं।

३. त्रायस्त्रिंश—जो मन्त्री और पुरोहित के समान हैं, वे त्रायस्त्रिंश हैं, ये तैंतीस ही होते हैं, अतः त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं।

४. पारिषद—जो सभा में मित्र और प्रेमीजनों के समान होते हैं, वे पारिषद कहलाते हैं।

५. आत्मरक्ष—जो अङ्गरक्षक के समान हैं, वे आत्मरक्ष कहलाते हैं।

६. लोकपाल—जो रक्षक के समान अर्थचर हैं, वे लोकपाल कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो लोक का पालन करते हैं, वे लोकपाल हैं।

७. अनीक—जैसे यहाँ सेना है। उसी प्रकार से पदाति आदि अनीक कहलाते हैं।

८. प्रकीर्णक—जो गाँव और शहरों में रहने वालों के समान हैं, उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं।

९. आभियोग्य—जो दास के समान वाहन आदि कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वे आभियोग्य कहलाते हैं।

१०. किल्बिषिक—जो सीमा के पास रहने वालों के समान हैं, वे किल्बिषिक हैं। किल्बिष; पाप को कहते हैं, इसकी बहुलता जिनके होती है, वे किल्बिषिक कहलाते हैं।

जिज्ञासा—चारों निकायों में इन्द्र आदि दस पदरूप भेद कहे, लेकिन जिस निकाय में जो पद नहीं हैं, उसके निषेध के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

सूत्र उच्चारण—त्रायस्त्रिंश-, लोकपाल-वर्ज्या, व्यन्तर-ज्योतिष्काः ॥५॥

सूत्रार्थ—त्रायस्त्रिंश एवं लोकपाल को छोड़कर; व्यन्तर और ज्योतिष्कों में आठ-आठ ही इन्द्र आदि पद होते हैं।

लब्धार्थ—व्यन्तर और ज्योतिष्क; इन दो निकायों में इन्द्र आदि दस पदों में से त्रायस्त्रिंश एवं लोकपाल; ये दो नाम वाले पद नहीं होते हैं, आठ-आठ पद ही होते हैं।

विशेषार्थ—(१) इन्द्र; (२) सामानिक; (३) पारिषद; (४) आत्मरक्ष; (५) अनीक; (६) प्रकीर्णक; (७) आभियोग्य; (८) किल्बिषिक; ये आठ नाम वाले पद ही व्यन्तर एवं ज्योतिष्क; ये दो निकाय वालों के होते हैं।

जिज्ञासा—चारों निकायों में इन्द्र आदि पद नियुक्त करने के बाद; उनके एक-एक निकाय में भी कितने-कितने इन्द्र होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पूर्वयोर्द्विन्द्राः ॥६॥

सूत्र उच्चारण—पूर्वयोः, द्विन्द्राः ॥६॥

सन्धि विग्रह—पूर्वयोः द्वि-इन्द्राः ॥६॥

सूत्रार्थ—पूर्व के दो निकायों में दो-दो इन्द्र होते हैं ।

लब्धार्थ—पूर्व के अर्थात् भवनवासी एवं व्यन्तर देवों के; इन दो निकायों में दो-दो इन्द्र होते हैं ।

विशेषार्थ—प्रथम निकाय—भवनवासियों में दो-दो इन्द्र इस प्रकार हैं—

- (१) असुरकुमारों के चमर और वैरोचन; ये दो इन्द्र हैं ।
- (२) नागकुमारों के धरण और भूतानन्द; ये दो इन्द्र हैं ।
- (३) विद्युत्कुमारों के हरिसिंह और हरिकान्त; ये दो इन्द्र हैं ।
- (४) सुपर्णकुमारों के वेणुदेव और वेणुधारी; ये दो इन्द्र हैं ।
- (५) अग्निकुमारों के अग्निशिख और अग्निमाणव; ये दो इन्द्र हैं ।
- (६) वातकुमारों के वैलम्ब और प्रभञ्जन; ये दो इन्द्र हैं ।
- (७) स्तनितकुमारों के सुघोष और महाघोष; ये दो इन्द्र हैं ।
- (८) उदधिकुमारों के जलकान्त और जलप्रभ; ये दो इन्द्र हैं ।
- (९) दीपकुमारों के पूर्ण और विशिष्ट; ये दो इन्द्र हैं ।
- (१०) दिक्कुमारों के अमितगति और मितवाहन; ये दो इन्द्र हैं ।

दूसरे निकाय—व्यन्तरों के दो-दो इन्द्र इस प्रकार हैं—

- (१) किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष; ये दो इन्द्र हैं ।
- (२) किम्पुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष; ये दो इन्द्र हैं ।
- (३) महोरगों के अतिकाय और महाकाय; ये दो इन्द्र हैं ।
- (४) गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश; ये दो इन्द्र हैं ।
- (५) यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र; ये दो इन्द्र हैं ।
- (६) राक्षसों के भीम और महाभीम; ये दो इन्द्र हैं ।
- (७) भूतों के प्रतिरूप और अप्रतिरूप; ये दो इन्द्र हैं ।
- (८) पिशाचों के काल और महाकाल; ये दो इन्द्र हैं ।

इस प्रकार भवनवासियों के बीस इन्द्र तथा बीस प्रति-इन्द्र; इस तरह कुल चालीस इन्द्र होते हैं । इसी तरह व्यन्तरों के सोलह इन्द्र तथा सोलह प्रति-इन्द्र होते हैं, जो कुल मिलाकर बत्तीस इन्द्र; व्यन्तरों के होते हैं ।

जिज्ञासा—जिस प्रकार नरकों में दुःख होता है । उसी प्रकार देवों में सुख होता है, लेकिन इन देवों में सुख किस प्रकार का होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

सूत्र उच्चारण—काय-प्रवीचारा, आ ऐशानात् ॥७॥

सूत्रार्थ—ऐशान स्वर्ग तक के देव; काय प्रवीचार वाले होते हैं ।

लब्धार्थ—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क; इन तीन निकायों के सभी देव-देवियाँ एवं वैमानिकों में केवल सौधर्म एवं ऐशान तक के देव-देवियों में शरीर से प्रवीचार होता है ।

विशेषार्थ—मैथुन के उपसेवन को प्रवीचार कहते हैं । जिनका काय से प्रवीचार है, वे काय प्रवीचार वाले कहे जाते हैं । कहने का मतलब है कि भवनवासी, व्यन्तरवासी एवं ज्योतिष्क; ये तीन तथा सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के वैमानिक देव; संकिल्ष्ट कर्म वाले होने से अर्थात् तीव्र आसक्ति वाले होने से; मनुष्यों के समान ही स्त्री विषयक विषय-सुख का अनुभव करते हैं ।

जिज्ञासा—देवों में पहले के तीन निकाय एवं वैमानिक के सौधर्म-ऐशान तक के देवों के सुखानुभव बतलाने के बाद; शेष वैमानिक देवों के विषय-सुख की क्या व्यवस्था है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥८॥

सूत्र उच्चारण—शेषाः, स्पर्श-रूप-, शब्द-मनः, प्रवीचाराः ॥८॥

सूत्रार्थ—शेष देव; स्पर्श, रूप, शब्द और मन से विषय-सुख भोगने वाले होते हैं ।

लब्धार्थ—भवनत्रिक एवं सौधर्म-ऐशान; इनसे शेष बचे देव; स्पर्श, रूप, शब्द एवं मन के द्वारा विषय-सुख भोगते हैं ।

विशेषार्थ—(१) स्पर्श—सानत्कुमार एवं माहेन्द्र स्वर्ग के देव; देवाङ्गनाओं के स्पर्श मात्र से परम प्रीति को प्राप्त होते हैं और इसी प्रकार देवियाँ भी ।

(२) रूप—ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लातव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव; देवाङ्गनाओं के शृंगार, आकृति, विलास, चतुर और मनोज्ञ-वेष तथा मनोज्ञ रूप के देखने मात्र से ही परम प्रीति-सुख को प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार देवियाँ भी ।

(३) शब्द—शुक्र, महाशुक्र, शतार एवं सहस्रार स्वर्ग के देव; देवाङ्गनाओं के मधुर-सङ्गीत, कोमल-हास्य, ललित-कथा एवं आभूषणों के कोमल शब्दों के सुनने मात्र से ही परम प्रीति को प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार उनकी देवियाँ भी ।

(४) मन—आनत, प्राणत, आरण, एवं अच्युत कल्प तक के देव; अपनी अङ्गना का मन में संकल्प करने मात्र से ही परम सुख को प्राप्त होते हैं । इस तरह जहाँ तक देवियों का अस्तित्व है, वहाँ तक इन चार प्रकारों से प्रवीचार होता है ।

जिज्ञासा—अच्युत स्वर्ग तक ही देवों का देवाङ्गनाओं के साथ प्रवीचार कहा है, लेकिन अच्युत स्वर्ग से ऊपर के देवों का सुख कैसा है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—परेऽप्रवीचाराः ॥९॥**सन्धि विग्रह—परे-अप्रवीचाराः ॥९॥****सूत्रार्थ—**बाकी के सब देव; विषय-सुख से रहित होते हैं।**लब्धार्थ—**अच्युत स्वर्ग के आगे सब देवों का सुख; प्रवीचार रहित होता है।**विशेषार्थ—**शेष सब देवों का संग्रह करने के लिए सूत्र में “परे” शब्द ग्रहण किया है। परम सुख का ज्ञान कराने के लिए अप्रवीचार पद का ग्रहण किया है। प्रवीचार; वेदना का प्रतिकार मात्र है। इसके अभाव में भी ऊपर के देवों के सदा परम-सुख पाया जाता है।

उनके उस परम-सुख में कारण उनकी शुक्ललेश्या की विशुद्धि है। जैसे-जैसे लेश्या विशुद्धि बढ़ती जाती है, मन शान्त होता जाता है, आकुलता कम होती जाती है, जिससे वेदना का प्रभाव कम हो जाता है, अतः उन्हें अप्रवीचार कहा है।

जिज्ञासा—इस अध्याय के सूत्र संख्या तीन में जो प्रथम निकाय; भवनवासियों के दश भेद कहे हैं। इसमें जो प्रथम निकाय भवनवासी है, यह सामान्य संज्ञा वाचक है एवं इसके जो दश भेद हैं, यह विशेष संज्ञा वाचक है, अतः इसके सामान्य एवं विशेष संज्ञा का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—**सूत्र — भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिवक्कुमाराः ॥१०॥****सूत्र उच्चारण—**भवनवासिनो-, ऽसुर-नाग-, विद्युत्-सुपर्णाग्नि-, वात-स्तनितो-, दधि-द्वीप-दिवक्-, कुमाराः ॥१०॥**सन्धि विग्रह —**भवनवासिनः असुर-नाग-विद्युत्-सुपर्ण-अग्नि-वात-स्तनित-उदधि-द्वीप-दिवक्-कुमाराः ॥१०॥**सूत्रार्थ—**भवनवासी देवों के दस प्रकार हैं—(१) असुरकुमार; (२) नागकुमार; (३) विद्युत्कुमार; (४) सुपर्णकुमार; (५) अग्निकुमार; (६) वातकुमार; (७) स्तनितकुमार; (८) उदधिकुमार; (९) द्वीपकुमार; (१०) दिक्कुमार; ये दश भेद हैं।**लब्धार्थ—**जिनका स्वभाव भवनों में निवास करना है, वे भवनवासी हैं। प्रथम निकाय की यह सामान्य संज्ञा है तथा असुरकुमार आदिक विशेष संज्ञायें हैं, जो विशिष्ट नामकर्म के उदय से प्राप्त होती हैं यद्यपि इन सब देवों का वय और स्वभाव अवस्थित है तो भी इनके वेष, भूषा, शस्त्र, यान, वाहन और क्रीड़ा आदि; कुमारों के समान होती है, अतः इन दशों के साथ “कुमार” शब्द लगा है।**विशेषार्थ—**रत्नप्रभा के पङ्कबहुल भाग में असुरकुमारों के भवन हैं। खरपृथ्वीभाग में ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष नौ प्रकार के कुमारों के भवन हैं।**जिज्ञासा—**दूसरे निकाय की व्यन्तरवासी यह सामान्य संज्ञा है एवं उसके आठ भेदरूप नाम विशेष संज्ञावाची है, अतः सामान्य एवं विशेष संज्ञा को प्रतिपादन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥११॥

सूत्र उच्चारण—व्यन्तराः, किन्नर-किम्पुरुष-, महोरग-गन्धर्व-, यक्ष-राक्षस-, भूत-पिशाचाः ॥११॥

सूत्रार्थ—व्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं—(१) किन्नर; (२) किम्पुरुष; (३) महोरग; (४) गन्धर्व; (२) यक्ष; (३) राक्षस; (४) भूत; (८) पिशाच; ये आठ भेद हैं।

लब्धार्थ—जिनका अनेक देशों में निवास है, वे व्यन्तर देव कहलाते हैं, यह सामान्य संज्ञा है। इन व्यन्तरों के किन्नरादि आठ भेद विशेष नामकर्म के उदय से प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—इस जम्बूद्वीप से असंख्यात द्वीप और समुद्र लाँघकर; ऊपर के खर पृथिवी भाग में सात प्रकार के व्यन्तरों के आवास हैं तथा पङ्कबहुल भाग में राक्षसों के आवास हैं।

जिज्ञासा—तीसरे निकाय की ज्योतिषी यह सामान्य संज्ञा है एवं इसके पाँच भेदरूप नाम विशेष संज्ञावाची हैं, अतः सामान्य एवं विशेष संज्ञा को प्रतिपादन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥१२॥

सूत्र उच्चारण—ज्योतिष्काः, सूर्या-चन्द्रमसौ, ग्रह-नक्षत्र-, प्रकीर्णक-तारकाश्च, ॥१२॥

सन्धि विग्रह—ज्योतिष्काः सूर्या-चन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाः च ॥१२॥

सूत्रार्थ—ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के हैं—(१) सूर्य; (२) चन्द्रमा; (३) ग्रह; (४) नक्षत्र; (५) प्रकीर्णक तारे; ये पाँच भेद हैं।

लब्धार्थ—ये सब पाँचों प्रकार के देव ज्योतिर्मय हैं, अतः इनकी ज्योतिषी यह सामान्य संज्ञा है। सूर्य आदि विशेष संज्ञायें; विशेष नामकर्म के उदय से प्राप्त होती हैं।

विशेषार्थ—सूर्य एवं चन्द्रमा का प्रभाव प्रधान है, अतः इन्हें सूत्र में पहले रखा है। इस समान भूमिभाग से सात-सौ नब्बे योजन ऊपर जाकर तारकायें विचरण करती हैं जो सब ज्योतिषियों के अधोभाग में स्थित हैं। इससे दस योजन ऊपर जाकर सूर्य विचरण करते हैं। इससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा परिभ्रमण करते हैं। इससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र हैं। इससे चार योजन ऊपर जाकर बुध हैं। इससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र हैं। इससे तीन योजन ऊपर जाकर वृहस्पति हैं। इससे तीन योजन ऊपर जाकर मङ्गल हैं। इससे तीन योजन ऊपर जाकर शनीचर हैं। यह ज्योतिषियों से व्याप्त नभः प्रदेश एक-सौ दस योजन मोटा और घनोदधि पर्यन्त असंख्यात-द्वीप-समुद्र प्रमाण लम्बा है।

जिज्ञासा—हम लोगों को दिखने वाले सूर्य-चन्द्रमा आदि गमनशील क्यों दिखते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

सूत्र उच्चारण—मेरु-प्रदक्षिणा, नित्य-गतयो, नृलोके ॥१३॥

सन्धि विग्रह—मेरु-प्रदक्षिणा नित्य-गतयः नृलोके ॥१३॥

सूत्रार्थ—ज्योतिषी देव; मनुष्य लोकमें मेरु की प्रदक्षिणा करने वाले और निरन्तर गतिशील हैं।

लब्धार्थ—ज्योतिष्क देवों की गतिशीलता में; प्रथम पद-मेरु प्रदक्षिणा पद से उनकी गति मेरु की प्रदक्षिणा पूर्वक है, यह निश्चित है। नित्यगतयः पद से वे निरन्तर गति क्रिया से सहित हैं। नृलोके पद से उनके गमन का क्षेत्र; मनुष्य लोक प्रमाण निश्चित है। तात्पर्य यह है कि ढाईद्वीप एवं दो समुद्रों के ऊपर से ज्योतिषी देव निरन्तर गमन करते रहते हैं, अन्यत्र नहीं।

विशेषार्थ—कर्म परिपाक की विचित्रता से आभियोग्य जाति के देव; ज्योतिषी देवों के विमानों को निरन्तर ढोते रहते हैं, जिससे ज्योतिषी देवों का निरन्तर गमन होता है। यद्यपि ज्योतिषी देव मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हैं तो भी वे मेरु पर्वत से ग्यारह-सौ इक्कीस योजन दूर रहकर ही विचरण करते हैं।

जिज्ञासा—इन ज्योतिष्क देवों के निरन्तर गतिशील होने से हमें क्या लाभ है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

सूत्र उच्चारण—तत्-कृतः, काल-विभागः ॥१४॥

सूत्रार्थ—उन गमन करने वाले ज्योतिषी देवों के द्वारा काल अर्थात् समय का विभाग होता है।

लब्धार्थ—ढाईद्वीप में गमन करने वाले ज्योतिषी देवों के द्वारा दिन-रात आदि का विभाग होता है, क्योंकि व्यावहारिक काल के समय-आवलि आदि का भेद इन्हीं देवों के गमन की गति की क्रिया विशेष से जाना जाता है।

विशेषार्थ—मनुष्य; मानुषोत्तर पर्वत के भीतर ही पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के एक ओर से लेकर दूसरी ओर तक कुल विस्तार पैंतालीस लाख योजन है। मनुष्य इसी क्षेत्र में पाये जाने से इसे मनुष्यलोक भी कहते हैं। इस लोक में ज्योतिष्क देवों के विमान सदा भ्रमण करते रहते हैं। इनका भ्रमण भी मेरु के चारों ओर ग्यारह-सौ इक्कीस योजन छोड़कर होता है।

जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्र हैं। एक सूर्य; जम्बूद्वीप की पूरी प्रदक्षिण दो दिन-रात में करता है। इसका चार क्षेत्र जम्बूद्वीप में एक-सौ अस्सी योजन और लवण समुद्र में ३३०-४८/६१ योजन माना गया है। सूर्य के घूमने की कुल एक-सौ चौरासी गलियाँ हैं। इसमें यह क्षेत्र विभाजित हो जाता है। एक गली से दूसरी गली में दो योजन का अन्तर माना गया है। इसमें सूर्य बिम्ब के प्रमाण को मिला देने पर वह २४८/६१ योजन होता है, इतना उदयान्तर है; मण्डलान्तर दो योजन का ही है।

चन्द्रमा को पूरी प्रदक्षिणा देने में दो दिन-रात से कुछ अधिक समय लगता है, इसी से चन्द्रोदय में न्यूनाधिकता आती है।

लवण समुद्र में चार सूर्य, चार चन्द्रमा हैं। धातकीखण्ड में बारह सूर्य, बारह चन्द्रमा हैं। कालोदधि समुद्र में ब्यालीस सूर्य, ब्यालीस चन्द्रमा हैं एवं पुष्करार्द्ध द्वीप में बहत्तर सूर्य एवं बहत्तर चन्द्रमा हैं। इस प्रकार ढाईद्वीप में एक-सौ बत्तीस सूर्य और एक-सौ बत्तीस चन्द्रमा हैं। इन दोनों में चन्द्र; इन्द्र और सूर्य; प्रतीन्द्र हैं।

एक-एक चन्द्रमा का परिवार; एक सूर्य, अष्टादश नक्षत्र, अठासी ग्रह और छ्यासठ हजार नौ-सौ कोड़ाकोड़ी तारे हैं।

इन ज्योतिष्क देवों के विमानों का गमन स्वभाव है फिर भी आभियोग्य जाति के देव; सूर्य आदि के विमानों को निरन्तर ढोया करते हैं। ये देव; सिंह, हाथी, बैल एवं घोड़े का आकार धारण किये रहते हैं। सिंहाकार देवों का मुख पूर्व दिशा की ओर, गजाकार देवों का मुख दक्षिण दिशा की ओर, वृषभाकार देवों का मुख पश्चिम दिशा की ओर तथा अश्वाकार देवों का मुख उत्तर दिशा की ओर रहता है।

मनुष्य जीवन में ज्योतिष चक्र का अधिक महत्त्व है। मनुष्य अपने सभी शुभ कार्य; शुभ मुहूर्त में प्रारम्भ करते हैं। आचार्यों ने भी तीर्थङ्करों के पाँचों कल्याणकों के नक्षत्र-लग्न आदि मुहूर्तों का वर्णन किया है। साधुओं के दीक्षा नक्षत्रों का विधि-निषेध भी लिखा है। अशुभ ग्रहों के प्रभाव से बचने के लिए भी तदनुकूल मन्त्र जाप्य, विधि-विधानों का वर्णन किया है, लेकिन कुछ लोग मिथ्या मान्यता से ग्रसित होकर नवग्रहों की ही पूजा-अर्चना करने लगते हैं और कुछ लोग इनकी पूजा-अर्चना मिथ्यात्व मानकर छोड़ देते हैं।

यदि सूक्ष्मरीति से विचार किया जाए तो इन नवग्रहों का प्रभाव तो मनुष्य जीवन में पड़ता ही है, लेकिन इनके दुष्प्रभाव से बचने के लिए सही जाप्य एवं विधि-विधानों का ही अवलम्बन लेना चाहिए, क्योंकि पञ्च परमेष्ठी की आराधना से क्या-क्या साध्य नहीं हो सकता है ?

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनी-भूत-पन्नगाः ।

विषोनिर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥

अतः हमें आचार्यों के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलना चाहिए।

अब रही बात ग्रह-चक्रों के प्रभाव को रोकने की। उसके लिए अनेक प्रकार के रत्नों का प्रयोग बतलाया जाता है, यह भी मिथ्या नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार रोग; असातावेदनीय कर्म से उत्पन्न होता है, लेकिन यथायोग्य औषधि सेवन से रोग दूर भी होता है। ठीक उसी प्रकार ग्रहों के दुष्प्रभाव को दूर करने के लिए रत्नादि धारण करना मिथ्यात्व नहीं है।

मनुष्यों के यश आदि एवं सुख-समृद्धि के लिए ज्योतिष चक्र को उपमान बनाया जाता है।

जैसे-प्रिय व्यक्ति को आँखों का तारा कहना। सूर्य-सा तेज, चन्द्रमा-सी कान्ति, दूज का चाँद, ध्रुव का तारा आदि। जब तक सूरज-चाँद रहेगा तब तक तेरा नाम रहेगा।

आप सबने राष्ट्रीय प्रतीक; सम्राट अशोक की लाट को गौर से देखा होगा, उसमें ऊपर तो चारों तरफ चार सिंह के चिह्न हैं, लेकिन उसके नीचे चार आरों-पहियों के बीच-बीच में सिंह, गज, बैल एवं घोड़े के चिह्न बने हुए हैं। प्रत्येक आरे में चौबीस-चौबीस तीलियाँ हैं जो समय के चौबीस घण्टों का प्रतीक हैं। यहाँ ज्योतिषी देवों के विमान का प्रतीक सम्राट अशोक का यह राष्ट्रीय चिह्न, इस बात की उद्घोषणा करता है कि जब तक इस सृष्टि पर सूर्य-चन्द्र रहेंगे तब तक सम्राट अशोक का नाम रहेगा।

यही कारण है कि हमारे राष्ट्रीय संविधान में सम्राट अशोक की लाट को राष्ट्रीय प्रतीक चिह्न घोषित करके; राष्ट्रीय इमारतों एवं अन्य विशेष महत्त्वपूर्ण सामग्री में अशोक की लाट को महत्त्व दिया जाता है।

जिन-जिन स्थानों पर प्राचीन अशोक की लाट प्राप्त है, उन-उन स्थानों को राष्ट्रीय स्मारक घोषित कर उसका संरक्षण-संवर्द्धन किया जाता है।

जिज्ञासा—मनुष्यलोक अर्थात् ढाईद्वीप में ज्योतिषी देवों के विमान गमनशील हैं, लेकिन ढाईद्वीप के बाहर ज्योतिषी देवों के विमान कैसे रहते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बहिरवस्थिताः ॥१५॥

सूत्र उच्चारण—बहिः, रवस्थिताः ॥१५॥

सन्धि विग्रह—बहिः अवस्थिताः ॥१५॥

सूत्रार्थ—मनुष्यलोक के बाहर; ज्योतिषी देवों के विमान स्थिर रहते हैं।

लब्धार्थ—अढाई द्वीप के बाहर; ज्योतिषी देवों के विमान गमनशील नहीं हैं, अतः वहाँ पर व्यावहारिक दिन-रात के समय का भेद भी नहीं है।

विशेषार्थ—पिछले सूत्र में ज्योतिषी देवों के विमान; आभियोग्य जाति के देव; चार प्रकार के रूप धारण करके मनुष्यलोक में भ्रमण करते हैं; यह कहा है, लेकिन इस सूत्र में यह कहा है कि ढाईद्वीप के बाहर के ज्योतिषी देवों के विमान गतिशील नहीं हैं अर्थात् स्थिर हैं, जिसके कारण वहाँ रात-दिन का विभाग नहीं होता है।

तब एक प्रश्न यह उत्पन्न हो सकता है कि बाहर के ज्योतिषी देवों के विमानों में आभियोग्य जाति के देव; चार प्रकार के रूप को धारण करके विमानों में लगे होते हैं या नहीं?

इसका उत्तर यह है कि मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देवों के विमानों में आभियोग्य जाति के देव; चारों प्रकार के रूप धारण करके विमानों में जुते तो रहते हैं, लेकिन भ्रमण नहीं करते, उन देवों का कर्म विपाक खड़े रहने में ही प्रतिफलित होता है।

यदि आभियोग्य जाति के देव; उन विमानों में जुते हुए नहीं हो तो उनका स्वरूप भी विकृत दिखेगा, अतः आभियोग्य देव उन विमानों में अवश्य जुते रहते हैं।

जिज्ञासा—पिछले सूत्रों में तीन निकायों के सामान्य-विशेष स्वरूप बताने के बाद; चौथे निकाय की सामान्य संज्ञा क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वैमानिकाः ॥१६॥

सूत्रार्थ—चौथे निकाय के देव; वैमानिक हैं।

लब्धार्थ—जो विमानों में रहते हैं, उन्हें वैमानिक कहते हैं अर्थात् जो विशेषतः अपने में रहने वाले जीवों को पुण्यात्मा मानते हैं, वे विमान हैं और जो उन विमानों में होते हैं, वे वैमानिक हैं।

विशेषार्थ—विमान तीन प्रकार के होते हैं—(१) इन्द्रक; (२) श्रेणिबद्ध; (३) पुष्प प्रकीर्णक।

(१) **इन्द्रक विमान**—जो विमान इन्द्र के समान सबके मध्य हो, उसे इन्द्रक विमान कहते हैं।

(२) **श्रेणिबद्ध विमान**—जो इन्द्रक विमान के चारों ओर आकाश प्रदेशों की पंक्ति के समान स्थित हैं, उन्हें श्रेणिबद्ध विमान कहते हैं।

(३) पुष्प प्रकीर्णक विमान—बिखरे हुए फूलों के समान विदिशाओं में जो विमान है, वे पुष्प प्रकीर्णक विमान हैं।

जिनमें रहने से जीव; विशेष मान का अनुभव करते हैं, वे विमान हैं।

जिज्ञासा—सामान्य से चौथा निकाय वैमानिक है, लेकिन विशेष संज्ञा से उन वैमानिकों के भेद-नाम कितने हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

सूत्र उच्चारण—कल्पोप-पन्नाः, कल्पातीताश्च ॥१७॥

सन्धि विग्रह—कल्प-उपपन्नाः कल्प-अतीतः च ॥१७॥

सूत्रार्थ—वैमानिक देव; दो प्रकार के होते हैं—कल्पोपपन्न एवं कल्पातीत।

लब्धार्थ—जिन देवों में इन्द्र आदि इस प्रकार के भेद हैं, उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं। जिन देवों में इन्द्रादि दस भेद नहीं हैं, सभी अहमिन्द्र हैं, उन्हें कल्पातीत कहते हैं।

विशेषार्थ—इन्द्र आदि के दस भेदों के नाम एवं स्वरूप सूत्र संख्या चार में कहे हैं, वहाँ से जान लेना चाहिए।

जिज्ञासा—इन वैमानिक देवों के रहने के स्थान कहाँ हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उपर्युपरि ॥१८॥

सूत्र उच्चारण—उपर्यु-परि ॥१८॥

सन्धि विग्रह—उपरि-उपरि ॥१८॥

सूत्रार्थ—वैमानिक देव; ऊपर-ऊपर की ओर रहते हैं।

लब्धार्थ—वैमानिक देवों के विमान; ऊपर-ऊपर की ओर हैं।

विशेषार्थ—जिस प्रकार व्यन्तर एवं ज्योतिषी देवों के निवास अस्त-व्यस्त तिरछे-विषम आदि रूप हैं, उसी प्रकार वैमानिक देवों के निवास आड़े-तिरछे नहीं हैं, ऊपर-ऊपर की ओर हैं।

जिज्ञासा—उन विमानों के कितने कल्प अर्थात् भेद हैं, जिनमें वैमानिक देव निवास करते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहा-
शुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु
विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥**

सूत्र उच्चारण—सौधर्मैशान-, सानत्कुमार-माहेन्द्र-, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-, लान्तव-कापिष्ठ-, शुक्र-महाशुक्र-, शतार-सहस्रा-, रेष्वानत-प्राणतयो-, रारणा-च्युतयो-, नवसु ग्रैवेयकेषु, विजय-वैजयन्त-, जयन्ता-पराजितेषु, सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

सन्धि विग्रह—सौधर्म-ऐशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेषु-आनत-प्राणतयोः आरण-अच्युतयोः नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्त-अपराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

सूत्रार्थ—सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत, नव ग्रैवेयक, विजय-वैजयन्त, जयन्त-अपराजित एवं सर्वार्थसिद्धि के इन विमानों में; वे देव निवास करते हैं।

लब्धार्थ—सौधर्म आदि शब्दों की कल्प संज्ञा है अथवा जो स्वभाव से हों; वे कल्प कहलाते हैं, क्योंकि सुधर्मा नाम की सभा है, वह जहाँ है उस कल्प का नाम सौधर्म है। इस कल्प के सम्बन्ध से वहाँ का इन्द्र भी सौधर्म इन्द्र कहलाता है। इसी प्रकार आगे के कल्प विमानों के नाम भी जानना चाहिए।

विशेषार्थ—जहाँ से वैमानिक देवों के विमान प्रारम्भ होते हैं, वहाँ सुमेरु पर्वत की चूलिका के ऊपर एक बाल के अन्तर से ऋजु विमान है, जो सौधर्म कल्प का इन्द्रक विमान है। उपरि-उपरि इस पद से दो-दो कल्पों का सम्बन्ध कर लेना चाहिए। प्रथम; सौधर्म-ऐशान कल्प है। इसके ऊपर द्वितीय; सानत्कुमार-माहेन्द्रकल्प है। इसके ऊपर तृतीय; ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर कल्प है। इसके ऊपर चतुर्थ; लान्तव-कापिष्ठ कल्प है। इसके ऊपर पञ्चम; शुक्र-महाशुक्र कल्प है। इसके ऊपर षष्ठ; शतार-सहस्रार कल्प है। इसके ऊपर सप्तम; आनत-प्राणत कल्प है। इसके ऊपर अष्टम; आरण-अच्युत कल्प है।

नीचे और ऊपर प्रत्येक कल्प में एक-एक इन्द्र है तथा मध्य में दो-दो कल्पों में एक-एक इन्द्र है। तात्पर्य यह है कि सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार एवं माहेन्द्र; इन चार कल्पों के चार इन्द्र हैं। ब्रह्मलोक-ब्रह्मोत्तर; इन दो कल्पों का एक ब्रह्म नाम का इन्द्र है। लान्तव और कापिष्ठ; इन दो कल्पों में एक लान्तव नाम का इन्द्र है। शुक्र और महाशुक्र; इन दो कल्पों में एक शुक्र नाम का इन्द्र है। शतार और सहस्रार; इन दो कल्पों में एक शतार नाम का इन्द्र है। आनत, प्राणत, आरण एवं अच्युत; इन चार कल्पों में ये ही चार इन्द्र हैं। इस तरह सोलह कल्प विमानों में देवों के बारह इन्द्र होते हैं। नववें ग्रैवेयक से ऊपर के सभी देव कल्पातीत हैं, अतः उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं। सूत्र में नवसु पद से नौ अनुदिश भी ग्रहण होते हैं।

जिज्ञासा—ऊपर-ऊपर रहने वाले वैमानिक देवों के परस्पर में क्या विशेषता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥

सूत्र उच्चारण—स्थिति-प्रभाव-, सुख-द्युति-लेश्या-, विशुद्धीन्द्रियावधि-, विषयतोऽधिकाः ॥२०॥

सन्धि विग्रह—स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धि-इन्द्रिय-अवधि-विषयतः अधिकाः

॥२०॥

सूत्रार्थ—स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय एवं अवधिविषय की अपेक्षा, ऊपर के देवों के अधिक-अधिक हैं।

लब्धार्थ—वैमानिक देवों के नीचे से ऊपर की ओर स्थिति-प्रभाव आदि अधिक-अधिक होते हैं।

विशेषार्थ—अपने द्वारा प्राप्त हुई आयु के उदय से उस भव में शरीर के साथ रहने को स्थिति कहते हैं।

शाप और अनुग्रह की शक्ति को प्रभाव कहते हैं।

इन्द्रियों के विषयों के अनुभवन करने को सुख कहते हैं।

शरीर, वस्त्र, आभूषण आदि की कान्ति को द्युति कहते हैं।

लेश्या की विशुद्धि को लेश्याविशुद्धि कहते हैं।

इन्द्रिय और अवधिज्ञान के विषय को इन्द्रियविषय, अवधिविषय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ऊपर-ऊपर प्रत्येक कल्प में और प्रत्येक प्रस्तार में वैमानिक देव; स्थिति आदि की अपेक्षा अधिक-अधिक हैं।

जिज्ञासा—जिस प्रकार वैमानिक देवों के स्थिति-प्रभाव आदि अधिक-अधिक हैं, उसी प्रकार उनके गमनागमन-शरीर आदि की ऊँचाई भी अधिक-अधिक होना चाहिए ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

सूत्र उच्चारण—गति-शरीर-, परिग्रहाभि-मानतो, हीनाः ॥२१॥

सन्धि विग्रह—गति-शरीर-परिग्रह-अभिमानतः हीनाः ॥२१॥

सूत्रार्थ—गति, शरीर, परिग्रह एवं अभिमान की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देव हीन-हीन हैं।

लब्धार्थ—वैमानिक देवों में नीचे से ऊपर की ओर गति, शरीर, परिग्रह एवं अभिमान कम-कम होता है।

विशेषार्थ—एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त करने का जो साधन है, उसे गति कहते हैं। ऊपर-ऊपर क्रीड़ा विषयक गति कम होने से गति कम है। देवों की अपेक्षा उनका वैक्रियिक शरीर होता है, जिससे वे अपने शरीर को छोटा-बड़ा भी बना सकते हैं, किन्तु उनके शरीर का निश्चित प्रमाण है, सौधर्मेयान कल्प के देवों का शरीर सात अरत्नि प्रमाण है। सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के देवों का शरीर छह अरत्नि प्रमाण है। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ कल्प तक के देवों का शरीर पाँच अरत्नि प्रमाण है। शुक्र-महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्प के देवों का शरीर चार अरत्नि प्रमाण है। आनत और प्राणत कल्प तक के देवों का शरीर साढ़े तीन अरत्नि प्रमाण है। आरण और अच्युत कल्प तक के देवों का शरीर तीन अरत्नि प्रमाण है।

अधोग्रैवेयक में अहमिन्द्रों का शरीर ढाई अरत्नि प्रमाण है। मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्रों का शरीर दो अरत्नि प्रमाण है। उपरिम ग्रैवेयक में और अनुदिशों में अहमिन्द्रों का शरीर डेढ़ अरत्नि प्रमाण है तथा पाँच अनुत्तर विमानों में अहमिन्द्रों का शरीर एक अरत्नि प्रमाण है।

बन्द मुट्ठी के एक हाथ के प्रमाण को अरत्नि कहते हैं। विमानों की लम्बाई-चौड़ाई आदिरूप परिग्रह कम-कम है। अल्प कषाय होने से अभिमान कम-कम है।

जिज्ञासा—चौथे अध्याय के सूत्र संख्या दो में आदि की तीन निकाय अर्थात् भवनत्रिक में लेश्या का कथन किया था, अब वैमानिक देवों में लेश्या की क्या व्यवस्था है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

सूत्र उच्चारण—पीत-पद्म-, शुक्ल-लेश्या, द्वि-त्रि-, शेषेषु ॥२२॥

सूत्रार्थ—दो, तीन कल्प युगलों में तथा शेष कल्प आदि में क्रमशः पीत, पद्म एवं शुक्ल लेश्या वाले देव हैं।

लब्धार्थ—प्रारम्भ के दो कल्प युगलों में पीत लेश्या, आगे तीन कल्प युगलों में पद्म लेश्या एवं इसके आगे सभी देवों के एक शुक्ल लेश्या होती है।

विशेषार्थ—सौधर्म एवं ऐशान कल्प में पीत लेश्या है। सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्प में पीत और पद्म; ये दो लेश्यायें हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ कल्पों में एक पद्म लेश्या है। शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार कल्प में पद्म और शुक्ल; ये दो लेश्यायें हैं। आनत-प्राणत, आरण-अच्युत कल्प में एक शुक्ल लेश्या है। नवग्रैवेयक, अनुदिश, अनुत्तर आदि में एक परम शुक्ल लेश्या है।

निष्कर्ष यह है कि सौधर्मैशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र; इन दो कल्प युगलों में मुख्यता से एक पीत लेश्या है, सानत्कुमार (माहेन्द्र कल्प में पद्म लेश्या के अंश होते हुए भी पीतलेश्या ही ग्रहण करना चाहिए।) इसी प्रकार ब्रह्म कल्प से दो युगलों में एक पद्म लेश्या ग्रहण करना चाहिए। आगे शुक्र आदि कल्प से सहस्रार कल्प युगलों में पद्म एवं शुक्ल लेश्या है, लेकिन शतार-सहस्रार युगल में मुख्यतः शुक्ललेश्या का ही ग्रहण करना चाहिए, इनमें पद्म लेश्या की अपेक्षा नहीं है। आगे के कल्पों में शुक्ल लेश्या का विशेषण परम शुक्ल लेश्या कहा गया है।

जिज्ञासा—चौथे अध्याय के सूत्र संख्या सत्रह में वैमानिक देवों के कल्पोपपन्न एवं कल्पातीत; ये दो भेद किए थे, लेकिन कल्पोपपन्न देव कहाँ तक होते हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

सूत्र उच्चारण—प्राग्-ग्रैवेयकेभ्यः, कल्पाः ॥२३॥

सूत्रार्थ—ग्रैवेयकों से पहले तक कल्प हैं।

लब्धार्थ—सौधर्म से लेकर नौ ग्रैवेयकों से पहले तक ही कल्पवासी हैं। पारिशेषन्याय से यह ज्ञात हो जाता है कि नौ ग्रैवेयकों से सब कल्पातीत हैं।

विशेषार्थ—सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग तक ही इन्द्र आदि की भेद-कल्पना है, अतः यहीं तक कल्पवासी हैं। नौ ग्रैवेयकों से इन्द्रादि की भेद-कल्पना नहीं होने से वे सब अहमिन्द्र कहे जाते हैं, अतः उन सबकी कल्पातीत संज्ञा है।

जिज्ञासा—वैमानिक देवों में लौकान्तिक देव भी होते हैं, लेकिन उनका निवास किस कल्प-विमान में होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

सूत्र उच्चारण—ब्रह्म-लोकालया, लौकान्तिकाः ॥२४॥

सन्धि विग्रह—ब्रह्म-लोक-आलया लौकान्तिकाः ॥२४॥

सूत्रार्थ—लौकान्तिक देवों का ब्रह्मलोक निवास स्थान है।

लब्धार्थ—ब्रह्मलोक जिनका आलय अर्थात् निवास है, वे ब्रह्मलोक में रहने वाले लौकान्तिक देव जानना चाहिए।

विशेषार्थ—ब्रह्मलोक में रहनेवाले सभी देव लौकान्तिक नहीं हैं, क्योंकि लौकान्तिक शब्द में जो लोक शब्द है, उससे ब्रह्मलोक लिया है और उसका अन्त अर्थात् प्रान्तभाग लोकान्त कहलाता है, वहाँ जो होते हैं, वे लौकान्तिक कहलाते हैं, अतः ब्रह्मलोक में रहने वाले सब देवों का ग्रहण नहीं होता है।

इन लौकान्तिक देवों को; लोक अर्थात् संसार का अन्त करने वाले होने से लौकान्तिक कहते हैं, जन्म, जरा और मरण से व्याप्त संसार है; ये लौकान्तिक देव यहाँ से च्युत होकर एक बार ही गर्भ में रहकर निर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करेंगे, अतः ये देव लौकान्तिक कहलाते हैं।

जिज्ञासा—वैमानिक देवों में लौकान्तिक देव; देवों की एक सामान्य संज्ञा है। क्या इन लौकान्तिक देवों के भी कोई विशेष भेद हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याधारिष्टाश्च ॥२५॥

सूत्र उच्चारण—सारस्वतादित्य-, वह्न्यरुण-, गर्दतोय-तुषिता-, व्याबाधा-रिष्टाश्च ॥२५॥

सन्धि विग्रह—सारस्वत-आदित्य-वह्नि-अरुण-गर्दतोय-तुषित-अव्याबाध-अरिष्टाः च ॥२५॥

सूत्रार्थ—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध एवं अरिष्ट; ये आठ लौकान्तिक देवों के भेद हैं।

लब्धार्थ—ये लौकान्तिक देव; आठ ही होते हैं ऐसा नहीं हैं, आठ भेद वाले होते हैं, उनके नाम आठ हैं, अतः वे आठ भेद वाले हैं।

विशेषार्थ—ब्रह्मलोक के अन्त में लौकान्तिक देव रहते हैं, ऐसा कहने से पूर्व-उत्तर आदि आठों दिशाओं में क्रमशः ये सारस्वत आदि देवगण रहते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

पूर्वोत्तर कोण में सारस्वतों के विमान हैं। पूर्व दिशा में आदित्यों के विमान हैं। पूर्व-दक्षिण कोण में वह्नि देवों के विमान हैं। दक्षिण दिशा में अरुण देवों के विमान हैं। दक्षिण-पश्चिम कोने में गर्दतोय देवों के विमान हैं। पश्चिम दिशा में तुषित विमान हैं। उत्तर-पश्चिम दिशा में अव्याबाध देवों के विमान हैं।

सूत्र में “च” शब्द होने से इन युगलों के मध्य दो-दो देवगण और हैं, इसका समुच्चय होता है। जैसे-सारस्वत और आदित्य के मध्य में अग्न्याभ और सूर्याभ हैं। आदित्य और वह्नि के मध्य में चन्द्राभ और सत्याभ हैं। वह्नि और अरुण के मध्य में श्रेयस्कर और क्षेमङ्कुर हैं। अरुण और गर्दतोय के मध्य में वृषभेष्ट और कामचर हैं। गर्दतोय और तुषित के मध्य में निर्माण-रजस् और दिगन्त-रक्षित हैं। तुषित और अव्याबाध के मध्य में आत्मरक्षित और सर्वरक्षित हैं। अव्याबाध और अरिष्ट के मध्य में मरुत और वसु हैं। अरिष्ट और सारस्वत के मध्य में अश्व और विश्व हैं। ये सब देव स्वतन्त्र हैं, क्योंकि इनमें हीनाधिकता नहीं पायी जाती है।

विषय—रति रहित होने के कारण ये देवऋषि हैं। दूसरे देव भी इनकी अर्चा करते हैं। चौदह पूर्वा के ज्ञाता हैं और वैराग्य कल्याणक के समय तीर्थङ्करों को सम्बोधन करने में तत्पर रहते हैं।

जिज्ञासा—जैसे-लौकान्तिक देव एक भवावतारी होते हैं, क्या ऐसे अन्य कोई वैमानिक देव भी निकट निर्वाण प्राप्त करने वाले होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

सूत्र उच्चारण—विजयादिषु, द्विचरमाः ॥२६॥

सन्धि विग्रह—विजय-आदिषु द्विचरमाः ॥२६॥

सूत्रार्थ—विजयादिकों में द्वि-चरम वाले देव होते हैं ।

लब्धार्थ—यहाँ आदि शब्द प्रकारवाची है । इससे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नव अनुदिशों का ग्रहण सिद्ध हो जाता है ।

विशेषार्थ—नौवें त्रैवेयक तक अनन्त बार अभव्य जीव; द्रव्यलिङ्गी मुनि बनकर ही जा सकता है, लेकिन अनुदिश एवं विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित विमानों में; भव्य, सम्यग्दृष्टि, भावलिङ्गी मुनिराज; जो उपशम श्रेणी में मरण को प्राप्त होते हैं, वे ही द्विचरम धारी होते हैं अर्थात् वे विजयादिक से च्युत होकर सम्यक्त्व सहित रहते हुए पुनः मुनि बनकर विजयादिक में उत्पन्न होकर पुनः मनुष्य भव प्राप्त कर सिद्ध होते हैं, अतः यहाँ मनुष्य भव की अपेक्षा द्विचरमपना है । सर्वार्थसिद्धि के देव एक भवावतारी होते हैं, अतः उनका द्विचरम होने का निषेध है ।

जिज्ञासा—पिछले अध्यायों के कई सूत्रों में तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्च योनि आदि शब्द प्रयोग हुए हैं, किन्तु वे तिर्यञ्च कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

सूत्र उच्चारण—औपपादिक-, मनुष्येभ्यः, शेषास्-, तिर्यग्-, योनयः ॥२७॥

सन्धि विग्रह—औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषाः तिर्यग्-योनयः ॥२७॥

सूत्रार्थ—उपपाद जन्म वाले और मनुष्यों को छोड़कर शेष सब जीव; तिर्यञ्च योनि वाले हैं ।

लब्धार्थ—उपपाद जन्म; देव और नारकियों के होता है, यह दूसरे अध्याय में कह आये हैं । “प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः” तीसरे अध्याय के इस सूत्र में मनुष्यों का कथन किया है, अतः इन देव, नारकियों एवं मनुष्यों को छोड़कर, सभी तिर्यञ्चयोनि वाले जीव; तिर्यञ्च जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—देव, नारकी एवं मनुष्यों के जन्म स्थान निश्चित हैं, लेकिन तिर्यञ्चों के जन्म स्थान तीनों लोक में व्याप्त हैं, अतः उनके जन्म क्षेत्र का कथन अलग से नहीं किया गया है ।

जिज्ञासा—पिछले अध्यायों में नारकी, मनुष्य एवं तिर्यञ्चों की स्थिति-आयु का कथन किया है, अतः अब देवों की स्थिति का कथन करना चाहिए । ऐसी जिज्ञासा होने पर; देवों में क्रम प्राप्त प्रथम निकाय के भवनवासियों की स्थिति के कथन के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपत्योपमार्द्धहीनमिता ॥२८॥

सूत्र उच्चारण—स्थिति-, रसुर-नाग-, सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां, सागरोपम-, त्रिपत्योप-मार्द्ध-, हीन-मिता ॥२८॥

सन्धि विग्रह—स्थितिः असुर-नाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां सागर-उपम-त्रिपल्य-उपम-अर्द्ध-हीनम्-इता ॥२८॥

सूत्रार्थ—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष भवनवासियों की उत्कृष्ट स्थिति-आयु क्रमशः एक सागरोपम, तीन पल्योपम, ढाई पल्योपम, दो पल्योपम एवं डेढ़ पल्योपम होती है।

लब्धार्थ—असुरकुमारों की एक सागर, नागकुमारों की तीन पल्य, सुपर्णकुमारों की ढाई पल्य, द्वीपकुमारों की दो पल्य तथा शेष बचे छह भवनवासियों की उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पल्य की होती है।

विशेषार्थ—शेष बचे छह भवनवासियों में विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार एवं दिक्कुमार, इनकी उत्कृष्ट आयु डेढ़ पल्य की है।

जिज्ञासा—पहले निकाय के देवों की स्थिति के बाद; क्रमशः द्वितीय एवं तृतीय निकाय की स्थिति का कथन थोड़े सूत्रों में आगे करेंगे, अतः चौथे निकाय-वैमानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति का कथन करना चाहिए। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥२९॥

सूत्र उच्चारण—सौधर्मैशानयोः, सागरोपमे अधिके ॥२९॥

सन्धि विग्रह—सौधर्म-ऐशानयोः सागर-उपमे अधिके ॥२९॥

सूत्रार्थ—सौधर्म और ऐशान कल्प में दो सागरोपम से कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है।

लब्धार्थ—सूत्र में 'सागरोपमे' द्विवचन प्रयोग किया है, उससे दो सागरोपमों का ज्ञान होता है। 'अधिके' यह अधिकार वचन है। यह 'अधिक' पद का अधिकार सूत्र संख्या इकत्तीस से लिया है अर्थात् सागरोपम से कुछ अधिक आयु; सहस्रारकल्प तक कही गई है, क्योंकि इस सूत्र में 'अधिकानि तु' पद दिया है, सहस्रार कल्प के आगे अर्थात् आनत-प्राणत कल्प से कुछ अधिक का कथन नहीं है।

विशेषार्थ—प्रथम सौधर्मकल्प से लेकर बारहवें सहस्रारकल्प तक ही साधिक आयु का कथन है। आनत-प्राणतकल्प से लेकर आगे सभी वैमानिकों में साधिक का कथन नहीं है; इसका एक कारण समझ में आता है कि सहस्रारकल्प तक के देवों में भुजगार एवं अल्पतर बंध होता है। (जय० ध० पु०-३, पृ० १०९-११०) इसके आगे के वैमानिक देवों में मात्र उतनी ही आयु है, साधिक नहीं है।

जिज्ञासा—सौधर्म एवं ऐशान कल्प की आयु का कथन करने के बाद; आगे सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प की आयु कितनी है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

सूत्र उच्चारण—सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः, सप्त ॥३०॥

सूत्रार्थ—सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में सात सागरोपम से कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है।

विशेषार्थ—इन दोनों कल्पों में देवों की आयु सात सागरोपम से कुछ अधिक है। "कुछ अधिक" पद की पूर्व सूत्र "सागरोपमे अधिके" से अनुवृत्ति की है।

जिज्ञासा—सानत्कुमार एवं माहेन्द्र कल्प के आगे ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर आदि कल्प देव हैं, उनकी आयु का प्रमाण कितना है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

सूत्र उच्चारण—त्रि-सप्त-, नवैकादश-, त्रयोदश-, पञ्चदशभि-, रधिकानि तु ॥३१॥

सन्धि विग्रह—त्रि-सप्त-नव-एकादश-, त्रयोदश-, पञ्चदशभिः अधिकानि तु ॥३१॥

सूत्रार्थ—तीन से अधिक सात, सात से अधिक सात, नौ से अधिक सात, ग्यारह से अधिक सात, तेरह से अधिक सात, पन्द्रह से अधिक सात है ।

लब्धार्थ—ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल की आयु साधिक दश सागरोपम है । लान्तव-कापिष्ट युगल की आयु साधिक चौदह सागरोपम है । शुक्र-महाशुक्र युगल की आयु साधिक सोलह सागरोपम है । शतार-सहस्रार युगल की आयु साधिक अठारह सागरोपम है । आनत-प्राणत युगल की आयु बीस सागरोपम है । आरण-अच्युत युगल की आयु बाइस सागरोपम है ।

विशेषार्थ—इस सूत्र में ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर से लेकर आरण-अच्युत कल्प के देवों की आयु का कथन है । सूत्र लाघव करने के लिए 'सागरोपमे अधिके' पद सूत्र संख्या उन्तीस से लिया है एवं सप्त संख्या का पद सूत्र संख्या तीस से लिया है, जिससे प्रत्येक युगल के देवों की आयु स्पष्ट हो जाती है । जैसे—तीन सागर से कुछ अधिक सात सागर अर्थात् साधिक दश सागर, इसी प्रकार आगे समझना चाहिए ।

जिज्ञासा—आरण-अच्युत कल्प से आगे के वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥

सूत्र उच्चारण—आरणा-च्युता-, दूर्ध्व-मेकैकेन, नवसु ग्रैवेयकेषु, विजयादिषु, सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥

सन्धि विग्रह —आरण-अच्युताद्-ऊर्ध्वम्-एक-एकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-आदिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥

सूत्रार्थ—आरण-अच्युत से आगे; ऊपर के नौ ग्रैवेयकों में से प्रत्येक में; नौ अनुदिशों में, चार विजयादिक में, एक-एक सागरोपम अधिक-उत्कृष्ट स्थिति है तथा सर्वार्थसिद्धि में पूरी तैतीस सागरोपम स्थिति है ।

लब्धार्थ—पूर्व सूत्र से अधिक पद की अनुवृत्ति होती है, इसलिए यहाँ इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिए कि प्रत्येक ग्रैवेयक में एक-एक सागरोपम अधिक स्थिति है, अतः सूत्र में नव पद का अलग से ग्रहण किया है । यदि नव पद का ग्रहण नहीं करते तो समस्त ग्रैवेयकों की उत्कृष्ट स्थिति मात्र तेइस सागरोपम रह जाती ।

विजयादिषु में आदि पद प्रकारवाची है, जिससे नौ अनुदिशों का ग्रहण हो जाता है, इससे अनुदिशों की उत्कृष्ट आयु बत्तीस सागरोपम है तथा विजय आदिक की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागरोपम है। सूत्र में सर्वार्थसिद्धि पद पृथक् देने का कारण है कि सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागरोपम ही स्थिति है, यहाँ जघन्य का भेद नहीं है।

विशेषार्थ—नौ ग्रैवेयकों की उत्कृष्ट आयु; अधो ग्रैवेयक से प्रारम्भ होती है, अतः प्रथम में तेइस सागरोपम, दूसरे में चौबीस सागरोपम, तीसरे में पच्चीस सागरोपम उत्कृष्ट आयु है।

मध्यम ग्रैवेयक में से प्रथम में छब्बीस सागरोपम, दूसरे में सत्ताइस सागरोपम और तीसरे में अट्ठाइस सागरोपम उत्कृष्ट आयु है।

उपरिम ग्रैवेयक में से पहले में उन्तीस सागरोपम, दूसरे में तीस सागरोपम एवं तीसरे में इक्तीस सागरोपम उत्कृष्ट आयु है।

विजयादिषु अर्थात् विजय के आदि में अर्थात् विजय के पहले नव अनुदिश में बत्तीस सागरोपम उत्कृष्ट आयु हैं, किन्तु विजय में तैंतीस सागरोपम है एवं सर्वार्थसिद्धि की मूल आयु तैंतीस सागरोपम ही है; कारण कि सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु का अभाव है।

जिज्ञासा—चौथे निकाय-वैमानिक देवों की क्रमशः उत्कृष्ट स्थिति कही है, लेकिन इन्हीं की क्रमशः जघन्य स्थिति कितनी है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

सूत्र उच्चारण—अपरा, पल्योपम-मधिकम् ॥३३॥

सन्धि विग्रह—अपरा पल्य-उपमम्-अधिकम् ॥३३॥

सूत्रार्थ—सौधर्म और ऐशान कल्प में जघन्य स्थिति साधिक एक पल्योपम है।

लब्धार्थ—परा का अर्थ उत्कृष्ट है एवं अपरा का अर्थ जघन्य है, यहाँ प्रथम कल्प; सौधर्म-ऐशान देवों की जघन्य स्थिति साधिक एक पल्योपम कही है।

विशेषार्थ—इस सूत्र द्वारा सौधर्म-ऐशान कल्प के देवों की जघन्य स्थिति कही है, क्योंकि आगे के सूत्र द्वारा सौधर्म-ऐशान कल्प के देवों के आगे के देवों की जघन्य स्थिति का कथन है।

जिज्ञासा—सौधर्म-ऐशान कल्प के देवों की जघन्य स्थिति का कथन करने के बाद; उसके ऊपर के कल्प देवों की जघन्य स्थिति कितनी है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥३४॥

सूत्र उच्चारण—परतः परतः, पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥३४॥

सन्धि विग्रह—परतः परतः पूर्वा पूर्वा-अनन्तरा ॥३४॥

सूत्रार्थ—आगे-आगे; पूर्व-पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति; अनन्तर-अनन्तर की जघन्य स्थिति है।

लब्धार्थ—परतः परतः का अर्थ सौधर्म-ऐशान के आगे-आगे सबकी। पूर्वा-पूर्वा का अर्थ सौधर्म-ऐशान से आदि लेकर जो उत्कृष्ट स्थिति है वह। अनन्तरा का अर्थ आगे के कल्पों की जघन्य स्थिति है।

विशेषार्थ—पूर्व सूत्र के अनुसार सौधर्म-ऐशान कल्प के देवों की जो उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागरोपम की है, वही सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प की जघन्य स्थिति-आयु है। जो सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प के देवों की सात सागरोपम उत्कृष्ट आयु है, यही ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर कल्प के देवों की कुछ अधिक सात सागरोपम जघन्य आयु है। इसी प्रकार आगे के क्रम में लान्तव-कापिष्ठ कल्प के देवों की जघन्य आयु कुछ अधिक दस सागरोपम है। शुक्र-महाशुक्र कल्प देवों की जघन्य आयु कुछ अधिक चौदह सागरोपम की है। शतार-सहस्रार कल्प देवों की जघन्य आयु कुछ अधिक सोलह सागरोपम की है। आनत-प्राणत कल्प देवों की जघन्य आयु अठारह सागरोपम है। आरण-अच्युत कल्प देवों की जघन्य आयु बीस सागरोपम है।

इसके आगे प्रथम आदि नौ त्रैवेयकों में क्रमशः बाइस, तेइस, चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताइस, अट्ठाइस, उन्तीस, तीस सागरोपम तक जघन्य आयु होती है।

अनुदिश में इक्तीस सागरोपम की जघन्य आयु एवं विजय, वैजयन्त, जयन्त एवं अपराजितों में बत्तीस सागरोपम की जघन्य आयु होती है, लेकिन सर्वार्थसिद्धि की एक पूर्ण आयु तैंतीस सागरोपम प्रमाण है।

जिज्ञासा—तीसरे अध्याय के सूत्र संख्या छह में, सातों नरकों के नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति का कथन किया है, लेकिन उन सातों नरकों के नारकियों की जघन्य आयु का कथन वहाँ नहीं किया है। चूँकि अभी तो क्रमप्राप्त वैमानिक देवों की जघन्य आयु का कथन किया है, नारकियों की आयु का कथन नहीं है फिर भी उनकी जघन्य आयु को थोड़े में कह सकते हैं, अतः आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

सूत्र उच्चारण—नारकाणां च, द्वितीयादिषु ॥३५॥

सन्धि विग्रह—नारकाणां च द्वितीय-आदिषु ॥३५॥

सूत्रार्थ—दूसरे आदि नरकों के नारकियों की जो-जो उत्कृष्ट स्थिति-आयु है, वह-वह अनन्तर-अनन्तर की जघन्य स्थिति है।

लब्धार्थ—पहले नरक को आदि करके छटवें नरक के नारकियों तक जो उत्कृष्ट आयु है, वह-वह दूसरे से सातवें नरक तक के नारकियों की जघन्य आयु है।

विशेषार्थ—सूत्र संख्या चौतीस के अनुसार जो “परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा” है, यही भाव “च” शब्द से इस सूत्र में ग्रहण करना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार नीचे के कल्प की उत्कृष्ट आयु; ऊपर के कल्प की जघन्य आयु है। उसी प्रकार जो प्रथम नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु है, वही दूसरे नरक के नारकियों की जघन्य आयु है। जो दूसरे की उत्कृष्ट है, वही तीसरे की जघन्य आयु है। जो तीसरे नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु है, वही चौथे नरक के नारकियों की जघन्य आयु है। जो चौथे की उत्कृष्ट आयु है, वही पाँचवें की जघन्य आयु है। जो पाँचवें की उत्कृष्ट आयु है, वही छटवें की जघन्य आयु है। जो छटवें की उत्कृष्ट आयु है, वही सातवें की जघन्य आयु है।

जिज्ञासा—प्रथम नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु से; दूसरे नरक के नारकियों की जघन्य आयु का प्रमाण निकल आया, किन्तु प्रथम नरक के नारकियों की जघन्य आयु का प्रमाण कितना है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥**सूत्र उच्चारण—दशवर्ष-सहस्राणि, प्रथमायाम् ॥३६॥****सूत्रार्थ—**प्रथम नरक के नारकियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष है।**लब्धार्थ—**इस सूत्र में “अपरा स्थितिः” पद; पूर्व सूत्र संख्या तैंतीस से अनुवृत्ति से चला आ रहा है, जिससे जघन्य आयु का अर्थ निकलता है।**विशेषार्थ—**रत्नप्रभा—प्रथम पृथ्वी में नारकियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष है।**जिज्ञासा—**सातों नरकों के नारकियों की जघन्य आयु का कथन करने के बाद पुनः क्रम प्राप्त देवों की आयु में भवनवासियों की उत्कृष्ट आयु का कथन तो सूत्र संख्या अट्ठाइस में किया है, लेकिन उन भवनवासियों की जघन्य आयु का कथन नहीं किया है, अतः उनकी जघन्य आयु कितनी है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—**सूत्र—भवनेषु च ॥३७॥****सूत्रार्थ—**भवनवासियों में भी दश हजार वर्ष की जघन्य स्थिति है।**लब्धार्थ—**सूत्र में “च” पद से प्रथम नरक के नारकियों के समान ही भवनवासियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष कही है।**विशेषार्थ—**सूत्र में लाघव करने के लिए “अपरा स्थितिः” पद; सूत्र संख्या तैंतीस की अनुवृत्ति से चला आ रहा है तथा “च” पद भी पूर्वसूत्र के अर्थ का प्रतिनिधित्व करता है।**जिज्ञासा—**भवनवासियों की जघन्य आयु कहने के बाद; क्रम प्राप्त व्यन्तरों की जघन्य आयु कितनी है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—**सूत्र—व्यन्तराणां च ॥३८॥****सूत्रार्थ—**व्यन्तरों की भी जघन्य आयु दश हजार वर्ष है।**लब्धार्थ—**इस सूत्र में “च” पद प्रकृत विषय का समुच्चय करता है अर्थात् जैसे पूर्व सूत्र तैंतीस में भवनवासियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष है, वही जघन्य आयु व्यन्तर देवों की भी है।**विशेषार्थ—**इस सूत्र में भी “अपरा स्थितिः” पद सूत्र संख्या तैंतीस की अनुवृत्ति से चला आ रहा है, जिससे व्यन्तरों की जघन्य आयु का निर्देश होता है।**प्रश्न—**जब भवनवासी एवं व्यन्तर देवों में; दोनों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष है तब दोनों का एक ही सूत्र बनाना चाहिए था, जिससे सूत्र लाघव होकर एक सूत्र की बचत हो जाती।**उत्तर—**दोनों का एक सूत्र बनाने पर सूत्र लाघव अवश्य हो जाता, किन्तु व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण निकालने के लिए आगे एक अलग सूत्र और बनाना पड़ता, अन्यथा भवनवासियों की उत्कृष्ट आयु भी व्यन्तर देवों के समान पल्योपम से कुछ अधिक हो जाती, अतः व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु सिद्ध करने के लिए यह सूत्र अलग से बनाया है।

जिज्ञासा—व्यन्तरो की जघन्य आयु का प्रमाण तो ज्ञात हो गया, लेकिन इन व्यन्तरो की उत्कृष्ट आयु का क्या प्रमाण है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

सूत्र उच्चारण—परा, पल्योपम-मधिकम् ॥३९॥

सन्धि विग्रह—परा पल्य-उपमम्-अधिकम् ॥३९॥

सूत्रार्थ—व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु पल्योपम से कुछ अधिक है ।

लब्धार्थ—इस सूत्र में परा शब्द का अर्थ उत्कृष्ट है ।

विशेषार्थ—पूर्व सूत्रों में पहले उत्कृष्ट आयु का कथन किया था, किन्तु प्रसङ्ग अनुसार बीच में जघन्य आयु का कथन आ गया, अतः पुनः उत्कृष्ट आयु का कथन आने से सूत्र में ‘परा’ पद दिया है ।

जिज्ञासा—व्यन्तरो की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति कहने के बाद; क्रम प्राप्त ज्योतिष देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

सूत्रार्थ—ज्योतिष्क देवों की भी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण है ।

लब्धार्थ—तीसरे निकाय; ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु भी व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु के समान है ।

विशेषार्थ—इस सूत्र में “च” पद से ऊपर के सूत्र संख्या उन्तालीस से उत्कृष्ट आयु की अनुवृत्ति ली है ।

जिज्ञासा—ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु का कथन करने के बाद; उनकी जघन्य आयु का प्रमाण कितना है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

सूत्र उच्चारण—तदष्टभागोः, ऽपरा ॥४१॥

सन्धि विग्रह—तद्-अष्टभागः अपरा ॥४१॥

सूत्रार्थ—उन ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु; पल्य के आठवें भाग है ।

लब्धार्थ—ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु के कथन के बाद पुनः उनकी जघन्य आयु का कथन किया है, अतः सूत्र में पुनः “अपरा” पद जोड़ा है ।

विशेषार्थ—चारों निकाय के देवों की उत्कृष्ट-जघन्य आयु के प्रमाण बतलाने के लिए प्रसङ्गानुसार “परा”-“अपरा” एवं समानता बतलाने के लिए “च” पद का कई बार प्रयोग किया गया है, जिससे सूत्रों में लाघवता (सूक्ष्मता) हुई एवं पुनरावृत्ति के दोष का निराकरण भी हो गया ।

जिज्ञासा—वैमानिक देवों में पाँचवें कल्प के ब्रह्मलोक के लौकान्तिक देवों का कथन सूत्र संख्या चौबीस एवं पच्चीस में सबसे पृथक् किया है, किन्तु प्रसङ्गानुसार उनकी आयु का कथन नहीं किया है, अतः लौकान्तिक देवों की आयु का प्रमाण कितना है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

सूत्र उच्चारण—लौकान्तिकाना-मष्टौ, सागरोप-माणि, सर्वेषाम् ॥४२॥

सन्धि विग्रह—लौकान्तिकानाम्-अष्टौ सागर-उपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

सूत्रार्थ—सब लौकान्तिक देवों की स्थिति-आयु आठ सागरोपम प्रमाण होती है।

लब्धार्थ—लौकान्तिक देवों में आयु का प्रमाण सभी का आठ सागरोपम प्रमाण है, जिससे सिद्ध है कि लौकान्तिक देवों की आयु; जघन्य या उत्कृष्ट दो रूप नहीं होती है।

विशेषार्थ—वैसे तो ब्रह्मलोक के सामान्य देवों की आयु दस सागर से कुछ अधिक है, किन्तु सभी लौकान्तिकों की आयु आठ सागर है। तिलोय-पण्णत्ति के अनुसार अरुण नामक लौकान्तिकों की आयु नौ सागर भी होती है। सभी लौकान्तिकों की एक शुक्ल लेश्या होती है एवं उनके शरीर की ऊँचाई पाँच हाथ होती है, जो ब्रह्मलोक के सामान्य देवों से भिन्न हैं। इस सूत्र को सबसे अलग कहने से यह भी सिद्ध होता है कि लौकान्तिक देवों की आयु सर्वार्थसिद्धि के देवों के समान निश्चित है, कम-अधिक नहीं है।

इस प्रकार सूत्र संख्या प्रथम से लेकर सूत्र संख्या ब्यालीसवें तक देवगति सहित जीव तत्त्वार्थ का कथन करने वाला चौथा अध्याय पूर्ण हुआ है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) चतुर्थोऽध्यायः ॥

प्रज्ञाशक्ति
मुनि

अथ पञ्चमोऽध्यायः

जिज्ञासा—प्रथम अध्याय के सूत्र संख्या चार के अनुसार सम्यग्दर्शन के विषय जो जीवादि तत्त्वार्थ कहे हैं, उनमें से प्रथम जीव पदार्थ का व्याख्यान; प्रारम्भ के चार अध्यायों में किया गया। अब अजीव पदार्थ का व्याख्यान विचार प्राप्त है, अतः पाँचवें अध्याय का प्रारम्भ; अजीव पदार्थ की संज्ञा एवं भेदों का स्वरूप क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर इस अध्याय का प्रथम सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

सूत्र उच्चारण—अजीवकाया, धर्माधर्माकाश-, पुद्गलाः ॥१॥

सन्धि विग्रह—अजीवकाया धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गलाः ॥१॥

सूत्रार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल; ये चारों अजीव काय हैं।

लब्धार्थ—जिस प्रकार शरीर; पुद्गल द्रव्य के प्रचयरूप होता है, उसी प्रकार धर्मादि द्रव्य भी प्रदेश प्रचय की अपेक्षा काय के समान होने से काय कहे गये हैं।

विशेषार्थ—धर्मादिक द्रव्यों में जीव का लक्षण नहीं पाया जाता, इसलिए उन चारों की अजीव सामान्य संज्ञा है, लेकिन धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल; ये अजीव द्रव्य की विशेष संज्ञायें हैं जो कि यौगिक हैं।

जिज्ञासा—प्रथम अध्याय के सूत्र संख्या उन्तीस में “सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य” इत्यादि सूत्रों में ‘द्रव्य’ यह पद कह आये हैं, किन्तु वे द्रव्य कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्रव्याणि ॥२॥

सूत्रार्थ—ये धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल; द्रव्य हैं।

लब्धार्थ—जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं, वे द्रव्य कहलाते हैं।

विशेषार्थ—द्रव्य शब्द “द्र” धातु से बना है, जिसका अर्थ प्राप्त करना होता है अर्थात् जो गुण एवं पर्यायों को प्राप्त होता है, वह द्रव्य है।

जिज्ञासा—क्या धर्म आदि इन चार नामों को ही द्रव्य संज्ञा प्राप्त हुई या इन चारों के अलावा भी अन्य कोई द्रव्य हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जीवाश्च ॥३॥

सन्धि विग्रह—जीवाः च ॥३॥

सूत्रार्थ—जीव भी द्रव्य हैं।

लब्धार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल; ये चार तो द्रव्य हैं ही, जीव भी द्रव्य हैं।

विशेषार्थ—सूत्र में जीवाः पद बहुवचनवाची है, जिससे सभी जीव हैं, यह फलित होता है, जिससे जीवों के भेद-प्रभेदों का भी कथन आ जाता है। “च” पद द्रव्य संज्ञा के कथन के लिए दिया है, जिससे जीव की भी द्रव्य संज्ञा हो जाती है। आगे पुनः द्रव्यादि की परिभाषा बतलाते समय; काल को भी द्रव्य कहेंगे जिससे सभी द्रव्यों की संख्या छह हो जावेगी।

इस सूत्र से जैन दर्शन के द्रव्यों के नाम एवं संख्या नियत होने से अन्य वादियों-धर्मों के मिथ्या द्रव्यों के स्वरूप का निराकरण हो जाता है।

जिज्ञासा—पूर्वोक्त सभी द्रव्यों का विशेष स्वरूप क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥

सूत्र उच्चारण—नित्याव-स्थितान्य-, रूपाणि ॥४॥

सन्धि विग्रह—नित्य-अवस्थितानि-अरूपाणि ॥४॥

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त सभी द्रव्य; नित्य हैं, अवस्थित हैं, अरूपी हैं।

लब्धार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव एवं काल; ये सभी द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं एवं अरूपी हैं।

विशेषार्थ—सभी द्रव्य अपने सामान्य-विशेष गुणों को नहीं छोड़ते, अतः सभी नित्य हैं अथवा सभी द्रव्य कभी नाश को प्राप्त नहीं होते, अतः नित्य हैं। अपने द्रव्यत्व की जो संख्या नियत है, उनका कभी उल्लंघन नहीं करते, अतः अवस्थित हैं। इनमें रूप आदि नहीं पाया जाता है, अतः अरूपी हैं। इसमें अकेले रूप का ही निषेध किया गया है, किन्तु रस-वर्ण-गन्धादि; रूप के ही साथ रहते हैं, अतः रूप का निषेध होने से रसादि का भी निषेध हो गया, जिससे अरूपी का अर्थ; अमूर्त हो गया।

जिज्ञासा—जीवादि छहों द्रव्य; नित्य, अवस्थित, अरूपी हैं, किन्तु पुद्गलों में नित्य, अवस्थित का साधारण लक्षण तो घटित हो रहा है, परन्तु अरूपी का लक्षण प्राप्त नहीं होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

सूत्रार्थ—पुद्गल द्रव्य; रूपी हैं।

लब्धार्थ—पुद्गल द्रव्य; रूपी हैं, क्योंकि जिनमें रूप पाया जाता है, वे रूपी कहलाते हैं।

विशेषार्थ—रूप एवं मूर्ति एक अर्थवाची हैं। रूप; गुण विशेष का वाची है तथा रस-वर्ण-गन्ध आदि रूप के अविनाभावी हैं, अतः रूप में इनका सम्बन्ध अपने आप हो जाता है।

सूत्र में पुद्गलाः पद बहुवचन है; कारण कि पुद्गल के अणु, स्कन्ध आदि अनेक भेद होते हैं, जो आगे कहेंगे।

जिज्ञासा—पुद्गल द्रव्य के समान क्या धर्मादि द्रव्य भी अनेक संख्या या भेद वाले हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥६॥

सूत्र उच्चारण—आ आकाशा-, देक-द्रव्याणि ॥६॥

सन्धि विग्रह—आ आकाशाद्-एक-द्रव्याणि ॥६॥

सूत्रार्थ—आकाश पर्यन्त एक-एक द्रव्य हैं ।

लब्धार्थ—सूत्र में आ पद आङ् से ङ् का अनुबन्ध लोप होकर प्राप्त हुआ है, क्योंकि आङ्; मर्यादा और अभिविधि अर्थ में आता है, जिससे सूत्र का अर्थ फलित होता है कि धर्म, अधर्म एवं आकाश तक; ये तीनों द्रव्य; संख्या की अपेक्षा एक-एक हैं ।

विशेषार्थ—सूत्र में ये धर्मादि; द्रव्य की अपेक्षा एक-एक हैं, अतः द्रव्य पद ग्रहण किया है फिर भी धर्मादि द्रव्य; द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा भिन्न-भिन्न अनेक न हो जावे, इसलिए सूत्र में “एक द्रव्याणि” पद लिया है, जिससे इन धर्मादि की संख्या एक-एक ही है; कारण कि एक-एक धर्म और अधर्म द्रव्य के; क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात विकल्प इष्ट हैं, क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य; एक-एक होते हुए भी असंख्यात प्रदेशी हैं । भाव की अपेक्षा अनन्त विकल्प इष्ट हैं, क्योंकि इनकी पर्यायें अनन्त हैं । एक आकाश द्रव्य के; क्षेत्र एवं भाव इन दोनों की अपेक्षा अनन्त विकल्प इष्ट हैं, क्योंकि आकाश; अनन्त प्रदेशी है, जिससे उसकी भावरूप पर्यायें भी अनन्तरूप हैं ।

इसी प्रकार जीव एवं पुद्गल द्रव्य; संख्या में एक-एक नहीं हैं अर्थात् धर्म-अधर्म एवं आकाश-द्रव्य; संख्या में एक-एक हैं—जीव और पुद्गल के समान बहुत नहीं हैं ।

जिज्ञासा—इन धर्मादि तीनों द्रव्यों का विशेष ज्ञान कैसे हो ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निष्क्रियाणि च ॥७॥

सूत्रार्थ—तथा ये धर्म, अधर्म एवं आकाश द्रव्य; निष्क्रिय भी हैं ।

लब्धार्थ—ये धर्म, अधर्म एवं आकाश द्रव्य; क्रिया रहित होने के कारण निष्क्रिय भी हैं ।

विशेषार्थ—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग निमित्त से उत्पन्न होने वाली जो पर्याय; द्रव्य के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्राप्त कराने का कारण है, वह क्रिया कहलाती है । जो इस प्रकार की क्रिया से रहित हैं, वे निष्क्रिय कहलाते हैं । इन तीन द्रव्यों को निष्क्रिय मानने से; जीव और पुद्गल सक्रिय द्रव्य हैं, यह अपने आप सिद्ध हो गया । कालद्रव्य का कथन आगे प्रसङ्गानुसार करेंगे ।

जिज्ञासा—इस अध्याय के प्रथम सूत्र में अजीवकाया इत्यादि से काया पद ग्रहण करने से अजीवों में बहुत प्रदेश होते हैं ऐसा सिद्ध हुआ, किन्तु किस द्रव्य में कितने प्रदेश होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥

सूत्र उच्चारण—असङ्ख्येयाः, प्रदेशा, धर्माधर्मैक-, जीवानाम् ॥८॥

सन्धि विग्रह—असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्म-अधर्म-एक-जीवानाम् ॥८॥

सूत्रार्थ—धर्म, अधर्म एवं एक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं।

लब्धार्थ—धर्म एवं अधर्म द्रव्य; एक-एक होते हुए भी असंख्यात-असंख्यात प्रदेशी हैं, इसी प्रकार एक जीव के प्रदेश भी असंख्यात ही होते हैं।

विशेषार्थ—जो संख्या से परे हैं, वे असंख्यात कहलाते हैं। असंख्यात तीन प्रकार का होता है—जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट। इन तीनों में से यहाँ अजघन्योत्कृष्ट का ग्रहण किया है।

आकाश के जितने क्षेत्र में एक पुद्गल परमाणु समाता है, उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

धर्म-अधर्म द्रव्य के जितने प्रदेश हैं, वे सब लोकाकाश में फैले हुए हैं, लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है, इससे इन दोनों के असंख्यात प्रदेश सिद्ध होते हैं।

एक जीव के प्रदेश भी केवली समुद्घात के समय पूरे लोकाकाश के बराबर फैल जाते हैं, जिससे एक जीव के असंख्यात प्रदेश होने की सिद्धि हो जाती है।

जिज्ञासा—तीन द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या नियत करने के बाद; आकाश द्रव्य के कितने प्रदेश हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आकाशस्यानन्ताः ॥९॥

सन्धि विग्रह—आकाशस्य-अनन्ताः ॥९॥

सूत्रार्थ—आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश हैं।

लब्धार्थ—प्रदेश पद की अनुवृत्ति है, आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेशी है।

विशेषार्थ—आकाश के दो भेद हैं—(१) लोकाकाश; (२) अलोकाकाश। लोकाकाश तो असंख्यात प्रदेशी है, लेकिन अलोकाकाश सहित मिलाकर आकाश; अनन्त प्रदेशी कहा जाता है।

जिज्ञासा—धर्म, अधर्म, एक जीव तथा आकाश के प्रदेशों की संख्या नियत करने के बाद; पुद्गल द्रव्य में प्रदेशों की संख्या कितनी है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

सूत्र उच्चारण—सङ्ख्येयाः, ऽसङ्ख्येयाश्च, पुद्गलानाम् ॥१०॥

सन्धि विग्रह—सङ्ख्येया-असङ्ख्येयाः च पुद्गलानाम् ॥१०॥

सूत्रार्थ—पुद्गल द्रव्य के संख्यात-असंख्यात एवं “च” से अनन्त प्रदेश भी होते हैं।

लब्धार्थ—पुद्गल द्रव्य के अणु-स्कन्ध आदि भेद होने के कारण कोई संख्यात प्रदेशी, कोई असंख्यातप्रदेशी एवं कोई अनन्तप्रदेशी होने से इनमें संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेश सिद्ध हो जाते हैं।

विशेषार्थ—इस सूत्र में अनन्त सामान्य का ग्रहण किया गया है। अनन्त तीन प्रकार का है—परीतानन्त, युक्तानन्त एवं अनन्तानन्त; इन तीनों अनन्त का सामान्य अनन्त में ग्रहण हो जाता है। आकाश प्रदेश की अवगाहन शक्ति के कारण आकाश के एक प्रदेश में संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणु वाले स्कन्ध समा जाते हैं, अतः एक प्रदेश में अनन्तानन्त परमाणु समाने का विरोध नहीं है।

जिज्ञासा—पूर्व सूत्रानुसार सभी पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात आदि प्रदेशों की सिद्धि हो गई, एक पुद्गल परमाणु में भी अनेक प्रदेशी होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, अतः परमाणु के प्रदेश संख्या निर्धारण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नाणोः ॥११॥

सन्धि विग्रह—न-अणोः ॥११॥

सूत्रार्थ—परमाणु के प्रदेश नहीं होते हैं ।

लब्धार्थ—परमाणु के संख्यात, असंख्यात, अनन्त आदि प्रदेश नहीं होते हैं । सूत्र में “न” पद पूर्वोक्त तीनों संख्याओं का निषेध करने के लिए लिया है ।

विशेषार्थ—परमाणु के प्रदेश नहीं हैं, क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेश मात्र है, उसमें प्रदेश भेद नहीं है । ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं है जो परमाणु से छोटी हो, जिससे इसके प्रदेश भेद हो सकें ।

यह सूत्र; तत्त्वार्थ सूत्र के समस्त सूत्रों में अल्प अक्षर वाला होने से सबसे छोटा सूत्र है ।

जिज्ञासा—यह निश्चित प्रदेश वाले धर्मादिक द्रव्यों के रहने का स्थान कहाँ है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥

सूत्र उच्चारण—लोकाकाशेऽव-गाहः ॥१२॥

सन्धि विग्रह—लोक-आकाशे-अवगाहः ॥१२॥

सूत्रार्थ—ये धर्मादिक द्रव्य लोकाकाश में समाये हुए हैं ।

लब्धार्थ—इन धर्मादिक द्रव्यों का लोकाकाश में ही अवगाह है, इसके बाहर नहीं है ।

विशेषार्थ—लोकाकाश; धर्मादिक द्रव्यों का आधार है, क्योंकि जहाँ धर्मादिक द्रव्य लोके अर्थात् देखे जाते हैं, अतः उसे लोक कहते हैं, उसके ही आकाश को लोकाकाश कहते हैं ।

सभी द्रव्य आकाश के आधार से रहते हैं, किन्तु आकाश स्वयं अपने ही आधार से रहता है, क्योंकि आकाश से अधिक परिमाण वाला अन्य कोई द्रव्य नहीं हैं, जहाँ कहा जा सके कि आकाश यहाँ स्थित है । यदि ऐसा मान भी ले तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा अर्थात् सभी आधार टूटने होंगे जिससे सभी व्यवस्था दूषित हो जावेगी ।

जिज्ञासा—धर्माधर्मादिक द्रव्य; लोकाकाश में किस प्रकार स्थित हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥

सूत्र उच्चारण—धर्मा-धर्मयोः, कृत्स्ने ॥१३॥

सन्धि विग्रह—धर्म-अधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥

सूत्रार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह समस्त लोकाकाश में है।

लब्धार्थ—पूर्व सूत्र से लोकाकाश पद की अनुवृत्ति ली है, जिससे पूरा अर्थ निकलता है कि समस्त लोकाकाश में धर्म और अधर्म द्रव्य व्याप्त है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार तिल में तेल, शक्कर में मिठास व्याप्त होकर रहती है। उसी प्रकार समस्त लोकाकाश में धर्म और अधर्म द्रव्य व्याप्त होकर रहता है। यद्यपि ये द्रव्य एक जगह रहते हैं तो भी अवगाहन शक्ति एवं अगुरुलघुत्व गुण के कारण इनके प्रदेश एक-दूसरे में प्रविष्ट होकर भी व्याघात को प्राप्त नहीं होते हैं।

जिज्ञासा—मूर्तिमान पुद्गल द्रव्य का लोकाकाश में किस तरह अवगाहन होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

सूत्र उच्चारण—एक-प्रदेशादिषु, भाज्यः, पुद्गलानाम् ॥१४॥

सन्धि विग्रह—एक-प्रदेश-आदिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—पुद्गलों का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प से होता है।

लब्धार्थ—लोकाकाश के एक प्रदेश में पुद्गल का एक परमाणु समा जाता है, अतः सूत्र में एक प्रदेशादिषु पद दिया है पुनः परमाणु; स्कन्ध आदिरूप होने से दो-तीन प्रदेशों में भी समा जाता है, अतः लोकाकाश के एक, संख्यात एवं असंख्यात प्रदेशों में पुद्गल स्कन्धों का अवगाह जानना चाहिए।

विशेषार्थ—पुद्गल द्रव्य मूर्त होते हुए भी इनमें सूक्ष्मत्वरूप परमाणु होकर अनेक परमाणु भी एक प्रदेश में समा जाते हैं, अतः जिस प्रकार अनेक दीपकों का प्रकाश एक छोटे-से स्थान में समा जाता है। उसी प्रकार मूर्तिमान पुद्गलों का एक जगह अवगाह विरोध को प्राप्त नहीं होता है।

जिज्ञासा—लोकाकाश के कितने भाग में जीवों का अवगाह होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥

सूत्र उच्चारण—असङ्ख्येय-भागादिषु, जीवानाम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—लोकाकाश के असंख्यातवें भाग आदि में जीवों का अवगाह होता है।

लब्धार्थ—इस सूत्र में “लोकाकाश” इस पद की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति होती है। लोक के असंख्यात भाग करके जो एक भाग प्राप्त हो, वह असंख्यातवाँ भाग कहलाता है। वह एक भाग आदि में है जिसके, वे सब असंख्यातवें भाग आदि हैं। उन सब में जीवों का अवगाह जानना चाहिए।

विशेषार्थ—एक-एक असंख्यातवें भाग में अर्थात् लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में जो प्रदेश होते हैं; उसमें एक जीव रह सकता है। इस प्रकार दो, तीन और चार आदि असंख्यात भागों से लेकर सब लोक पर्यन्त एक जीव का अवगाह जानना चाहिए, किन्तु नाना जीवों का अवगाह सब लोक में ही होता है। केवली समुद्घात की अपेक्षा एक जीव के असंख्यात प्रदेश; लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश में समा जाते हैं।

संसारी जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर, अतः उनका लोकाकाश में अवस्थान बन जाता है। जो सूक्ष्म जीव हैं उनका शरीर तो सूक्ष्म होने के कारण एक निगोद जीव; आकाश के जितने प्रदेशों को अवगाहन करता है, उतने में साधारण शरीर वाले अनन्तानन्त जीव रह जाते हैं। वे परस्पर में एवं बादर जीवों के साथ भी व्याघात को प्राप्त नहीं होते हैं, इसीलिए लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों के अवगाह में कोई विरोध नहीं आता है।

जिज्ञासा—एक जीव; लोक के असंख्यातवें भाग में भी रहता है, जबकि उसके प्रदेश लोकाकाश के बराबर हैं, अतः उसे सब लोक में व्याप्त होकर रहना चाहिए? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

सूत्र उच्चारण—प्रदेश-, संहार-विसर्पाभ्यां, प्रदीपवत् ॥१६॥

सूत्रार्थ—प्रदीप के समान जीव के प्रदेशों का सङ्कोच और विस्तार होने के कारण लोकाकाश के असंख्येय भागादिक में जीवों का अवगाह बन जाता है।

लब्धार्थ—यह दृष्टान्त सूत्र है, इसमें जलते हुए दीपक का उदाहरण दिया है। जैसे-जलते हुए दीपक को जब हम, किसी छोटे-बड़े कमरे में रखते हैं तब उसका प्रकाश; उस छोटे-बड़े कमरे में समा जाता है, उसी प्रकार जीव; सङ्कोच-विस्तार शक्ति के कारण छोटे-बड़े शरीर में समा जाता है।

विशेषार्थ—यद्यपि आत्मा अमूर्त स्वभाव है तो भी अनादिकालीन बन्ध के कारण एकपने को प्राप्त होने से वह मूर्त हो रहा है और कर्मण शरीर के कारण वह छोटे-बड़े शरीर में रहता है, इसलिए वह प्रदेशों के सङ्कोच-विस्तार स्वभाव वाला है, इसलिए दृष्टान्त के अनुसार दीपक के समान उसका अवगाहन लोक के असंख्यातवें भाग आदि में बन जाता है।

जिज्ञासा—धर्मादिक द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या नियत करने के बाद; धर्मादिक द्रव्यों के कार्य स्वभाव क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥

सूत्र उच्चारण—गति-, स्थित्युप-ग्रहौ, धर्माधर्मयो-, रुपकारः ॥१७॥

सन्धि विग्रह—गति-स्थिति-उपग्रहौ धर्म-अधर्मयोः उपकारः ॥१७॥

सूत्रार्थ—गति और स्थिति में निमित्त होना; यह क्रम से धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का उपकार है।

लब्धार्थ—धर्म द्रव्य गति में एवं अधर्म द्रव्य स्थिति में निमित्त होते हैं, यही इन दोनों द्रव्य के उपकार हैं।

विशेषार्थ—इस सूत्रगत धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य; धर्म-अधर्म जिन्हें हम पुण्य-पाप कहते हैं, इनसे भिन्न हैं, अतः इस सूत्र से कभी ऐसा अर्थ नहीं लगा लेना कि धर्मद्रव्य-पुण्य है और अधर्मद्रव्य-पाप है।

सूत्र में उपग्रह शब्द उपकारवाची है। स्थिति का स्वरूप इससे उल्टा है। जीव एवं पुद्गल; ये दो ही द्रव्य गतिशील होकर स्थिर हो जाते हैं, स्थिर होने के बाद निमित्त मिलने पर गतिशील हो जाते हैं, जिससे धर्म-अधर्म द्रव्य की निम्न परिभाषायें बनती हैं।

धर्म द्रव्य—जो चलते हुए—गतिशील जीव एवं पुद्गल को चलने में सहकारी हो, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। जैसे—चलती हुए मछली को जल चलने में सहकारी होता है, किन्तु ठहरी हुई मछली को जल चलने की प्रेरणा नहीं देता है। वैज्ञानिक इसे ईथर कहते हैं।

प्रश्न—धर्म द्रव्य को समझने के लिए जल एवं मछली का ही दृष्टान्त क्यों दिया है ?

उत्तर—जल में रहने वाली मछली; हजार फुट ऊपर से गिरते हुए जल के सहारे ऊपर चढ़ सकती है, गिरते हुए जल के बीच में रुक भी सकती है, जल उसे गिरा-बहा नहीं सकता है।

ठीक उसी प्रकार धर्म द्रव्य के सहारे शुद्ध जीव; सिद्धालय तक पहुँच जाता है। धर्म द्रव्य चलते हुए जीव एवं पुद्गलों को चलने में उदासीन निमित्त है।

अधर्म द्रव्य—जो ठहरते हुए; जीव एवं पुद्गल को ठहरने में सहकारी हो, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। जैसे—रुकते हुए पथिक को वृक्ष की छाया रुकने में सहकारी होती है। वैज्ञानिक इसे मोमेन्ट्स आफ एनर्सिया “जड़त्वाघूर्ण का सिद्धान्त” कहते हैं।

प्रश्न—अधर्म द्रव्य को समझने के लिए पथिक एवं वृक्ष की छाया का ही दृष्टान्त क्यों दिया है ?

उत्तर—वृक्ष की छाया हमेशा वृक्ष के समीप—आस-पास ही रहती है। पथिक यदि छाया देखकर रुकना चाहे तो रुक सकता है, अन्यथा गतिशील पथिक; छाया में से निकल भी जावे तो छाया उसे रोकती नहीं है अर्थात् गतिशील वस्तु को छाया रुकने की प्रेरणा नहीं करती है, क्योंकि अधर्म द्रव्य; ठहरते हुए जीव एवं पुद्गलों को ठहरने में उदासीन निमित्त है।

जिज्ञासा—जैसे—अव्यक्त, अमूर्त धर्म-अधर्म द्रव्य का; उपकार के सम्बन्ध से अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, अमूर्त-अतीन्द्रिय जो आकाश द्रव्य कहा है, उसका ऐसा कौन-सा उपकार है, जिससे आकाश द्रव्य का भी ज्ञान हो ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

सूत्र उच्चारण—आकाशस्याव-गाहः ॥१८॥

सन्धि विग्रह—आकाशस्य-अवगाहः ॥१८॥

सूत्रार्थ—अवकाश देना आकाश द्रव्य का उपकार है।

लब्धार्थ—सूत्र में “उपकार” पद अनुवृत्ति से आया है। अवगाहन करने वाले जीव और पुद्गलों को अवकाश देना आकाश का उपकार जानना चाहिए। उपचार से धर्म, अधर्म एवं काल द्रव्य का भी अवगाहन लोकाकाश में पाया जाता है।

विशेषार्थ—अवकाश देना आकाश द्रव्य का उपकार है, क्योंकि अलोकाकाश के ठीक मध्य में लोकाकाश है, अतः आकाश से लोकाकाश का उपकार होता है। लोकाकाश के अन्दर; जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म एवं काल द्रव्य होने से इन पर लोकाकाश का उपकार है।

शङ्का—लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है फिर भी इसमें असंख्यात प्रदेश वाले धर्म-अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य तथा संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त प्रदेश वाले पुद्गल द्रव्य आदि किस प्रकार समा सकते हैं ?

समाधान—जैसे कोई व्यक्ति जङ्गल में जाकर एक हजार प्रकार की वनस्पति के एक-एक पत्ते को लाकर उसका काढ़ा बनायें तथा उस काढ़े में से सुई की नोक के बराबर काढ़ा निकाले तो उस सुई की नोक के बराबर काढ़े में एक हजार प्रकार की वनस्पति का सत्त्व है। ठीक इसी प्रकार पाँच हजार प्रकार की, दश हजार प्रकार की, पचास हजार प्रकार की, एक लाख प्रकार की वनस्पतियों के पत्तों से सुई की नोक बराबर काढ़े में उनका सत्त्व रहता है, उस सुई के नोक के बराबर काढ़े का न आकार बढ़ता है, न वजन बढ़ता है, यह आकाश के अवगाहन गुण का प्रभाव है।

ठीक इसी प्रकार लोकाकाश के एक प्रदेश में; धर्म-अधर्म द्रव्य के एक-एक प्रदेश, पुद्गल के संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणु एवं एक जीव के असंख्यात प्रदेश तथा कालाणु का भी एक प्रदेश समा जाता है, यह अवगाहन शक्ति आकाश द्रव्य की है।

जिज्ञासा—आकाश द्रव्य के उपकार के बाद; पुद्गल द्रव्य का उपकार क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

सूत्र उच्चारण—शरीर-वाङ्मनः, प्राणापानाः, पुद्गलानाम् ॥१९॥

सन्धि विग्रह—शरीर-वाङ्मनः प्राण-अपानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

सूत्रार्थ—शरीर, वचन, मन और प्राणापान; यह पुद्गलों का उपकार है।

लब्धार्थ—शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासरूप वायु; इनका उपादान पुद्गल द्रव्य है, अतः इन सबका होना पुद्गलों का उपकार कहा गया है।

विशेषार्थ—यह सूत्र जीवों के प्रति पुद्गलों के उपकार का कथन करने के लिए ही आया है, अतः उपकार के प्रकरण में यह सूत्र आया है।

(१) **शरीर**—औदारिक आदि पाँच शरीरों का कथन दूसरे अध्याय में कर आये हैं। ये पाँचों ही शरीर पौद्गलिक हैं, ऐसा समझकर जीवों का उपकार; पुद्गल करते हैं, यह कहा है।

(२) **वचन**—वचन दो प्रकार के हैं—(१) द्रव्य वचन; (२) भाव वचन।

भाव वचन; वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम और अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के निमित्त से होता है, इसलिए वह पौद्गलिक है, क्योंकि पुद्गलों के अभाव में; भाव वचन का सद्भाव नहीं पाया जाता है।

भाव वचन की सामर्थ्य से युक्त क्रिया वाले आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल; वचनरूप से परिणमन करते हैं, इसलिए द्रव्य वचन भी पौद्गलिक हैं।

दूसरे; द्रव्य वचन, श्रोत्र इन्द्रिय के विषय हैं, इससे भी ज्ञात होता है कि वचन पौद्गलिक हैं, जिन्हें पुद्गल की दश पर्यायों में प्रथम “शब्द” को ही ग्रहण किया गया है।

(३) **मन**—मन दो प्रकार का है—(१) द्रव्य मन; (२) भाव मन। लब्धि और उपयोगरूप लक्षण भाव मन; पुद्गलों के आलम्बन से होता है, इसलिए पौद्गलिक है।

ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के निमित्त से जो पुद्गल, गुण-दोष का विचार और स्मरण आदि उपयोग के सम्मुख हुए आत्मा के उपकारक हैं, वे ही मनरूप से परिणत होते हैं, अतः द्रव्य मन भी पौद्गलिक है।

(४) प्राण-अपान—वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाला आत्मा; कोष्ठगत जिस वायु को बाहर निकालता है, उच्छ्वास लक्षण; उस वायु को प्राण कहते हैं तथा वही आत्मा; बाहरी जिस वायु को भीतर करता है, निश्वास लक्षण; उस वायु को अपान कहते हैं। इस प्रकार प्राण और अपान भी आत्मा का उपकार करते हैं, क्योंकि इनमें आत्मा रहता है।

जैसे-कठपुतलियों की चेष्टायें; अपने प्रयोक्ता अर्थात् नचाने वाले के अस्तित्व का ज्ञान कराती हैं। उसी प्रकार प्राण और अपान आदिरूप कार्य भी क्रिया वाले आत्मा के अस्तित्व के साधक हैं, उपकारक हैं।

जिज्ञासा—पुद्गलों के जीव के प्रति क्या इतने ही उपकार हैं या और भी हो सकते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

सूत्र उच्चारण—सुख-दुःख-जीवित-, मरणोप-ग्रहाश्च ॥२०॥

सन्धि विग्रह—सुख-दुःख-जीवित-मरण-उपग्रहाः च ॥२०॥

सूत्रार्थ—सुख, दुःख, जीवन और मरण; ये भी पुद्गलों के; जीव के प्रति उपकार हैं।

लब्धार्थ—साता और असातारूप कर्म के उदय से अन्तरङ्ग हेतु के रहते हुए बाह्य द्रव्यादिक के परिपाक के निमित्त से जो प्रीति और अप्रीति-परितापरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे सुख और दुःख कहे जाते हैं।

पर्याय के धारण करने में कारणभूत आयुर्कर्म के उदय से भव स्थिति को धारण करने वाले जीव के पूर्वोक्त प्राण एवं अपानरूप क्रिया विशेष का विच्छेद नहीं होना जीवित है तथा उनका विच्छेद होना मरण है।

पुद्गल; पुद्गलों का भी उपकार करता है। जैसे-बर्तनों की सफाई राख आदि के द्वारा। जल की स्वच्छता कतक (फिटकरी) आदि के द्वारा। कच्चे लोहे को गर्म करके जल में डुबोने से लोहे में पक्कापन आता है, ये पुद्गल द्वारा पुद्गल के उपकार हैं।

विशेषार्थ—दुःख एवं मरण से जीव का उपकार कैसे हो सकता है? स्वयं एवं दूसरे का दुःख; संसार से संवेग उत्पन्न करने वाला होने से दुःख भी जीव का उपकारक है, वेदना से भी सम्यक्त्व होता है।

मरण में मृत्यु महोत्सव-सल्लेखना को जीव का उपकारक कहा है, अतः दुःख एवं मरण; ये दोनों भी जीव के उपकारक हैं।

जिज्ञासा—धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल; इन अजीव के उपकार कहने के बाद; क्रम प्राप्त जीव द्रव्य कृत उपकार क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

सूत्र उच्चारण—परस्परोप-ग्रहो, जीवानाम् ॥२१॥

सन्धि विग्रह—परस्पर-उपग्रहः जीवानाम् ॥२१॥

सूत्रार्थ—परस्पर निमित्त होना; यह जीवों का उपकार है।

लब्धार्थ—परस्पर शब्द; क्रियावाची है। परस्पर का उपग्रह; परस्परोपग्रह है, यह जीवों का उपकार है।

विशेषार्थ—जैसे-स्वामी; सेवक का धन आदिक देकर उसका उपकार करता है। सेवक; स्वामी का हित कथन, अहित परिहार करके उसका उपकार करता है।

आचार्य; दोनों लोक में सुखदायी उपदेश द्वारा तथा उपदेशानुसार उन्हें चर्या में लगाकर; शिष्यों का उपकार करते हैं। शिष्य; आचार्य के अनुकूल चलकर उनका उपकार करते हैं।

सूत्र में उपग्रह पद पिछले सूत्र की पुनरावृत्ति के लिए आया है कि सुख-दुःख आदि भी जीवों के; जीवकृत उपकार हैं।

जिज्ञासा—धर्म द्रव्य से लेकर जीव द्रव्य तक उपकारों का कथन किया; चूँकि काल भी एक द्रव्य है, जिसका कथन इसी अध्याय में सूत्र संख्या उन-चालीस में करेंगे, किन्तु यहाँ सभी द्रव्यों के उपकार का कथन होने से क्रम प्राप्त काल द्रव्य का क्या उपकार है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

सूत्र उच्चारण—वर्तना-, परिणाम-क्रियाः, परत्वा-परत्वे च, कालस्य ॥२२॥

सन्धि विग्रह—वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्व-अपरत्वे च कालस्य ॥२२॥

सूत्रार्थ—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व एवं अपरत्व; ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

लब्धार्थ—धर्मादि द्रव्यों की पर्यायों के परिवर्तन में जो बाह्य-सहकारी कारण हैं, अतः उसे प्रवर्ताने वाला काल है, ऐसा मानकर वर्तना; काल द्रव्य का उपकार कहा है, क्योंकि द्रव्य की पर्याय बदलती है और उसे बदलाने वाला काल है। यह काल द्रव्य; धर्मादि द्रव्यों के प्रवर्ताने में उदासीन निमित्त-कारण कहा है, एक धर्म की (पर्याय की) निवृत्ति करके, दूसरे धर्म के पैदा करनेरूप और परिस्पन्दन से रहित द्रव्य की जो पर्याय है, उसे परिणाम कहते हैं। जैसे-जीव की क्रोधादि पर्यायें एवं पुद्गल की वर्णादि पर्यायें।

इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल द्रव्य में परिणाम होता है जो अगुरुलघु गुणों (अविभागी प्रतिच्छेदों) की वृद्धि और हानि से उत्पन्न होता है।

द्रव्यों में जो परिस्पन्दरूप परिणामन होता है, उसे क्रिया कहते हैं। यह दो प्रकार की है (१) प्रायोगिक क्रिया है, जैसे-गाड़ी आदि का चलना। (२) वैज्ञानिक क्रिया है, जैसे-मेघादि उड़ना।

परत्व एवं अपरत्व अर्थात् बड़े-छोटे का व्यवहार। यह दो प्रकार का है—(१) क्षेत्र कृत। जैसे-शरीर आदि का बड़ा-छोटा होना। (२) कालकृत, जैसे-आयु में बड़ा-छोटा होना।

प्रसङ्ग अनुसार यहाँ कालकृत परत्व-अपरत्व ग्रहण किये गए हैं। ये सब वर्तनादिक उपकार; काल द्रव्य के अस्तित्व का ज्ञान कराते हैं।

विशेषार्थ—काल द्रव्य की अस्तित्व सिद्धि के लिए ही उसके द्वारा होने वाले, अन्य द्रव्यों के प्रति; उपकार का विस्तार से कथन किया गया है।

प्रसङ्गानुसार कालकृत काल भी दो प्रकार का है—(१) परमार्थ काल, जिसे निश्चय काल कहते हैं, जिसका वर्तना लक्षण है, इसमें भेद नहीं है। (२) व्यवहार काल, जिसका परिणामादि लक्षण है। यह तीन प्रकार का है—भूत काल, वर्तमान काल एवं भविष्य काल। इनमें से परमार्थ-निश्चय काल में; काल यह संज्ञा मुख्य है एवं उसके भूत, वर्तमान एवं भविष्य विशेषण गौण हैं। इसी प्रकार से व्यवहार काल में भूत, वर्तमान एवं भविष्यरूप यह संज्ञा मुख्य है एवं काल संज्ञा गौण है, क्योंकि इस प्रकार का व्यवहार; क्रिया वाले द्रव्य की अपेक्षा से होता है जो काल द्रव्य द्वारा किया गया है।

काल; समय का वाची है। जैसे—हम काँटे वाली घड़ी को देखते हैं, उसके बीच में एक धुरी लगी है जो निरन्तर अपने केन्द्र पर घूम रही है—वर्तन कर रही है, यह निश्चय काल का प्रतीक है।

उसी धुरीके सहारे जो घण्टा-मिनट-सेकेण्ड के काँटे घूम रहे हैं, वे व्यवहार काल के प्रतीक हैं।

कालद्रव्य को समझाने के लिए आगम में कालाणुओं को रत्नों की राशि की उपमा दी है; कारण कि लोक-जगत में जिस प्रकार रत्न कीमती हैं। उसी प्रकार समय कीमती है। रत्न घुनते नहीं, अकारण चिपकते नहीं, पुराने नहीं होते हैं। उसी प्रकार कालाणु घुनते नहीं, अकारण आपस में चिपकते नहीं एवं पुराने भी नहीं होते हैं।

जिज्ञासा—धर्मादि सभी द्रव्यों के उपकार का कथन किया; “अजीवकाया” इस सूत्र द्वारा पुद्गलों का सामान्य लक्षण ही कहा है, किन्तु पुद्गलों का विशेष लक्षण नहीं कहा है। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

सूत्र उच्चारण—स्पर्श-रस-, गन्ध-वर्णवन्तः, पुद्गलाः ॥२३॥

सूत्रार्थ—जो स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण वाले हैं, वे पुद्गल होते हैं।

लब्धार्थ—पूर्व सूत्रानुसार “रूपिणः पुद्गलाः” पुद्गल रूपी है, ऐसा कहा था, किन्तु पुद्गल में रूपीपना किस कारण से हैं? यह बात इस सूत्र द्वारा कही जा रही है कि स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण वाले होने से पुद्गल रूपी हैं, इन्हीं से पुद्गलों का रूपीपना सिद्ध है। पुद्गल के अलावा अन्य द्रव्यों में स्पर्श, रस, गन्ध आदि नहीं पाये जाते, जिस कारण से वे द्रव्य; अरूपी कहलाते हैं।

विशेषार्थ—(१) स्पर्श—जो स्पर्श किया जाता है या स्पर्शन मात्र को स्पर्श कहते हैं। इसके आठ भेद हैं—हल्का-भारी, ठण्डा-गरम, रुखा-चिकना, कड़ा-नरम।

(२) रस — जो स्वाद होता है या स्वाद मात्र को रस कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—खट्टा, मीठा, कडुआ, चरपरा, कषायला।

(३) गन्ध — जो सूँघा जाता है या सूँघने मात्र को गन्ध कहते हैं। इसके दो भेद हैं—सुगन्ध-दुर्गन्ध।

(४) वर्ण — जिसका कोई वर्ण (रङ्ग) है या वर्ण मात्र को वर्ण कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—काला, पीला, नीला, लाल, सफेद।

ये स्पर्श आदि के मूल भेद हैं, वैसे प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त भेद हो जाते हैं।

जिज्ञासा—पुद्गल की परिभाषा कहने के बाद; पुद्गलों की विशेष पर्यायें कौन-सी हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शब्दबन्धसौक्ष्मस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

सूत्र उच्चारण—शब्द-बन्ध-, सौक्ष्म-स्थौल्य-, संस्थान-भेद-, तमश्छाया-, ऽऽतपोद्योत-वन्तश्च ॥२४॥

सन्धि विग्रह—शब्द-बन्ध-सौक्ष्म-स्थौल्य-संस्थान-भेद तमःछाया-आतप-उद्योतवन्तः च ॥२४॥

सूत्रार्थ—तथा वे पुद्गल; शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप एवं उद्योत वाले होते हैं।

लब्धार्थ—ये दस; पुद्गल की पर्यायें (परिणाम) हैं, जिनका भौतिक विज्ञान द्वारा हम चमत्काररूप परिणामन देख रहे हैं।

विशेषार्थ—(१) शब्द—शब्द; ध्वनि को कहते हैं, इसके दो भेद हैं—भाषारूप और अभाषारूप। भाषात्मक शब्द भी दो प्रकार के हैं—साक्षर और अनक्षर।

साक्षर—जिसमें शास्त्र रचे जाते हैं और जिनसे आर्य और म्लेच्छों का व्यवहार चलता है, ऐसे संस्कृत आदि के शब्द; सब साक्षर हैं।

अनक्षर—जिन्हें सुन तो सकते हैं, पर लिख नहीं सकते हैं फिर भी उस ध्वनि से उनके सातिशय ज्ञान के स्वरूप का पता लगता है, ऐसे दो इन्द्रिय आदि जीवों के शब्द; अनक्षरात्मक शब्द हैं।

भाषात्मक शब्द के साक्षर एवं अनक्षर; ये दोनों प्रकार के शब्द प्रायोगिक हैं। अभाषारूप शब्द दो प्रकार के हैं।

(१) **वैस्त्रसिक**—जिसमें पुरुष का प्रयोग आपेक्षिक नहीं है, वह वैस्त्रसिक है।

(२) **प्रायोगिक**—जिसमें पुरुष का प्रयोग आपेक्षिक है, वह प्रायोगिक शब्द है।

प्रायोगिक शब्द चार प्रकार के होते हैं—

१. तत — चमड़े से मढ़े हुए वाद्ययन्त्रों की ध्वनि। जैसे—ढोलक, मृदङ्ग, तबला आदि।

२. वितत — ताँत या तार वाले वाद्य यन्त्रों की ध्वनि। जैसे—वीणा, सुघोषा आदि।

३. घन — धातु के बने वाद्य यन्त्रों की ध्वनि। जैसे—घण्टा, ताल, लालन आदि।

४. सौषिर — मुख की वायु से फूँकने से उत्पन्न ध्वनि। जैसे—शंख, बाँसुरी आदि।

विशेष—शब्द में पुद्गल के स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण गुण होते हैं। इसे वैचारिक युक्ति से समझ सकते हैं। शब्द का उद्गम स्थल रसना है, लेकिन कर्णेन्द्रिय के द्वारा उसका वेदन होता है।

शब्द में स्पर्श के आठ गुण—

१. हल्का—धीरे से शब्द बोलना,

धीरे से शब्द सुनना।

२. भारी—जोर से शब्द बोलना,

जोर से शब्द सुनना।

३. ठण्डा—क्षमा से शब्द बोलना,

क्षमा से शब्द सुनना।

४. गरम—क्रोध से शब्द बोलना,

क्रोध से शब्द सुनना।

५. रूखा-द्वेष से शब्द बोलना,	द्वेष से शब्द सुनना ।
६. चिकना-राग से शब्द बोलना,	राग से शब्द सुनना ।
७. कड़ा-अनुशासन से शब्द बोलना,	अनुशासन से शब्द सुनना ।
८. नरम-प्रमाद से शब्द बोलना,	प्रमाद से शब्द सुनना ।

शब्दों में पाँच रस—वैसे तो रस; रसना इन्द्रिय के द्वारा वेदन होता है फिर भी शब्द बोलने का माध्यम तो जिह्वा इन्द्रिय है ।

१. खट्टा—कुछ शब्दों को सुनकर मन खट्टा हो जाता है ।
२. मीठा—कुछ शब्दों को सुनकर मन मीठा हो जाता है ।
३. चरपरा—कुछ शब्दों को सुनकर मन में ईर्ष्या-जलन होती है ।
४. कडुवा—कुछ शब्दों को सुनकर मन में कडुवापन आ जाता है ।
५. कषायला—कुछ शब्दों को सुनकर मन में कषाय उत्पन्न हो जाती है ।

शब्दों में दो प्रकार की गन्ध—वैसे गन्ध; नासिका इन्द्रिय के द्वारा जानी जाती है फिर भी जिन शब्दों को सुनकर मनुष्य नाक-मुँह सिकोड़ने लगता है, नाक चढ़ा लेता है, अतः शब्दों का प्रभाव नासिका इन्द्रिय पर भी होता है ।

१. सुगन्ध—जिन शब्दों को सुनकर सभ्यता की सुगन्ध आती है, मन खुश होता है ।
२. दुर्गन्ध—जिन शब्दों को सुनकर असभ्यता की दुर्गन्ध आती है, नाक-मुँह सिकोड़ने लगते हैं, वही शब्द की दुर्गन्ध है ।

शब्दों में पाँच प्रकार के वर्ण—यद्यपि वर्ण; चक्षु इन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है फिर भी जिन शब्दों के द्वारा व्यक्ति का उद्देश्य या क्रिया अभिव्यक्त होती है, उससे उनके रङ्गों का पता चल जाता है ।

१. काला—कृष्ण लेश्या युक्त शब्द काले हैं । जिन शब्दों को सुनकर व्यक्ति पता लगा लेता है कि कुछ दाल में 'काला' है अर्थात् उसका मन काला है ।
२. नीला—(हरा+पीला) नील लेश्या युक्त शब्द नीले हैं । जिस शब्द को सुनकर आँखें हरी-पीली हो जाती हैं ।
३. हरा—कपटपूर्ण शब्द हरे हैं । जिन हरे-भरे शब्दों को सुनाकर व्यक्ति दूसरों को ठगता है ।
४. पीला—दया, दान युक्त शब्द पीत लेश्या है ।
५. सफेद—न्यायपूर्ण, वीतराग शब्द शुक्ल लेश्या है । दूध-का-दूध, पानी-का-पानी, वे-दाग छवि आदि शब्दों की धवलता का कथन करना ।

इस प्रकार शब्द में पुद्गल के गुण पाये जाते हैं, अतः शब्द; पुद्गल की पर्याय है, न कि आकाश का गुण ।

(२) बन्ध—स्निग्ध एवं रूक्ष आदिगुणों से दो गुणाधिक मिलन को बन्ध कहते हैं । बन्ध के दो भेद हैं—(१) वैस्त्रसिक बन्ध । जैसे—मेघ, उल्का, इन्द्रधनुष आदि का बन्ध । (२) प्रायोगिक बन्ध, इसके दो भेद हैं । पहला; अजीव सम्बन्धी बन्ध । जैसे—लाख, लकड़ी आदि का बन्ध । दूसरा; जीवाजीव सम्बन्धी बन्ध । जैसे—जीव का कर्म एवं नोकर्म का बन्ध ।

(३) सूक्ष्मता—छोटे से छोटे मान को सूक्ष्मता कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) अन्त्य सूक्ष्मता अर्थात् जिससे और कोई दूसरा सूक्ष्म न हो। जैसे—पुद्गल परमाणु। (२) आपेक्षिक सूक्ष्मता अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर सूक्ष्मता। जैसे—बेल से आँवला सूक्ष्म है, आँवला से बेर सूक्ष्म है, यह आपेक्षिक सूक्ष्मता है।

(४) स्थूलता—छोटे से बड़े होने के मान को स्थूलता कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) अन्त्य स्थौल्य अर्थात् जिससे कोई बड़ा न हो, वह अन्त्य स्थौल्य है। जैसे—जगव्यापी महास्कन्ध। (२) आपेक्षिक स्थौल्यता अर्थात् छोटे से बड़े की तुलना करना। जैसे—बेर से आँवला बड़ा है, आँवला से बेल बड़ा है, ये आपेक्षिक स्थौल्य है।

(५) संस्थान—आकृति-आकार को संस्थान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) इत्थं लक्षण। जैसे—यह इस आकार का गोल, चौकोर, त्रिकोण आदि है। (२) अनित्थं लक्षण। जिनके आकार अनिश्चित हैं, वे अनित्थं लक्षण हैं। जैसे—मेघ आदि के आकार।

(६) भेद—टुकड़ेरूप आकृति भेद हैं। भेद के छह भेद हैं—

१. उत्कर—करोत—आरी से जो लकड़ी आदि को चीरा जाता है, वह उत्कर नामका भेद है।
२. चूर्ण—जौ और गेहूँ आदि का जो सत्तु और कनक-दलिया आदि बनता है, वह चूर्ण नाम का भेद है।
३. खण्ड—घट आदि के जो कपाल और शर्करा आदि के टुकड़े होते हैं, वह खण्ड नाम का भेद है।
४. चूर्णिका—उड़द और मूँग आदि का जो खण्ड किया जाता है, वह चूर्णिका नाम का भेद है।
५. प्रतर—मेघ के जो अलग-अलग पटल आदि होते हैं, वह प्रतर नाम का भेद है।
६. अनुचटन—तपाये हुए लोहे के गोले आदि को घन आदि से पीटने पर जो फुलङ्गे निकलते हैं, वह अनुचटन नाम का भेद है।

(७) तम—जिससे दृष्टि में प्रतिबन्ध होता है और जो प्रकाश विरोधी है, वह तम कहलाता है।

(८) छाया—प्रकाश को रोकने वाले पदार्थों के निमित्त से जो उत्पन्न होती है, वह छाया कहलाती है। इसके दो भेद हैं—

१. वर्णादिक के विकार से उत्पन्न आकार लिए। जैसे—नेगेटिव
२. प्रतिबिम्बरूप आकार लिए। जैसे—पोजेटिव

(९) आतप—जो सूर्य के निमित्त से उष्ण प्रकाश होता है, उसे आतप कहते हैं।

(१०) उद्योत—जो चन्द्रमणि और जुगुनू आदि के निमित्त से प्रकाश पैदा होता है, उसे उद्योत कहते हैं।

ये दश; पुद्गल की पर्यायें हैं। “च” शब्द से नोदन अभिघात (चाबुक की ध्वनि) आदि भी पुद्गल की पर्यायें हैं।

जिज्ञासा—ये दश प्रकार की पुद्गलों की पर्यायों को संक्षेप में भेदरूप कह सकते हैं क्या? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अणवः स्कन्धाश्च ॥२५॥

सूत्र उच्चारण—अणवः, स्कन्धाश्च ॥२५॥

सन्धि विग्रह—अणवः स्कन्धाः च ॥२५॥

सूत्रार्थ—इन पुद्गलों के दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध ।

लब्धार्थ—एक प्रदेश में होने वाले स्पर्शादिक पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्यरूप से जो कहे जाते हैं, वे अणु कहलाते हैं । जिनमें स्थूलरूप से पकड़ना, रखना आदि व्यापार का स्कन्धन अर्थात् संघटना होती है, वे स्कन्ध कहे जाते हैं ।

विशेषार्थ—वैसे तो पुद्गलों के अनन्त भेद हैं तो भी वे सब अणु एवं स्कन्ध जाति के भेद से दो प्रकार के हैं ।

इस सूत्र में अणवः स्कन्धाः च इस प्रकार दो अलग-अलग पद देने से पूर्वोक्त दोनों सूत्रों से इनका सम्बन्ध जोड़ा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि अणुः स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण वाले हैं, किन्तु स्कन्धः शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप एवं उद्योत सहित स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण वाले भी हैं ।

जिज्ञासा—अणु एवं स्कन्ध में; स्कन्ध की उत्पत्ति कैसे होती है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥२६॥

सूत्र उच्चारण—भेद-सङ्घातेभ्य, उत्पद्यन्ते ॥२६॥

सूत्रार्थ—भेद से, संघात से एवं भेद-संघात दोनों से; स्कन्ध उत्पन्न होते हैं ।

लब्धार्थ—अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग; इन दोनों प्रकार के निमित्तों से संघात के विदारण करने को भेद कहते हैं । पृथग्भूत हुए पदार्थों के एकरूप हो जाने को संघात कहते हैं ।

विशेषार्थ—पुद्गलों के अणु एवं स्कन्धरूप परिणाम; अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग निमित्त मिलने पर अणु से स्कन्धरूप पर्याय अथवा स्कन्ध से अणुरूप पर्याय बनती-मिटती रहती है अर्थात् अणु अपने योग्य अणुओं से मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं, जिससे संख्यात, असंख्यात, अनन्त एवं अनन्तानन्त अणुओं के संघात से उतने-उतने प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं ।

इसी प्रकार से एक समय में जो तीसरा भेद; भेद एवं संघात से उत्पन्न होता है अर्थात् जब अन्य स्कन्ध से भेद होता है और अन्य का संघात होता है तब एक साथ भेद-संघात; इन दोनों से भी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है । जैसे—लोहे की हथौड़ी से पत्थर के टुकड़े करने पर, लोहे की चोट लगते ही पत्थर के भेद अर्थात् टुकड़े हो जाते हैं, किन्तु लोहे की हथौड़ी से लोहे के कुछ कण पत्थर के टुकड़े के साथ संघात को प्राप्त होते हैं तथा पत्थर के कुछ कण हथौड़ी के साथ चिपक कर साथ में संघात को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार एक साथ ही भेद-संघात से स्कन्ध बन जाता है ।

जिज्ञासा—स्कन्ध की उत्पत्ति का कथन किया, लेकिन अणु की उत्पत्ति कैसे होती है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भेदादणुः ॥२७॥

सूत्र उच्चारण—भेदा-दणुः ॥२७॥

सन्धि विग्रह—भेदाद्-अणुः ॥२७॥

सूत्रार्थ—भेद से अणु उत्पन्न होता है।

लब्धार्थ—अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है।

विशेषार्थ—जैसे स्कन्ध की उत्पत्ति भेद-संघात एवं भेद से होती है, उसी प्रकार अणु की उत्पत्ति में मात्र भेद ही कारण है, संघात एवं भेद-संघात के कारण नहीं है।

जिज्ञासा—भेद से अणु एवं संघात से स्कन्ध बन जाता है तब पुनः भेद-संघात से स्कन्ध बनता है, यह पद देना व्यर्थ है ? ऐसी शंका होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषः ॥२८॥

सूत्र उच्चारण—भेद-सङ्घाताभ्यां, चाक्षुषः ॥२८॥

सूत्रार्थ—भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनता है।

लब्धार्थ—अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदाय से निष्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है और कोई अचाक्षुष। उसमें जो अचाक्षुष स्कन्ध है, वह चाक्षुष कैसे होता है ? इसी बात को बतलाने के लिए यह कहा है कि भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध होता है, अकेले भेद से नहीं, यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

विशेषार्थ—सूक्ष्म परिणाम वाले स्कन्ध का भेद होने पर भी वह अपनी सूक्ष्मता को नहीं छोड़ता, इसलिए उसमें अचाक्षुषपना ही रहता है। एक; दूसरा सूक्ष्म परिणाम वाला स्कन्ध है, जिसका यद्यपि भेद हुआ तथापि दूसरे भेद और संघात से संयोग हो गया, अतः सूक्ष्मपना निकलकर उसमें स्थूलपने की उत्पत्ति हो जाती है और इसलिए वह चाक्षुष स्कन्ध हो जाता है। जैसे-लोहे की हथौड़ी से पत्थर के टुकड़े करने पर प्रत्यक्ष प्रयोग चक्षुओं से दिखता है।

जिज्ञासा—धर्मादिक द्रव्य के विशेष लक्षण, द्रव्य की संज्ञा करते हुए कहे थे, लेकिन द्रव्य की सामान्य परिभाषा-लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सद्-द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥

सूत्र उच्चारण—सद्-, द्रव्य-लक्षणम् ॥२९॥

सूत्रार्थ—द्रव्य का लक्षण सत् है।

लब्धार्थ—जो सत् है, वही द्रव्य है।

विशेषार्थ—वैसे तो द्रव्य शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु यहाँ जिन द्रव्यों की चर्चा है, वे द्रव्य; सत् रूप ही होते हैं, काल्पनिक या वैकल्पिक नहीं होते हैं।

जिज्ञासा—यदि द्रव्य का लक्षण सत् है तो सत् क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥

सूत्र उच्चारण—उत्पाद-व्यय-, ध्रौव्य-युक्तं, सत् ॥३०॥

सूत्रार्थ—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य; इन तीनों से युक्त-सहित है, वह सत् है।

लब्धार्थ—द्रव्य दो प्रकार के हैं—चेतन और अचेतन। चेतन; एक जीव द्रव्य है एवं अचेतन; पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल; ये पाँच द्रव्य हैं, जिनके लक्षण आदि पूर्व में कहे जा चुके हैं।

विशेषार्थ—द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं। द्रव्य की पूर्व पर्याय के नाश को व्यय कहते हैं। द्रव्य की नित्यता को ध्रौव्य कहते हैं। जो इन तीनों से सहित है, वही सत् है। आना-जाना लगा हुआ है। आना-उत्पाद। जाना-व्यय। लगा हुआ-युक्त। है-सत्।

जिज्ञासा—ध्रौव्य का अर्थ नित्यता है। नित्यावस्थितान्यरूपाणि यह भी सूत्र है, जिसमें नित्य पद प्रयोग हुआ है, अतः नित्य का लक्षण क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तद्-भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

सूत्र उच्चारण—तद्-भावाव्ययं, नित्यम् ॥३१॥

सन्धि विग्रह—तद्-भाव-अव्ययं नित्यम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—द्रव्य का अपने भाव से (अपनी जाति से) च्युत नहीं होना नित्य है।

लब्धार्थ—जिस द्रव्य का जो भाव है, उस रूप से च्युत न होना तद्भाव अव्यय अर्थात् नित्य है।

विशेषार्थ—जो प्रत्यभिज्ञान का कारण है, वह तद्भाव है। “यह; वही है” इस प्रकार के स्मरण को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं अर्थात् स्मृति और प्रत्यक्ष के जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञान अकस्मात् तो होता ही नहीं है, अतः जो इसका कारण है, वही तद्भाव है। तात्पर्य यह है कि पहले जिस रूप वस्तु को देखा है, उसी रूप उसके पुनः होने से “यह; वही है” इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है।

स्थापना निक्षेप एवं प्रत्यभिज्ञान में अन्तर है। स्थापना निक्षेप में “वह; यह है” ऐसा कथन होता है, जिसमें मूल वस्तु परोक्षरूप से “वह” रूप में है, लेकिन उसकी प्रतिकृति प्रत्यक्ष में “यह है” ऐसा भाव होता है।

प्रत्यभिज्ञान में “यह; वही है” ऐसा कथन होता है, जिसमें मूल वस्तु जो सामने “यह” है “वही” मूल में पहले थी, उसमें कोई परिवर्तन नहीं है, “यही” प्रत्यभिज्ञान है।

प्रत्यभिज्ञान के द्वारा ही द्रव्य की नित्यता का बोध होता है अन्यथा पूर्व वस्तु का सर्वथा नाश हो या सर्वथा नयी वस्तु का उत्पाद माना जावे तो इससे स्मरण की उत्पत्ति नहीं हो सकती और स्मरण की उत्पत्ति न हो सकने से स्मरण के आधीन जितना लोक संव्यवहार चालू है, वह सब विरोध को प्राप्त होता है, अतः द्रव्य की नित्यता कथञ्चित् जानना चाहिए, क्योंकि सर्वथा नित्य मानने से परिणामन का सर्वथा अभाव प्राप्त होगा, जिससे सभी वस्तुयें कूटस्थ भाव को प्राप्त होने से संसार और उसकी निर्वृत्ति के कारणरूप प्रक्रिया का विरोध प्राप्त होता है।

जिज्ञासा—द्रव्य को कभी नित्य कहना, कभी अनित्य कहना यह विरुद्ध है, क्योंकि जो नित्य है, उसका उत्पाद-व्ययरूप अनित्यता का अभाव है। जो अनित्य है, उसका स्थिति का अभाव होने से नित्यता का अभाव है, अतः एक द्रव्य में नित्यता एवं अनित्यता कैसे सिद्ध होगी? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥३२॥

सूत्र उच्चारण—अर्पिता-नर्पित-, सिद्धेः ॥३२॥

सन्धि विग्रह—अर्पित-अनर्पित-सिद्धेः ॥३२॥

सूत्रार्थ—मुख्यता एवं गौणता की अपेक्षा; एक वस्तु में विरोधी मालूम होने वाले दो धर्मों की सिद्धि होती है।

लब्धार्थ—वस्तु; अनेकान्तात्मक है, प्रयोजन के अनुसार उसके किसी एक धर्म को विवक्षा से जब प्रधानता प्राप्त होती है तो वह अर्पित या उपनीत-प्रमुख कहलाती है। प्रयोजन के अभाव में जिसकी प्रधानता नहीं रहती, वह अनर्पित-गौण कहलाती है। इन दोनों की अपेक्षा एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों की सिद्धि होती है, अतः उसमें कोई विरोध नहीं है।

विशेषार्थ—वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। जिसमें अभेद-भेद का कथञ्चित् रूप से व्यवहार होता है। जैसे-देवदत्त सामान्य से एक व्यक्ति है, किन्तु विशेष की अपेक्षा वह पिता, पुत्र, भाई आदि भी है। अपने पुत्र की अपेक्षा वह पिता है, पिता की अपेक्षा पुत्र है। उसी प्रकार द्रव्य भी सामान्य की अपेक्षा नित्य है और विशेष की अपेक्षा अनित्य है, इसलिए कोई विरोध नहीं है।

जिज्ञासा—आपने अणु एवं स्कन्ध की उत्पत्ति कैसे होती है? बतलाया; किन्तु अनेक जाति के पुद्गल के संयोग होने पर किन्हीं के साथ बन्ध होता है, किन्हीं के साथ बन्ध नहीं होता है, पर बन्ध किन कारणों से होता है? ऐसी जिज्ञासा होने आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्निग्धरुक्षत्वाद्-बन्धः ॥३३॥

सूत्र उच्चारण—स्निग्ध-रुक्षत्वाद्-, बन्धः ॥३३॥

सूत्रार्थ—स्निग्ध एवं रुक्षत्व से बन्ध होता है।

लब्धार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर कारण से जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है, उससे पुद्गल; स्निग्ध कहलाता है तथा रुखेपन के कारण पुद्गल; रुक्ष कहा जाता है। इनके चिकने गुण के कारण स्निग्धत्व एवं रुक्ष गुण के कारण रुक्षत्व कहलाता है।

विशेषार्थ—स्निग्ध और रुक्ष गुण वाले दो परमाणुओं का परस्पर संश्लेष लक्षण बन्ध होने पर द्व्यणुक नाम का स्कन्ध बनता है। स्निग्ध गुण के एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं। इसी प्रकार रुक्ष गुण के भी एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं। इन स्निग्ध एवं रुक्ष गुण वाले परमाणु होते हैं।

जैसे-जल, बकरी, गाय, भैंस एवं ऊँटनि के दूध और घी में उत्तरोत्तर अधिकरूप से स्नेह गुण रहता है। पांशु (धूल), कणिका और शर्करा आदि में उत्तरोत्तर न्यूनरूप से रुक्ष गुण रहता है। इसी प्रकार परमाणुओं में न्यूनाधिकरूप से स्निग्ध और रुक्ष गुण की सिद्धि होती है।

जिज्ञासा—स्निग्धत्व और रुक्षत्व गुण के निमित्त से बन्ध तो होता है, किन्तु किन परिस्थिति में बन्ध नहीं होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥

सूत्र उच्चारण—न, जघन्य-गुणानाम् ॥३४॥

सूत्रार्थ—जघन्य गुण वाले पुद्गलों का बन्ध नहीं होता है।

लब्धार्थ—यहाँ जघन्य शब्द का अर्थ “निकृष्ट” है और गुण शब्द का अर्थ “भाग” या हिस्सा है। जिनमें जघन्य गुण होता है अर्थात् जिनका शक्ति अंश निकृष्ट होता है, वे जघन्य गुण वाले कहलाते हैं। उन जघन्य गुण वालों का बन्ध नहीं होता है। सूत्र में बन्ध पद की अनुवृत्ति ऊपर के सूत्र से ली गई है।

विशेषार्थ—जैसे—एक स्निग्ध शक्त्यंश वाले का; एक स्निग्ध शक्त्यंश वाले के साथ या दो से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त शक्त्यंश वालों के साथ बन्ध नहीं होता है। उसी प्रकार एक स्निग्ध शक्त्यंश वाले का; एक रुक्ष शक्त्यंशवाले के साथ या दो से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त रुक्ष शक्त्यंश वालों के साथ बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार एक रुक्ष शक्त्यंशवाले के साथ या दो से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त शक्त्यंश वालों के साथ बन्ध नहीं होता है।

जिज्ञासा—एक स्निग्ध-स्निग्ध शक्त्यंश वाले का; एक स्निग्ध-रुक्ष का, एक रुक्ष-रुक्ष का; इन सभी में दो से लेकर संख्यात, असंख्यात या अनन्त शक्त्यंश वालों के साथ बन्ध नहीं होता है। ऐसा कथन किया अर्थात् जघन्य शक्त्यंश वालों के साथ बन्ध नहीं होता है, किन्तु क्या इन स्निग्ध-रुक्ष के; समान शक्त्यंश वालों के बन्ध हो सकता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥

सूत्र उच्चारण—गुण-साम्ये, सदृशानाम् ॥३५॥

सूत्रार्थ—गुणों की समानता होने पर; तुल्य जाति वाले पुद्गलों का बन्ध नहीं होता है।

लब्धार्थ—इस सूत्र में “न” पद की “अनुवृत्ति” ऊपर के सूत्र से ली है। तुल्य जाति वालों का ज्ञान कराने के लिए “सदृश” पद ग्रहण किया है। तुल्य शक्त्यंशों का ज्ञान कराने के लिए “गुण साम्ये” पद का ग्रहण किया गया है।

विशेषार्थ—दो स्निग्ध, दो रुक्ष शक्त्यंश वालों के साथ। तीन स्निग्ध, तीन रुक्ष शक्त्यंश वालों के साथ। दो स्निग्ध, दो स्निग्ध शक्त्यंश वालों के साथ। दो रुक्ष-दो रुक्ष अथवा तीन रुक्ष-तीन रुक्ष शक्त्यंश वालों के साथ बन्ध नहीं होता है; कारण कि इन सभी में पहले तो सदृशपना है। जैसे—स्निग्ध-स्निग्ध का या रुक्ष-रुक्ष का। दूसरे; शक्त्यंश समान हैं। जैसे—दो-दो, तीन-तीन शक्त्यंश, अतः बन्ध नहीं होता। सूत्र में दो पद हैं, प्रथम गुणसाम्यता, दूसरा सदृशपना। इनमें गुण-साम्यता, तुल्यशक्त्यंश है, जिससे ध्वनित होता है असमानता के रहते हुए बन्ध होता है, भले ही वे सदृश जाति वाले हों। जैसे—स्निग्ध-स्निग्ध या रुक्ष-रुक्ष अथवा विसदृश जाति वाले हों। जैसे—स्निग्ध-रुक्ष अथवा रुक्ष-स्निग्ध, इन सभी में यदि शक्त्यंश समान है तो बन्ध नहीं होगा।

जिज्ञासा—पूर्वोक्त सूत्र में जिन पुद्गलों का; जिन कारणों से आपस में बन्ध नहीं होता, उन कारणों का कथन किया है। अब प्रसङ्गानुसार जिन पुद्गलों का; जिन कारणों से आपस में बन्ध होता है, उन कारणों का कथन करना चाहिए। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥

सूत्र उच्चारण—द्व्यधिकादि-, गुणानां तु ॥३६॥

सन्धि विग्रह—द्वि-अधिक-आदि-गुणानां तु ॥३६॥

सूत्रार्थ—दो अधिक आदि शक्त्यंश वालों का तो बन्ध होता है।

लब्धार्थ—जिनमें दो शक्त्यंश अधिक हों, उसे द्वि अधिक कहते हैं। जैसे—दो शक्त्यंश के लिए, चार शक्त्यंश वाला पुद्गल, क्योंकि चार में; दो शक्त्यंश अधिक हैं। तीन शक्त्यंश के लिए, पाँच शक्त्यंश, क्योंकि तीन-तीन शक्त्यंश तो दोनों में बराबर हैं, किन्तु पाँच वाले में तीन वाले से दो अधिक शक्त्यंश हैं, अतः इनमें बन्ध होता है।

सूत्र में “आदि” पद प्रकारवाची है, जिससे स्निग्ध, रुक्ष आदि के पुद्गलों में समान अथवा असमान जातीय के दो अधिक आदि शक्त्यंशों का बन्ध होता है, अन्य और किसी प्रकार बन्ध नहीं होता है।

विशेषार्थ—सूत्र में “तु” पद बन्ध के निषेध का निराकरण करने के लिए दिया है, क्योंकि पिछले दो सूत्रों में जघन्य शक्त्यंश से एवं समान शक्त्यंश से बन्ध का निषेध किया गया था, किन्तु अब पुद्गलों में बन्ध की सिद्धि करना है, जिसके कारण सूत्र में “तु” पद दिया गया है।

बन्ध के समय जो दो स्निग्ध शक्त्यंश वाले पुद्गल का; एक, दो एवं तीन शक्त्यंश वाले पुद्गल का बन्ध नहीं होता है; कारण कि एक; जघन्य संख्या वाला है। दो; समान संख्या वाला है एवं तीन में तुल्यशक्त्यंश बनाने के लिए, एक शक्त्यंश की कमी है, अतः दो शक्त्यंश वाले का चार शक्त्यंश वाले के साथ ही बन्ध होता है। इसी प्रकार तीन स्निग्ध शक्त्यंश वाले का पाँच स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध होता है, किन्तु आगे-पीछे के स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता है।

जिस प्रकार स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के बन्ध का विधान है। उसी प्रकार रुक्ष शक्त्यंश वाले परमाणुओं के बन्ध का विधान है। जैसे—दो रुक्ष शक्त्यंश वाले परमाणुओं का एक, दो और तीन रुक्ष शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता है; कारण पूर्ववत् हैं। एक; जघन्य, दो; समान, तीन में; एक कम है, अतः सूत्र संख्या ३४ में; एक जघन्य गुण से, सूत्र संख्या ३५ में; दो समान गुण से बन्ध नहीं होता, किन्तु सूत्र संख्या ३६ में; समान गुण से दो गुण अधिक में बन्ध होता है। एक गुण कम होने पर भी बन्ध नहीं होगा अर्थात् दो का तीन गुण वाले के साथ बन्ध नहीं होगा। दो का चार गुण वाले के साथ तथा तीन का पाँच गुण वाले के साथ बन्ध होता है; कारण कि पाँच संख्या में तीन की संख्या तीन गुण वाले के समान होकर दो अधिक है, अतः तीन और पाँच गुण वालों में बन्ध होता है, आगे भी इसी तरह जानना चाहिए।

जिज्ञासा—दो गुण अधिक वाले के साथ बन्ध होता है, समगुण वाले के साथ बन्ध क्यों नहीं होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

सूत्र उच्चारण—बन्धेऽधिकौ, पारिणामिकौ च ॥३७॥

सन्धि विग्रह—बन्धे-अधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

सूत्रार्थ—बन्ध होते समय; दो अधिक गुण वाला परिणमन कराने वाला होता है।

लब्धार्थ—बन्ध होते समय; दो अधिक शक्त्यंश वाला, कम गुण वाले को अपने में मिला लेता है, जिसके कारण बन्ध होता है। जैसे—चार शक्त्यंश वाला; दो गुण वाले को अपने में मिला लेता है, पाँच शक्त्यंश वाला; तीन शक्त्यंश वाले को अपने में मिला लेता है।

विशेषार्थ—एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त कराना पारिणामिक कहलाता है। जैसे—अधिक मीठे रस वाला गीला गुड़, उस पर पड़ी हुई धूलि को अपने गुणरूप से परिणामाने के कारण पारिणामिक होता है। उसी प्रकार अधिक गुणवाला, अन्य भी अल्पगुण वाले का पारिणामिक होता है। इस व्यवस्था के अनुसार दो शक्त्यंश आदि वाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु का चार शक्त्यंश आदि वाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु पारिणामिक होता है। इससे पूर्व अवस्थाओं का त्याग होकर, उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है, जिससे उनमें बन्ध की एकरूपता आती है।

जिज्ञासा—“सद्द्रव्यलक्षणं” एवं “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” इन सूत्रों के द्वारा द्रव्य का लक्षण कहा था, किन्तु अन्य प्रकार से भी द्रव्य का लक्षण हो सकता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गुणपर्यायवद्-द्रव्यम् ॥३८॥

सूत्र उच्चारण—गुण-पर्यायवद्-, द्रव्यम् ॥३८॥

सूत्रार्थ—जो गुण और पर्याय वाला है, वह द्रव्य है।

लब्धार्थ—जिसमें गुण और पर्याय दोनों हैं, वह गुण-पर्याय वाला कहलाता है और वही द्रव्य है। द्रव्य में गुण अन्वयी होते हैं तथा पर्यायें व्यतिरेकी होती हैं, इन दोनों से युक्त द्रव्य होता है।

विशेषार्थ—द्रव्य में भेद करने वाले धर्म (लक्षण) को गुण एवं द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं अर्थात् जिससे एक द्रव्य; दूसरे द्रव्य से जुदा होता है, वह गुण है। गुण के द्वारा ही द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि द्रव्यों में गुण भेद नहीं हो तो द्रव्यों में साङ्कर्य (मिश्रण) हो जाए। जैसे—दीपक एक द्रव्य है, गुण उसकी ज्योति है, प्रकाश उसकी पर्याय है। शक्कर एक द्रव्य है, गुण उसकी मिठास है, मिठाई उसकी पर्याय है।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या दो एवं तीन के अनुसार द्रव्यों की संख्या पाँच है, अतः शेष द्रव्य कौन-सा है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—कालश्च ॥३९॥

सन्धि विग्रह—कालः च ॥३९॥

सूत्रार्थ—काल भी द्रव्य है।

लब्धार्थ—काल में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदिरूप द्रव्य का लक्षण घटित होता है, अतः काल भी एक द्रव्य है तथा गुण-पर्याय वाला होने से भी काल; द्रव्य है।

विशेषार्थ—काल द्रव्य का कथन अलग से करने का तात्पर्य यह है कि यह एकप्रदेशी द्रव्य है, अन्य द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकायरूप हैं। धर्म-अधर्म-आकाश; एक-एक द्रव्य हैं, किन्तु काल द्रव्य

एकप्रदेशी होते हुए भी लोकाकाश के जो असंख्यात प्रदेश हैं, उतने ही प्रमाण काल द्रव्य की संख्या है तथा वे कालाणु निष्क्रिय होते हुए भी द्रव्यों के परिवर्तन आदि में निमित्त हैं।

जिज्ञासा—वर्तना लक्षण वाले मुख्य-निश्चय काल के अस्तित्व का प्रमाण कहा, किन्तु परिणाम आदि के द्वारा जानने योग्य व्यवहार काल का प्रमाण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सोऽनन्तसमयः ॥४०॥

सन्धि विग्रह—सः अनन्त-समयः ॥४०॥

सूत्रार्थ—वह काल द्रव्य अनन्त समय वाला है।

लब्धार्थ—मुख्यकाल (निश्चय काल) का निश्चय (अस्तित्व) सिद्ध करने के लिए यह सूत्र कहा है; कारण कि कालद्रव्य में जो अनन्त पर्यायें (समय) होती हैं, वे वर्तना गुण के कारण ही होती हैं, इसलिए एक कालाणु को भी उपचार से अनन्त कहा है, परन्तु समय की पर्याय अत्यन्त सूक्ष्म है फिर भी समयों के समुदाय को आवली, सेकेण्ड, मिनिट, घण्टा आदि के द्वारा व्यवहारकाल का ज्ञान होता है।

विशेषार्थ—यद्यपि वर्तमान काल; एक समय वाला है तो भी अतीत और अनागत; अनन्त समय वाला है, ऐसा मानकर काल द्रव्य को अनन्त समय वाला कहा है।

समय शब्द, द्रव्य और पर्याय; इन दोनों अर्थों में घटित होता है, किन्तु यहाँ पर्यायरूप अर्थ लिया गया है, इससे व्यवहार और निश्चय; इन दोनों कालों की सिद्धि हो जाती है।

एक-एक समय का समुच्चय होकर आवली, घड़ी, पल आदि काल का व्यवहार (भेद) होता है, वह व्यवहार काल है, किन्तु समय-पर्याय; बिना पर्यायी के नहीं हो सकती है, इससे निश्चय काल के अस्तित्व का ज्ञान होता है। जैसे-घण्टे को बजाने से ध्वनि होती है या निकलती है, वह ध्वनि अनन्तरूप है। जब तक घण्टा है तब तक ध्वनि है। वैसे ही काल द्रव्य में अनन्त समय हैं।

जिज्ञासा—गुण और पर्याय वाला द्रव्य है, यह सूत्र संख्या अड़तीस में कहा, किन्तु गुण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

सूत्र उच्चारण—द्रव्याश्रया, निर्गुणा, गुणाः ॥४१॥

सन्धि विग्रह—द्रव्य-आश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

सूत्रार्थ—जो द्रव्य के आश्रय हैं और स्वयं में निर्गुण हैं, उन्हें गुण कहते हैं।

लब्धार्थ—जिनके रहने का आश्रय द्रव्य है, वे द्रव्याश्रय कहलाते हैं और जो गुणों से रहित हैं, वे निर्गुण हैं। इस प्रकार इन दोनों लक्षणों से युक्त; गुण होते हैं।

विशेषार्थ—जो सदा द्रव्य के आश्रय से रहते हैं, वे गुण हैं, क्योंकि द्रव्य आधार है और गुण आधेय है। इस आधार-आधेय में दही एवं कुण्ड (सकोरा) के समान सर्वथा भेद पक्ष का ग्रहण नहीं है, क्योंकि गुण; द्रव्य के आश्रय से रहते हुए भी वे उससे कथञ्चित् अभिन्न हैं, कथञ्चित् भिन्न हैं। जैसे—

तेल; तिल के सब अवयवों में व्याप्त होकर रहता है। वैसे ही प्रत्येक गुण; द्रव्य के सभी अवयवों में समानरूप से व्याप्त होकर रहता है। सहभुवः गुणः जो द्रव्य के साथ रहते हैं, वे गुण हैं।

गुण को निर्गुण कहने का अभिप्राय है कि जैसे तिल के आधार से तेल रहता है या तिल में से तेल निकलता है, किन्तु तेल के अन्दर से तेल नहीं निकलता। यदि तेल के अन्दर से तेल निकलने लगे तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। जैसे—एक बूँद तेल को दबाने से दो बूँद तेल निकलेगा, दो बूँद को दबाने से चार बूँद, इस प्रकार की व्यवस्था होने से व्यवस्था भङ्ग हो जायेगी। जैसे शक्कर में मीठा गुण है, किन्तु मीठे में पुनः कोई दूसरा मीठा नहीं है, अतः गुण स्वयं में निर्गुण होता है, क्योंकि गुणों में अन्य गुण के अंश नहीं होते हैं।

जिज्ञासा—परिणाम शब्द अनेक बार कहा, किन्तु परिणाम किसे कहते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तद्-भावः परिणामः ॥४२॥

सूत्र उच्चारण—तद्-भावः, परिणामः ॥४२॥

सूत्रार्थ—गुणों के भाव को परिणाम या पर्याय कहते हैं।

लब्धार्थ—गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं।

विशेषार्थ—“क्रमवर्तिनः पर्यायः” जो क्रम-क्रम से वर्तन करती हैं, वे पर्याय हैं।

विशेष—आगम में क्रमबद्ध पर्याय शब्द का कहीं उल्लेख नहीं है, यह क्रमबद्ध पर्याय शब्द आधुनिक पण्डित-विद्वानों की देन है। इसके विरोध में आर्षमार्ग के विद्वानों ने बहुत लेख लिखे हैं, अतः विशेष जानकारी के लिये आलाप पद्धति ग्रन्थ को अवश्य पढ़ें।

इस प्रकार प्रथम सूत्र से लेकर ब्यालीसवें सूत्र तक पाँचवें अध्याय में अजीव पदार्थ का वर्णन किया।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

जिज्ञासा—तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय में अजीव पदार्थ का व्याख्यान किया। अब अजीव पदार्थ के बाद; आस्रव तत्त्व को आस्रव पदार्थ बना कर व्याख्यान करना चाहिए। आस्रव में निमित्त क्या है? इसको स्पष्ट करने के लिए इस अध्याय का पहला सूत्र कहते हैं—

सूत्र—कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥

सूत्र उच्चारण—काय-वाङ्-मनःकर्म, योगः ॥१॥

सूत्रार्थ—काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं।

लब्धार्थ—आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन—हलन-चलन योग है, वह निमित्त के भेदों से तीन प्रकार का हो जाता है—काययोग, वचनयोग एवं मनोयोग।

विशेषार्थ—(१) काययोग—वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की काय वर्गणाओं में से किसी एक प्रकार की वर्गणाओं के आलम्बन से होने वाला आत्मप्रदेश परिस्पन्दन काययोग कहलाता है।

(२) वचनयोग—शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचनवर्गणाओं का आलम्बन होने पर तथा वीर्यान्तराय और मृत्युक्षरादि आवरण के क्षयोपशम से प्राप्त हुई भीतरी-वचनलब्धि के मिलने पर वचनरूप पर्याय के सम्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश-परिस्पन्दन वचनयोग कहलाता है।

(३) मनोयोग—वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण के क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धि के होने पर तथा बाहरी निमित्तभूत मनोवर्गणाओं का आलम्बन मिलने पर मनरूप पर्याय के सम्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश-परिस्पन्दन मनोयोग कहलाता है।

एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों में काययोग पाया जाता है, अतः काययोगी जीव सबसे अधिक होने से सूत्र में पहले काययोग ग्रहण किया गया है।

दो इन्द्रिय से वचनयोग प्रारम्भ होकर पञ्चेन्द्रिय तक रहता है, अतः काययोगी जीव से वचनयोगी जीवों की संख्या कम है, क्योंकि एकेन्द्रियों में वचनयोग नहीं पाया जाता है, अतः काययोग के बाद वचनयोग ग्रहण किया गया है।

मनोयोग अकेले पञ्चेन्द्रियों में ही पाया जाता है, अतः मनोयोगियों की संख्या सबसे कम है, अतः सबसे अन्त में मनोयोग ग्रहण किया गया है।

जिज्ञासा—काय-वचन-मन की क्रिया योग है, किन्तु आस्रव क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स आस्रवः ॥२॥

सूत्र उच्चारण—स, आस्रवः ॥२॥

सूत्रार्थ—वह योग ही आस्रव है।

लब्धार्थ—योगों के द्वारा ही आस्रव होता है।

विशेषार्थ—जैसे-तालाब में जल आने का द्वार; जल लाने का कारण होने से आस्रव कहलाता है। वैसे ही आत्मा के साथ बँधने के लिए कर्म; योगरूपी नाली के द्वारा आते हैं, अतः योग को ही आस्रव कहते हैं, यह आस्रव तत्त्व है।

जिज्ञासा—कर्म आगमन के द्वार को आस्रव कहते हैं, किन्तु आस्रव पदार्थ में कर्म दो प्रकार का है—पुण्य और पाप, अतः योग के द्वारा इस आस्रव में क्या कोई विशेषता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥

सूत्र उच्चारण—शुभः पुण्यस्या-, शुभः पापस्य ॥३॥

सन्धि विग्रह—शुभः पुण्यस्य-अशुभः पापस्य ॥३॥

सूत्रार्थ—शुभयोग से पुण्य का एवं अशुभयोग से पाप का आस्रव होता है।

लब्धार्थ—शुभ भावों से रचे गए-प्रवृत्त किए गए योगों को शुभयोग कहते हैं, इनसे पुण्य का आस्रव होता है। जैसे-अहिंसा आदि पालन करना, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करना आदि।

अशुभ भावों से रचे गए योगों को अशुभयोग कहते हैं। इनसे पाप कर्म का आस्रव होता है। जैसे-हिंसादि पाँच पापों में अपने मन-वचन-काय को लगाना।

विशेषार्थ—हिंसा, चोरी, मैथुन आदिक अशुभ काययोग हैं तथा इन तीनों का त्याग करना शुभ काययोग है।

असत्य वचन, कठोर वचन, असभ्य वचन आदि अशुभ वचनयोग है तथा सत्य, हित-मित-प्रिय वचन आदि शुभ वचनयोग है।

मन में वध, ईर्ष्या, डाह आदि के विचार, अशुभ मनोयोग है तथा मन में रक्षा, उदारता, दान आदि के विचार, शुभ मनोयोग है।

ईर्ष्या अर्थात् अतृप्त आकाङ्क्षा। डाह; अतृप्ति की पूर्ति करने का प्रयत्न।

पुण्य—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है, उसे पुण्य कहते हैं। जैसे-सातावेदनीय आदि। (सर्वा०सि०)

पाप—जो आत्मा को शुभ से बचाता है, वह पाप है। जैसे-असातावेदनीय आदि।

जिज्ञासा—शुभ एवं अशुभ योग से जो आस्रव होते हैं, वे सभी संसारी जीवों के समान होते हैं या कोई विशेषता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥

सूत्र उच्चारण—सकषाया-, कषाययोः, साम्परायि-, केर्यापथयोः ॥४॥

सन्धि विग्रह—सकषाय-अकषायोः साम्परायिक-ईर्यापथयोः ॥४॥

सूत्रार्थ—कषाय सहित और कषाय रहित आत्मा का योग; क्रम से साम्परायिक और ईर्यापथ कर्म के आस्रवरूप होता है।

लब्धार्थ—कषाय सहित के साम्परायिक एवं कषाय रहित के ईर्यापथ कर्म का आस्रव होता है, इस प्रकार आस्रव कर्म के दो भेद हैं।

विशेषार्थ—जिनके कषाय है, वह सकषाय जीव है। जिनके कषाय नहीं है, वह अकषाय जीव है।

मिथ्यादृष्टि आदि कषाय सहित जीव के साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है।

उपशान्त कषाय आदि कषाय रहित जीव के ईर्यापथ कर्म का आस्रव होता है।

जैसे-वटवृक्ष का रस; चिकन-चिपकने का गुण होने के कारण कषाय कहलाता है। वैसे ही आत्मा के कषाय परिणाम; कर्मों के बन्ध-चिपकने का कारण होने से कषाय कहलाते हैं।

जिज्ञासा—सकषाय जीव प्रथम गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं, अतः साम्परायिक कर्मास्रव में भी विशेषता या भेद होना चाहिए। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

सूत्र उच्चारण—इन्द्रिय-कषाया-, व्रत-क्रियाः, पञ्च-चतुः-पञ्च-, पञ्चविंशति-सङ्ख्याः, पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

सन्धि विग्रह—इन्द्रिय-कषाय-अव्रत-क्रियाः पञ्च-चतुः-पञ्च-पञ्चविंशति-सङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

सूत्रार्थ—इन्द्रिय, कषाय, अव्रत एवं क्रिया; ये क्रम से पाँच, चार, पाँच एवं पच्चीस; पूर्वास्रव अर्थात् साम्परायिक आस्रव के भेद हैं।

लब्धार्थ—पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत एवं पच्चीस क्रियायें; ये सब साम्परायिक आस्रव के भेद हैं।

विशेषार्थ—पाँच इन्द्रियों का कथन दूसरे अध्याय में कर आये हैं, क्रोधादि चार कषाय एवं हिंसादि पाँच अव्रत के बारे में आगे कहेंगे। यहाँ पच्चीस क्रियाओं का वर्णन करते हैं—

(१) **सम्यक्त्ववर्द्धनी क्रिया**—सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पूजा; सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली सम्यक्त्व-वर्द्धनी क्रिया है।

(२) **मिथ्यात्व क्रिया**—सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु के अलावा अन्य देवता आदि के स्तवन आदिरूप क्रिया होती है, वह मिथ्यात्व क्रिया है।

(३) **प्रयोग क्रिया**—शरीर आदि द्वारा गमनागमन आदिरूप प्रवृत्ति प्रयोग क्रिया है। जैसे-पैर हिलाना, चलना-फिरना।

(४) **समादान क्रिया**—संयत का अविरति के सम्मुख होना समादान क्रिया है। संयत होकर असंयमरूप क्रिया की ओर झुकाव होना।

(५) **ईर्यापथ क्रिया**—ईर्यापथ की कारणभूत क्रिया; ईर्यापथ क्रिया है। यह क्रिया समादान क्रिया से उल्टी है। साधु को लक्ष्य करके चौथी एवं पाँचवीं; ये दो क्रियायें बतलायी हैं।

संयमी की ऐसी कोई क्रिया जो असंयम की ओर ले जाती हो वह समादान क्रिया है, किन्तु संयम को बढ़ाने वाली ईर्यापथ क्रिया है।

विशेष—इन पाँचों क्रियाओं में से पहली और दूसरी; ये दो क्रियायें; सम्यक्त्व सुधरने से सम्यक्त्व क्रिया एवं सम्यक्त्व बिगड़ने से मिथ्यात्व क्रिया की अपेक्षा से हैं। चौथी एवं पाँचवीं; ये दो असंयम एवं संयम की अपेक्षा से हैं अर्थात् चौथी क्रिया के सम्पर्क से असंयम की वृद्धि होगी एवं पाँचवीं क्रिया के सम्पर्क से संयम की वृद्धि होगी। बीच की तीसरी क्रिया मध्य में होने से प्रयोग की अपेक्षा आगे की दो क्रियाओं के साथ एवं अन्त की दो क्रियाओं के साथ घटित होती है।

इन पाँचों क्रियाओं में से प्रथम; सम्यक्त्व क्रिया से शुभ आस्रव, दूसरी; मिथ्यात्व क्रिया से अशुभास्रव, तीसरी; प्रयोग क्रिया से शुभाशुभ दोनों आस्रव, क्योंकि प्रयोग क्रिया यदि सम्यक्त्व क्रिया एवं ईर्यापथ क्रिया के साथ है तो शुभास्रव होगा और यदि मिथ्यात्व क्रिया एवं समादान क्रिया के साथ है तो अशुभास्रव होगा। उपलक्षण न्याय से ईर्यासमिति में पाँचों समिति ग्रहण होती है। ये पाँचों क्रियायें स्वयं के हिताहित से सम्बन्ध रखती हैं।

(६) **प्रादोषिकी क्रिया**—क्रोध के आवेश से द्वेषादिकरूप बुद्धि कर लेना प्रादोषिकी क्रिया है।

(७) **कायिकी क्रिया**—प्रदोष (क्रोध) उत्पन्न होने पर हाथ से मारना या मुख से गाली आदि देना-सताना कायिकी क्रिया है।

(८) **आधिकरणिकी क्रिया**—हिंसा के साधनभूत बन्दूक, चाकू, छुरी आदि चीजें लेना-देना आदि आधिकरणिकी क्रिया है।

(९) **पारितापिकी क्रिया**—हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करके दूसरों को दुःख देना पारितापिकी क्रिया है।

(१०) **प्राणातिपातिकी क्रिया**—आयु, इन्द्रिय, बल, और श्वासोच्छ्वासरूप प्राणों का वियोग करना प्राणातिपातिकी क्रिया है।

विशेष—ये पाँचों क्रियायें; पर-हिंसा की मुख्यता से हैं। सूक्ष्म से स्थूल की ओर एवं भाव से द्रव्य की ओर घटित होती हैं। जैसे—(१) क्रोधादि के निमित्त से जीव का अपने अन्दर द्वेष परिणाम करना; (२) पुनः कषाय के निमित्त से वचन एवं काय का दुरुपयोग करना; (३) कषाय की पुष्टि के लिए हिंसक हथियार ग्रहण करना; (४) हथियारों के दुष्प्रयोग से दूसरों को पीड़ा देना; (५) पीड़ा देकर मार देना; ये पाँचों क्रियाओं के पाँच भाव हैं।

(११) **दर्शन क्रिया**—रागवश, स्नेह सिक्त होने के कारण प्रमादी का रमणीय रूप के देखने का अभिप्राय दर्शन क्रिया है।

(१२) **स्पर्शन क्रिया**—प्रमादवश स्पर्श करने लायक सचेतन पदार्थ का अनुबन्ध-सम्बन्ध स्पर्शन क्रिया है।

(१३) **प्रात्ययिकी क्रिया**—इन्द्रिय भोगों की पूर्ति के लिए नए-नए सामान इकट्ठे करना या उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है।

(१४) **समन्तानुपात क्रिया**—स्त्री, पुरुष और पशुओं के आने-जाने, उठने-बैठने के स्थानों में मल-मूत्र विसर्जन करना समन्तानुपात क्रिया है।

विशेष—इसमें श्रावक या साधु को ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र विसर्जन करने का निषेध इसलिए होता है, क्योंकि जिन स्थानों पर मनुष्य या पशु चलते-फिरते या उठते-बैठते हैं, उन स्थानों पर मनुष्य और पशुओं के शरीर के जीवाणु आदि मिट्टी के सहारे नीचे गिर जाते हैं, वे जीवाणु; श्रावक या साधुओं के मल-मूत्र विसर्जन करते समय उनके शरीर पर चढ़ जाते हैं, जिससे अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है।

(१५) **अनाभोग क्रिया**—प्रमार्जन और अवलोकन नहीं की गई भूमि पर; शरीर-वस्तु आदि रखना-उठाना, बैठना-उठना-सोना आदि अनाभोग क्रिया है।

ये पाँचों क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनका इन्द्रिय-भोगों से सम्बन्ध है।

(१६) **स्वहस्त क्रिया**—दूसरों के द्वारा करने योग्य कार्य को स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है अर्थात् जिस कार्य के लिए जिसकी नियुक्ति है, वह स्वयं करने लगना। जैसे-चपरासी के कार्य को अधिकारी एवं अधिकारी के कार्य को चपरासी करने लगे अथवा चार वर्णाश्रित कार्यों के बदलने से यह दोष उत्पन्न होता है, जिससे देश-समाज की व्यवस्थाएँ भङ्ग होने से अनवस्था दोष उत्पन्न होता है।

(१७) **निसर्ग क्रिया**—पाप साधनों के देने-लेने की सम्मति रखना निसर्ग क्रिया है अथवा पापोत्पादक प्रवृत्ति को अच्छा मानना निसर्ग क्रिया है।

(१८) **विदारण क्रिया**—दूसरों ने सावधकार्य (हिंसादिक कार्य) किया हो, उसे प्रकाशित करना विदारण क्रिया है अथवा शुभ कार्यों को आलस्य के कारण स्वयं नहीं करना विदारण क्रिया है।

(१९) **आज्ञाव्यापादिकी क्रिया**—चारित्र्यमोहनीय के उदय से धर्म की आवश्यक क्रियाओं को न पाल सकने के कारण उनमें परिवर्तन करके, अपने मन-माने ढङ्ग से उपदेश देना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। जैसे-जिनेन्द्र देव की पूजा अथवा पूजा सामग्री के स्वरूप को बदलने का उपदेश देना, इससे पन्थवाद, वाद-विवाद उत्पन्न होते हैं।

(२०) **अनाकाङ्क्षा क्रिया**—धूर्तता और आलस्य के कारण शास्त्र में कही गयी विधि करने का अनादर करना—उत्साह नहीं दिखाना अनाकाङ्क्षा क्रिया है।

विशेष—ये पाँच क्रियाएँ ऊँचे धर्माचरण को प्रदूषित करके धर्म क्रिया से गिराने वाली हैं।

(२१) **प्रारम्भ क्रिया**—छेदन, भेदन, मारन आदि क्रिया में स्वयं लगना या दूसरों के करने पर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है।

(२२) **पारिग्राहिकी क्रिया**—परिग्रह का नाश न हो, इसलिए उसके बचाने के उपाय में लगे रहना पारिग्राहिकी क्रिया है।

(२३) **माया क्रिया**—ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में छल करना माया क्रिया है। ज्ञान-दर्शन आदि के सच्चे स्वरूप को जानते हुए भी बतलाने में छल करना माया क्रिया है।

(२४) **मिथ्यादर्शन क्रिया**—मिथ्यादर्शन के साधनों से युक्त पुरुष की प्रशंसा आदि के द्वारा दृढ़ करना कि “तू ठीक करता है” मिथ्यादर्शन क्रिया है। मिथ्यामत या सिद्धान्त की पुष्टि करना मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(२५) **अप्रत्याख्यान क्रिया**—संयम का घात करने वाले कर्म के उदय से त्यागरूप परिणामों का न होना अप्रत्याख्यान क्रिया है। विषय त्याग न होकर उल्टी आसक्ति होना, अप्रत्याख्यान शब्द का अर्थ है।

विशेष—ये पाँच क्रियायें; जिनके रहने से धर्म धारण करने में विमुखता आती है।

मूलरूप से इन्द्रियशब्द से इन्द्रियज्ञान लेना चाहिए। कषाय सभी प्रवृत्तियों के कारण हैं। अव्रत शब्द का अर्थ विषयाशक्ति-मनोविकार है, अतः पच्चीस क्रियाओं से इन तीनों कारणों को पृथक् कहा है, क्योंकि पच्चीस क्रियायें; शरीरावयवों की सकम्प अवस्थाएँ हैं। इन्हीं सकम्पावस्थाओं को; कारण-भेदवश अथवा कार्य-कारण के भेद से अनेक नाम प्राप्त हुए हैं।

उदाहरण के लिए; इन्द्रिय का अर्थ इन्द्रियोपयोग है, किन्तु स्पर्शन क्रिया का अर्थ स्पर्शनेन्द्रिय-व्यापार है, क्योंकि बुरे-भले साम्परायिक; कर्म बन्धनों के कारण हैं।

इन पच्चीस क्रियाओं में कुछ ही शुभ क्रियायें हैं और शेष सब अशुभ क्रियायें हैं। इन शुभ-अशुभ क्रियाओं में रागभाव का सद्भाव पाया जाता है, अतः ये सभी क्रियायें साम्परायिक आस्रव के कारण हैं।

जिज्ञासा—समस्त संसारी जीव योग सहित हैं, किन्तु सभी जीवों के परिणामों के अनन्त भेद हैं, अतः उनके कर्मबन्ध के फल के अनुभव में भी विशेषता है क्या? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्-विशेषः॥६॥

सूत्र उच्चारण—तीव्र-मन्द-, ज्ञाताज्ञात-, भावाधिकरण-, वीर्यविशेषेभ्यस्-, तद्-विशेषः ॥६॥

सन्धि विग्रह—तीव्र-मन्द-ज्ञात-अज्ञात-भाव-अधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्यः तद्-विशेषः ॥६॥

सूत्रार्थ—तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण एवं शक्ति विशेष से उस आस्रव में विशेषता होती है।

लब्धार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर हेतु की उदीरणा के कारण जो आवेग युक्त परिणाम होता है, वह तीव्र भाव है। इससे उल्टा मन्द भाव है। इस प्राणी को मैं मारूँगा; इस प्रकार जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। इससे विपरीत अज्ञात से मरना अज्ञात भाव है। जिसमें पदार्थ रखे जाते हैं, वह अधिकरण है। यहाँ अधिकरण से द्रव्य का ग्रहण किया है। द्रव्य की अपनी शक्ति विशेष वीर्य है।

विशेषार्थ—तीव्र-मन्द आदि भाव; कषायों की विशेषता से होते हैं। ज्ञात-अज्ञात आदि भाव; पाप की विशेषता से होते हैं। कषाय एवं पाप के आधार से अधिकरण की विशेषता होती है, अधिकरण की शक्ति ही वीर्य विशेष है, इन सबसे आस्रव में विशेषता आती है, क्योंकि इनमें कारण के भेद से कार्य में भेद होता है।

तीव्र-मन्द आदि भाव-अधिकरण विशेष होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अधिकरण के चार भेद हैं।

(१) **द्रव्याधिकरण**—जैसे-स्त्रीरूप से समान होते हुए भी स्वस्त्री के स्पर्श, वेश्या के स्पर्श, राजपत्नी, तपस्विनी आदि के स्पर्श से उत्तरोत्तर अधिक-अधिक आस्रव होता है तथा भक्ष्य वस्तु के भक्षण से कम आस्रव होता है और अभक्ष्य के भक्षण से अधिक पाप होता है। इसी प्रकार निर्माल्य वस्तु के ग्रहण करने से अधिक पाप होता है और सामान्य द्रव्य के ग्रहण में कम पाप होता है। सामान्य पुस्तक की अपेक्षा शास्त्र का अविनय करने से अधिक पाप होता है।

(२) क्षेत्राधिकरण—जैसे घर में ब्रह्मचर्य व्रत का भङ्ग करने से अल्प आस्रव होता है और देवालय में ब्रह्मचर्य का भङ्ग करने से महान् आस्रव होता है। तीर्थयात्रा के मार्ग में ब्रह्मचर्य भङ्ग करने से जो पापास्रव होता है, उससे कई गुणा अधिक आस्रव तीर्थक्षेत्र में ब्रह्मचर्य व्रत भङ्ग करने से होता है। इसी प्रकार पाँचों पापों को ग्रहण करना चाहिए।

(३) कालाधिकरण—काल की अपेक्षा देव-वन्दनादि संध्याकाल के समय दुष्प्रवृत्ति करने पर महान् आस्रव होता है। अन्यकाल की अपेक्षा नन्दीश्वर आदि पर्वों में पाप कार्य करने से अधिक पापास्रव होता है।

(४) भावाधिकरण—भाव से परिणाम व पर्याय लेना, जैसे-जैसे तीव्र-मन्दभाव होते हैं, वैसे-वैसे ही कर्मास्रव तीव्र-मन्द होता है। पर्याय की अपेक्षा भी आस्रव में अन्तर पड़ता है, एक ने मुनि पर्याय में पाप किया और एक साधारण-जन ने किया। असैनी ने किया व संज्ञी ने किया आदि।

शक्ति विशेष से भी आस्रव में विशेषता आती है, जिसको वीर्यविशेष कहते हैं। जैसे-वज्रवृषभनाराच संहनन वाला ही सातवें नरक में जाता है और वही सर्वार्थसिद्धि और मोक्ष में जाता है, इस प्रकार अधिकरण विशेष जानना चाहिए।

जिज्ञासा—तीव्र आदि चार भावों का स्वरूप तो स्पष्ट है, किन्तु अधिकरण क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर उसके भेदों सहित स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

सूत्र उच्चारण—अधिकरणं, जीवाजीवाः ॥७॥

सन्धि विग्रह—अधिकरणं जीव-अजीवाः ॥७॥

सूत्रार्थ—अधिकरण; जीव और अजीवरूप है।

लब्धार्थ—अधिकरण; जो आस्रव का कारण है, वह जीव और अजीव; दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—अधिकरण—हिंसादि उपकरण भाव है, इसमें हिंसादि भाव तो जीव अधिकरण है, किन्तु हिंसा के उपकरण अजीव अधिकरण हैं।

जिज्ञासा—पहले; जीव अधिकरण के कितने भेद हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र — आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रि-
स्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥**

सूत्र उच्चारण — आद्यं, संरम्भ-समारम्भारम्भ-, योग-, कृत-कारितानुमत-, कषाय-विशेषैस्त्रि-
त्रिस्त्रिस्त्रिश्-, चतुश्-चैकशः ॥८॥

सन्धि विग्रह — आद्यं संरम्भ समारम्भ-आरम्भ-योग-कृत-कारित-अनुमत-कषाय-विशेषैः
त्रिः त्रिः त्रिः चतुः च-एकशः ॥८॥

सूत्रार्थ—पहला; जीव अधिकरण—संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के भेद से तीन प्रकार का; योगों के भेद से तीन प्रकार का; कृत, कारित और अनुमत के भेद से तीन प्रकार का तथा कषायों के भेद से चार प्रकार का होता हुआ, परस्पर एक-एक के भङ्गरूप भेद करके मिलाने पर एक-सौ आठ प्रकार का होता है।

लब्धार्थ—संरम्भ, समारम्भ एवं आरम्भ के ३×योग के ३×कृत-कारित-अनुमत के ३×४ कषाय को परस्पर में गुणा करने से जीव अधिकरण के एक-सौ आठ भेद हो जाते हैं।

विशेषार्थ—(१) प्रमादी जीव का प्राणी की हिंसा आदि कार्य का विचार होना “संरम्भ” है।

(२) साधनों को जुटाना “समारम्भ” है।

(३) कार्य करने लगना “आरम्भ” है।

(४) मन-वचन-काय ये तीन “योग” हैं।

(५) कार्य को स्वयं करना “कृत” है।

(६) कार्य में दूसरे प्रयोग की अपेक्षा दिखलाने के लिए “कारित” है।

(७) कार्य करते हुए को सहमति देना “अनुमत” है।

(८) क्रोध-मान-माया-लोभ; ये चार कषाय हैं।

जिससे एक अर्थ; दूसरे अर्थ से विशेषता को प्राप्त हो वह विशेष है, अतः विशेष पद प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ना चाहिए। जैसे—संरम्भ विशेष, समारम्भ विशेष आदि।

सूत्र में च शब्द अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संञ्चलनरूप कषायों के अवान्तर भेदों के समुच्चय के लिए दिया है; कारण कि एक बार में एक चौकड़ी की ही कषायों का प्रभाव जीवाधिकरण आस्रव में होगा।

जिज्ञासा—दूसरे; अजीव अधिकरण के भेद कितने हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥९॥

सूत्र उच्चारण—निर्वर्तना-निक्षेप-, संयोग-निसर्गा, द्वि-चतु-र्द्वि-, त्रि-भेदाः, परम् ॥९॥

सन्धि विग्रह—निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्वि-चतुः द्वि-त्रि-भेदाः परम् ॥९॥

सूत्रार्थ—पर अर्थात् बाद का; दूसरा अजीव अधिकरण क्रम से दो, चार, दो और तीन भेद वाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्गरूप है।

लब्धार्थ—बाद के अजीव अधिकरण में निर्वर्तना के दो भेद, निक्षेप के चार भेद, संयोग के दो भेद एवं निसर्ग के तीन भेद हैं।

विशेषार्थ—(१) निर्वर्तना का अर्थ निष्पादना अर्थात् रचना है। इसके दो भेद हैं—

१. मूलगुण निर्वर्तना, जिसके; शरीर, वचन, मन, प्राण एवं अपान; ये पाँच भेद हैं। २. उत्तरगुण निर्वर्तना, जिसके काष्ठकर्म, पुस्तकर्म (कपड़े पर चित्र) और चित्र कर्म (मिट्टी आदि के चित्र) आदि भेद हैं।

(२) निक्षेप का अर्थ स्थापना अर्थात् रखना है। इसके चार भेद हैं—

१. अप्रत्यवेक्षित-निक्षेपाधिकरण—बिना देखी-भाली जमीन पर कुछ रख देना, अप्रमार्जित निक्षेपाधिकरण कहलाता है। २. दुष्प्रमृष्ट-निक्षेपाधिकरण—जोर से या शीघ्रतर से देखी-शोधी हुई जमीन पर कुछ रख देना, दुष्प्रमृष्ट-निक्षेपाधिकरण है। ३. सहसा निक्षेपाधिकरण—किसी भी वस्तु को

एकदम जमीन पर कहीं डाल देना, सहसा निक्षेपाधिकरण है। ४. अनाभोगनिक्षेपाधिकरण—जहाँ पर कभी कोई आता-जाता नहीं, उठता-बैठता नहीं, उस जमीन पर कुछ रखना, अनाभोग निक्षेपाधिकरण है। योग्य स्थान को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी वस्तुओं को रखना अनाभोग निक्षेपाधिकरण है।

(३) संयोग का अर्थ—मिश्रित करना अर्थात् मिलाना है। इसके दो भेद हैं—

१. भक्तपान संयोग—खाने-पीने की वस्तुओं को इकट्ठा करना भक्तपान संयोगरूप अधिकरण है अथवा खान-पान की वस्तुओं में किस वस्तु के साथ क्या खाना, क्या नहीं खाना? ऐसा ध्यान नहीं रख कर मिश्रित करके खाना-पीना भक्तपान संयोग अजीव अधिकरण है, क्योंकि ऐसा करने से बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—ठण्डे खान-पान के साथ, गर्म वस्तु का सेवन, दूध-दही आदि मिलाकर खाने से गैस बनती है, अतः जिन-जिन खान-पान की वस्तुओं को मिलाकर सेवन करने से विकार एवं बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, उनका ध्यान नहीं रखना भक्तपान संयोग है। खान-पान के कुछ ऐसे पदार्थ जिन्हें सबके साथ नहीं रखा जा सकता है, उन्हें उनके साथ रख देना भी भक्तपान संयोग है। जैसे—मसालों के साथ हींग रखना, पिपरमेन्ट-कपूर एक साथ रखना, लहसुन-प्याज आदि को सब्जी के साथ रखना, क्योंकि इनके संयोग से अन्य पदार्थों में विकृति आ जाती है।

२. उपकरण संयोग—बर्तन, चूल्हा-चक्की आदि उपभोग के उपकरणों को इकट्ठा करना; उपकरण संयोग नामक अधिकरण कहलाता है। उपकरणों को रखने-उठाने, पकड़ने-पकड़ाने के ढङ्ग से उपकरण संयोग नामक अधिकरण है। जैसे—छोटे बर्तन के ऊपर बड़ा बर्तन रखना, झूठे बर्तन बहुत देर तक रखना, गर्म भगोनी आदि के ऊपर ढक्कन को सीधे नीचे रखने से, ढक्कन की भाप से उसके नीचे धूल के कण अथवा छोटे जीव-जन्तु, बाल आदि चिपक जाते हैं पुनः उसी ढक्कन से उसी भगोनी को ढक देने से उस ढक्कन के नीचे की धूल आदि उसी भगोनी में मिल जाती है, अतः ढक्कन को उल्टा करके रखें जिससे ढकते समय सावधानी-शुद्धता रहती है। घर आदि के सभी खाली बर्तन उल्टे करके ही रखना चाहिए अन्यथा जीव मरते हैं। चाकू, कैंची, सुई आदि उपकरणों को फन-नुकीले हिस्से को सामने करके देने से हिंसा के भाव उत्पन्न हो सकते हैं, अतः उनके नुकीले भाग स्वयं की तरफ एवं पकड़ने के भाग सामने वाले की ओर करके देना चाहिए। जैसे—प्रयोग में आने वाले थर्मामीटर को कभी मरकरी (पारे) की तरफ से नहीं पकड़ा जाता है, अतः हर उपकरण को रखने-उठाने, पकड़ने-पकड़ाने के ढङ्ग से उपकरण संयोग है।

(४) निसर्ग—निसर्ग का अर्थ प्रवर्तन है। इसके तीन भेद हैं—

१. काय निसर्गाधिकरण—शरीर का शुभाशुभरूप प्रवर्तन करना है।

२. वचन निसर्गाधिकरण—वचनों का भी शुभाशुभरूप प्रवर्तन करना है।

३. मन निसर्गाधिकरण—मन में भी शुभाशुभरूप का प्रवर्तन करना है।

चूँकि मन-वचन-काय; अजीव-पुद्गल के उपकरण होने से ये अजीव अधिकरण में लिए गए हैं।

विशेष—यदि सूक्ष्मरीति से देखा जाए तो यह सूत्र; जैन धर्म के अनुसार वास्तु विज्ञान का बोध कराता है। जैसे—निर्वर्तना-रचना; कौन-सी वस्तु, कितने अनुपात में; कहाँ-क्या बनना-बनाना चाहिए? यह निर्वर्तना है।

निर्वर्तन के बाद निक्षेप—रखना-उठाना; बनें हुए स्थान में कौन-सी चीज कहाँ, क्यों और कैसे रखना-उठाना ? यह निक्षेप है।

निक्षेप के बाद संयोग—मिलाना; कौन-सी वस्तु के साथ कौन-सी वस्तु मिला कर रखी जा सकती है ? यह संयोग है।

संयोग के बाद निसर्ग—प्रवर्तन; संयोजित वस्तुओं का मन-वचन-काय से प्रवर्तन-प्रयोग होता है, अतः सबसे अन्त में निसर्ग है।

इन सभी का यदि सही दिशा में आचरण होता है तो ये सभी शुभास्रव में कारण हैं और यदि गलत ढङ्ग से आचरण होता है तो सभी अशुभ-आस्रव में कारण हैं।

जिज्ञासा—अभी तक सामान्य से कर्मास्रव के भेद कहे हैं, किन्तु जो कर्म; आस्रव होते हैं, उन कर्मों के नाम क्या हैं एवं उनके आस्रव में निमित्त क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तत्प्रदोषनिह्वमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

सूत्र उच्चारण—तत्-प्रदोष-निह्व-मात्सर्यान्तराया-सादनोपघाता, ज्ञान-दर्शनावरणयोः ॥१०॥

सन्धि विग्रह—तत्-प्रदोष-निह्व-मात्सर्य-अन्तराय-आसादन-उपघाता ज्ञान-दर्शन-आवरणयोः ॥१०॥

सूत्रार्थ—ज्ञान-दर्शन के विषय में प्रदोष, निह्व, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात; ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव हैं।

लब्धार्थ—(१) **प्रदोष**—तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है, उसका गुण-गान करने पर, उस समय नहीं बोलने वाले के भीतर जो पैशून्यरूप परिणाम होता है, वह प्रदोष है। जैसे-मन ही मन सोचना कि ये क्या बके जा रहे हैं ? कब बन्द करेंगे ? हम तो फँस गए आदि।

(२) **निह्व**—किसी कारण से “ऐसा नहीं है; मैं नहीं जानता” ऐसा कहकर ज्ञान का अपलाप करना निह्व है। जैसे-कोई व्यक्ति वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन कर रहा हो तो उसे बीच में टोक कर कहना “ऐसा नहीं है।” यदि उस व्यक्ति ने पूछ लिया कि कैसा है ? तो वह कह देता है कि “मैं नहीं जानता” अर्थात् खुद कुछ जानता नहीं और दूसरे की मानता नहीं है। तात्पर्य यह है कि निह्ववभाव वाला व्यक्ति अपने अज्ञान को ज्ञानरूप प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है। इसका दूसरा भाव यह भी है कि जिस गुरु से विद्या आदि सीखी है, उस गुरु-पुस्तक-स्थान आदि का नाम छिपाना यह भी निह्व है।

(३) **मात्सर्य**—विज्ञान का अभ्यास किया है अर्थात् जिसकी जानकारी है, वह ज्ञान या जानकारी देने योग्य भी है तो जिस कारण से वह नहीं दिया जाता है, वह मात्सर्य है। जैसे-वस्तु स्वरूप की जानकारी दूसरों को देने से; वे हमसे अधिक निपुण हो जायेंगे फिर हमें कौन पूछेगा ? हमारी पूछ बनी रहे, इस अभिप्राय से दूसरों को ज्ञान नहीं देना मात्सर्य है।

दूसरों के पास है, हमारे पास भी होना चाहिए, ऐसा भाव या उसे मिल गया, हमें नहीं मिला ऐसा भाव ईर्ष्या है, किन्तु यह हमारे पास ही रहना चाहिए, दूसरों के पास नहीं; ऐसा भाव मात्सर्य है।

(४) अन्तराय—ज्ञान का विच्छेद करना अन्तराय है। ईर्ष्यावश; जो ज्ञान हमें नहीं मिला, वह उसे भी न मिले, इस अभिप्राय से विघ्न डालना अन्तराय है अथवा जो ज्ञान हमारे पास है, वह ज्ञान; दूसरों से भी उसे न मिले यह अन्तराय है।

(५) आसादन—दूसरा कोई ज्ञान का प्रकाश कर रहा हो तब शरीर या वचन से उसका निषेध करना आसादन है। आसादन में; ज्ञान बाँटने वाले दाता के प्रति निषेध का कथन है। अन्तराय में; उस पात्र को; दूसरों से भी उसे ज्ञान न मिले ऐसा भाव है।

(६) उपघात—प्रशंसनीय ज्ञान में दूषण लगाना उपघात है अथवा सच्चे ज्ञान को अज्ञान समझकर; ज्ञान के नाश का इरादा रखना उपघात है।

उपघात में; डाह भाव से प्रतिशोध की भावना रखना अर्थात् यदि हमें नहीं मिला तो तुम्हारा ज्ञान भी नष्ट कर दूँगा; उपघात है।

सच्चे ज्ञान की विनय न करना, उसकी सच्चाई की प्रशंसा नहीं करना आसादन है; यही उपघात एवं आसादन में अन्तर है।

विशेषार्थ—सूत्र में तत् पद ज्ञान एवं दर्शन का निर्देश करता है, जिससे प्रदोष आदि निमित्त ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं, एक कारण से भी अनेक कार्य होते हैं, अतः प्रदोष आदि से ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण; इन दोनों का आस्रव होना सम्भव है।

सूत्र कथित प्रदोष आदि के अलावा तत्त्वों का उत्सूत्र कथन करना अर्थात् तत्त्व स्वरूप से हटकर कथन करना, तत्त्वोपदेश सुनने में अनादर रखना, आलस्य रखना, शास्त्र बेचना; अपने को बहुश्रुत मानकर अभिमान करना, अकाल में अध्ययन करना, आचार्य-उपाध्याय के विरुद्ध रहना, तत्त्वों में श्रद्धा न रखना, तत्त्वों का चिन्तन नहीं करना, ज्ञान प्रभावना में बाधा डालना, बहुश्रुत ज्ञानियों का अपमान करना, तत्त्वाभ्यास में मूर्खता या छल करना; ये सब ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के हेतु हैं।

जिस प्रकार प्रदोष आदि ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के हेतु हैं, उसी प्रकार प्रदोष आदि दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं। जैसे किसी के देखने की प्रशंसा होने पर, अपने अन्दर-अन्दर कुड़ना प्रदोष है। अपने देखने को छिपाना निह्व है, दूसरों को नहीं दिखाना मात्सर्य है। दूसरे को दिखाने से मना करना आसादन है।

अच्छे दर्शन में विघ्न डालना अन्तराय है। अच्छे दर्शन में दोष लगाना उपघात है। इसके अलावा जैसे-किसी की आँखें निकलवा देना, दिन में बहुत सोना, नास्तिकता के परिणाम, कुतीर्थ प्रशंसा, तपस्वियों को देखकर मुँह छिपाना या ग्लानि करना; ये सब दर्शनावरण कर्म के आस्रव में कारण हैं।

जिज्ञासा—पूर्व सूत्र में ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के आस्रव कहे, अब क्रम प्राप्त वेदनीय कर्म के आस्रव के हेतु कहना चाहिए, किन्तु वेदनीय कर्म के असातावेदनीय एवं सातावेदनीय; ये दो भेद हैं, अतः पहले असातावेदनीय कर्म के आस्रव में कारण क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्-वेद्यस्य ॥११॥

सूत्र उच्चारण—दुःख-शोक-, तापाक्रन्दन-, वध-परिदेव-, नान्यात्म-, परोभय-स्थान्य-, सद्-वेद्यस्य ॥११॥

सन्धि विग्रह — दुःख-शोक-ताप-आक्रन्दन-वध-परिदेवनानि-आत्म-पर-उभयस्थानानि-असद्-वेद्यस्य ॥११॥

सूत्रार्थ—अपने में, दूसरे में या दोनों में विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन; ये असातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं।

लब्धार्थ—पीड़ारूप आत्मा का परिणाम दुःख है। उपकार करने वाले का सम्बन्ध टूट जाने पर जो विकलता होती है, वह शोक है। अपवाद आदि के निमित्त से मन के खिन्न होने पर जो तीव्र अनुशय-संताप होता है, वह ताप है। परिताप के कारण जो आँसू गिरने के साथ विलाप आदि होता है, उससे खुलकर रोना आक्रन्दन है। आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास का जुदा कर देना वध है। संक्लेशरूप परिणामों के होने पर गुणों का स्मरण और प्रशंसा करते हुए अपने और दूसरे के उपकार की अभिलाषा से करुणा जनक रोना परिदेवन है।

विशेषार्थ—ये सब दुख की जातियाँ हैं, जितना-जितना दुख गहराता जाता है, उतनी-उतनी दुख की संवेदना बढ़ती जाती है। क्रोधादि के निमित्त से ये दुःखादिक कभी अपने में होते हैं, कभी दूसरों में होते हैं और कभी दोनों में होते हैं। ये सब असातावेदनीय कर्म के आस्रव जानने चाहिए।

इस सूत्र की टीका के अलावा भी तत्त्वार्थसार में निम्न असातावेदनीय के कारण कहे हैं। चुगली करना, छेदन, भेदन, ताड़न, दमन, डराना, छीलना, लोभ, माया, पापोजीवन, शस्त्रदान, धर्म विघ्न, तपस्वि-निन्दा, व्रतभङ्ग; ये सब असातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं।

जिज्ञासा—असातावेदनीय कर्म के आस्रव कहने के बाद; सातावेदनीय कर्म के आस्रव में क्या कारण हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र — भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्-वेद्यस्य ॥१२॥

सूत्र उच्चारण—भूत-व्रत्यनुकम्पा-दान-,सरागसंयमादियोगः, क्षान्तिः शौच-मिति, सद्-वेद्यस्य।

सन्धि विग्रह—भूत-व्रती-अनुकम्पा-दान-सरागसंयम-आदियोगः क्षान्तिः शौचम्-इति सद्-वेद्यस्य।

सूत्रार्थ—भूतअनुकम्पा, व्रतीअनुकम्पा, दान, सरागसंयम आदि का योग, क्षान्ति और शौच; ये सातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं।

लब्धार्थ—जो कर्मोदय के कारण विविध गतियों में होते हैं, वे भूत कहलाते हैं। जो व्रतों से युक्त हैं, वे व्रती हैं। जो अनुग्रह से दयार्द्र चित्त वाले के दूसरे की पीड़ा को अपनी ही मानने का जो भाव होता है, उसे अनुकम्पा कहते हैं। दूसरे का उपकार हो इस बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है।

जो संसार के कारणों के त्याग के प्रति उत्सुक हैं, परन्तु जिनके अभी राग के संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं, वे सराग कहलाते हैं। प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभ प्रवृत्ति के त्याग को संयम कहते हैं, अतः सराग सहित संयम को सरागसंयम कहते हैं। इन भूतादि से सरागसंयम तक के योग में भले प्रकार मन को लगाना संयमादि योग है।

क्रोधादि दोषों का निराकरण करना क्षान्ति है अर्थात् क्रोध करने के पहले ही क्रोधादि से कितनी हानि होती है ? ऐसा विचार कर क्रोध के निमित्त मिलने पर भी दूसरों के प्रति आक्रोशित नहीं होना क्षान्ति है। लोभ के प्रकारों का त्याग करना शौच है।

इस प्रकार ये सातावेदनीय कर्म के आस्रव में हेतु हैं। सूत्र में इति शब्द प्रकारवाची है। जैसे-अरिहन्त की पूजा करने में तत्परता, बाल तथा वृद्ध साधुओं की वैयावृत्त्य; ये विशेषरूप से सातावेदनीय कर्म के आस्रव में हेतु हैं।

विशेषार्थ—योग, समाधि एवं सम्यक्प्रणिधान; ये एकार्थवाची नाम हैं। भूत पद में सब प्राणियों से व्रतियों का भी ग्रहण हो जाता है, किन्तु व्रतियों की प्रधानता दिखाने के लिए सूत्र में व्रती पद अलग से ग्रहण किया है। पूजा एवं दान के निमित्त धन खर्च करना ही सच्ची निर्लोभता है।

जिज्ञासा—वेदनीय कर्म के बाद; मोहनीय कर्म के आस्रव के कारणों का कथन करना क्रम प्राप्त है, किन्तु मोहनीय कर्म के दो भेद होने से उसके प्रथम भेद दर्शनमोहनीय का आस्रव कैसे होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

सूत्र उच्चारण—केवलि-श्रुत-, सङ्घ-धर्म-, देवावर्णवादो, दर्शनमोहस्य ॥१३॥

सन्धि विग्रह—केवलि-श्रुत-सङ्घ-धर्म-देव-अवर्णवादः दर्शनमोहस्य ॥१३॥

सूत्रार्थ—केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव का अवर्णवाद; दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव है।

लब्धार्थ—जिनका ज्ञान; आवरण रहित है, वे केवली हैं। अतिशय बुद्धि वाले गणधरदेव उनके उपदेशों का स्मरण करके जो ग्रन्थों की रचना करते हैं, वह श्रुत कहलाता है। रत्नत्रय से युक्त श्रमणों का समुदाय संघ कहलाता है। सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित आगम में उपदिष्ट अहिंसा ही धर्म है। चार निकाय वाले देवों का स्वरूप पहले कहा है, वे देव हैं। गुण वाले पुरुषों में जो दोष नहीं हैं, उन दोषों का; उन गुण वाले पुरुषों में उद्भावन-आरोपित करना अवर्णवाद है।

विशेषार्थ—**केवली अवर्णवाद**—केवली भगवान् कवलाहार से जीते हैं अर्थात् केवली भगवान् भी सामान्य साधुओं की तरह कवलाहार करते हैं, स्त्री भी केवली बन सकती है। ऐसा कथन करना केवली का अवर्णवाद है। वर्तमान में अरिहन्त की प्रतिमा को प्रातिहार्य एवं यक्ष-यक्षिणी रहित पूजना तथा पार्श्वनाथ की प्रतिमा में फण नहीं मानना; ये भी केवली का अवर्णवाद है।

श्रुत का अवर्णवाद—शास्त्र में मांस भक्षण आदि को निर्दोष कहा है, इत्यादि रूप से कथन करना एवं वर्तमान में छटवीं शताब्दी के बाद के ग्रन्थों को प्रमाणित नहीं मानना यह भी श्रुत का अवर्णवाद है।

संघ अवर्णवाद—ये शूद्र हैं, अशुचि हैं, इत्यादिरूप से अपवाद करना संघ का अवर्णवाद है।

विशेष—शूद्र को कभी दिगम्बर दीक्षा नहीं दी जाती है, अतः कोई व्यक्ति दिगम्बर साधु को शूद्र कहे तो अवर्णवाद है, क्योंकि बड़े कुल वाले साधु को शूद्रता का दोष लगाना संघ अवर्णवाद है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब शूद्र व्यक्ति; दिगम्बर साधु नहीं बन सकता तब मोक्ष भी कैसे जा सकता है ? अतः शूद्र मुक्ति का निषेध भी इस वाक्य से होता है। वर्तमान में अपने संघ के साधुओं के अलावा दूसरे संघ के निर्दोष साधुओं को भी नहीं मानना; यह भी संघ का अवर्णवाद है।

धर्म अवर्णवाद—जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट धर्म में कोई सार नहीं; जो इस धर्म का सेवन करेंगे वे असुर होंगे, इस प्रकार का कथन करना धर्म का अवर्णवाद है। वर्तमान में पुण्यवर्धक धर्म की क्रियाओं में पाप बताकर छुड़ाना; जैसे—पंचामृत अभिषेक एवं पूजा की सामग्री में चन्दन, केसर, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल आदि चढ़ाने में हिंसा बताना धर्म का अवर्णवाद है।

देव अवर्णवाद—देव; सुरा और मांस आदि का सेवन करते हैं, इस प्रकार का कथन करना देवों का अवर्णवाद है। वर्तमान में चतुर्निकाय के देवों की शाप-अनुग्रह की शक्ति को नकारना देवों का अवर्णवाद है।

जिज्ञासा—अब मोहनीय का दूसरा भेद; जो चारित्रमोहनीय है, उसके आस्रव का कारण क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

सूत्र उच्चारण—कषायोदयात्-, तीव्र-परिणामश्-, चारित्रमोहस्य ॥१४॥

सन्धि विग्रह—कषाय-उदयात्-तीव्र-परिणामः चारित्रमोहस्य ॥१४॥

सूत्रार्थ—कषाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्मपरिणाम; चारित्रमोहनीय का आस्रव है।

लब्धार्थ—कषाय के दो भेद हैं—(१) कषायवेदनीय; (२) अकषायवेदनीय।

कषाय-वेदनीय के सोलह भेद—स्वयं कषाय करना, दूसरों में कषाय उत्पन्न कराना, तपस्वीजनों के चारित्र में दूषण लगाना, संक्लेश को पैदा करने वाले लिङ्ग (भेष) और कुव्रतों को धारण करने से अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय-वेदनीय के आस्रव होते हैं।

अकषाय-वेदनीय के नौ भेद—(१) हास्य—सत्य धर्म का उपहास करना, दीन मनुष्य की मजाक (दिल्लीगी) उड़ाना, कुत्सित (खोटे) राग को बढ़ाने वाला हँसी मजाक करना, बहुत बकने और हँसने की आदत रखना आदि हास्य वेदनीय के आस्रव हैं। (२) रति—अनेक क्रीड़ाओं में लगे रहना, व्रत और शील के पालने में रुचि न रखना आदि रति वेदनीय के आस्रव हैं। (३) अरति—दूसरों में अरति उत्पन्न हो और रति का विनाश हो, ऐसी प्रवृत्ति करना और पापी लोगों की सङ्गति करना आदि अरति वेदनीय के आस्रव हैं। (४) शोक—स्वयं शोकातुर होना, दूसरों का शोक बढ़ाना तथा ऐसे मनुष्यों का अभिनन्दन करना आदि शोक वेदनीय के आस्रव हैं। (५) भय—भयरूप अपना परिणाम और दूसरे को भय पैदा करना आदि भय वेदनीय के आस्रव हैं। (६) जुगुप्सा—सुखकर क्रिया और सुखकर आचार से घृणा करना और अपवाद करने में रुचि रखना आदि जुगुप्सा वेदनीय के आस्रव हैं। (७) स्त्री वेद—असत्य बोलने की आदत, अतिसन्धानपरता (अधिक शृंगार), दूसरे के छिद्र ढूँढ़ना और बढ़ा हुआ राग आदि स्त्री वेदनीय के आस्रव हैं। (८) पुरुष वेद—अल्प क्रोध, ईर्ष्या नहीं रखना, अपनी स्त्री में सन्तोष-अनासक्ति भाव रखना आदि पुरुष वेदनीय के आस्रव हैं। (९) नपुंसक वेद—प्रचुर विषयासक्ति, गुप्त इन्द्रियों का विनाश करना और परस्त्री से बलात्कार करना आदि नपुंसक वेदनीय के आस्रव हैं।

जिज्ञासा—मोहनीय के आस्रव के भेदों के कथन के बाद; क्रम प्राप्त आयुर्कर्म के आस्रवों के कारणों का कथन करना चाहिए, किन्तु चार आयु कर्मों में सबसे पहले जिसका नियत काल तक फल मिलता है, ऐसी नरकायु के आस्रव में कारण क्या है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

सूत्र उच्चारण—बह्वारम्भ-, परिग्रहत्वं, नारकस्यायुषः ॥१५॥

सन्धि विग्रह—बहु-आरम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्य-आयुषः ॥१५॥

सूत्रार्थ—बहुत आरम्भ एवं बहुत परिग्रहपने का भाव नरकायु के आस्रव का कारण है।

लब्धार्थ—प्राणियों को दुख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना आरम्भ है। यह वस्तु मेरी है, इस प्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है। जिसके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह हो, वह बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाला कहलाता है, जिसके ऐसा भाव है, वह बह्वारम्भ परिग्रहत्व है।

विशेषार्थ—हिंसा आदि क्रूर कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का अपहरण, इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त आसक्ति तथा मरण के समय कृष्ण लेश्या और रौद्र ध्यान आदि का होना नरकायु के आस्रव हैं।

जिज्ञासा—नरकायु के बाद; क्रम प्राप्त तिर्यञ्च आयु का आस्रव क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

सूत्र उच्चारण—माया, तैर्यग्-, योनस्य ॥१६॥

सूत्रार्थ—माया; तिर्यञ्चायु का आस्रव है।

लब्धार्थ—माया कषाय नामक चारित्रमोहनीय के उदय से जो आत्मा में कुटिल भाव पैदा होता है, वह माया है। इसे तिर्यञ्च आयु का आस्रव जानना चाहिए।

विशेषार्थ—धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर उनका प्रचार करना अर्थात् धर्म की सत्य बात में झूठी बात मिलाना। शील रहित जीवन बिताना अर्थात् अमर्यादा में रहना। अतिसन्धानप्रियता अर्थात् विषयाशक्ति का होना तथा मरण के समय नील व कापोत लेश्या और आर्त्तध्यान का होना आदि तिर्यञ्च आयु के आस्रव हैं।

जिज्ञासा—तिर्यञ्चायु के आस्रव के बाद; क्रमप्राप्त मनुष्य आयु के आस्रव के कारण क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

सूत्र उच्चारण—अल्पारम्भ-, परिग्रहत्वं, मानुषस्य ॥१७॥

सन्धि विग्रह—अल्प-आरम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

सूत्रार्थ—अल्प-थोड़ा आरम्भ, थोड़ा परिग्रहपने का भाव मनुष्यायु के आस्रव हैं।

लब्धार्थ—नरक आयु से ठीक विपरीत भाव; मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं।

विशेषार्थ—स्वभाव का विनम्र होना अर्थात् गुणीजनों के प्रति विनम्र होना। भद्र प्रकृति का होना अर्थात् छोटी-छोटी बातों का बुरा नहीं मानना। सरल व्यवहार करना अर्थात् सरल व्यक्ति; कठोर तो हो सकता है, किन्तु क्रूर-प्रतिशोध (बदले) की भावना से रहित होता है। क्रूर व्यक्ति; व्यवहार में

सरल हो सकता है, किन्तु क्षमावान नहीं अर्थात् बदले की भावना से रहित नहीं होता है। अल्प कषाय का होना तथा मरण के समय संक्लेशरूप परिणति का नहीं होना आदि मनुष्यायु के आस्रव हैं।

जिज्ञासा—क्या मनुष्यायु के आस्रव इतने ही हैं या और भी? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्वभावमार्दवं च ॥१८॥

सूत्रार्थ—स्वभाव की मृदुता भी मनुष्यायु का आस्रव है।

लब्धार्थ—मृदु का भाव मार्दव है। स्वभाव से मार्दव; स्वभाव मार्दव है अर्थात् बिना किसी के समझाये-बुझाये; ऐसी मृदुता अपने जीवन में उतरी हुई हो, इसमें किसी के उपदेश की आवश्यकता नहीं हो, यह मृदु परिणाम भी मनुष्यायु के आस्रव का कारण है।

विशेषार्थ—पूर्व सूत्र में विनम्र स्वभाव एवं इस सूत्र में मार्दव स्वभाव; दोनों में यह विशेषता है कि पूर्व सूत्र गुणीजनों के प्रति नम्र होने की ओर सङ्केत कर रहा है, किन्तु यह सूत्र स्वयं गुणवान् होने पर भी मान नहीं करने से मार्दवभाव की ओर सङ्केत कर रहा है। इस सूत्र को अलग बनाने का प्रयोजन यह भी है कि स्वभाव की मृदुता; देवायु के आस्रव का कारण भी है।

जिज्ञासा—पूर्वोक्त दो सूत्रों में नरकायु एवं तिर्यञ्च आयु के एवं दो सूत्रों में मनुष्यायु के आस्रव निश्चित किए, किन्तु ऐसे भी क्या कोई कारण हैं जो सब आयुओं के आस्रव के कारण हो सकते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निश्शीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

सूत्र उच्चारण—निश्शील-, व्रतत्वं च, सर्वेषाम् ॥१९॥

सन्धि विग्रह—निःशीलव्रतत्वं-च सर्वेषाम् ॥१९॥

सूत्रार्थ—शील रहित एवं व्रत रहित होना; सब आयुओं का आस्रव है।

लब्धार्थ—दिग्व्रत आदि सात शील एवं अहिंसा आदि पाँच व्रत; इन सबसे रहित जीवन; चारों आयुओं के आस्रव का कारण है।

विशेषार्थ—इस सूत्र में मात्र शील रहित एवं व्रत रहित के; चारों आयुओं के आस्रव के कारण बतलाये हैं, जिसका कारण उनकी कषायें हैं। तीव्रतर, तीव्र, मन्द एवं मन्दतर कषायें; चारों आयुओं के आस्रव का कारण हैं। तीव्रतर से नरकायु, तीव्र से तिर्यञ्चायु, मन्द से मनुष्यायु एवं मन्दतर से देवायु का आस्रव होता है। शील रहित एवं व्रत रहित; भोगभूमिया मनुष्य एवं तिर्यञ्चों के देवायु का आस्रव नियम से होता है; कारण कि उनकी कषायें सबकी अपेक्षा मन्दतर होती हैं।

जिज्ञासा—पूर्वोक्त सूत्रों में तीन आयुओं के प्रमुख कारण कहे, किन्तु देवायु के प्रमुख आस्रव के कारण क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

सूत्र उच्चारण—सरागसंयम-, संयमासंयमा-, कामनिर्जरा-, बालतपांसि, दैवस्य ॥२०॥

सन्धि विग्रह—सरागसंयम-संयमासंयम-अकामनिर्जरा-बालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

सूत्रार्थ—सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप; ये सब देवायु के आस्रव के कारण हैं।

लब्धार्थ—मुनिराजों के महाव्रत आदि पालन करने के भाव को सरागसंयम कहते हैं। श्रावकों के अणुव्रत आदि पालन करने के भाव को संयमासंयम कहते हैं। बिना व्रतों के पराधीनता से प्राप्त वेदना-भूख प्यास आदि को संक्लेश रहित सहन करने से जो होती है, वह अकाम निर्जरा है। मिथ्यात्व सहित, ख्याति-पूजा-लाभ के लिए कायक्लेशबहुल; माया से व्रतों को धारण करना बाल तप है, ये सभी देवायु के आस्रव के कारण हैं।

विशेषार्थ—यह सूत्र चारों निकायों के देवों की आयु के आस्रव का कारण है।

जिज्ञासा—देवायु के आस्रव के कारण क्या इतने ही हैं या और भी? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यक्त्वं च ॥२१॥

सूत्रार्थ—सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है।

लब्धार्थ—सरागसंयम एवं संयमासंयम; ये दोनों तो सम्यक्त्व सहित होने से ही वैमानिक देवों की आयु के आस्रव के कारण हैं, अकाम निर्जरा एवं बाल तप; ये दोनों भवनत्रिक देवों की आयु के आस्रव के प्रमुख कारण होते हैं, किन्तु जो व्रत रहित होकर भी सम्यक्त्व सहित हैं, वे भी देवायु को प्राप्त करते हैं, अतः सम्यक्त्व; देवायु के आस्रव का कारण कहा है।

विशेषार्थ—यह सूत्र व्रत रहित-अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से कहा गया है, क्योंकि व्रतों से जीव; देवायु तो बन्ध कर सकता है, किन्तु व्रत रहित सम्यग्दृष्टि के कौन-सी आयु का आस्रव हो सकता है? इस बात का कथन इस सूत्र में किया है, क्योंकि सौधर्मेन्द्र आदि पद; बिना व्रतों के मात्र सम्यक्त्व द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

जिज्ञासा—चारों आयुओं के आस्रव का कथन करने के बाद; नामकर्म का कथन करना चाहिए, किन्तु नामकर्म के दो भेद हैं—(१) अशुभ नामकर्म; (२) शुभ नामकर्म, अतः पहले अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

सूत्र उच्चारण—योगवक्रता, विसंवादनं, चाशुभस्य, नाम्नः ॥२२॥

सन्धि विग्रह—योगवक्रता विसंवादनं च-अशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

सूत्रार्थ—योग की वक्रता एवं विसंवाद; ये अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं।

लब्धार्थ—मन-वचन-काय; ये तीनों योग हैं, इनकी कुटिलता योग वक्रता है। इन योगों की अन्यथा प्रवृत्ति करना विसंवाद है। स्वगत; योग वक्रता एवं परगत; विसंवाद कहा जाता है।

विशेषार्थ—स्वकीय मन-वचन-काय को कुटिल प्रवृत्ति में लगाना योग वक्रता है, किन्तु जो स्वर्ग और मोक्ष के योग्य समीचीन क्रियाओं का आचरण कर रहा है उसे; उसके विपरीत मन-वचन एवं काय की प्रवृत्ति द्वारा रोकना कि ऐसा मत करो; ऐसा करो यह विसंवाद है।

योग वक्रता एवं विसंवाद के साथ “च” शब्द से मिथ्यादर्शन, चुगली करना, अस्थिर चित्त, नाप-तौल में घट-बढ़ रखना, पर-निन्दा, आत्म-प्रशंसा आदि भी अशुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

जिज्ञासा—अशुभ नामकर्म के आस्रव कहने के बाद; अब शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तद्-विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

सूत्र उच्चारण—तद्-विपरीतं, शुभस्य ॥२३॥

सूत्रार्थ—अशुभ नामकर्म के आस्रव से विपरीत कारण अर्थात् योगों की सरलता एवं अविसंवाद; ये शुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

लब्धार्थ—अपने मन-वचन-काय को सरल बनाना एवं दूसरों को स्वर्ग एवं मोक्ष की क्रियाओं के लिए प्रोत्साहन देना शुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

विशेषार्थ—योगों की सरलता एवं अविसंवाद; ये दोनों तथा पूर्व सूत्र से “च” शब्द की अनुवृत्ति करने से, मिथ्यादर्शन से विपरीत; धार्मिक दर्शन अर्थात् धार्मिक स्थान एवं पुरुषों के दर्शन करना। पैशून्य-चुगली करने से विपरीत; संभ्रम अर्थात् आदर-सत्कार करना, क्योंकि जो चुगली करता है, वह किसी का आदर-सत्कार नहीं करता, आदर-सत्कार करने से चुगली की आदत छूट जाती है। अस्थिर चित्तता से विपरीत; सद्भाव रखना अर्थात् सद्भाव रखने से चित्त स्थिर रहता है। कूटमान-तुलाकरण से विपरीत; उपनयन अर्थात् व्यवहार की सत्यता के प्रमाण में यज्ञोपवीत-जनेऊ संस्कार करवाना। जैसे-नापने-तौलने के माप-तराजू आदि को प्रमाणित करने के लिए राजकीय मुद्रा (मुहर-सील) होती है, उसी प्रकार व्यक्ति की व्यवहारिकता को प्रमाणित करने के लिए उपनयन संस्कार आवश्यक है। जैसे-सत्यघोष ने अपने व्यवहार को सही प्रमाणित करने के लिए जनेऊ में एक कैंची भी बाँध रखी थी, अतः जनेऊ संस्कार भी शुभ नामकर्म के आस्रव में कारण है।

पूज्यपाद स्वामी ने शुभ नामकर्म के आस्रव के कारणों में ‘उपनयन’ शब्द का प्रयोग किया है। ‘उपनयन’ शब्द का प्रयोग ‘यज्ञोपवीत यज्ञसूत्र’ के अर्थ में आता है।

‘उपवीतं यज्ञसूत्रं प्रोद्धृते दक्षिणे करे’—अमरकोश। बायें कन्धे के ऊपर से दाहिनी तरफ नीचे की ओर लटकते हुए जनेऊ को उपवीत और यज्ञसूत्र व ब्रह्मसूत्र, प्राचीनवीत, निवीत और कण्ठालम्बित कहते हैं, ये यज्ञोपवीत के नाम हैं। उपेति, प्रोद्धृते बहिष्कृते सति वामस्कन्धार्पितं यज्ञस्य सूत्रं यज्ञार्थं धृतं सूत्रं यज्ञोपवीतं।

महापुराण में लिखा है कि आदिनाथ, भरत, बाहुबली के जनेऊ था। एक ही सूत्र दोनों हाथों का स्पर्श करता है, महापुराण में ५३ गर्भाधानादि क्रियाओं का कथन है। उन संस्कारों में अनेक स्थलों पर ‘उपनयन’ शब्द का प्रयोग आया है। सर्वप्रथम आठ वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत धारण करने-कराने

का विधान है। कुलीन का यज्ञोपवीत संस्कार अवश्य करना चाहिए, अतः उपनयन संस्कार शुभ नामकर्म के आस्रव का कारण है।

परनिन्दा से विपरीत; संसरण भीरुता अर्थात् संसार से डरना; कारण कि परनिन्दा से नीच गोत्र मिलता है, अतः संसरण भीरुता से उच्चगोत्र के साथ ही शुभ जाति आदि नामकर्म का आस्रव होता है।

आत्म प्रशंसा से विपरीत; प्रमाद वर्जनादि अर्थात् जो व्यक्ति अपने प्रमाद को छोड़कर शुभ कार्य में लगा रहता है, उसे आत्मप्रशंसा करने का समय ही नहीं मिलता। पूज्यपाद आचार्य ने बहुत ही सुन्दर विवेचना की है, पढ़ने एवं सुनने वाले; लोक प्रचलित झूठी मान्यताओं को त्याग कर यदि आचार्य प्रणीत वचनों की श्रद्धा करेंगे तो अवश्य ही कल्याण के भाजन होंगे।

जिज्ञासा—ये सब सामान्य शुभ नामकर्म के आस्रव कहे हैं। तो क्या कोई शुभ नामकर्म के कारणों में ऐसा कोई कारण है जो सबसे विशेष स्थान रखता है? हाँ; आठवें अध्याय में सूत्र संख्या ग्यारह में नामकर्म की ब्यालीस बन्ध प्रकृतियों में अन्तिम नामकर्म की प्रकृति; तीर्थकर नामकर्म की है, अतः तीर्थकर नामकर्म प्रकृति के आस्रव में क्या विशेषता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्षणज्ञानोपयोग-
संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहु-
श्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकपरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्व-
मिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥**

**सूत्र उच्चारण—दर्शनविशुद्धिः, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतीचारोः, ऽभीक्षण-ज्ञानोपयोग-
संवेगौ, शक्तितस्त्याग-तपसी, साधुसमाधिः, वैयावृत्यकरणम्, अर्हदाचार्यः,
बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिः, आवश्यक-परिहाणिः, मार्गप्रभावना, प्रवचनवत्सलत्व-
मिति, तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥**

**सन्धि विग्रह—दर्शनविशुद्धिः विनयसम्पन्नता शीलव्रतेषु-अनतीचारः अभीक्षणज्ञान-उपयोग-
संवेगौ शक्तितः त्याग-तपसी साधुसमाधिः वैयावृत्ति-करणम्-अर्हद्-आचार्य-
बहुश्रुत-प्रवचन-भक्तिः आवश्यक-अपरिहाणिः मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वम्-
इति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥**

**सूत्रार्थ—दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतअनतिचार, अभीक्षण-ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्ति
अनुसार त्याग, शक्ति अनुसार तप, साधुसमाधि, वैयावृत्ति करना, अरिहन्त भक्ति, आचार्य भक्ति,
बहुश्रुत-उपाध्याय भक्ति, प्रवचन-शास्त्र भक्ति, आवश्यक-अपरिहाणि, मार्गप्रभावना, प्रवचनवत्सल्य;
ये सोलहकारण भावनायें तीर्थङ्कर नामकर्म प्रकृति के आस्रव की कारण हैं।**

**लब्धार्थ—१. दर्शनविशुद्धि—जिन-भगवान् अरिहन्त-परमेष्ठी द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ स्वरूप
मोक्षमार्ग पर रुचि रखना दर्शनविशुद्धि है। इसमें सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष रहित जो विशुद्धि है, वही
दर्शनविशुद्धि है।**

२. **विनयसम्पन्नता**—सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन; गुरु आदि के प्रति अपने योग्य आचरण द्वारा आदर-सत्कार करना विनय है और इससे युक्त होना विनयसम्पन्नता है।
३. **शीलव्रत-अनतिचार**—अहिंसा आदि व्रत हैं और इन व्रतों के पालन करने के लिए क्रोधादि का त्याग करना शील है। इन दोनों के पालन करने में निर्दोष प्रवृत्ति रखना शीलव्रत-अनतिचार है।
४. **अभीक्षण-ज्ञानोपयोग**—पदार्थरूप स्वतत्त्व विषयक सम्यग्ज्ञान में निरन्तर लगे रहना अभीक्षण-ज्ञानोपयोग है।
५. **संवेग**—संसार के दुःखों से निरन्तर डरते रहना संवेग है।
६. **शक्तितः त्याग**—आहार, अभय एवं ज्ञान; इन तीन दानों को शक्ति के अनुसार विधिपूर्वक देना शक्तितः त्याग है।
७. **शक्तितः तप**—अपनी शक्ति को न छिपाकर; मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना शक्तितः तप है।
८. **साधुसमाधि**—व्रत-शील एवं तपों में विघ्न के उत्पन्न होने पर उसका संधारण करना-शान्त करना साधुसमाधि है।
९. **वैयावृत्य**—गुणी पुरुष के दुःख में आ पड़ने पर निर्दोष विधि से उनका दुःख दूर करना वैयावृत्य है।
१०. **अरिहन्त**; ११. **आचार्य**; १२. **बहुश्रुत** एवं १३. **प्रवचन भक्ति**; इन चारों में भावों की विशुद्धि के साथ अनुराग रखना; अरिहन्त, आचार्य, बहुश्रुत एवं प्रवचन भक्ति है।
१४. **आवश्यक-अपरिहाणि**—छह आवश्यक क्रियाओं का यथासमय पालन करना आवश्यक-अपरिहाणि है।
१५. **मार्गप्रभावना**—ज्ञान, तप, दान और जिनपूजा; इनके द्वारा धर्म का प्रकाश करना मार्गप्रभावना है।
१६. **प्रवचनवात्सल्य**—साधर्मियों पर निष्कपट-निस्स्वार्थ स्नेह; प्रवचनवात्सल्य है। जैसे-गाय; अपने बछड़े पर स्नेह रखती है।

विशेषार्थ—सूत्रोक्त सोलह कारण; अलग-अलग अथवा समुदायरूप से सबका भले प्रकार से चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थङ्कर नामकर्म के आस्रव के कारण जानना चाहिए।

सामान्यतया दान चार प्रकार के होते हैं, किन्तु यहाँ दान के तीन प्रकार कहे हैं, औषधिदान ग्रहण नहीं किया गया, इसका कारण यह है कि तीन दान जरूरी हैं, औषधिदान मजबूरी है, क्योंकि यहाँ दर्शनविशुद्धि आदि का प्रसङ्ग है। औषधि से न तो रोगी-खाने वाला प्रसन्न होता है, और न ही औषधिदान करने वाला, अतः सोलह कारण भावनाओं में औषधिदान को ग्रहण नहीं किया है। हाँ; वैयावृत्यभावना में यथायोग्य औषधि को लिया जा सकता है।

वात्सल्य भावना के साथ प्रवचन शब्द जोड़ा है। गाय-बछड़े के स्नेह से वात्सल्य भाव सिद्ध किया है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार पशुओं में गाय ही एक ऐसा पशु है जो अपने बछड़े को अपनी जिह्वा से सर्वाङ्ग चाटती है, दूरी होने पर रँभाती है, जैसे जङ्गल से चरकर घर आते समय; घर से थोड़ी

दूरी पर गाय रँभाती है, गाय की आवाज सुनकर बछड़ा भी रँभाता है। ठीक इसी प्रकार साधर्मी को देखकर साधर्मी के मन में वात्सल्य उमड़ना चाहिए, उस वात्सल्य को प्रकट करने के लिए “जय जिनेन्द्र” आदि सम्मान सूचक शब्द बोलना चाहिए तभी प्रवचन वात्सल्य भावना पूर्ण होती है। सोलह कारण की विशेष जानकारी के लिए “अनुत्तर यात्रा” कृति अवश्य पढ़ें।

जिज्ञासा—क्रम प्राप्त शुभाशुभ नामकर्म के आस्रव के कथन के बाद; गोत्र कर्म के आस्रव का प्रसङ्ग प्राप्त है, किन्तु गोत्र कर्म के नीच गोत्र एवं उच्च गोत्र; ये दो भेद होते हैं, अतः नीच गोत्र के आस्रव में क्या कारण हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्-गुणोच्छादनोद्-भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

सूत्र उच्चारण—परात्म-निन्दा-प्रशंसे, सद-, सद्-गुणोच्-छादनोद्-, भावने च, नीचै-र्गोत्रस्य ॥२५॥

सन्धि विग्रह—पर-आत्म-निन्दा-प्रशंसे सद्-असद्-गुण-उच्छादन-उद्भावने च नीचैः गोत्रस्य ॥२५॥

सूत्रार्थ—परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुण-उच्छादन, असद्गुण-उद्भावन; ये नीच गोत्र के आस्रव हैं।

लब्धार्थ—सच्चे या झूठे दोष को प्रकट करने की इच्छा निन्दा है। गुणों को प्रकट करने का भाव प्रशंसा है। दूसरों में मौजूद गुणों को ढकना सद्गुण-उच्छादन है। अपने में गुण रहितता को गुणों के समान प्रकट करना असद्गुण उद्भावन है।

विशेषार्थ—स्वयं को श्रेष्ठ एवं दूसरों को नीचा दिखाने के भाव में ही परनिन्दा-आत्मप्रशंसा होती है, किन्तु गुरुजनों द्वारा दोषों के कथन से स्वयं का कल्याण होता है।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त उच्च गोत्र के आस्रव के क्या कारण हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तद्-विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

सूत्र उच्चारण—तद्-विपर्ययो, नीचै-र्वृत्त्यनुत्सेकौ, चोत्तरस्य ॥२६॥

सन्धि विग्रह—तद्-विपर्ययो नीचैः वृत्ति-अनुत्सेकौ च-उत्तरस्य ॥२६॥

सूत्रार्थ—नीच गोत्र के आस्रव से विपरीत अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, सद्गुणों का उद्भावन और असद्गुणों का उच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सेक; ये उच्च गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

लब्धार्थ—दूसरों के गुणों की प्रशंसा एवं स्वयं के दोषों की निन्दा करना एवं सद्गुण-उद्भावन और असद्गुण-उच्छादन, नम्रवृत्ति और अनुत्सेक; ये सब उच्च गोत्र के आस्रव हैं।

विशेषार्थ—जो गुणों में उत्कृष्ट हैं, उनमें विनय से नम्र रहना नीचैर्वृत्ति है एवं स्वयं ज्ञानादि गुणों में श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मद न करना अर्थात् अहंकार रहित होना अनुत्सेक है।

जिज्ञासा—अब गोत्र कर्म के बाद; क्रम प्राप्त अन्तिम अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

सूत्र उच्चारण—विघ्नकरण-, मन्तरायस्य ॥२७॥

सन्धि विग्रह—विघ्नकरणम्-अन्तरायस्य ॥२७॥

सूत्रार्थ—दानादिक में विघ्न डालना अन्तराय कर्म का आस्रव है ।

लब्धार्थ—दूसरे अध्याय के सूत्र संख्या चार में दानादिक के पाँच नाम एवं उनकी व्याख्या कर आये हैं, दानादिक का नाश करना विघ्न है एवं इस तरह विघ्न का करना अन्तराय कर्म का आस्रव जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—यद्यपि तत्प्रदोष आदि से ज्ञानावरणादि सब कर्म प्रकृतियों का प्रदेश बन्ध होता है, ऐसा नियम नहीं है फिर भी वे सब प्रतिनियत अनुभाग बन्ध के हेतु हैं, अतः तत्प्रदोष, निहव आदि का अलग-अलग कथन किया है ।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) षष्ठोऽध्यायः ॥



अथ सप्तमोऽध्यायः

जिज्ञासा—आस्रव पदार्थ के कथन के समय; उसके प्रारम्भ काल में सूत्र संख्या तीन में “शुभः पुण्यस्य” यह कहा है, किन्तु वह सामान्य कथन ही है, अतः विशेषरूप से उसका ज्ञान कराने के लिए शुभ क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहभ्यो विरतिर्ब्रतम् ॥१॥

सूत्र उच्चारण—हिंसाऽनृत-स्तेया-, ब्रह्म-परिग्रहेभ्यो, विरति-र्ब्रतम् ॥१॥

सन्धि विग्रह—हिंसा-अनृत-स्तेय-अब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिः ब्रतम् ॥१॥

सूत्रार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होना ब्रत है।

लब्धार्थ—हिंसादिक पाँच पापों से विरत होना ब्रत कहलाता है। प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है, वह ब्रत है। यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है, इस प्रकार नियम करना ब्रत है।

विशेषार्थ—जो मनुष्य विचार पूर्वक काम करने वाला है, वह विचार करता है कि जो ये हिंसादिक परिणाम हैं, वे पाप के कारण हैं और जो पाप कार्य में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें इसी भव में राजा लोग दण्ड देते हैं और वे पापाचारी परलोक में दुःख उठाते हैं, इस प्रकार वह बुद्धि से समझकर हिंसादिक से विरत हो जाता है।

इन पाँचों ब्रतों में अहिंसाब्रत को प्रारम्भ में रखा है, क्योंकि वह सबमें प्रमुख है। जैसे-धान्य के खेत की रक्षा के लिए उसके चारों ओर काँटों का घेरा होता है, उसी प्रकार सत्य आदिक सभी ब्रत; अहिंसा ब्रत की रक्षा के लिए हैं।

सब पापों के निवृत्त होने से सामायिक की अपेक्षा एक ब्रत है, वही ब्रत; छेदोपस्थापना की अपेक्षा पाँच प्रकार का है और उन्हीं का कथन यहाँ किया है।

ये अहिंसादि ब्रत; आस्रव का कारण कैसे हो सकते हैं, क्योंकि ये तो संवर के कारणों में सम्मिलित हैं?

यह कोई दोष नहीं, क्योंकि वहाँ निवृत्तिरूप संवर का कथन करेंगे और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे-हिंसा, असत्य, स्तेय आदिक का त्याग करने पर अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तु का ग्रहण आदि-रूप क्रिया देखी जाती है।

दूसरे; ये ब्रत, गुप्ति आदिरूप संवर के अङ्ग हैं। जिस साधु ने ब्रतों की मर्यादा कर ली है, वह सुख पूर्वक संवर करता है, इसलिए ब्रतों का अलग से उपदेश दिया है।

रात्रिभोजन विरमण नाम का छटवाँ अणुब्रत, अहिंसाब्रत की पाँच भावनाओं में से आलोकितपान-भोजन नाम की भावना में अन्तर्भाव हो जाता है।

जिज्ञासा—अहिंसादिक पाँचों ब्रत किस प्रकार परिपालन कर सकते हैं? क्योंकि सभी लोग इनको धारण करने में असमर्थता व्यक्त करते हैं, अतः ब्रतों के पालन में सुगमता हो, इसलिए उन ब्रतों के भेद करना चाहिए। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥**सूत्र उच्चारण—देश-सर्वतोऽणु-, महती ॥२॥****सन्धि विग्रह—देश-सर्वतः अणु-महती ॥२॥****सूत्रार्थ—**हिंसादिक से एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और सब प्रकार से निवृत्त होना महाव्रत है ।**लब्धार्थ—**हिंसादिक पाँचों पापों का एक देश त्याग करना अणुव्रत है और इन्हीं पापों का पूर्णरूप से त्याग करना महाव्रत है ।**विशेषार्थ—**आचार्यों ने उपदेश क्रम में सर्वप्रथम श्रावकों के लिए महाव्रतों को पालन करने का ही उपदेश दिया है । यदि श्रावक उन महाव्रतों को पालन करने में असमर्थता व्यक्त करता है तब उसे अणुव्रतों का उपदेश दिया जाता है ।

वैसे तो महाव्रत; महापुरुषों के द्वारा ही मुख्यरूप से धारण किये जाते हैं, किन्तु अणुव्रत; मनुष्यों में गौणरूप से पाले जाते हैं । अणुव्रतियों की संख्या; स्वयम्भूरमण द्वीप एवं समुद्र के पञ्चेन्द्रिय तिर्यज्चों के द्वारा पूर्ण होती है ।

प्रयत्नशील जो पुरुष; उत्तम औषधि के समान इन व्रतों का सेवन करता है, उसके दुःखों का नाश होता है ।

जिज्ञासा—इन व्रतों की किसलिए और किस प्रकार भावना करना चाहिए ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—**सूत्र—तत्स्थैर्यार्थ भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥****सूत्र उच्चारण—तत्-स्थैर्यार्थ, भावनाः, पञ्च पञ्च ॥३॥****सन्धि विग्रह—तत्-स्थैर्य-अर्थम् भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥****सूत्रार्थ—**उन व्रतों को स्थिर करने के लिए, एक-एक व्रत की पाँच-पाँच भावनार्यें जानना चाहिए ।**लब्धार्थ—**अहिंसादिक पाँच व्रतों को दृढ़ता से पालन करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनार्यें हैं, उन्हें निरन्तर चिन्तन करना चाहिए ।**विशेषार्थ—**अहिंसादिक पाँचों व्रतों को पूर्णरूप से पालन करने के लिए सबसे पहले उन-उन व्रत सम्बन्धी भावनाओं को चिन्तन करने से उन-उन व्रतों के परिणामों में मजबूती आती है ।**जिज्ञासा—**अहिंसादिक पाँचों व्रतों में प्रथम अहिंसाव्रत है, अतः इस व्रत की पाँच भावनार्यें कौन-सी हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—**सूत्र—वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोचितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥****सूत्र उच्चारण—वाङ्मनो-गुप्तीर्या-, दान-निक्षेपण-समित्या-, लोचितपान-भोजनानि, पञ्च ॥४॥****सन्धि विग्रह—वाङ्-मनः गुप्ति-ईर्या-आदान-निक्षेपण-समिति-आलोचितपान-भोजनानि पञ्च ।****सूत्रार्थ—**वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और आलोचितपानभोजन; ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनार्यें हैं ।

लब्धार्थ—(१) वचन गुप्ति—परुष-कर्कश ऐसे पर-पीड़ा कारक अशुभ वचनों को बोलने से रोकना वचन गुप्ति है।

(२) **मनोगुप्ति—**दूसरों का मन से अहित नहीं सोचना मनोगुप्ति है।

(३) **ईर्या समिति—**चार हाथ जमीन देखकर चलना ईर्या समिति है।

(४) **आदान-निक्षेपण समिति—**भोगोपभोग में आने वाले उपकरणों को विधिपूर्वक रखना-उठाना आदान निक्षेपण समिति है।

(५) **आलोकितपान-भोजन—**सूर्य के प्रकाश में भक्ष्य वस्तुओं को भी पाँचों इन्द्रियों से देख शोधकर खाना और पीना, आलोकितपान-भोजन है।

विशेषार्थ—अहिंसाव्रत की पाँच भावनाओं में—प्रथम भावना; वचन गुप्ति है, इसका कारण यह है कि व्यक्ति अशुभ वचनों के द्वारा पर को पीड़ा पहुँचाता है, अतः यह हिंसा है, ऐसी हिंसा को वचनों द्वारा रोकना वचन गुप्ति है।

दूसरी भावना; मनोगुप्ति—विषयासक्ति एवं अहित चिन्तन से मन चञ्चल होता है, जिससे हिंसा होती है, ऐसी विषयासक्ति एवं अहित चिन्तन से मन को रोकना मनोगुप्ति है।

तीसरी भावना; ईर्या समिति एवं चौथी भावना; आदान-निक्षेपणसमिति; ये दोनों काय के द्वारा प्रवृत्तिरूप होने से शुभास्रव के कारण हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब गुप्ति एवं समिति; संवर के कारण नौवें अध्याय में कहेंगे तब यहाँ शुभास्रव में इन्हें क्यों लिया है ?

इसका उत्तर यह है कि शुभरूप मन-वचन-काय की गुप्ति-समिति तो अभव्य मिथ्यादृष्टि भी पालन करके नौवें ग्रैवेयक की यात्रा कर लेता है, किन्तु संवर के कारणभूत मन-वचन-काय की गुप्ति या समिति; ये भव्य सम्यग्दृष्टि, भावलिङ्गी मुनिराज ही पालन करते हैं।

भावलिङ्गी मुनिराज की गुप्ति-समिति आदि में सम्यक् पद जुड़ा हुआ है तथा उनकी तीनों गुप्ति; शुभ-अशुभ भावों से निवृत्तिरूप हैं। जब कोई मुनिराज; गुप्ति की दशा से प्रवृत्तिरूप में आते हैं तब वे सम्यक्समिति-रूप से ही प्रवर्तन करते हैं, अतः उनकी वे समिति भी संवर का कारण होती हैं।

विशेष—अहिंसाव्रत की पाँचवीं भावना आलोकितपान-भोजन है। “आलोकितपान-भोजन” का अर्थ मात्र सूर्य के प्रकाश में भोजन-पान करना नहीं है, क्योंकि सूर्य के प्रकाश में तो अभक्ष्य भी खाया-पिया जाता है तब उस अभक्ष्य भोजन की भी आलोकितपान-भोजन संज्ञा हो जाएगी, अतः आलोकितपान-भोजन का सही अर्थ यह निकलता है कि सूर्य के प्रकाश में भक्ष्य पदार्थों को पाँचों इन्द्रियों से देख-शोधकर ग्रहण करना। आ परिसमन्तात् लोकितः इति आलोकितः अर्थात् जो भोजन-पान; द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावों से शोधित किया गया हो।

जैसे—पहले; घ्राण से सूँघना अर्थात् भोजन के अनुरूप ही उसकी गन्ध हो—अच्छी गन्ध वाला हो। दूसरा; चक्षु से देखना-रङ्ग रूप से देखने में अच्छा हो। कुछ लोग लाल टमाटर, तरबूज, कटहल आदि को रङ्ग के कारण ही अभक्ष्य मानते हैं, किन्तु वे अभक्ष्य नहीं हैं। तीसरा; स्पर्श से छूकर देखना, अतः भोजन हाथ से ही खाना चाहिए, क्योंकि वैज्ञानिकरूप से इसके कई लाभ हैं, हमारी भारतीय संस्कृति में आदिकाल से हाथ से ही भोजन खाते आ रहे हैं।

कुछ पारम्परिक देशी भोजन (जैसे कच्ची रसोई) हाथ से खाने पर ज्यादा स्वादिष्ट लगता है। विशेषज्ञों के अनुसार ऐसा दिमागी सङ्केतों की वजह से होता है जो हमें मानसिक सुकून का अहसास कराते हैं।

विशेषज्ञों के मुताबिक जब हम चम्मच से भोजन करते हैं तो यह पता नहीं चल पाता कि सब्जी या दाल कितनी कच्ची है या पकी, ठण्डी है या गरम? दूसरा कारण चम्मच से भोजन करने पर चम्मच का सम्पर्क जीभ से होने पर मुँह की लार चम्मच में चिपक जाती है, जिससे चम्मच में तुरन्त ही बैक्टीरिया (विषाणु) उत्पन्न हो जाते हैं अथवा लार की चिकनाई से चम्मच में धूल के कण अथवा सूक्ष्म कीटाणु या बाल आदि चिपक सकते हैं, जिससे बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और भोजन ठीक तरह से नहीं पचता है, जिससे कब्ज, एसिडिटी और अपच की समस्या होने लगती है जो आज की सबसे बड़ी बीमारी है, अतः हाथ से भोजन करने का ही अभ्यास करें।

कभी-कभी असावधानी से चम्मच से भोजन करते समय यदि किसी का धक्का हाथ में लग जाये तो चम्मच गले में घाव उत्पन्न कर सकती है। अगर आपको त्वचा सम्बन्धी रोग है तो अपवाद के रूप में चम्मच से भोजन कर सकते हैं।

न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिकों ने पाया कि ज्यादातर माता-पिता अपने बच्चों को गलत ढंग से दवाएँ देते हैं, क्योंकि वे इनके लिए ड्रॉपर की जगह चम्मच का प्रयोग करते हैं। चम्मच से कम दवा देने पर जहाँ बच्चे को ठीक होने में समय लगता है, वहीं उन्हें ज्यादा मात्रा में दवाएँ देने से साइड इफेक्ट्स का खतरा भी बना रहता है। ९०० माता-पिता से बच्चों को दवा देने के तरीकों के बारे में पूछे गए सवालोंने से ये निष्कर्ष निकाले गए हैं।

जब हम हाथ से भोजन करते हैं तब भोजन के कच्चे-पक्के, ठण्डे-गरम का सही अनुमान हो जाता है। हाथ की अँगुलियों में जीभ की लार लगने पर भी उसमें विषाणु उत्पन्न नहीं होते हैं; कारण कि अँगुलियों की गर्मी से लार में ठण्डापन नहीं आ पाता है। भोजन; ग्रास के रूप में अँगुलियों में सुरक्षित रहता है। फ्रिज में रखा गीला आटा एवं बना हुआ भोजन नियम से अभक्ष्य है।

हाथ से भोजन करने से हमारा दिमाग; पेट को गैस्ट्रिक जूस बनाने के लिए संकेत देने लग जाता है। गैस्ट्रिक जूस यदि ठीक से बनते हैं तो भोजन पूरी तरह से पच जाता है और शरीर को पोषक तत्वों की प्राप्ति हो जाती है।

हिन्दू धर्म की मान्यतानुसार हमारा शरीर; वायु, अग्नि, जल, आकाश और पृथ्वी से मिलकर बना है। हाथों की अँगुलियाँ इन तत्वों का प्रतिनिधित्व करती हैं। जब इन पाँचों तत्वों के माध्यम से भोजन लिया जाता है तो ये हमारे भोजन में अवशोषित होकर हमें नीरोगी बनाते हैं।

हाथ से भोजन करने के बाद; शुद्ध जल से हाथ धोकर पुनः दोनों हाथ की अँगुलियों को दोनों आँखों पर फेरने से आँखों की रोशनी ठीक रहती है। प्राचीन काल में लोग भोजन के बाद; अँगुलियों को आँखों पर अवश्य फेरते थे, जिससे अँगुलियों की चिकनाई आदि से आँखों में गर्मी आती है। जिससे आँखों के रोग दूर होते हैं। इस तरह आप एक वर्ष तक हाथों से भोजन करके बाद में अँगुलियों को आँखों पर लगाने का प्रयोग अवश्य करें। आप वैज्ञानिक युग के व्यक्ति हैं, इस विज्ञान को भी जीवन में अवश्य अपनायें।

भोजन करने से पहले हाथ अच्छी तरह धोयें, आपके नाखून कटे हुए हों, नाखूनों में नैल पॉलिस न लगा हो।

चौथा; रसना से चखना; जो भोजन अति तीखा-मीठा, अस्वाद-बेस्वाद न हो।

पाँचवाँ; कर्णेन्द्रिय से विकथा न सुनते हुए भोजन करना अथवा भक्ष्य पदार्थों के नाम; अभक्ष्य पदार्थों के जैसे न कहना-सुनना। जैसे-नमकीन चावल को “पुलाव”, पकौड़ी की सब्जी को “कोप्ते”, भोजन को “खाना” आदि नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसे अभक्ष्य पदार्थों के नाम सुनने से मन में ग्लानि-घृणा आदि उपजते हैं जो हिंसात्मक होने से अहिंसाव्रत के दूषण हैं। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों से देख-शोध करके भोजन-पान करना, स्वाद के लिए नहीं; बल्कि भोजन में आसक्ति हटाने के लिए है।

आज-कल सामूहिक भोजन में भी शाकाहारी सज्जियों-मिठाइयों के आकार-प्रकार; मछली-मुर्गे-अण्डे आदि के रूप में बनाकर रखे जाते हैं, ये सब संकल्पी हिंसा के ही प्रतीक हैं, अतः अहिंसाव्रत पालने के पहले अभ्यासरूप में इन पाँच भावनाओं से अपने परिणामों को संस्कारित अवश्य करना चाहिए तभी पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन होगा।

जिज्ञासा—प्रथम अहिंसाव्रत की पाँच भावनाओं के बाद; दूसरे सत्यव्रत की पाँच भावनायें कौन-सी हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥५॥

सूत्र उच्चारण—क्रोध-लोभ-भीरुत्व-, हास्य-प्रत्याख्यानान्यनु-, वीचिभाषणं च, पञ्च ॥५॥

सन्धि विग्रह—क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानानि-अनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥५॥

सूत्रार्थ—क्रोध, लोभ, भय, हास्य; इन चारों का प्रत्याख्यान; ये चार एवं एक अनुवीचि भाषण; ये सत्यव्रत की पाँच भावनायें हैं।

लब्धार्थ—क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भयप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान एवं अनुवीचि भाषण; ये पाँच सत्यव्रत की पाँच भावनायें हैं।

विशेषार्थ—संसार में व्यक्ति; क्रोध, लोभ, भय एवं हँसी के कारण झूठ बोलते हैं, अतः इन चारों का त्याग करने से सत्यता प्रकट होती है। पाँचवाँ अनुवीचि भाषण है, जिसका अर्थ; आगम अनुसार निर्दोष भाषण करना है, ये पाँचों सत्यव्रत की भावनायें हैं।

जिज्ञासा—दूसरे सत्यव्रत की पाँच भावनाओं के बाद; तीसरे अचौर्य व्रत की पाँच भावनायें कौन-सी हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र — शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्षशुद्धिसधर्माविसंवादाः

पञ्च ॥६॥

सूत्र उच्चारण—शून्यागार-, विमोचितावास-, परोपरोधाकरण-, भैक्षशुद्धि-, सधर्मा-विसंवादाः,

पञ्च ॥६॥

सन्धि विग्रह — शून्य - अगार - विमोचित - आवास - पर - उपरोधाकरण - भैक्षशुद्धि - सधर्मा-
अविसंवादः पञ्च ॥६॥

सूत्रार्थ—शून्यागारावास, विमोचितावास, पर-उपरोधाकरण, भैक्षशुद्धि और सधर्मा-अविसंवाद;
ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनायें हैं।

लब्धार्थ—(१) शून्यागारावास—पर्वत-पत्थरों की गुफायें हैं तथा वृक्षों के कोटर आदि शून्यागार-आवास हैं।

(२) विमोचितावास—दूसरों के द्वारा छोड़े गए; मकान-धर्मशाला आदि विमोचितावास हैं।

(३) परोपरोधाकरण—दूसरों को; अपने निश्चय किए गए स्थान में ठहरने से नहीं रोकना
परोपरोधाकरण है।

(४) भैक्षशुद्धि—आचार शास्त्र में बतलायी हुई विधि के अनुसार भिक्षा लेना भैक्षशुद्धि है।
जैसे-नवधाभक्ति, सप्तगुण, कुल, चारित्र एवं शरीर शुद्धि सहित ही आहार लेना।

(५) सधर्माविसंवाद—“यह मेरा है, यह तेरा है” इस प्रकार साधर्मियों से विसंवाद नहीं करना
सधर्माविसंवाद है। जैसे-ये शिष्य-भक्त, उपकरण आदि तेरे-मेरे हैं, ऐसा नहीं कहना।

विशेषार्थ—(१) शून्यागारावास—पर-वस्तु आदि की कल्पना (भेद) होने के कारण, उसे बिना पूछे लेना-
प्रयोग करना चोरी है, किन्तु गुफा-कोटर प्राकृतिक स्थान होने से, सभी के लिए प्रयोगवान होने
से इनके सेवन से चोरी का दोष नहीं लगता, अतः शून्यागारावास अचौर्यव्रत की भावना है।

(२) विमोचितावास—सार्वजनिक स्थान जहाँ यात्री आकर ठहरते हैं, किन्तु वे यात्री उस स्थान
के स्वामी नहीं हैं, अतः ऐसी जगह को विमोचितावास कहते हैं।

(३) भैक्षशुद्धि—भिक्षा में ख्याति-पूजा-लाभ के कारण को स्वीकार न करना नवधाभक्ति;
दाता के सप्तगुण आदि की विधि को लोप नहीं करना भैक्षशुद्धि है। यदि नवधाभक्ति,
सप्तगुण एवं तीन प्रकार की शुद्धि का लोप करते हैं तो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का लोप
करने से चोरी का दोष लगेगा।

एषणासमिति, भैक्षशुद्धि एवं आलोकितपान-भोजन; इन तीनों में क्या अन्तर है ?
एषणासमिति कारण है भैक्षशुद्धि में, भैक्षशुद्धि कारण है आलोकितपान-भोजन में।

(४) सधर्माविसंवाद—तेरा-मेरा; परद्रव्य के सहयोग-स्वामित्व से ही होता है, अतः अनधिकार
वृत्ति से पर-द्रव्य में तेरा-मेरा की भावना करने से चोरी है, किन्तु कर्तव्य बुद्धि से कहना
दोष नहीं, अतः अनधिकार वृत्ति को हटाने के लिए साधर्मियों में अविसंवाद भावना
अचौर्यव्रत की भावना है।

जिज्ञासा—तीसरे अचौर्यव्रत की पाँच भावनाओं के बाद; चौथे ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनायें
कौन-सी हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्ट-
रसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥

सूत्र उच्चारण — स्त्रीराग-कथाश्रवण-, तन्मनोहराङ्ग-निरीक्षण-, पूर्वरतानु-स्मरण-, वृष्येष्ट-रस-, स्वशरीर-संस्कार-त्यागाः, पञ्च ॥७॥

सन्धि विग्रह — स्त्रीराग-कथाश्रवण-तन्-मनोहर-अङ्ग-निरीक्षण-पूर्वरत-अनुस्मरण-वृष्य-इष्टरस-स्वशरीर-संस्कार-त्यागाः पञ्च ॥७॥

सूत्रार्थ—स्त्रीराग-कथाश्रवण त्याग, उन स्त्रियों के मनोहर अङ्गों को देखने का त्याग, पूर्वरत भोगों को याद करने का त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग तथा अपने शरीर को संस्कार करने का त्याग; ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनायें हैं।

लब्धार्थ—(१) स्त्रीराग कथाश्रवण त्याग—कपोल-कल्पित कोक शास्त्र आदि से स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथा के सुनने का पढ़ने का त्याग; स्त्रीराग कथाश्रवण त्याग है।

(२) तन्मनोहराङ्ग निरीक्षण त्याग—उन स्त्रियों के मन को हरण करने वाले-विचलित करने वाले अङ्गों के दृश्यों को टी.वी., ब्लू फिल्म, प्रत्यक्ष आदि में देखने का त्याग; तन्मनोहराङ्ग निरीक्षण त्याग है।

(३) पूर्वरतानुस्मरण त्याग—संसार सुख के अनुभूत दृश्य एवं क्रियाओं को याद कर-करके मन-इन्द्रियों को उत्तेजित करने का त्याग; पूर्वरतानुस्मरण त्याग है।

(४) वृष्य-इष्टरस त्याग—वृष्य अर्थात् गरिष्ठ भोजन; जो घी-मीठा आदि से अधिक संस्कारित किए गए हों, उन्हें गरिष्ठ रस कहते हैं। जिनके बिना भोजन बिल्कुल अरुचिकर हो जाता है, वे इष्ट रस हैं, जैसे नमक, खटाई, मिर्च, आचार, तड़का आदि; ऐसे इष्ट रसों को सेवन करने का त्याग; इष्ट रस त्याग है।

(५) स्वशरीर संस्कार त्याग—अपने शरीर में दूसरे लोग कैसे आकर्षित हों? सँवरने की क्रिया एवं भावों के त्याग को स्वशरीर संस्कार त्याग कहते हैं।

विशेषार्थ—आज के इस भौतिक युग में व्यक्ति; अत्यन्त काम सेवन के प्रति उत्सुक हैं; कारण कि कामसेवन को वृद्धि करने वाले संस्कार, स्त्री-पुरुष दोनों में अधिकरूप से बढ़ रहे हैं। जिसके कारण दो वर्ष से लेकर वृद्ध अवस्था तक की स्त्री जाति के साथ दुराचार-बलात्कार हो रहे हैं, समलैङ्गिक सम्बन्ध हो रहे हैं। यह सब पदों में रहने वाले दृश्यों को; साहित्य एवं चलचित्रों के माध्यम से अधिक खुलेपन के कारण हो रहा है, जिससे महिला जाति पर शील संकट के बादल छा रहे हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि—

आज के इस दौर में किस-किस के भूखे हैं लोग।

रोटी-पानी छोड़ दी और जिस्म के भूखे हैं लोग ॥

वृष्य और इष्ट रस का सेवन; मीठा, नमकीन, चर्परा, आचार, बड़ी, पापड़ आदि के माध्यम से अधिक मात्रा में हो रहा है, जिसके कारण स्त्री-पुरुषों की इन्द्रियों में उन्माद उत्पन्न हो रहा है, जिससे व्यभिचार-बलात्कार, अनङ्गक्रीड़ा-हस्तमैथुन आदि की प्रवृत्तियाँ अधिक हो रही हैं।

अपने शरीर को सुन्दर दिखाने के नाम पर; जिस प्रकार से शरीर का संस्कार अनेक प्रकार के फूहड़ वेश-भूषा, वस्त्राभूषण, केशविन्यास, नख संस्कार आदि किया जा रहा है, जिससे लोगों की वासनायें भड़कती हैं, इससे अपहरण, कुरूपता, द्वेष आदि के परिणाम सामने हैं, अतः अपने शरीर का शृङ्गार सादगी से करें। किसी ने कहा भी है कि—

एक चिनगारी अङ्गार से कम नहीं होती ।

सादगी शृङ्गार से कभी कम नहीं होती ॥

अतः धर्म, संस्कृति; समाज की रक्षा करना है तो हम सभी को आचार्य कथित सूत्रों का चिन्तन-मनन करना चाहिए, जिससे सभी के शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्रान्ति का सञ्चार विश्व में हो ।

जिज्ञासा—चौथे ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाओं के बाद; पाँचवें अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनायें कौन-सी हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरोगद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥

सूत्र उच्चारण—मनोज्ञा-, मनोज्ञेन्द्रिय-विषय-, राग-द्वेष-वर्जनानि, पञ्च ॥८॥

सन्धि विग्रह—मनोज्ञ-अमनोज्ञ-इन्द्रियविषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पञ्च ॥८॥

सूत्रार्थ—मनोज्ञ और अमनोज्ञ; इन्द्रियों के विषयों में क्रम से राग और द्वेष का त्याग करना; ये पाँच अपरिग्रह व्रत की भावनायें हैं ।

लब्धार्थ—पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों के राग का त्याग करना अथवा अमनोज्ञ विषयों में द्वेष का त्याग करना, अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनायें हैं ।

विशेषार्थ—परिग्रह नाम; मूर्च्छा का है, मूर्च्छा किसी न किसी वस्तु आदि के निमित्त से उत्पन्न होती है । यदि वह वस्तु इन्द्रियों के अनुकूल हुई तो राग की वृद्धि होती है और यदि वही वस्तु इन्द्रियों के अनुकूल नहीं हुई तो द्वेष की वृद्धि होती है, अतः पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष के त्याग करने को ही अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनायें कही हैं । यदि हमें किसी के परिग्रह देखकर भी मन में राग-द्वेष उत्पन्न होता है तो इससे स्वयं की निष्पृहता कलंकित होती है ।

जिज्ञासा—पाँच व्रतों की दृढ़ता के लिए सूत्र में पाँच-पाँच भावनायें कही हैं, किन्तु जो अव्रती-विद्वान् हैं, उन्हें भी कैसी भावना करना चाहिए, जिससे उन्हें व्रतों के प्रति दृढ़ अभ्यास हो ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥

सूत्र उच्चारण—हिंसा-दिष्विहा-, मुत्रापाया-, वद्य-दर्शनम् ॥९॥

सन्धि विग्रह—हिंसा-आदिषु-इह-अमुत्र-अपाय-अवद्य-दर्शनम् ॥९॥

सूत्रार्थ—हिंसादिक पाँच पापों में एहिक-इस लोक सम्बन्धी और पारलौकिक-पर लोक सम्बन्धी; अपाय और अवद्य का दर्शन-चिन्तन करने योग्य है ।

लब्धार्थ—स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओं का विनाश करने वाली प्रवृत्ति हिंसा आदि पाप हैं अर्थात् पाप से स्वर्ग और मोक्ष का अपाय अर्थात् अभाव होता है । अवद्य का अर्थ गर्ह-निन्दा है अर्थात् पाप से इस लोक में निन्दा होती है, अतः अपाय और अवद्य; इन दोनों को पापों में देख कर भावना करना चाहिए ।

विशेषार्थ—(१) हिंसा में भावने योग्य भाव—हिंसक निरन्तर बेचेन रहता है। सदा वैर को बढ़ाता है। इस लोक में वध, बन्ध और क्लेश आदि को प्राप्त होता है तथा परलोक में अशुभगति को प्राप्त होता है और हिंसा; लोकनिन्दनीय भी है, अतः हिंसा का त्याग करना श्रेयस्कर है।

(२) झूठ में भावने योग्य भाव—असत्यवादी का कोई श्रद्धान नहीं करता। इस लोक में जिह्वा छेदन आदि दुःख तथा असत्य के कारण वैर बाँधने से बहुत आपत्तियाँ आती हैं। परलोक में अशुभ गति होती है। असत्य; लोक निन्द भी है, अतः असत्य वचन का त्याग श्रेयस्कर है।

(३) चोरी में भावने योग्य भाव—परद्रव्य हरण करने वाले चोर का सब तिरस्कार करते हैं। इस लोक में ताड़ना, मारना, बाँधना तथा हाथ, पैर, कान, नाक, ऊपर के ओंठ का छेदना-भेदना और सर्वस्वहरण आदि दुःखों को इस लोक में एवं परलोक में अशुभगति को प्राप्त होता है। चोरी; लोक निन्द्य कार्य भी है, अतः चोरी का त्याग करना श्रेयस्कर ही है।

(४) कुशील में भावने योग्य भाव—व्यभिचारी का चित्त; मद से भ्रमता रहता है। मोह से अभिभूत होने के कारण; वह कार्य और अकार्य के विवेक से रहित कुछ भी उचित आचरण नहीं करता है। परस्त्री की आसक्ति से; लिङ्ग छेद, वध, बन्धन, सर्वस्वहरण आदि इसलोक के दुःख एवं परलोक में अशुभगति होती है। कुशील; लोकनिन्द्य कार्य है, अतः अब्रह्म का त्याग करना श्रेयस्कर है।

(५) परिग्रह में भावने योग्य भाव—परिग्रह को चाहने वाले; चोर, राजा, याचकों के द्वारा सताये जाते हैं। उस परिग्रह के अर्जन, रक्षण और नाश होने वाले अनेक दोष होते हैं। लोभातिरेक के कारण; कार्य और अकार्य का विवेक नहीं रहता है। परलोक में अशुभ गति को प्राप्त करता है। इस लोक में यह लोभी है, ऐसा कहकर उसका तिरस्कार भी होता है, अतः परिग्रह का त्याग करना श्रेयस्कर है।

जिज्ञासा—संसार में कुछ लोग; हिंसा आदि के कार्यों से सुखी और सम्पन्न देखे जाते हैं, अतः उनकी देखा-सीखी कुछ लोग हिंसादिक कार्यों को अच्छा समझते हैं, अतः ऐसे लोगों की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—दुःखमेव वा ॥१०॥

सूत्र उच्चारण—दुःख-मेव, वा ॥१०॥

सन्धि विग्रह—दुःखम्-एव वा ॥१०॥

सूत्रार्थ—अथवा हिंसादिक दुःख ही हैं।

लब्धार्थ—हिंसादिक दुःख के कारण होने से दुःख ही हैं, क्योंकि दुःख का कारण होने से हिंसादिक को ही दुःख कहा है। जैसे “अन्न वै प्राणाः” अन्न ही प्राण हैं। यहाँ अन्न; प्राण धारण का कारण है, किन्तु कारण में कार्य का उपचार करके अन्न को ही प्राण कहा है।

विशेषार्थ—हिंसादिक कार्य करने वालों को सुखी देखकर कई लोग अच्छे मार्ग से भटक जाते हैं, अतः उन लोगों को विशेषरूप से जोर देकर आचार्यदेव ने कहा है कि हिंसादिक दुःख ही हैं; कारण कि हिंसादिक करने वाले रौद्र परिणामी होते हैं, अतः उनके हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान का सुख लोगों को दिखने में आता है, किन्तु ये हिंसादिक असातावेदनीय कर्म के कारण हैं एवं

असातावेदनीय कर्म दुःख का कारण है, अतः हिंसादिक दुःख ही हैं, इस प्रकार अपनी और दूसरों की साक्षी पूर्वक भावना करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के हिंसादिक कार्यों से हमने स्वयं कितना कष्ट उठाया और दूसरा भी कितना कष्ट भोगता है? ऐसी भावना करने से हिंसादिक पापों से विरक्ति होती है।

जिज्ञासा—संसार में; साधारण, गुणी, दुःखी एवं विरोधी आदि अनेक प्रकार की प्रवृत्ति वाले प्राणी हैं, अतः उन सभी के प्रति एक समान भावना नहीं हो सकती है, अतः किसके प्रति कैसी भावना करना चाहिए? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु

॥११॥

सूत्र उच्चारण—मैत्री-प्रमोद-, कारुण्य-माध्यस्थानि च, सत्त्व-गुणाधिक-, क्लिश्यमाना-विनेयेषु ॥११॥

सन्धि विग्रह—मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि च सत्त्व-गुण-अधिक-क्लिश्यमान-अविनेयेषु ॥११॥

सूत्रार्थ—प्राणीमात्र में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, क्लिश्यमानों में करुणावृत्ति एवं अविनेयों में माध्यस्थ भावना करनी चाहिए।

लब्धार्थ—दूसरों को अपने द्वारा दुःख न हो; ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है। मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा भीतर भक्ति और अनुराग का व्यक्त होना प्रमोद है। दीनों पर दया भाव रखना कारुण्य है। राग-द्वेष पूर्वक पक्षपात न करना माध्यस्थ है।

बुरे कर्मों के फल से जो नाना योनियों में जन्मते और मरते हैं, वे जीव; सत्त्व हैं। जो सम्यग्ज्ञानादिक गुणों में बढ़े-चढ़े हैं, वे गुणाधिक कहलाते हैं। असातावेदनीय के उदय से जो दुःखी हैं, वे क्लिश्यमान हैं। जिनमें जीवादिक पदार्थों को सुनने और ग्रहण करने की रुचि-गुण नहीं है, वे अविनेय कहलाते हैं अर्थात् सिखाने-शिक्षा के अयोग्य अविनेय हैं। अविनेयेषु भी पाठ है, जिसका अर्थ है विनय रहितों में।

विशेषार्थ—१. सत्त्वेषु मैत्री—संसार के प्राणी मात्र में मित्रता की भावना करना चाहिए, क्योंकि मैत्री-मित्रता की परिभाषा अनुसार, एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों से हमारा उपकार होता है।

एकेन्द्रिय-पञ्च स्थावरों से हमें प्रतिक्षण सुख मिलता है, ये हमारे प्राकृतिक दुःखों को भी दूर करते हैं, अतः पञ्च स्थावर जीव हमारे सत्त्वे मित्र हैं।

पञ्च स्थावरों के उपकार को-मैत्रीभाव को हम लोग इस प्रकार समझ सकते हैं—

(१) **पृथ्वीकायिक मैत्री**—जैसे हम लोग घूमने के लिए किसी रमणीय स्थान-बगीचे आदि में गए, घूमते हुए सामने एक छोटा-सा प्राकृतिक टीला दिखा, मन हुआ तो हम लोग उस टीले पर चढ़कर आस-पास के वातावरण को देखने लगे और कुछ समय के लिए उसी टीले पर बैठ गए और आपस में बातें-गप्पें करते-करते, आस-पास के कङ्कण-पत्थर उठा के नीचे की ओर फेंकने लगे।

अब आप विचार करें कि जब आपको ऊँचाई पसन्द है तब आप ऊपर से नीचे की ओर कङ्कण-पत्थर क्यों फेंक रहे हो ? इस प्रकार कङ्कण-पत्थर फेंकने से आपने उस टीले की; एक कङ्कण की ऊँचाई को कम कर दिया, आपके जैसे हजारों व्यक्ति इसी कार्य को करते रहें तो उस टीले की ऊँचाई हमेशा के लिए समाप्त हो जायेगी, अतः बिना प्रयोजन इस प्रकार कङ्कण-पत्थर फेंकना, भूमि खोदना, परिग्रह की लालसा के लिए भूमि का क्रय-विक्रय करना आदि को आचार्यों ने अनर्थदण्ड कहा है।

(२) **जलकायिक मैत्री**—जब हम लोग किसी नदी-सरोवर-नहर आदि जो जल आदि के स्थान हैं, उनके किनारे बैठते हैं तब उस शान्त सरोवर में कङ्कण-पत्थर, लकड़ी-तिनका आदि फेंककर उसमें हिलोरें उत्पन्न करते हैं।

जल में स्नान करते समय उसी में मल विसर्जन करते हैं। उसके शान्त जल को; हिलोरों में भरकर या हाथों में लेकर किनारों की ओर फेंकते हैं।

नदी के बहते हुए स्वच्छ जल को बाँध बनाकर रोकना, उसमें कचरा डालना, जल में स्वच्छता करने वाले जीव जन्तु-मछली-कछुआ आदि को मारना; ये सब अनर्थदण्ड-पाप के कारण हैं।

घर में प्रयोग आने वाले जल का कितना दुरुपयोग करते हैं ? हम लोग पहले खुले-स्वच्छ मैदान में या घर की सामान्य खुड़ी में जब शौच करते थे, जिससे एक लोटा पानी शौचने में; एक लोटा पानी, हाथ-पैर धोने में प्रयोग होता था। आज घरों के फ्लश के शौचालय होने से एक व्यक्ति के प्रयोग में लगभग पन्द्रह-बीस लीटर पानी रोज खर्च हो जाता है।

पहले कुयें, नदी, नहर, तालाब आदि में नहाते थे, जिससे अल्पजल के खर्च से काम चल जाता था। आज टब, स्वीमिङ्गपूल अथवा सीधे नल-फव्वारे आदि के नीचे बैठकर घण्टों नहाते हैं, जिससे जल की अधिक बरबादी हो रही है।

फैशन में वस्त्रों की अधिकता होने से वस्त्रों की सफाई में भी अनावश्यक जल आदि खर्च हो रहा है।

मज्जन-ब्रुश करते समय भी नल खोल लेते हैं, जिससे अनावश्यक जल बहता रहता है। घर-गृहस्थी में बर्तनों को भी जल से धोने में अनावश्यक जल प्रयोग होता रहता है।

उद्योग जगत-व्यापारिक कल-कारखानों में, खेती में भी अनावश्यक जल-दोहन के कारण जल-स्रोत अधिक नीचे जा रहा है।

सुना जा रहा है कि तीसरा विश्वयुद्ध; जल के कारण होगा, अतः जल से मैत्री करके; जल को अनावश्यक प्रयोग से बचायें। यही बचा हुआ जल हमें भविष्य में जीवन दान देगा। आगे आने वाली पीढ़ियों का भी भविष्य सुरक्षित रहेगा।

(३) **अग्निकायिक मैत्री**—आज अग्नि के कई रूप सामने आ रहे हैं—जैसे-गैस, बिजली, सूर्य ऊर्जा आदि।

घरों में दिन-रात; बार-बार भोजन आदि बनाने से अग्नि को भी बार-बार जलाया-बुझाया जाता है। अनावश्यक लाइट का प्रयोग होता है। लकड़ी एवं कोयला अधिक दुर्लभ एवं कीमती होने से कम प्रयोग में आता है।

आज-कल कोयला बनाने के लिए गीली लकड़ी के व्यवस्थित ढेर लगा कर उस पर गीली कीचड़ का लेप किया जाता है पुनः उस ढेर में आग लगा दी जाती है। जब ढेर से धुँआ निकलना कम हो जाता है तब पोखर आदि का कीड़े-मकोड़ों वाला अपवित्र जल उस ढेर पर डाला जाता है तब कोयला बनता

है (प्रत्यक्ष प्रमाण से जाना)। प्राचीनकाल में सूखी लकड़ी से ही कोयला बनता था, जिसे लकड़ी के सूखने के बाद; सूखी लकड़ी से बनाते थे, अग्नि बुझाने के लिए सूखी धूल मिट्टी-रेती का प्रयोग करते थे फिर भी अग्निकायिक जीवों की मैत्री के लिए उसके अनावश्यक प्रयोग से बचें।

(४) वायुकायिक मैत्री—वायुकायिक जीवों की भी अधिक हिंसा हो रही है। व्यापार-उद्योग में एवं वैज्ञानिक एटमिक परीक्षण, अन्तरिक्ष उपग्रह प्रयोगों से अनेक प्रकार की प्रदूषित गैसों; जलवायु को प्रदूषित कर रही हैं, जिससे हमारा सुरक्षित पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है।

वैज्ञानिक कह रहे हैं कि अनेक प्रकार की गैसों के प्रयोग से, प्रदूषित वायु से; आकाश की ओजोन परत फट गई है, उसमें छेद हो गए हैं, जिससे प्राकृतिक मौसम का सन्तुलन बिगड़ गया है, इसके कारण बिना मौसम के ही वर्षा-सर्दी-गर्मी की समय सीमा घट-बढ़ रही है।

घरों में प्रयोग होने वाले पंखे, कूलर, ए.सी. आदि भी वायुकायिक जीवों की विराधना के साधन हैं, अतः अपने सामान्य उपयोग के अतिरिक्त; वायुकायिक जीवों की विराधना से बचें, तभी वायुकायिक जीवों से मैत्री की सिद्धि होगी।

(५) वनस्पतिकायिक मैत्री—अन्तिम स्थावर वनस्पतिकायिक हैं, व्यक्तियों ने अपनी स्वार्थसिद्धि, धन लिप्सा एवं वैभव के प्रदर्शन के लिए जङ्गलों के जङ्गल कटवाकर उजाड़ दिए, जिससे समस्त विश्व के पर्यावरण का सन्तुलन बिगड़ गया।

वनस्पति जगत में भी सङ्करता (सम्मिश्रणता) से वनस्पतियों की स्वाभाविक शक्ति प्रदूषित हो गई।

विश्व में वनस्पति ही प्रकृति का शृङ्गार है, सुन्दरता है, सौन्दर्य है एवं समस्त स्थावरों का संरक्षक है। जैस-जहाँ पर मिट्टी का कटान; जल अथवा वायु द्वारा होता है, वहाँ वृक्ष उँगाकर उस कटान को रोका जाता है। वनस्पतियाँ; अशुद्ध जल को पीकर भी उसे शुद्ध फल के रस के रूप में परिवर्तित कर देती हैं। प्रायः सभी वृक्षों के सूखे अवयव, ईन्धन के काम आने से अग्निकाय के नोकर्म (सहायक) हैं। अधिकांश वृक्ष; प्रकृति की प्रदूषित वायु-कार्बनडाई-आक्साइड ग्रहण करते हैं एवं शुद्ध वायु-आक्सीजन छोड़ते हैं, अतः वृक्ष; प्रकृति को शुद्ध करने के लिए प्राकृतिक फिल्टर हैं।

भारत में अग्नि मिशाइल का परीक्षण होना था। अग्नि मिशाइल के प्रमुख प्रायोजक वैज्ञानिक राष्ट्रपति डॉ० ए.पी.जे. अब्दुल कलाम थे। उस समय के.सी.पन्त; केन्द्रीय रक्षा मन्त्री थे। कल अग्नि मिशाइल का परीक्षण होना है। आज के.सी.पन्त जी ने कलाम जी से पूछा—कलाम जी ! कल मिशाइल का परीक्षण होना है। उस परीक्षण की सफलता में आप क्या पुरस्कार चाहेंगे ?

डॉ० ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने कहा कि इसके सफल परीक्षण के बदले में इस परीक्षण के स्थान पर हम एक लाख वृक्षों को लगवाना चाहेंगे।

के.सी.पन्त जी ने कहा कि कलाम जी, उस परीक्षण के बदले में आपने धरती माँ का आशीर्वाद पहले ही माँग लिया।

दूसरा प्रसङ्ग चाँदपुर का है, जहाँ एक गेस्ट हाऊस बनाने के लिए स्थान का चुनाव किया गया, वहाँ एक बड़ा वट वृक्ष भी था, अतः उस वृक्ष को हटाने की तैयारी चल रही थी, अचानक वैज्ञानिक डॉ० ए.पी.जे. अब्दुल कलाम वहाँ से घूमते हुए निकले, उन्होंने वृक्ष के पास उपकरण लिए बैठे लोगों से

सहज ही पूछ लिया कि क्या हो रहा है ? लोगों से उत्तर मिला कि यहाँ पर एक गेस्ट हाऊस बन रहा है, लेकिन यह वृक्ष; गेस्ट हाऊस की सीमा में आ रहा है, अतः इस वृक्ष को काट कर हटाया जा रहा है।

अब्दुल कलाम जी ने कहा; ठहरो ! नक्शा दिखाओ, इञ्जीनियर को बुलाओ, इस गेस्ट हाऊस को थोड़ा इस स्थान से हटाकर इस स्थान पर बनाओ, लेकिन वृक्ष मत काटो।

लोगों को कलाम जी की बात समझ में आयी और एक वृक्ष कटने से बचा लिया, यह है वनस्पति जगत से सच्ची मित्रता। (विशेष-ये घटनायें “अग्नि की उड़ान” पुस्तक से उद्धृत की हैं।)

वृक्ष स्वयं अपनी सन्तति के संवाहक-संरक्षक हैं। किसी की जड़, तना, डाली, त्वचा, पत्ते, फूल एवं फल के बीज से ही इनका संरक्षण-संवर्द्धन होता है, अतः हम लोग यदि वास्तविक मैत्री के पक्षधर हैं तो पञ्च स्थावर जीवों के अनावश्यक प्रयोग को बन्द करें।

हम जितना पञ्च स्थावरों का अनावश्यक प्रयोग बन्द करेंगे, उतने ही प्रकृति के सन्निकट होने से प्रकृति भी हमारे लिए मित्रवत् ही सहयोगरूप कार्य करेगी।

पञ्च स्थावर जीवों के प्रति मित्रवत् व्यवहार; हमें आपात काल में जीवन दान देता है। हम सब लोग अनुभव भी करते हैं। घाटी या ढलान में गाड़ी के ब्रेक फेल होने पर गाड़ी एवं जीवन को सही सलामत बचाने के लिए कोई चट्टान या वृक्ष सहायक हो जाता है। बाढ़ आने पर पृथ्वी की ऊँचाई जीवन बचाने के काम आती है।

जल से मित्रवत् व्यवहार करने से मरुस्थल में भी पानी मिल जाता है। अग्नि रक्षण से बर्फ जैसी शीत में अग्नि का सहारा मिलता है। अन्तरिक्ष या घुटन भरी जगहों में भी स्वच्छ वायु एवं भीषण गर्मी में वृक्ष की छाया; हमारा मित्र बनकर सहयोग करती है।

(६) विकलत्रय से मित्रता—दो इन्द्रियों से चार इन्द्रिय तक के जीव; विकलत्रय कहलाते हैं। ये सब सम्पूर्ण हैं जो आस-पास के प्रदूषित वातावरण से उत्पन्न होते हैं अर्थात् घर-गृहस्थी के भोग-उपभोग की अमर्यादित सामग्री से, अव्यवस्था से उत्पन्न होते हैं, अतः घरों में भोग-उपभोग की सामग्री की मर्यादा रखने से, घरों में साफ-सफाई करने से; इन विकलत्रय जीवों की उत्पत्ति ही नहीं हो, यही उनके प्रति मैत्री भाव हैं। विकलत्रय जीव खेती के लिए उपकारी होते हैं।

यदि हमारे अज्ञान या प्रमाद से; ये जीव उत्पन्न भी हो गए हों तो उन्हें मौसम के अनुसार शीत-उष्ण जलवायु का ध्यान रखकर, उन्हें स्वच्छ घर में सुरक्षित स्थान पर छोड़ना चाहिए, यही उन विकलत्रय जीवों के प्रति मैत्री भाव हैं।

(७) पञ्चेन्द्रिय से मित्रता—पञ्चेन्द्रिय जीव भी अधिकांशतः तिर्यञ्च एवं मनुष्यरूप में प्राप्त होते हैं, जिन्हें हम अपने सहयोग के लिए प्रयोग करते हैं। गाय-भैंस-बैल आदि तिर्यञ्च एवं मनुष्यों में नौकर-चाकर आदि सेवक; भले ही ये सब हमसे हीन हैं फिर भी इनके प्रति हमें मित्रवत् ही व्यवहार करना चाहिए। तिर्यञ्चों का अनावश्यक प्रयोग अतिवाहन आदि हिंसा का कारण है।

नौकर-सेवकों को उचित समय पर वेतन आदि देना, पर्व-त्यौहारों पर पुरस्कार-इनाम आदि देना, अच्छे कार्य करने पर उनकी प्रशंसा करना, उनके घरों में होने वाले सुख-दुख का ध्यान रखकर उनकी समस्याओं का योग्यतानुसार समाधान-सहयोग करना पञ्चेन्द्रियों के प्रति मैत्री भाव है।

ये एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक की मैत्री भावना है, इसे विस्तार से भी समझा जा सकता है।

२. गुणिषु प्रमोदं—सर्वार्थसिद्धि की परिभाषा अनुसार सम्यग्ज्ञानादि गुणों वालों को गुणाधिक कहते हैं, अतः उन गुणीजनों में प्रमोद का भाव तो होना ही चाहिए, किन्तु जिन पाँच स्थावरों में; हमें जीवनदान देने का गुण है, हमें उनके गुणों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना ही चाहिए, यही गुणिषु प्रमोद भाव है।

पाँच स्थावर जीवों के गुणों को देखकर हम प्रसन्नित तो होते हैं, किन्तु प्रमोदवान नहीं। जैसे—पृथ्वीकायिक जीवों का गुण ऊँचाई है, हमें ऊँचाई पसन्द है तब ऊँचे टीले को देखकर प्रसन्नित होकर हम उस पर दौड़कर भी चढ़ने की कोशिश करते हैं, क्योंकि हमें ऊँचाई अच्छी लगती है, किन्तु हम उस ऊँचाई पर पहुँचकर, उस ऊँचाई का उपभोग कर, उस भूमि को धन्यवाद नहीं देते हैं।

उस भूमि को धन्यवाद देने का तरीका यह है कि हम उसके कङ्कण-पत्थर नीचे की ओर न फेंके। वहाँ के पत्थरों पर या भूमि पर गन्दे शब्द या वाक्य न लिखें। उचित स्थान पर ही मल-मूत्र विसर्जन करें। उस स्थान के उपयोग के बाद; उसे स्वच्छ-साफ बनाकर ही जायें, जिससे दूसरा व्यक्ति भी वहाँ की साफ-सफाई देखकर आपके समान ही प्रसन्नित हो उठे। आज प्रायः भारत देश के सभी धार्मिक तीर्थों पर गन्दगी होने से तीर्थों के अतिशय कम हो रहे हैं, जिससे प्राकृतिक प्रकोप, हिंसा-दुर्घटना, बीमारियाँ जन्म ले रही हैं।

हमारे प्राकृतिक भ्रमण स्थल, प्रतिस्पर्धा स्थल भी भौतिक गन्दगी से अटे-पड़े हैं। चाहे वह शिमला-मसूरी, काश्मीर-कुलू-मनाली हों या हिमालय की एवरेस्ट चोटियाँ हों; इन सभी पर मनुष्य के द्वारा जो प्रदूषण फैलाया जा रहा है, वही प्रदूषण विश्व को विनाश की ओर ले जा रहा है।

जल के जलीय जीव-जन्तुओं का; जल की प्राकृतिक वनस्पतियाँ एवं उसकी सम्पदा; जैसे—रेत-सीपी-शंख एवं कीमती पत्थरों का दोहन; व्यक्तिगत उपभोग के अलावा; अर्थ-धन प्राप्ति के लिए इनका दुरुपयोग हो रहा है। समुद्रीय जल से; प्राकृतिक गैसों एवं तेल का दोहन के साथ समुद्रीय परिवहन की अधिकता से समुद्रों का जल प्रदूषित हो रहा है, अतः हम लोग यदि जल एवं जल की सम्पदा का उपयोग करके उसके गुणों को धन्यवाद देकर कृतज्ञता ज्ञापन करें तो यही जल के प्रति हमारा गुणानुराग-प्रमोदभाव होगा।

अँधेरा छाया हो, अचानक लाइट या प्रकाश हो जाये तो लोग प्रमोद भाव से भर जाते हैं। शीत लग रही हो। अकस्मात् अग्नि का सहारा मिल जाये तो शान्ति मिलती है, यही तो अग्निकाय के प्रति प्रमोद भाव है, भूख लगी हो और गरम-गरम इच्छानुसार भोजन मिल जाये, यही हमारे प्रति अग्नि का उपकार है।

श्वास लेने में दम घुट रहा हो, अकस्मात् वायु सञ्चरण प्राणदान दे देता है। वायु हमारा सबसे बड़ा हितकारी मित्र है। जल-भोजन-अग्नि-फल-वनस्पति के बिना तो दिन-दो दिन निकाल भी सकते हैं, किन्तु वायु-श्वास के बिना तो एक मिनट भी निकालना मुश्किल होगा, अतः वायु हमारा परम उपकारी मित्र है। वायु समस्त आकाश में व्याप्त है। वैज्ञानिक परीक्षणों के कारण; जल के साथ ही वायु में भी प्रदूषण की मात्रा बढ़ रही है। आकाश में वायु को प्रदूषित करने वाले अनेक मिशाइल परीक्षण, अन्तरिक्ष अभियान एवं अनेक भौतिक उपकरण (सेटेलाइट) टावर आदि के द्वारा वायु प्रदूषण हो रहा है, जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है कि जहाँ पर मोबाइल टावर होते हैं, वहाँ के

आस-पास लगभग सौ-सौ मीटर में चिड़ियाँ; वायु प्रदूषण से समाप्त हो जाती हैं, अतः मनुष्यकृत अन्तरिक्ष खोज भी मनुष्य के विकास के साथ ही जीवों के विनाश का कारण निर्माण कर रही है, अतः हम वायु के प्रदूषण को रोकें, यही वायुकायिक के प्रति प्रसन्नता-प्रमोद का भाव कहलाता है।

आज सभी लोग भोजन में सब्जी-फलों के गुणों से प्रभावित हैं, अतः हम पञ्च स्थावरों के गुणों से प्रभावित होकर प्रसन्नित रहें एवं उनके उपभोग-प्रयोग के बाद धन्यवाद भी ज्ञापन करें।

३. कारुण्य-क्लिश्यमान—इन पाँच स्थावरों के अनावश्यक उपयोग-प्रयोग से अनर्थदण्डरूप क्रिया से स्वयं रुकना या दूसरों को रोकना कारुण्य-क्लिश्यमान भावना है।

४. माध्यस्थ्य-अविनेय—जब किसी कारण से पञ्च स्थावररूप प्रकृति; रौद्ररूप धारण कर ले, जिससे हमारे तन-मन-जन-धन की हानि भी हो जाए तब हम उस प्रकृति की निन्दा-आलोचना न करके, माध्यस्थ्य भाव को धारण करें, क्योंकि नीतिकारों ने कहा है कि—

अप्रियाण्यपि प्रियाणि, सा एव अपि प्रियाणि ।

दग्ध मन्दिर सारोऽपि, कस्य वह्नि-रनादरः ॥

जो अप्रिय करता हुआ भी प्रिय है; वही प्रिय है, क्योंकि अग्नि; श्रेष्ठ घर को भी जला देती है फिर भी ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष है जो उस अग्नि का अनादर करता हो अर्थात् अग्नि को घर से बाहर निकाल देता हो ? क्या आज हम इतनी उदारता से इन चारों भावनाओं का चिन्तन-मनन-आचरण कर रहे हैं या आगे कर सकेंगे ? छोटे, बड़े, बराबरी के एवं अहंकारी व्यक्तियों के प्रति भी ये भावनायें की जा सकती हैं।

जिज्ञासा—जो भी व्यक्ति जब इन चार भावनाओं में दूसरों के प्रति परिपूर्ण हो जाता है तब उसके लिए संसार के समस्त विकल्पों से छूटने के लिए स्वयं के प्रति क्या भावना करना चाहिए ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

सूत्र उच्चारण—जगत्काय-, स्वभावौ वा, संवेग-वैराग्यार्थम् ॥१२॥

सूत्रार्थ—संवेग और वैराग्य के लिए जगत् के स्वभाव एवं शरीर के स्वभाव की भावना करना चाहिए।

लब्धार्थ—संसार के स्वभाव का चिन्तन करने से संवेग एवं शरीर के स्वभाव का चिन्तन करने से वैराग्य उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—जगत् का स्वभाव; यह जगत् अनादि है, अनिधन है, वेत्रासन, झल्लरी और मृदङ्ग के समान है। इस अनादि संसार में जीव अनन्त काल तक नाना योनियों में दुःखों को पुनः-पुनः भोगते हुए भ्रमण करते हैं। इसमें कोई भी वस्तु नियत नहीं है। जीवन; जल के बुलबुले के समान है और भोग-सम्पदायें; बिजली और इन्द्रधनुष के समान चञ्चल है। इस प्रकार संसार का चिन्तन करने से संवेग उत्पन्न होता है।

काय का स्वभाव; यह शरीर अनित्य है, दुःख का कारण है, निःसार है और अशुचि है। इस प्रकार काय-शरीर के स्वभाव का चिन्तन करने से; संसार के पुण्यमय सुखों से भी आसक्ति हटकर वैराग्य उत्पन्न होता है।

पापभाव और पापरूप क्रिया के त्यागने को व्रत कहते हैं। पुण्यभाव एवं पुण्यरूप क्रिया के त्याग को वैराग्य कहते हैं।

वर्तमान में व्यक्ति; पापभाव एवं पापक्रिया को तो छोड़ने में असमर्थ है, किन्तु मिथ्या आग्रह से पुण्यभाव एवं पुण्यक्रिया को छोड़ रहा है, यही उसके संसार परिभ्रमण का कारण बनेगा, अतः मिथ्या भ्रान्ति को छोड़कर पहले पाप एवं पापक्रिया को छोड़ें, फिर आगे की सोचें।

जिज्ञासा—इस अध्याय के प्रथम सूत्र में कहा गया था कि हिंसादिक से निवृत्त होना व्रत है, किन्तु हिंसा क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

सूत्र उच्चारण—प्रमत्त-योगात्, प्राण-व्यपरोपणं, हिंसा ॥१३॥

सूत्रार्थ—प्रमाद के योग से प्राणों का वियोग (वध) करना हिंसा है।

लब्धार्थ—प्रमाद; कषाय सहित अवस्था को कहते हैं, प्रमाद युक्त आत्मा का परिणाम प्रमत्त है, इस प्रमत्त का योग प्रमत्तयोग है। इसके निमित्त से इन्द्रियादि दस प्राणों का यथासम्भव (एकेन्द्रिय आदि से पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों के प्राण) व्यपरोपण अर्थात् वियोग करना हिंसा कही जाती है। इससे प्राणियों को दुःख होता है, इसलिए हिंसा; अधर्म का कारण है।

विशेषार्थ—अकेले प्राणों का वियोग करना अधर्म नहीं है, यह बतलाने के लिए सूत्र में “प्रमत्त योग” पद दिया है अर्थात् जिस हिंसा में प्रमाद का योग होता है, वही हिंसा है; कारण कि कहा भी है—

ईर्यासमिति से युक्त साधु के; अपने पैर के उठाने पर चलने के स्थान में यदि कोई क्षुद्र प्राणी, उनके पैर से दब भी जावे और उसके सम्बन्ध से मर भी जावे तो भी उस निमित्त से थोड़ा भी बन्ध; आगम में नहीं कहा है, क्योंकि जैसे अध्यात्म दृष्टि से मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है, वैसे यहाँ भी रागादि परिणाम को हिंसा कहा है।

शङ्का—प्राणों का विनाश न होने पर भी केवलप्रमत्त-योग से ही हिंसा कही जाती है। कहा भी है—जीव मर जावे या जीता रहे तो भी यत्नाचार से रहित पुरुष के नियम से हिंसा होती है और जो यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है, उसके द्वारा हिंसा हो जाने पर भी उसे बन्ध नहीं होता है अर्थात् प्रमाद में हिंसा न होते हुए भी हिंसा कैसे है और अप्रमाद में हिंसा होते हुए भी अहिंसा कैसे है?

समाधान—प्रमाद से युक्त आत्मा; पहले स्वयं अपने द्वारा ही अपना घात करता है, इसके बाद दूसरे प्राणियों का वध होवे या न होवे अर्थात् प्रमाद से आत्मा के शुभभावों की हिंसा होती है।

जैसे—एक डाकू; चाकू से किसी को मारने के लिए प्रहार करता है, किन्तु उसे चाकू लगता नहीं है, बच जाता है फिर भी डाकू को हिंसा का दोष लगता है, परन्तु कोई डॉक्टर किसी मरीज का चाकू से आपरेशन करता है और मरीज मर भी जाता है तो डॉक्टर को हिंसा का दोष नहीं लगता है; कारण कि डाकू का भाव; पहले ही उसे मारने का था, भले दूसरा व्यक्ति बच गया, इसलिये डाकू को हिंसक ही कहा जायेगा, किन्तु डॉक्टर का भाव; मरीज को बचाने का था, किन्तु मरीज मर गया फिर भी डॉक्टर हिंसक नहीं है।

कृषक; खेती करता है, जिसके हल-उपकरणों के द्वारा त्रसजीवों का भी घात हो जाता है, किन्तु हिंसक नहीं कहलाता है।

सैनिक के द्वारा शत्रु एवं पुलिस के द्वारा चोर-डकैत-बदमाश मारे भी जाते हैं, किन्तु सैनिक एवं पुलिस; हिंसक नहीं कहलाती है, क्योंकि आचार्यों ने हिंसा के चार भेद कहे हैं—(१) आरम्भी; (२) उद्योगी; (३) विरोधी; (४) संकल्पी।

(१) आरम्भी हिंसा—घर-गृहस्थी, दान-पूजा, खेती-वाड़ी आदि के कार्यों में हिंसा होती ही है। जयधवल पुस्तक एक, पृष्ठ इकानवे पर वीरसेन आचार्य कहते हैं कि दान, पूजा, शील, व्रत, उपवास आदि बिना सावधता (हिंसा) के नहीं होते हैं, अतः दान, पूजा में पञ्च स्थावरों की सावधता को स्वीकार किया गया है, किन्तु इसमें भी प्रमाद का योग नहीं है, क्योंकि इनके प्रयोग भी “प्रासुक” शब्द से सम्बोधित किए गए हैं।

मूलाचार की संस्कृत टीका जो कि वसुनन्दी आचार्य ने लिखी है, “प्रासुक” शब्द का अर्थ; उसमें “प्राणी रहित” किया है, जिसका अर्थ अपने आप ध्वनित होता है कि पञ्च स्थावरों के प्रयोग में अन्य कोई त्रस जीवों का मिश्रण न हो। जैसे चावलों में सुरी-तिरुला आदि, पुष्प में इल्ली आदि, जल में काई-पत्ते आदि। जो इन सबके आधारभूत त्रस जीव हैं, इनसे रहित द्रव्य हो फिर भी द्रव्य चढ़ाते समय द्रव्य की सुगन्धी से आकर्षित तितली-भौरे आदि आते हैं तो द्रव्य सचित्त नहीं माना जाता; यह उस द्रव्य की विशेषता है, अतः जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक-पूजन की सामग्री में जो आरम्भी हिंसा होती है, उसे समन्तभद्र आचार्य ने “सावदलेशो बहुपुण्यराशौ” कहा है।

इस छन्द की उत्थानिका लिखते समय प्रभाचन्द्र आचार्य ने टीका में यही प्रश्न किया है कि भगवान् की पूजा में आने वाले दूध, दही, घी, गन्ध, धूप, पुष्पमाला आदि को चढ़ाने से हिंसा होती है, किन्तु पुण्य विशेष होने से उस हिंसा को उदाहरण के द्वारा कहा है कि जिस प्रकार समुद्र में यदि एक जहर की बूँद गिर भी जाये तो समुद्र जहरीला नहीं होता है। ठीक उसी प्रकार पूजन में अतिशय पुण्य होने के कारण पूजन सामग्री से होने वाली सावधता को क्षम्य माना है। पाँचवीं शताब्दी के योगेन्दु आचार्य ने सावय धम्म दोहा ग्रन्थ में तो यहाँ तक कह दिया कि जो श्रावक; भगवान् के अभिषेक को हिंसापूर्ण मान कर छोड़ देता है, उसने सम्यक्त्व को दूर से ही छोड़ दिया है, अतः सभी को पन्थवाद का आग्रह छोड़कर आचार्यों के वचनों की श्रद्धा करनी चाहिए।

जो लोग भगवान् के अभिषेक-पूजन की सामग्री की थाली में हिंसा भाव की कल्पना करते हैं अर्थात् उसमें हिंसा का आरोपण करते हैं, उन्हें अपनी भोजन की थाली में अभक्ष्य, अमर्यादित भोजन से हिंसा की कल्पना क्यों नहीं होती है ?

जिस क्रिया के लिए जो वस्तु मान्य एवं उपलब्ध है, किन्तु प्रमाद या कुतर्क के द्वारा उस क्रिया या वस्तु का लोप करना सबसे बड़ी हिंसा है, क्योंकि प्रमाद के लक्षण में आचार्यों ने कहा है कि “कुशलेषु अनादरः प्रमादः” अच्छे कार्य का अनादर करना या उस कार्य को करने का उत्साह नहीं होना प्रमाद है अथवा अच्छे कार्य का लाभ समझते हुए भी उस कार्य को नहीं करना प्रमाद है। प्रमाद से लोग अहिंसा की हिंसा कर रहे हैं।

(२) उद्योगी हिंसा—व्यापार-आजीविका के निमित्त जो हिंसा होती है, उसे उद्योगी हिंसा कहा है। व्यक्ति; अपने एवं अपने परिवार के पालन-पोषण हेतु व्यापार करता है। इस व्यापार के पालन-पोषण की यथायोग्य पूर्ति होने के बावजूद भी अधिक उद्योग व्यापार में लगा रहता है, उसे बहुआरम्भी बहुपरिग्रही कहा है जो नरकायु के आस्रव का कारण है।

हाँ ! थोड़ा उद्योग करके बहुत फल मिलना सम्पदा है, क्योंकि सम्पदा पुण्य से मिली है “सम्यक् प्रकारेण प्राप्यते इति सम्पदा।” हाँ; सम्पदा में आसक्त होना या आसक्ति से भोगना पापबन्ध का हेतु है।

परिग्रह; जिसे पाप के द्वारा-छल-छिद्र, कषाय की पूर्ति के लिए प्राप्त किया जाता है अर्थात् “पाप प्रकारेण प्राप्यते इति परिग्रहः” यही सम्पदा और परिग्रह में अन्तर है।

(३) विरोधी हिंसा—व्यक्ति, परिवार, समाज, देश-राज्य, राजा-सेवक, धर्म और धर्मात्मा पर; अन्याय पूर्वक होने वाले आक्रमण को रोकने के लिए जिस क्रिया का सहारा लिया जाता है, वह विरोधी हिंसा है।

इन तीन प्रकार की हिंसा का त्यागी; गृहस्थ नहीं होता है, अतः इस हिंसा में प्रमाद का योग नहीं होने से; हिंसा होते हुये भी अहिंसा है।

(४) संकल्पी हिंसा—वैर-विरोध की पूर्ति के लिए विषय-कषाय की पुष्टि के लिए अपने परिग्रह के प्रदर्शन के लिए जिस क्रिया का सहारा लिया जाता है, वह सब संकल्पी हिंसा है। इस हिंसा के प्रारूप को अमृतचन्द्र आचार्य ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में विशेषरूप से खोला है, वहाँ से पढ़कर समझ लेना चाहिए।

जिज्ञासा—प्रथम सूत्र के अनुसार हिंसादि पाँच पापों में से पहले हिंसा पाप का कथन किया, अब उसके बाद क्रम प्राप्त असत्य का लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

सूत्र उच्चारण—अ-सदभिधान-, अनृतम् ॥१४॥

सन्धि विग्रह—असत्-अभिधानम्-अनृतम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—असत् बोलना; अनृत अर्थात् झूठ है।

लब्धार्थ—ऋत का अर्थ सत्य है और जो ऋत-सत्य नहीं है, वह अनृत है। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ नहीं है, उसका कथन करना अनृत-असत्य कहलाता है।

विशेषार्थ—सत् शब्द प्रशंसावाची है। जो सत् नहीं है, वह असत् है। असत् का अर्थ अप्रशस्त है। जिससे प्राणियों को पीड़ा होती है, उसे अप्रशस्त कहते हैं। भले ही वह चाहे विद्यमान पदार्थ को विषय करता हो या अविद्यमान पदार्थ को विषय करता हो।

यह पहले ही कह दिया है कि सत्य आदि व्रत; अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए हैं, इसलिए जिससे हिंसा हो वह वचन; अनृत-झूठ है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त तीसरे पाप; चोरी का क्या लक्षण है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

सूत्र उच्चारण—अ-दत्तादानं, स्तेयम् ॥१५॥

सन्धि विग्रह—अदत्त-आदानं स्तेयम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—बिना दिये हुए, किसी वस्तु को लेना चोरी है।

लब्धार्थ—आदान शब्द का अर्थ; ग्रहण है। बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना अदत्तादान है, यही स्तेय-चोरी कहलाता है।

विशेषार्थ—इस सूत्र में प्रमत्तयोग की अनुवृत्ति है, जिससे पूरे सूत्र का यह अर्थ होता है कि प्रमाद के योग से; बिना दी हुयी वस्तु का ग्रहण करना स्तेय है। जहाँ देना और लेना सम्भव है, वहीं स्तेय का व्यवहार होता है, किन्तु कर्म, नोकर्म एवं भिक्षुकों के नगर आदि में भ्रमण करने पर चोरी का दोष नहीं लगता है, क्योंकि सूत्र में अदत्त और आदान; इन दो पदों से अर्थ स्पष्ट होता है। अभिप्राय यह है कि बाह्य वस्तु ली जावे या न ली जावे, किन्तु जहाँ संक्लेशरूप परिणाम के साथ प्रवृत्ति होती है, वहाँ स्तेय है।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त चौथे पाप; अब्रह्म का क्या लक्षण है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

सूत्र उच्चारण—मैथुन-, मब्रह्म ॥१६॥

सन्धि विग्रह—मैथुनम्-अब्रह्म ॥१६॥

सूत्रार्थ—मैथुन; अब्रह्म है।

लब्धार्थ—चारित्रमोहनीय का उदय होने पर राग परिणाम से युक्त स्त्री और पुरुष के जो एक-दूसरे को स्पर्श करने की इच्छा होती है, वह मिथुन कहलाता है और इसका कार्य; मैथुन कहा जाता है।

विशेषार्थ—इस सूत्र में भी “प्रमत्तयोग” पद की अनुवृत्ति ली है, अतः रतिजन्य सुख के लिए स्त्री-पुरुष की मिथुन विषयक जो चेष्टा होती है, वही मैथुनरूप से ग्रहण किया जाता है, सब क्रिया नहीं; क्योंकि माँ अपने बेटे को ममता के कारण गले-छाती से लगाती है। पिता; अपनी पुत्री को स्नेहभाव से विदाई आदि के समय गले से लगाता है।

अहिंसा आदि गुण; जिस ब्रह्मचर्य का पालन करने से बढ़ते हैं, वह ब्रह्म कहलाता है और जो इससे रहित है, वह अब्रह्म है। अब्रह्म-मैथुन के सेवन में जो दक्ष है, वह चर और अचर; सब प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, बिना दी हुयी वस्तु लेता है तथा चेतन-अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह को स्वीकार करता है।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त पाँचवें पाप; परिग्रह का क्या लक्षण है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥

सूत्रार्थ—मूर्च्छा; परिग्रह है।

लब्धार्थ—गाय, भैंस आदि चेतन तथा मणि-मुक्तादि अचेतन में; बाह्य उपधि का तथा रागादि आभ्यन्तर उपधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार (भाव) आदिरूप व्यापार ही मूर्च्छा है।

विशेषार्थ—वैसे मूर्च्छा का अर्थ; लोक में वात आदि का प्रकोप विशेष होता है, किन्तु मूर्च्छा धातु का सामान्य अर्थ मोह है, अतः परिग्रह का प्रकरण होने से मूर्च्छा; इस शब्द से आभ्यन्तर परिग्रह का संग्रह होता है, क्योंकि प्रधान होने से आभ्यन्तर का ही संग्रह किया है; कारण कि बाह्य परिग्रह के न रहने पर भी “यह मेरा है” ऐसा संकल्प वाला पुरुष परिग्रह सहित ही होता है।

इस सूत्र में भी “प्रमत्तयोगात्” पद की अनुवृत्ति है, अतः जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य वाला है, वह प्रमाद रहित होने से; उसके मोह का अभाव है, अतः उसके मूर्च्छा नहीं है, जिससे उनके परिग्रह रहितपना सिद्ध होता है।

ज्ञानादिक अहेय हैं और आत्मा के स्वभाव हैं, अतः उनमें परिग्रहपना प्राप्त नहीं होता है। रागादिक तो कर्मों के उदय से होते हैं, अतः आत्मा का स्वभाव न होने से हेय हैं, अतः उनमें होने वाला संकल्प; परिग्रह है। “यह मेरा है” इस प्रकार के संकल्प के होने पर संरक्षण आदि भाव होते हैं, जिससे हिंसा अवश्य होती है। इस परिग्रह के लिए व्यक्ति; असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्म में प्रवृत्त होता है। इसके नरकादिक में जितने दुःख हैं, वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।

जिज्ञासा—इस अध्याय के प्रथम सूत्र से ही हिंसा में दोष एवं अहिंसा में गुण हैं, ऐसा कहा गया, किन्तु जो प्रमाद छोड़कर, यदि अहिंसादि व्रतों का पालन करें तो उन्हें क्या कहेंगे? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निश्शल्यो व्रती ॥१८॥

सूत्र उच्चारण—निश्शल्यो, व्रती ॥१८॥

सन्धि विग्रह—निःशल्यः व्रती ॥१८॥

सूत्रार्थ—जो शल्य रहित है, वह व्रती है।

लब्धार्थ—शल्य का अर्थ पीड़ा देने वाली वस्तु। जैसे-शरीर में पीड़ा देने से काँटा शल्य कहलाता है, वैसे ही पीड़ाकर भाव शल्य है, क्योंकि शरीर और मन सम्बन्धी बाधा का कारण होने से कर्मोदय जनित विकार में भी शल्य का उपचार कर लेते हैं अर्थात् उसे भी शल्य कहते हैं।

विशेषार्थ—जो अहिंसादिक व्रतों का पालन करते हैं, वे व्रती हैं, किन्तु वे व्रती शल्य रहित होते हैं। शल्य तीन प्रकार की होती हैं—(१) मायाशल्य; (२) निदानशल्य; (३) मिथ्याशल्य।

(१) **मायाशल्य—**माया; विकृति और वञ्चना अर्थात् ठगने की वृत्ति; माया शल्य है। माया कषाय एवं माया शल्य में क्या अन्तर है? माया कषाय; औदयिक भाव है एवं नौवें गुणस्थान तक चलती है। माया शल्य; दूसरों से छल करके किसी भी द्रव्य को ग्रहण करने का भाव; मायाशल्य है। जैसे-दुकानदार तो ग्राहक से माया कषाय से द्रव्य-धन कमाता है, किन्तु मायाशल्य वाला ग्राहक, दुकानदार का द्रव्य; बिना कीमत चुकाये छल करके ले जाता है। यही माया कषाय एवं मायाशल्य में अन्तर है। मायाशल्य पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक चलती है।

(२) निदानशल्य—संसार सुख के भोगों की लालसा; निदान शल्य है। निदान बन्ध एवं निदान शल्य में क्या अन्तर है? निदान बन्ध पाँचवें गुणस्थान तक हो सकता है, किन्तु निदान शल्य चौथे गुणस्थान तक ही होती है। निदान बन्ध; आगामी भव का होता है अर्थात् अपने स्वर्ग-मोक्ष देने वाले संयम-तप-त्याग द्वारा कमाये गए पुण्य का दुरुपयोग। हमें अपने इस तप-त्याग के पुण्य से यह इन्द्र आदि पद मिले ऐसा संकल्प करना निदान बन्ध है अर्थात् पुण्य के सद्भाव को पाप या विषय-कषाय की सामग्री के लिए खर्च करना निदान बन्ध है। नाम, ख्याति, लाभ, पूजा के भाव भी निदान हैं।

निदान शल्य में व्यक्ति; पुण्यहीन होकर अपने भावों में वर्तमान के ही विषय-सुख के लिए लालायित रहता है, इतना पुण्य कैसे कमाऊँ जिससे संसार सुख सेवन करूँ? यही निदान शल्य है।

जैसे-शरीर में काँटे आदि की चुभन-पीड़ा को शल्य चिकित्सा द्वारा दूर किया जाता है, वैसे ही विषयाकाङ्क्षारूप भावों के ट्यूमर को निकालकर; उसे निःशल्य बनाया जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि निदानबन्ध; आगामी भव के सुखों के लिए होता है एवं निदान शल्य; वर्तमान के दुर्लभ भोग-सुखों के लिए भावों में होती है।

(३) मिथ्याशल्य—अतत्त्वों का श्रद्धान; मिथ्यादर्शन शल्य है।

मिथ्यात्व एवं मिथ्यादर्शन शल्य में क्या अन्तर है? मिथ्यात्व; दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से तत्त्वों में सच्ची श्रद्धा को उत्पन्न ही नहीं होने देता है, किन्तु मिथ्यादर्शन शल्य; सम्यग्दृष्टि जीव के होती है; कारण कि संसार के मिथ्याधर्मों-अतत्त्वों के चमत्कार-ख्याति-पूजा-लाभ आदि के कारण; उस सम्यग्दृष्टि जीव को अपने सम्यक्तत्त्वों का श्रद्धान कमजोर एवं मिथ्यातत्त्वों का श्रद्धान मजबूत होने लगता है। सम्यग्दृष्टि जीव; मिथ्यात्व के साधनों को प्राप्त करने के भाव; मन में पाल लेता है, यही मिथ्यादर्शन शल्य है। मिथ्यात्व का स्वामी पहले गुणस्थानवर्ती जीव है, किन्तु मिथ्यादर्शन शल्य के स्वामी चौथे गुणस्थान तक के जीव हो सकते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि ये तीनों शल्यों के स्वामी पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक के जीव हो सकते हैं। तीनों शल्य में से एक, दो अथवा तीनों शल्य भी एक साथ हो सकती हैं, अतः आचार्य भगवन्त ने “निश्शल्यो व्रती” सूत्र बनाकर यह सिद्ध किया है कि पाँचवें गुणस्थान से प्रारम्भ होकर ऊपर के गुणस्थान वाले सभी व्रती; निश्शल्य होते हैं, इसीलिए निश्शल्य को व्रती कहा है। कुछ लोग; ख्याति-पूजा-लाभ के वश होकर व्रत तो ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु शल्य रहित नहीं होते, वे व्रती नहीं कहे जा सकते हैं। जैसे-जिसके यहाँ बहुत दूध-घी होता है, वह गाय वाला है। यदि उसके दूध-घी नहीं होता और गायें हैं तो भी वह गाय वाला नहीं कहलाता है। उसी प्रकार जो सशल्य है, उसके व्रत होने पर भी वह व्रती नहीं है, किन्तु जो निश्शल्य है, वही व्रती है।

जिज्ञासा—इस अध्याय के सूत्र संख्या दो में व्रतों के दो भेद बतलाये थे—अणुव्रत एवं महाव्रत, किन्तु इन व्रतों को पालने वालों के नाम क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अगार्यनगारश्च ॥१९॥

सूत्र उच्चारण—अगार्य-, नगारश्-च ॥१९॥

सन्धि विग्रह—अगारी-अनगारः च ॥१९॥

सूत्रार्थ—उन व्रतों के पालने वाले व्रती दो प्रकार के हैं—१. अगारी; २. अनगारी।

लब्धार्थ—आश्रय चाहने वाले जिसे अङ्गीकार करते हैं, वह अगार है। अगार का अर्थ; वेश्म अर्थात् घर है। जिसके घर है, वह अगारी है। जिसके घर नहीं है, वह अनगार है। इस तरह से व्रती दो प्रकार के हैं—अगारी और अनगारी।

विशेषार्थ—जो मुनि; शून्य घर और देव कुल में निवास करते हैं, वे अगारी नहीं कहे जायेंगे और जो विषय-तृष्णा त्याग किए बिना किसी कारण से घर को छोड़कर वन में रहते हैं, वे अनगार नहीं कहे जायेंगे, क्योंकि यहाँ पर भावागार की विवक्षा है। चारित्रमोहनीय का उदय होने पर जो परिणाम घर से निवृत्त नहीं है, वह भावागार कहा जाता है, ऐसा भावागार जिसके है, वह वन में निवास करते हुए भी अगारी है, किन्तु जिसके इस प्रकार का परिणाम नहीं है, वह घर में रहते हुए भी अनगार है।

यदि कोई कहे कि अगारी; व्रती नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पूर्णव्रत नहीं हैं ?

इसका उत्तर यह है कि; जैसे—कोई व्यक्ति घर या झोपड़ी में रहता है तो भी “मैं नगर में रहता हूँ” ऐसा कहता है। उसी प्रकार जिसके पूरे व्रत नहीं हैं, वह नैगम, संग्रह और व्यवहार नय की अपेक्षा व्रती कहा जाता है।

जिज्ञासा—पिछले सूत्र के अनुसार व्रती; अगारी और अनगार दो प्रकार के हैं तब किसी एक अहिंसा आदि व्रत को पालने वाला अगारी; कौन-सा व्रती हो सकता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

सन्धि विग्रह—अणुव्रतः अगारी ॥२०॥

सूत्रार्थ—अणुव्रती; अगारी कहलाता है।

लब्धार्थ—अगारी के पूर्णरूप से हिंसादि दोषों का त्याग सम्भव नहीं है, अतः उसके व्रत; अणु अर्थात् अल्प हैं, जिससे अणुव्रत वाला अगारी कहा जाता है।

विशेषार्थ—अणुव्रत वाला अगारी—त्रस जीवों की हिंसा से निवृत्त है, अतः उसके पहला अहिंसा-अणुव्रत होता है, किन्तु स्थावर हिंसा का भी अनर्थदण्डरूप त्यागी होता है, पूर्णरूप से स्थावर हिंसा का त्यागी नहीं होता है।

गृहस्थ; स्नेह और मोहादिक के वश से गृह विनाश और ग्राम विनाश के कारण, असत्यवचन से निवृत्त है, अतः उसके दूसरा सत्याणुव्रत होता है। सत्याणुव्रती किसी के प्राणघात-विपदा कारक असत्य एवं सत्य; दोनों वचन नहीं कहता है।

श्रावक; राजा आदि के भय के कारण दूसरे को पीड़ाकारी जानकर, बिना दी हुई वस्तु को लेना यद्यपि अवश्य छोड़ देता है तो भी बिना दी हुई वस्तु के लेने में उसकी प्रीति घट जाती है, अतः उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है। किसी की भूली-पड़ी हुई वस्तु को न स्वयं लेता है, न उठाकर अन्य किसी दूसरे को देता है, किन्तु यदि कोई ऐसी वस्तु है कि जिसका स्वामी उसे भूल गया हो या उसकी वस्तु गिर गयी हो तो उसे उठाकर उसके पास तक स्वयं दे आना या दूसरों के द्वारा भिजवा देना; दोषपूर्ण नहीं है।

गृहस्थ के स्वीकार की हुयी या बिना स्वीकार की हुयी; परस्त्री का सङ्ग करने से रति हट जाती है, अतः उसके परस्त्री त्याग नाम का चौथा ब्रह्मचर्य-अणुव्रत या स्वदार संतोष अणुव्रत होता है।

गृहस्थ; धन-धान्य-क्षेत्र आदि का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है, अतः उसके पाँचवाँ परिग्रह परिमाण-अणुव्रत होता है।

इस तरह यहाँ संक्षेप में पाँच अणुव्रतों का कथन किया है। विस्ताररूप कथन रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्धचुपाय ग्रन्थ में खोला है, वहाँ से जान लेना चाहिए।

जिज्ञासा—गृहस्थ; पाँच अणुव्रतों को धारण करके एक देश पापों का त्याग कर देता है, किन्तु अणुव्रतों को पूर्णरूप से पालने के लिए क्या कोई अन्य-दूसरे व्रतों का भी सहारा लेता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥

सूत्र उच्चारण—दिग्देशा-, नर्थदण्ड-विरति-, सामायिक-प्रोषधोप-, वासोपभोग-परिभोग-, परिमाणा-तिथिसंविभाग-, व्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥

सन्धि विग्रह—दिग्-देश-अनर्थदण्ड-विरति-सामायिक-प्रोषध-उपवास-उपभोग-परिभोग-परिमाण-अतिथिसंविभाग-व्रतसम्पन्नः च ॥२१॥

सूत्रार्थ—वह श्रावक; दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रत एवं अतिथिसंविभागव्रत; इन सात शीलव्रतों से भी सम्पन्न होता है।

लब्धार्थ—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति; ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं। सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत एवं अतिथिसंविभागव्रत; ये चार शिक्षा व्रत हैं।

तीन गुणव्रतों के पालन करने से पाँच अणुव्रतों के गुण बढ़ते हैं, अतः इन्हें गुणव्रत कहते हैं।

चार शिक्षाव्रतों के पालन करने से आगे पाँच महाव्रतों की शिक्षा मिलती है, अतः इन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।

इस प्रकार इन व्रतों से जो सम्पन्न है वह गृहस्थी; विरताविरत, संयतासंयत, प्रतिमाधारी, अणुव्रती श्रावक कहा जाता है।

विशेषार्थ—(१) दिग्विरति व्रत—दिक् अर्थात् पूर्वादि दिशायें; उन दश दिशाओं के प्रसिद्ध चिह्न, पर्वत-नगर, जङ्गल, नदी आदि की सीमा-मर्यादा करके बाकी के क्षेत्र में जीवन पर्यन्त आना-जाना छोड़ देना दिग्विरतिव्रत है। उस मर्यादा के बाहर; त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग हो जाने से उस त्याग का फल महाव्रतरूप होता है। मर्यादा के बाहर लाभ होते हुए भी उसमें परिणाम न रहने के कारण लोभ का त्याग हो जाता है, यह दिग्विरतिव्रत से लाभ है।

(२) देशविरति व्रत—ग्रामादिक की निश्चित मर्यादारूप प्रदेश; देश कहलाता है अर्थात् दिग्विरति व्रत के द्वारा सुरक्षित देश है, इस क्षेत्र का भी उपयोग प्रतिदिन नहीं होता है, अतः उस क्षेत्र में काल नियम द्वारा मर्यादारूप हो पुनः क्षेत्र की मर्यादा बनाना देशविरति व्रत है। इसके त्याग का फल भी महाव्रत।

(३) **अनर्थदण्डविरति व्रत**—उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है, वह अनर्थदण्ड है, इस अनर्थदण्ड से विरत होना, अनर्थदण्डविरति है। अभिप्राय यह है कि देशविरति व्रत से मर्यादित; स्थान एवं समय के दुरुपयोग का त्याग अनर्थदण्ड विरतिव्रत है। इस अनर्थदण्ड के पाँच भेद हैं—(क) अपध्यान; (ख) पापोपदेश; (ग) प्रमादचर्या; (घ) हिंसादान; (ङ) अशुभ श्रुति।

(क) **अपध्यान**—दूसरों का जय-पराजय, मारना-बाँधना, अङ्गों का छेदना और धन का अपहरण आदि कैसे होवे ? इस प्रकार मन से विचार करना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है।

(ख) **पापोपदेश**—तिर्यज्ज्यों को क्लेश पहुँचाने वाले; वणिज का प्रसार करने वाले और प्राणियों की हिंसा के कारणभूत आरम्भ आदि के विषय में पाप बहुल वचन बोलना पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड है।

(ग) **प्रमादचर्या**—बिना प्रयोजन के वृक्ष आदि का छेदना, भूमि का कूटना, पानी का सींचना आदि पाप कार्य; प्रमाद चर्या नाम का अनर्थदण्ड है। इस अनर्थदण्ड में पञ्च स्थावर जीवों को बिना प्रयोजन के प्रयोग करने की प्रवृत्ति प्रमादचर्या कही है।

(घ) **हिंसादान**—विष, काँटा (मछली फँसाने का यन्त्र) शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक; हिंसा प्रदान नाम का अनर्थदण्ड है। संकल्पी हिंसा हेतु इन वस्तुओं को देना अनर्थदण्ड है, किन्तु किसी जीव की रक्षा के उपाय में इन वस्तुओं को देना अनर्थदण्ड नहीं है।

(ङ) **अशुभ श्रुति**—हिंसा और रागादि को बढ़ाने वाली दुष्ट (खोटी) कथाओं का सुनना और उनकी शिक्षा देना अशुभ श्रुति नाम का अनर्थदण्ड है। आरम्भ एवं परिग्रह को बढ़ाने वाली, दुःसाहस, मिथ्यात्व, द्वेष-राग, मद, काम को बढ़ाने वाली, चित्त को कलुषित करने वाली खोटी कथायें-वचनालाप आदि अशुभ श्रुति अनर्थदण्ड है।

(४) **सामायिक व्रत**—समय अर्थात् एकरूप हो जाना ही जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक व्रत है। इतने देश में एवं इतने काल तक; इस प्रकार निश्चित की गयी सामायिक में स्थित हुए पुरुष के पहले के समान महाव्रत जानना चाहिए, क्योंकि इसके सूक्ष्म और स्थूल; दोनों प्रकार के हिंसा आदि पापों का त्याग हो जाता है, किन्तु उनके सकलसंयम नहीं कहा जा सकता है; कारण कि उसके सकलसंयम को घात करने वाली प्रत्याख्यान कषाय का उदय पाया जाता है फिर भी जैसे-राजकुल में चैत्र को सर्वगत उपचार से कहा जाता है। (प्राचीन काल में राजाओं की परम्पराओं में चैत्रमास; सभी मङ्गलकार्यों के लिए शुभ माना जाता था, किन्तु चैत्रमास के अलावा भी यदि कोई मङ्गल कार्य; राजकुल में होता तो वह भी उपचार से चैत्रमास के समान ही कहा जाता था।) उसी प्रकार से सामायिक ग्रहण करने वाली स्थिति में सभी प्रकार के आरम्भ-परिग्रह का त्याग होने से अपरिग्रह आदि महाव्रत उपचार से कहे जाते हैं।

(५) **प्रोषधोपवास व्रत**—प्रोषध का अर्थ पर्व है और पाँचों इन्द्रियों के, शब्दादि विषयों के त्याग पूर्वक उस पर्व में निवास करना उपवास है अर्थात् चार प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है तथा प्रोषध के दिनों में जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास कहते हैं।

प्रोषधोपवासी श्रावक को अपने शरीर के संस्कार के कारणभूत; स्नान, गन्ध, माला और आभरण आदि का त्याग करके, किसी पवित्र स्थान में, साधुओं के रहने के स्थान में, चैत्यालय में या अपने प्रोषधोपवास के लिए नियत किए गए घर में, धर्म-कथा के सुनने-सुनाने और चिन्तन करने में मन को लगाकर उपवास पूर्वक निवास करना चाहिए।

(६) उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत—भोजन-पान, गन्ध-माला आदि उपभोग कहलाते हैं तथा ओढ़ना-बिछाना, अलङ्कार, शयन-आसन, घर, यान-वाहन आदि परिभोग कहलाते हैं। इनका परिमाण; समय एवं संख्या की सीमा कर लेना उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत कहलाता है।

जिसका चित्त; त्रसहिंसा से निवृत्त है, उसे सदा के लिए मधु, मांस और मदिरा का त्याग कर देना चाहिए।

जो बहुत जन्तुओं की उत्पत्ति के आधार हैं और जिन्हें अनन्तकाय कहते हैं, ऐसे केतकी के फूल और अर्जुन के फूल आदि तथा अदरक और मूली आदि का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि इनके सेवन से फल कम है और घात (हिंसा) अधिक जीवों की है।

(७) अतिथि संविभागव्रत—संयम का विनाश न हो, इस विधि से जो चलता है, वह अतिथि है या जिसके आने की कोई तिथि नहीं है, उसे अतिथि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके आने का कोई काल निश्चित नहीं है, उसे अतिथि कहते हैं। इस अतिथि के लिए विभाग करना अतिथि संविभाग है।

अतिथि संविभागव्रत चार प्रकार का है—(१) भिक्षा; (२) औषधि; (३) उपकरण; (४) प्रतिश्रय अर्थात् आवास-रहने का स्थान।

(१) भिक्षा—जो मोक्ष के लिए बद्धकक्ष है, संयम के पालन करने में तत्पर है और शुद्ध है, उस अतिथि के लिए शुद्ध मन से निर्दोष भिक्षा देना चाहिए।

पूज्यपादाचार्य ने अतिथि के तीन प्रमुख विशेषण कहे हैं—(१) मोक्ष के लिए बद्ध कक्ष अर्थात् मोक्ष पुरुषार्थ ही जिसका लक्ष्य है। (२) संयम पालने में अप्रमादी है। (३) शुद्ध है अर्थात् देश, कुल-जाति से शुद्ध है अर्थात् कुलिङ्गी-मिथ्यादृष्टि नहीं हो।

“न असन्तं आतिथ्याय आद्रियन्ते” (मैत्रायणी संहिता) जो सन्त नहीं है, उसका आदर; अतिथि के रूप में नहीं करना चाहिए।

(२) उपकरण—सम्यग्दर्शन आदि के बढ़ाने वाले धर्मोपकरण देना चाहिए।

पूज्यपादाचार्य ने भी समन्तभद्राचार्य का अनुकरण करके अतिथि के लिए ज्ञान-शास्त्र देने की अपेक्षा उपकरण देने की बात लिखी है, यह विचारणीय पद है। इस पद से ध्वनित होता है कि श्रावक; अतिथि-साधु के लिए ऐसे उपकरण दें, जिनसे शास्त्र लिखे जा सकें, संयम के पालन हेतु पिच्छी उपकरण है, शौच का सहायक कमण्डलु उपकरण है।

प्राचीन काल में शास्त्र; ताड़पत्र पर लिखे जाते थे, ताड़पत्र भी विशेष विधि से ही वृक्ष से प्राप्त किए जाते थे, यह कार्य श्रावकों का ही होता था। ताड़पत्र पर लिखने के लिए लोहे की नुकीली लेखनी होती थी, किन्तु वर्तमान में देखते ही देखते, शिक्षण पद्धति के साथ-साथ, लेखन, पठन-पाठन सभी के उपकरणों के स्वरूप भी बदल गए हैं, अतः जिनसे धर्म की वृद्धि हो, ऐसे उपकरण ही साधुओं को देना चाहिए।

(३) औषध—अतिथि की प्रकृति के अनुरूप योग्य औषध की व्यवस्था करना चाहिए।

(४) प्रतिश्रय अर्थात् आवास—परम धर्म में श्रद्धापूर्वक निवास-स्थान भी देना चाहिए।

प्राचीन काल में श्रेष्ठ श्रावक; साधुओं को ठहराने के लिए नगरोद्यान आदि बनाते थे, जिन्हें नसिया आदि कहते हैं पुनः साधुओं को रुकने के लिए धर्मशाला आदि बनवाने लगे, किन्तु अर्थ लिप्सा के युग में धर्मस्थानों पर, साधुओं को ठहरने नहीं देते, दुकान बनाकर किराये पर देते हैं, धर्मशाला आदि सामाजिक रीति रिवाजों की पूर्ति करने में भरी रहती हैं।

कुछ स्वार्थी लोग; साधुओं के निमित्त आश्रम आदि बना तो लेते हैं, किन्तु जिन साधुओं से उनके स्वार्थ की पूर्ति, मान्यताओं पुष्टि नहीं होती, वे श्रावक उन; साधुओं को ठहरने नहीं देते हैं, अतः अतिथि संविभागव्रत पालन करने वाले श्रावक को; साधु-त्यागी-व्रतियों के प्रति आदर-सत्कार पूर्वक आश्रय देकर अपने आपको धन्यभाग्य समझना चाहिए।

जिज्ञासा—सूत्र में जो “च” पद आया है, इस “च” शब्द से गृहस्थ इन सात शीलों को पालने के अतिरिक्त कुछ और भी करने वाला होता है। वह गृहस्थ क्या करने वाला होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

सूत्र उच्चारण—मारणान्तिकीं, सल्लेखनां, जोषिता ॥२२॥

सन्धि विग्रह—मारण-अन्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

सूत्रार्थ—तथा वह श्रावक; मारणान्तिक सल्लेखना का प्रीति पूर्वक सेवन करने वाला होता है।

लब्धार्थ—अपने परिणामों से प्राप्त हुयी आयु का, पाँच इन्द्रियों का और मन-वचन-काय; इन तीन बलों का; कारण विशेष के मिलने पर नाश होना मरण है।

उसी भव के मरण का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में मरण शब्द के साथ में “अन्त” पद को ग्रहण किया है। मरण ही है जिसका अन्त, वह मरणान्त है और जिसका यह मरणान्त ही प्रयोजन है, वह मारणान्तिकी कहलाती है।

अच्छे प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना अर्थात् कृष करना सल्लेखना है अर्थात् बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का; उत्तरोत्तर काय और कषायों को पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए; भले प्रकार से लेखन करना अर्थात् कृष करना सल्लेखना है।

मरण के अन्त में होने वाली इस सल्लेखना को प्रीति पूर्वक सेवन करने वाला गृहस्थ होता है, यह इस सूत्र का तात्पर्य है, क्योंकि मरण ही जिस व्रत का अन्त है, वह मारणान्तिक है। व्रतों का प्रारम्भ कषाय कृष करने से होता है और मरण पर्यन्त कषायों को कृष करते रहना चाहिए। काय कृष किसी विशेष परिस्थिति से प्रारम्भ होता है—*उपसर्गे-दुर्भिक्षे जरसि-रुजायां च निःप्रतिकारे। धर्माय तनु विमोचनमाहु सल्लेखनामार्या ॥ (रत्न०श्रा०)* यह काय सल्लेखना की व्यवस्था है। *अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते। तस्माद्यावद विभवं समाधिमरणे प्रयति तव्ययम् ॥ (रत्न०श्रा०)* काय सल्लेखना; यम और नियम के भेद से दो प्रकार की है। यह सूत्र गृहस्थों के लिए है। साधुओं के लिए व्युत्सर्ग तप ही समाधि की साधना है।

विशेषार्थ—सूत्र में “सेविता” के स्थान पर “जोषिता” पद लिया है, जिसका अर्थ है “प्रीति-पूर्वक सेवन करना”, क्योंकि प्रीति के न रहने पर बलपूर्वक सल्लेखना नहीं करायी जाती है। मरण दो प्रकार का है—(१) तद्भव मरण; (२) आवीचिमरण ! यहाँ पाँच इन्द्रिय, तीन बल एवं एक आयु; इन नौ प्राणों के वियोग को मरण कहा है, श्वासोच्छ्वास को छोड़ दिया है, क्योंकि श्वासोच्छ्वास आवीचिमरण है जो प्रति समय होता है, अतः उसे छोड़ दिया है।

सल्लेखना; आत्मघात नहीं है, क्योंकि सल्लेखना में प्रमाद का अभाव है, अतः इसमें रागादिक नहीं पाये जाते। राग-द्वेष और मोह से युक्त होकर जो विष-शस्त्र आदि उपकरणों का प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है, उसे आत्मघात का दोष प्राप्त होता है, किन्तु सल्लेखना को प्राप्त हुए जीव के रागादिक तो हैं नहीं, अतः इसे आत्मघात का दोष प्राप्त नहीं होता है।

मरण किसी को इष्ट नहीं है। जैसे-किसी व्यक्ति के घर में अचानक अग्नि लग जावे तो पहले उसे बुझाने का प्रयत्न करेंगे। यदि अग्नि बुझाना अशक्य दिखता है तो उसमें से अपनी कीमती वस्तु निकाल कर बचा लेता है। उसी प्रकार व्रत एवं शीलरूप धन के संचय में जुटा हुआ गृहस्थ भी उनके आधारभूत आयु आदि का पतन नहीं चाहता है फिर भी ऐसा उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा, रोग; जो प्रतिकार के अयोग्य हो तब अपने गुणों का नाश न हो, इस प्रकार का प्रयत्न करता है, अतः उसे आत्मघात का दोष नहीं है। संसार का प्रत्येक प्राणी सुख से जीना चाहता है एवं शान्ति से मरना चाहता है। शान्ति से मरण का नाम ही सल्लेखना है जो हर प्राणी को इष्ट है।

जिज्ञासा—व्रती; निश्चल्य होता है, ऐसा पूर्व सूत्र में कहा है, तीन शल्य में एक मिथ्यादर्शन शल्य भी है, अतः सम्यग्दृष्टि व्रती को शल्य रहित होना चाहिए। यदि ऐसा है तो सम्यग्दर्शन के शल्य या अतिचार क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र — शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टे- रतिचाराः ॥२३॥

सूत्र उच्चारण—शङ्का-काङ्क्षा-विचिकित्सान्य-दृष्टि-प्रशंसा-संस्तवाः, सम्यग्दृष्टे-रतिचाराः।
सन्धि विग्रह—शङ्का-आकाङ्क्षा-विचिकित्सा-अन्यदृष्टि-प्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः।

सूत्रार्थ—शङ्का, आकाङ्क्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव; ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

लब्धार्थ—सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों का कथन पहले कर आए हैं। प्रशंसा मन से होती है, संस्तव वचनों द्वारा होता है।

मिथ्यादृष्टि के ज्ञान और चारित्रिक गुणों का मन से उद्भावन करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है।

मिथ्यादृष्टि में जो गुण हैं या जो गुण नहीं हैं, इन दोनों का सद्भाव बतलाते हुए कथन करना अन्यदृष्टि संस्तव है।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं, किन्तु अतिचारों में तीन अङ्गों के विपरीत नाम हैं, बाकी पाँचों अङ्गों के विपरीत अङ्ग, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव; इन दो अतिचारों में मिल जाने से सम्यग्दृष्टि के पाँच ही अतिचार कहे हैं।

विशेषार्थ—वैसे तो अतिचार; व्रतों में लगते हैं, किन्तु सम्यक्त्व में अतिचार किस कारण से घटित होते हैं? सम्यग्दर्शन होने पर सम्यक्त्वाचरण होता है। सम्यक्त्वाचरण में सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष-आठ शङ्कादि दोष, आठ मद, छह अनायतन एवं तीन मूढता; इनका त्याग होता है, इन पच्चीसों में यदि शिथिलता आती है तो पाँच अतिचार ही गिने जावेंगे, अतः सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार घटित होते हैं।

अन्यदृष्टि प्रशंसा का अर्थ यह है कि मिथ्यादृष्टियों के प्रभाव को देखकर प्रभावित होना, जैसे किसी का क्षणिकवाद सर्वथा ठीक है, नियतवाद सर्वथा ठीक है; यह मिथ्या मत है, अतः क्षणिकवाद या नियतवाद को सर्वथा ठीक समझना या सोचना अतिचार है; चूँकि क्षणिकवाद, नियतवाद तो हम भी मानते हैं, क्योंकि द्रव्य; पर्यायदृष्टि से क्षणिक है एवं द्रव्यदृष्टि से नियत है, अतः उनके क्षणिक-नियतवाद को सर्वथा ठीक समझना या सोचना अतिचार है। अन्यदृष्टि संस्तव का अर्थ यह है कि मिथ्यादृष्टियों के मिथ्या सिद्धान्त-मत तथा विचारों की मुख से प्रस्तुति करना।

यदि कोई मिथ्यादृष्टि, लोकोपकारक कार्य करता है। जैसे-जीव रक्षा, औषधि वितरण, प्याऊ खोलना, गरीबों की सहायता करना आदि तो इन कार्यों की मन से या वचन से प्रशंसा-संस्तव करना दोषपूर्ण नहीं है।

जिज्ञासा—जैसे सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार कहे हैं, क्या उसी प्रकार पाँच अणुव्रतों एवं सात शीलव्रतों के भी अतिचार होते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥२४॥

सूत्र उच्चारण—व्रत-शीलेषु, पञ्च पञ्च, यथाक्रमम् ॥२४॥

सूत्रार्थ—व्रत और शीलों में क्रम से पाँच-पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—पाँच अणुव्रतों एवं सात शीलव्रतों के क्रमानुसार ही पाँच-पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—व्रत एवं शील; एक नहीं हैं, क्योंकि विशेष का ज्ञान कराने के लिए और व्रतों की रक्षा करने के लिए शील हैं, अतः यहाँ शील पद के ग्रहण करने से दिग्विरति आदि लिए जाते हैं।

जिज्ञासा—उपरि-उक्त सूत्र से क्रम प्राप्त, गृहस्थ के प्रकरणानुसार पाँच अणुव्रतों में से पहले अहिंसाणु व्रत के पाँच अतिचार कौन-कौन से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

सूत्र उच्चारण—बन्ध-वधच्छेदाति-, भारा-रोपणान्न-, पाननिरोधाः ॥२५॥

सन्धि विग्रह—बन्ध-वधच्छेद-अतिभार-आरोपण-अन्नपाननिरोधाः ॥२५॥

सूत्रार्थ—(१) बन्ध; (२) वध; (३) छेद; (४) अतिभार आरोपण; (५) अन्नपान निरोध; ये पाँच अहिंसा-अणुव्रत के अतिचार हैं।

लब्धार्थ—(१) बन्ध—किसी को अपने इष्ट स्थान में जाने से रोकने के कारण को बन्ध कहते हैं।

(२) वध—डण्डा, चाबुक और बेंत आदि से प्राणियों को मारना वध है।

(३) छेद—कान और नाक आदि अवयवों को भेदना छेद है।

(४) अतिभारारोपण—उचित भार से अतिरिक्त भार लादना अतिभारारोपण है।

(५) अन्नपान निरोध—गौ आदि के भूख-प्यास में विघ्नकर उनका अन्न-पान रोकना अन्नपान निरोध है।

विशेषार्थ—(१) किसी प्राणी को अपने इष्ट स्थान में जाने का भी अधिकार है फिर भी उसे; उस स्थान पर जाने से रोकना बन्ध है। जैसे—कोई व्रती; किसी व्रती या महाव्रती के पास जाने से रोकता है।

(२) यहाँ वध का अर्थ; प्राणों का घात नहीं लेना, क्योंकि इसका त्याग तो अहिंसाणु व्रत ग्रहण करते समय ही हो गया था, किन्तु यहाँ मात्र पीड़ारूप पीटना—मारना; वध नाम का अतिचार है।

(३) पशुओं को वश में करने हेतु—पहचान बनाने हेतु जो कान-नाक आदि का छेदना है; यह छेद नहीं बल्कि पीड़ारूप कान-नाक आदि छेदने का कार्य; छेद नाम का अतिचार है।

(४) पशुओं पर अथवा किसी भी प्राणी पर उसकी क्षमता से अधिक बोझ लादना; अतिभारारोपण है। जैसे—रिक्षा, ताड़ा आदि में क्षमता से अधिक भार लादना, नौकर-चाकरों को कम वेतन देना अथवा विश्राम के लिए समय न देना।

(५) पशुआदिकों को नियत समय पर अन्न-पान न देना; यह अन्नपान निरोध है।

ये पाँच अहिंसा अणुव्रत के अतिचार हैं।

जिज्ञासा—क्रम प्राप्त दूसरे सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्र-भेदाः ॥२६॥

सूत्र उच्चारण—मिथ्योपदेश-, रहोभ्याख्यान-, कूटलेखक्रिया-, न्यासापहार-, साकारमन्त्र-भेदाः ॥२६॥

सन्धि विग्रह —मिथ्या-उपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यास-अपहार-साकारमन्त्र-भेदाः ॥२६॥

सूत्रार्थ—(१) मिथ्योपदेश; (२) रहोभ्याख्यान; (३) कूटलेखक्रिया; (४) न्यासापहार; (५) साकार मन्त्र भेद; ये पाँच सत्य-अणुव्रत के अतिचार हैं।

लब्धार्थ—(१) मिथ्योपदेश—अभ्युदय (स्वर्ग) और मोक्ष की कारणभूत क्रियाओं में; किसी दूसरे को विपरीत मार्ग से लगा देना या मिथ्या वचनों द्वारा दूसरों को ठगना; मिथ्योपदेश है।

(२) रहोभ्याख्यान—स्त्री-पुरुष द्वारा एकान्त में किए गए आचरण विशेष का प्रकट कर देना; रहोभ्याख्यान है।

(३) कूटलेख क्रिया—दूसरे ने; न तो कुछ कहा और न कुछ किया तो भी अन्य किसी की प्रेरणा से उसने ऐसा कहा और ऐसा किया, इस प्रकार छल से लिखना; कूटलेख क्रिया है।

(४) न्यासापहार—धरोहर में चाँदी आदि को रखने वाला कोई उसकी संख्या भूलकर यदि उससे कमती लेने लगे तो “ठीक है” इस प्रकार स्वीकार करना न्यासापहार है।

(५) साकारमन्त्र भेद—अर्थवश, प्रकरणवश, शरीर के विकारवश या भ्रूक्षेप आदि के कारण दूसरे के अभिप्राय को जानकर डाह से उसका प्रकट कर देना; साकारमन्त्र भेद है। इस प्रकार ये सत्य-अणुव्रत के पाँच अतिचार जानना चाहिए।

विशेषार्थ—(१) मिथ्योपदेश—(१) दान, पूजा, शील, व्रत एवं उपवास आदि शुभ क्रियायें जो अभ्युदय का कारण हैं, इन क्रियाओं को पाप का कारण कहकर, उन्हें शुभ मार्ग से हटाना, तप आदि क्रियायें जो मोक्ष का कारण हैं, उन्हें कष्ट आदि का कारण बताकर; उन्हें तप आदि मार्ग से हटाना अथवा मिथ्योपदेश देकर दूसरों को ठगना; मिथ्योपदेश है।

प्रश्न—सत्याणु व्रती इस प्रकार मिथ्योपदेश का सहारा क्यों लेगा, इससे उसे क्या लाभ है ?

समाधान—संसार जीव रागद्वेष के वशीभूत होकर; व्रती बनने के बाद भी दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार कर सकता है। जैसे—किसी व्रती के स्त्री-पुत्र-मित्र आदि दान, पूजा आदि में प्रवर्तन कर रहे हैं, जिससे गृहस्थ-व्रती के व्यापार, आहार, धन आदि का व्यय अधिक हो रहा हो तब उस धन आदि को बचाने के कारण; उसे दूसरे विपरीत मार्ग में लगा देना अथवा यह व्यक्ति हमसे अच्छे व्रतों का परिपालन न कर पाये; ऐसा द्वेष के वशीभूत होकर उसे विपरीत मार्ग बता देना।

जैसा कि देखा जा रहा है कि स्वर्ग सुख को देने वाली; दान और पूजा की क्रियाओं में धन, समय एवं श्रम लगता है, लेकिन धन, समय और श्रम को बचाने के लिए दान, पूजा आदि की सामग्री का स्वरूप बदल देना। वर्तमान में कुछ पण्डित-विद्वान्, साधु-आचार्य भी ख्याति-पूजा-लाभ के वशीभूत होकर उसी मार्ग का अनुकरण कर रहे हैं।

तप; मोक्ष का कारण है, किन्तु राग के वशीभूत यदि यह पुत्र-मित्र आदि तप ग्रहण कर लेगा तो इस व्यापार-धन आदि सम्पदा का उपभोग कौन करेगा ? ऐसे अभिप्राय से अथवा यह व्यक्ति हमसे पहले मोक्ष न चला जावे, ऐसी द्वेष भावना से; विपरीत मार्ग में लगा देना पहला मिथ्योपदेश नाम का सत्याणुव्रत में अतिचार है।

(२) रहोभ्याख्यान—स्त्री और पुरुष द्वारा एकान्त में किये गए आचरण विशेष को प्रकट कर देने से, दूसरों को बताने या कहने से; एकान्त आचरण करने वाले स्त्री-पुरुष में या तो बदले की भावना भर जावेगी, जिससे वह भी तुम्हें दूषित करने का मौका खोजेगा अथवा आत्मग्लानि से स्वयं का भी घात कर सकता है, अतः विपदा कारक सत्य बोलना भी सत्याणुव्रत का दूसरा अतिचार; रहोभ्याख्यान है।

(३) कूटलेख क्रिया—परिग्रह की आसक्ति, ख्याति-पूजा-लाभ की भावना के वशीभूत होकर; झूठे लेख आदि लिखना। जैसे कि वर्तमान में कुछ विद्वान्-धर्माचार्य, धर्म का यथार्थ स्वरूप समझते हुए भी मिथ्या-बातों की पुष्टि; लेख-पत्रिका-पुस्तकों में छपवा रहे हैं। यह सत्याणुव्रत का तीसरा अतिचार; कूटलेखक्रिया है।

(४) न्यासापहार—अपनी ईमानदारी दिखाने के लिए धरोहर रखने वाले की भूल को स्वीकार करके अधिक धरोहर को कमती माँगने पर “ठीक है” कहकर वापिस देना, क्योंकि इस अतिचार में धरोहर रखने वाले की भूल है, किन्तु उसकी भूल को याद न दिलाकर उसकी भूल से बचे द्रव्य को झूठ बोलकर बचा लिया, अतः यह सत्याणुव्रत का नाम का चौथा अतिचार है।

(५) साकार मन्त्र भेद—लोभ के वश, प्रसङ्गवश, शरीर के सङ्केत के कारणभूत; किसी के गुप्त सङ्केत (कोड वर्ड) को समझकर, प्रतिशोध की भावना से उस गुप्त सङ्केत को प्रकट कर देना; साकार मन्त्र भेद है। इस साकार मन्त्र भेद में पर-साक्षी का, प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव होता है, इससे कभी व्यक्ति झूठा भी सिद्ध हो सकता है, अतः संक्लेश का कारण होने से पाँचवाँ साकार मन्त्र भेद भी सत्याणुव्रत का अतिचार है। इस प्रकार ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त तीसरे अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार कौन-से हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्तेनप्रयोगतदाहतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥

सूत्र उच्चारण—स्तेनप्रयोग-, तदाहतादान-, विरुद्धराज्यातिक्रम-, हीनाधिक-मानोन्मान-, प्रतिरूपक-व्यवहाराः ॥२७॥

सन्धि विग्रह — स्तेनप्रयोग-तद्-आहत-आदान-विरुद्धराज्य-अतिक्रम-हीन-अधिक-मान-उन्मान-प्रतिरूपक-व्यवहाराः ॥२७॥

सूत्रार्थ—(१) स्तेन प्रयोग; (२) तद् आहतादान; (३) विरुद्ध राज्यातिक्रम; (४) हीनाधिक मानोन्मान; (५) प्रतिरूपक व्यवहार; ये अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—(१) स्तेन प्रयोग—किसी को चोरी के लिए स्वयं प्रेरित करना या दूसरे के द्वारा प्रेरित कराना या चोरी करते हुये की अनुमोदना करना स्तेन प्रयोग है।

(२) तदाहतादान—अपने द्वारा अप्रयुक्त, असम्मत चोर के द्वारा लायी हुयी वस्तु का ले लेना तदाहतादान है।

(३) विरुद्ध राज्यातिक्रम—राज्यों में किसी प्रकार का विरोध होने पर मर्यादा का न पालना विरुद्ध राज्यातिक्रम है।

(४) हीनाधिक मानोन्मान—कमती माप-तौल से दूसरे को देना और बढ़ती माप-तौल से स्वयं लेना इत्यादि कुटिलता से लेन-देन करना हीनाधिक मानोन्मान है।

(५) प्रतिरूपक व्यवहार—शुद्ध वस्तु में अशुद्ध मिलाना अथवा पूर्ण अशुद्ध को शुद्धता बताकर—प्रतिरूप बनाकर कपटपूर्वक व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है।

विशेषार्थ—अचौर्याणुव्रती इस प्रकार के पाँच अतिचार क्यों लगाता है ?

(१) स्तेन प्रयोग—स्वयं ईमानदार बने रहें, अतः दूसरों को प्रेरित आदि करके ऐसा चोरी का कार्य कराता है। यह अचौर्याणुव्रत का पहला अतिचार स्तेन प्रयोग है।

(२) तदाहतादान—स्वयं ने न चोरी कराई, न चोरों को प्रेरित आदि किया, इस दोष से बचने के लिए चोरी की हुयी वस्तु कम कीमत में खरीद लेने के लोभ से तदाहतादान करता है। यह अचौर्याणुव्रत का दूसरा अतिचार तदाहतादान है, क्योंकि इसमें न्यायमार्ग को छोड़कर वस्तु ग्रहण की है।

(३) विरुद्ध राज्यातिक्रम—चोरादिकों से वस्तुओं को न खरीद कर राज्य में प्रतिषेधित वस्तुओं को खरीदना-बेचना विरुद्ध राज्यातिक्रम है। जैसे—इस राज्य की सस्ती वस्तु खरीद कर, दूसरे प्रतिषेधित राज्य में मँहगी बेचना या अन्य राज्य से सस्ती वस्तु खरीद कर स्वयं के राज्य में प्रतिषेधित वस्तु को मँहगी बेचना। अधिक लाभ के लिए सरकार का सेल टेक्स, इनकम टेक्स चोरी करना आदि अचौर्याणुव्रत का तीसरा अतिचार विरुद्ध राज्यातिक्रम है।

(४) **हीनाधिक मानोन्मान**—मान पद से प्रस्थ आदि मापने के बाँट और उन्मान पद से तराजु आदि तौलने के बाँट लिए जाते हैं, अतः वस्तुओं को देने वाले मानोन्मान को कम रखना तथा वस्तुओं को लेने वाले मानोन्मान को अधिक रखना। ऐसा करने से ग्राहक समझता है सेठ जी सस्ती वस्तु दे रहे हैं। विक्रेता समझेगा सेठ जी वस्तु का दाम अधिक दे रहे हैं। इससे पकड़े जाने पर; अपमान-अनादर होता है। यह अचौर्याणुव्रत का चौथा अतिचार हीनाधिक मानोन्मान है।

(५) **प्रतिरूपक व्यवहार**—असली वस्तुओं के नाम पर नकली वस्तु बेचना अथवा असली वस्तुओं में नकली वस्तुओं की मिलावट करना। जैसे—नकली चाँदी, नकली सोना। धनिया में घोड़े की लीद मिलाना, देशी घी में चर्बी-तेल आदि मिलाना, नकली दूध बनाना, मावा-खोआ में मिलावट करना आदि। यह अचौर्याणुव्रत का पाँचवाँ अतिचार प्रतिरूपक व्यवहार है।

इस प्रकार ये अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त चौथे ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा-
कामतीव्राभिनिवेशः ॥२८॥**

सूत्र उच्चारण—परविवाह-करणे-त्वरिका-, परिग्रहीता-ऽपरिग्रहीता-, गमन-नङ्ग-क्रीडा-,
कामतीव्राभि-निवेशः ॥२८॥

सन्धि विग्रह—परविवाह-करण-इत्वरिका-परिगृहीता-अपरिगृहीता-गमन-अनङ्ग-क्रीडा-
कामतीव्र-अभिनिवेशः ॥२८॥

सूत्रार्थ—(१) परविवाहकरण; (२) इत्वरिका परिगृहीता गमन; (३) इत्वरिका अपरिगृहीता गमन; (४) अनङ्गक्रीडा; (५) कामतीव्राभिनिवेश; ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—(१) परविवाहकरण—कन्या का ग्रहण करना विवाह है। इसके अलावा अन्य किसी का ग्रहण करना परविवाहकरण है।

(२) **इत्वरिका परिगृहीता गमन**—जिसका स्वभाव अन्य पुरुषों के पास आना-जाना हो, वह इत्वरिका कहलाती है। इत्वरिका अर्थात् अभिसारिका। इसमें जो आचरत होती है, वह इत्वरिका कहलाती है। जिसका कोई एक पुरुष भर्ता (पति) है, वह परिगृहीता कहलाती है, ऐसी स्त्री के साथ गमन अर्थात् संसार सुख भोगना; इत्वरिका परिगृहीता गमन है।

(३) **इत्वरिका अपरिगृहीता गमन**—जो स्त्री; वेश्या या व्यभिचारिणी होने से दूसरे पुरुषों के पास आती-जाती है और जिसका कोई स्वामी (पति) नहीं है, ऐसी स्त्री के साथ गमन अर्थात् संसार सुख भोगना; इत्वरिका अपरिगृहीता गमन है।

(४) **अनङ्गक्रीडा**—यहाँ अङ्ग शब्द का अर्थ; प्रजनन (लिङ्ग) और योनि है। इनके सिवा अन्यत्र क्रीडा करना अनङ्गक्रीडा है।

(५) **कामतीव्राभिनिवेश**—काम विषयक बढ़ा हुआ परिणाम; कामतीव्राभिनिवेश है।

विशेषार्थ—पूज्यपादाचार्य ने कन्या के ग्रहण को विवाह कहा है, इससे सिद्ध होता है कि विधवा का विवाह नहीं होता है। यदि विधवा विवाह करती है या जो विधवा से विवाह करता है, वह कुल-जाति से दूषित-लोक निन्दित होने से जाति-कुल सङ्कर होंगे तथा इनसे उत्पन्न सन्तानें परम्परागत प्रदूषित मानी जाती हैं, अतः विधवा से विवाह कभी नहीं करना चाहिए।

स्वतन्त्र भारत देश के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू; विधवा विवाह, विजातीय विवाह के विरोधी थे, उन्होंने अपनी एक पुस्तक “नेहरू जी-अपनी ही भाषा में” में इसका उल्लेख किया है।

(१) **परविवाहकरण**—ब्रह्मचर्याणुव्रत के अनुसार ब्रह्मचर्याणुव्रतधारी व्यक्ति-स्वदारसन्तोष व्रतधारी-परस्त्रीगमन त्यागी होता है फिर भी अपनी कन्या या पुत्ररूप सन्तान का विवाह; वह कर सकता है, इसके अलावा वह अन्य किसी का विवाह नहीं कर सकता, न करा सकता है। यदि वह यह कार्य करता है तो उसके ब्रह्मचर्याणुव्रत में पहला अतिचार परविवाहकरण होगा।

(२) **इत्वरिका परीगृहीता गमन**—जो स्त्री; अपने पति से सन्तुष्ट नहीं होती, वह यहाँ-वहाँ अपनी कामवासना को शान्त करने के लिए भटकती है। उसे कल्पना होती है कि ब्रह्मचर्यधारी पुरुष से मेरी कामवासना शान्त हो सकती है, अतः ऐसी स्त्रियाँ; ब्रह्मचारी पुरुषों से मेल बढ़ाती हैं, कभी-कभी कुछ ब्रह्मचारी पुरुष भी उसकी अतृप्ति का; कमजोरी का फायदा, करुणाबुद्धि से उठाते हैं कि इसे तृप्त करने में मेरा क्या जाता है? यह भटकने से बच जावेगी, ऐसा सोच-विचार कर ब्रह्मचर्याणुव्रती; इत्वरिका परीगृहीता गमन नाम का दूसरा अतिचार लगा लेता है, किन्तु यदि वह निरन्तर उसे सेवन करने लगे तो उसका ब्रह्मचर्याणुव्रत भङ्ग हो जाता है। पर-पुरुष आसक्त स्त्रियाँ; अपना पति, धन-दौलत आदि नष्ट कर देती हैं।

(३) **इत्वरिका-अपरिगृहीता गमन**—वेश्या या व्यभिचारिणी स्त्री का सेवन; ब्रह्मचर्याणुव्रती क्यों करता है? जब उसने सप्तव्यसनों में वेश्यागमन एवं पर-स्त्री सेवन का त्याग कर दिया था फिर उसे इसकी आवश्यकता क्यों हुयी?

ब्रह्मचर्याणुव्रतधारी व्यक्ति; वेश्या या व्यभिचारिणी स्त्री का सेवन करने को मजबूर तब होता है जब स्वदार से संतुष्टी न हो, स्वदार अधिक समय से अस्वस्थ हो, स्वदार अधिक समय तक संयम पालन का नियम ले ले, स्वदार का अधिक समय का वियोग हो अथवा अधिक समय तक रूठी रहे; इन अनेक कारणों से ब्रह्मचर्याणुव्रत के धारक व्यक्ति का मन चलायमान हो सकता है, जिसके कारण ब्रह्मचर्याणुव्रती; वेश्या या व्यभिचारिणी स्त्री का सेवन करके, तीसरा इत्वरिका अपरिगृहीता गमन नाम का अतिचार लगा लेता है। हाँ; इनमें निरन्तर आसक्त होने से व्रतभङ्गी ही कहा जाता है।

(४) **अनङ्गक्रीड़ा**—काम सेवन के नये-नये प्रयोगों में अनङ्गक्रीड़ा आती है, यह प्रयोग चाहे स्वस्त्री में हो या परस्त्री में अथवा समलैङ्गिक जोड़ों में हो अथवा नपुंसक के साथ हो; सभी अनङ्गक्रीड़ा के रूप हैं। वर्तमान भौतिक वातावरण एवं प्रदूषित खान-पान से व्यक्ति इतना विषयासक्त हो गया है कि स्व-स्त्री-पुरुष भी अतृप्ति के कारण, लोक-लाज के कारण अपनी वासना शान्त करने के लिए अनङ्ग क्रीड़ा का सहारा लेते हैं। हस्तमैथुन, गुदामैथुन, मुखमैथुन, स्तनमैथुन आदि क्रियायें अनङ्गक्रीड़ा हैं। यह ब्रह्मचर्याणुव्रती का चौथा अनङ्गक्रीड़ा नाम का अतिचार है।

(५) कामतीव्राभिनिवेश—जब कामवासना अत्यन्त तीव्र हो जाती है, जिसे सामान्यरूप से शान्त नहीं किया जा सकता है, ऐसी कामवासना को शान्त करने के लिए कृत्रिम अङ्गों का सहारा लेता है, पशु-कुत्ता-सुअर-गधा-गधी-घोड़ा आदि पशुओं के साथ भी मैथुन कर्म में प्रयुक्त होना; कामतीव्राभिनिवेश है। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का पाँचवाँ कामतीव्राभिनिवेश नाम का अतिचार है। इनका निरन्तर सेवन व्यभिचार है, लोक निन्दित है।

विशेष—वर्तमान समय में भौतिक साधनों के कारण कामवासनायें अधिक बढ़ रही हैं, जिसके कारण एड्स जैसे रोग विश्व में फैल रहे हैं। समाजशास्त्री इस चिन्तन में हैं कि शिक्षा जगत में प्राकृतिक कामशास्त्र पढ़ाया जाये या नहीं? यदि कहें कि कामशास्त्र पढ़ाया जावे तो उसका मूल आधार क्या और कैसा हो? यदि कामशास्त्र नहीं पढ़ावें तो क्या-क्या विसङ्गतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं?

समाज शास्त्र के हिसाब से शिक्षा जगत में कामशास्त्र की बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि सूक्ष्म रीति से देखा जावे तो भगवान आदिनाथ ने गृहस्थ जीवन में अपनी दोनों पुत्री; ब्राह्मी-सुन्दरी एवं पुत्र बाहुबली को कामशास्त्र का उपदेश दिया था। जिस कामशास्त्र के उपदेश-शिक्षा को सुनकर ब्राह्मी और सुन्दरी; इन दोनों पुत्रियों ने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत अङ्गीकार कर लिया एवं बाहुबली रूपवान-सुन्दर तो थे ही, किन्तु इन्हें भी कामशास्त्र उपदेश-शिक्षा मिलने से भी वे कामदेव कहलाए।

दानशासन ग्रन्थ में महर्षि वासुपूज्य ने लिखा है कि विद्वान् पुरुष; कामक्रीड़ा का वर्णन “एला” राग में करते हैं। रत्नाकर वर्णी ने भरतेश वैभव ग्रन्थ में भरतचक्रवर्ती की शैव्यागृह सन्धि में काम-क्रीड़ा का सुन्दर चित्रण खींचा है। तिरुवल्लुवराचार्य ने कुरल काव्य ग्रन्थ के एक-सौ आठ अध्याय के बाद; लगभग तैत्तिरीय अध्यायों में स्त्री-पुरुषों के प्रेम प्रसङ्गों का मार्मिक चित्रण किया है। वात्सायन ऋषि का कामसूत्र; साहित्य-शिक्षा जगत में प्रसिद्ध है। द्वादशाङ्ग के सूत्रकृताङ्ग में कामशास्त्र का कथन है। (ज०ध०पु० १; पृ० ११२)

आयुर्वेद शास्त्र-चिकित्सा शास्त्रों में, नीति शास्त्रों में इन सबका उल्लेख भरा पड़ा है, जरूरत है स्वस्थ मानसिकता की। महापुराण-आदिपुराण के रचयिता जिनसेनाचार्य ने माता मरुदेवी के शरीर के एक-एक अङ्ग का वर्णन काव्यात्मक शैली में किया है। उन आचार्य पर कुछ लोगों ने गलत आरोप लगाये तब उनसे राज्य सभा में सभी लोगों के सामने खड़े होकर; शृङ्गार रस सहित कामक्रीड़ा का वर्णन किया तो सुनने वाले लोग विकार-वासना से भर गए, किन्तु आचार्यदेव निर्विकार खड़े रहे।

कहने का तात्पर्य यह है कि वासना से अन्धे पुरुष को सही जानकारी होने पर भी नहीं सुधरते हैं, किन्तु मन्द कषायी, भद्र-परिणामी व्यक्तियों को सही जानकारी होने से वे गलत सङ्गति-शिक्षा से बचकर, धर्म-देश-समाज के उत्थान में कारण बन सकते हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त पाँचवें परिग्रह परिमाणानुव्रत के पाँच अतिचार कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्य* प्रमाणाति-
क्रमाः ॥२९॥**

* सिरिभूवल्लय ग्रन्थ में कुप्य के साथ भाण्ड पद भी आया है।

सूत्र उच्चारण — क्षेत्रवास्तु-, हिरण्यसुवर्ण-, धनधान्य-, दासीदास-, कुप्य प्रमाणातिक्रमाः

॥२९॥

सन्धि विग्रह — क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्य प्रमाण-अतिक्रमाः

॥२९॥

सूत्रार्थ—(१) क्षेत्र-वास्तु; (२) हिरण्य-सुवर्ण; (३) धन-धान्य; (४) दासी-दास; (५) कुप्य-
(भाण्ड) के प्रमाण का अतिक्रमण; ये परिग्रह-परिमाण अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—(१) धान्य पैदा करने का आधारभूत स्थान क्षेत्र है।

(२) मकान-भवन-महल-झोपड़ी आदि वास्तु है।

(३) जिससे रूप्य आदि का व्यवहार होता है, वह हिरण्य है।

(४) सुवर्ण; सोने के आभूषण आदि सुवर्ण हैं।

(५) धन से गाय-भैंस आदि पशु लिए जाते हैं।

(६) धान्य से चावल आदि अनाज लिए जाते हैं।

(७) दासी से स्त्री पर्याय की धाय, नौकरानी आदि लिए जाते हैं।

(८) दास से पुरुष वर्ग के चौकीदार, नौकर आदि लिए जाते हैं।

(९) कुप्य से रेशम, कपास और कोसा के वस्त्र तथा चन्दन आदि कुप्य कहलाते हैं।

(१०) विभिन्न प्रकार की धातु, लकड़ी, पत्थर, मिट्टी आदि के बर्तनों को भाण्ड कहते हैं।

विशेषार्थ—(१) क्षेत्र-वास्तु; (२) हिरण्य-सुवर्ण; (३) धन-धान्य (४) दासी-दास; (५) कुप्य-
(भाण्ड); इनके विषय में मेरा इतना ही परिग्रह (ग्रहण करने योग्य) है, इससे अधिक नहीं, ऐसा प्रमाण
निश्चित करके लोभवश क्षेत्र-वास्तु आदि के प्रमाण को बढ़ा लेना प्रमाणातिक्रम है। इस प्रकार ये
परिग्रह परिमाण अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

सूत्रकार एवं टीकाकारों ने भी “भाण्ड” पद को सूत्र एवं टीकाओं में नहीं लिया। सूत्र आदि में
“भाण्ड” पद न देने में हेतु निम्न हो सकते हैं—

(१) नौ प्रकार की वस्तुओं में व्यक्तिगत व्यवहार-स्वामित्व होता है। भाण्ड में व्यक्तिगत
स्वामित्व होना कठिन है। जैसे-कुप्य के साथ भाण्ड पद आना चाहिए, किन्तु वहाँ भाण्ड पद नहीं लिया,
क्योंकि व्यक्तिगत ओढ़ने-विछाने, पहनने आदि के वस्त्रों के उपयोग की गणना, आकार-प्रकार का
नियम करने से उन्हें अपने पास रखता है और अपने ही वस्त्रों का उपयोग करता है, किन्तु बर्तनों के
आकार-प्रकार की कोई सीमा नहीं होती है। जैसे-मिट्टी या धातु के; स्वयं के उपयोग में आने वाले
बर्तन सभी लोग प्रयोग करते हैं। जैसे-थाली, लोटा, गिलास, कटोरी, चम्मच आदि सुबह-शाम; रोज
एक-दूसरे से बदल जाते हैं, बदल सकते हैं, अतः भाण्ड पद सूत्र में नहीं लिया।

“भाण्ड” पद सूत्र में न लेने का; एक-दूसरा कारण भी हो सकता है कि जैसे-क्षेत्र और वास्तु
एक ही वर्ग के हैं, हिरण्य-सुवर्ण आदि भी सब एक-एक वर्ग से मेल खाते हैं, किन्तु कुप्य के साथ भाण्ड
का वर्ग नहीं बनता, अतः भाण्ड पद गौण कर दिया।

सूत्र में भाण्ड पद देने के हेतु-दूसरे प्रकार से विचार करने पर निष्कर्ष निकलता है कि जब परिग्रह के चौबीस भेद हैं, जिनमें चौदह अन्तरङ्ग एवं दश बहिरङ्ग के; तब दश प्रकार के बहिरङ्ग परिग्रह में भाण्ड भी परिग्रह है, ऐसा चरणानुयोग के ग्रन्थों में कथन मिलता है, अतः सूत्र में भाण्ड पद भी होना चाहिए।

सिरि भूवल्लय ग्रन्थ में कुमुदेन्दु आचार्य ने जिस तत्त्वार्थसूत्र को समाविष्ट किया है, उसमें भाण्ड पद दिया है। कुछ हिन्दी टीकाकारों ने भी सूत्र में “भाण्ड” पद लगा दिया है। निष्कर्ष यह भी निकलता है कि सूत्र में निम्न हेतुओं से भाण्ड पद होना चाहिए।

(१) भाण्ड; दस प्रकार के परिग्रह में एक परिग्रह है।

(२) प्रतिक्रमण में भी हिरण्य भाजनं वा स्वर्ण भाजनं वा आदि पदों से बर्तनों के प्रयोग के अतिचार लगे हों, वे मिथ्या हों ऐसा कहा जाता है।

(३) गृहस्थों में बर्तन संग्रह करने की प्रवृत्ति अधिक होती है।

(४) गृहस्थों में लड़ाई-झगड़े के कारण दहेज-बर्तन होते हैं।

कुप्य में वस्त्रों के साथ चन्दन क्यों ग्रहण किया? जैसे-वस्त्र आदि वनस्पति के अंश हैं, उसी प्रकार कीमती-चन्दन भी वनस्पति का अंश होने के कारण कुप्य में चन्दन ग्रहण किया।

जिज्ञासा—पाँच अणुव्रतों के अतिचार कहे, किन्तु क्रम प्राप्त सात शीलों के अतिचारों में से पहले दिग्विरमणव्रत के पाँच अतिचार कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

सूत्र उच्चारण—ऊर्ध्वाधस्-, तिर्यग्-व्यतिक्रम-, क्षेत्रवृद्धि-, स्मृत्यन्त-राधानानि ॥३०॥

सन्धि विग्रह—ऊर्ध्व-अधः-तिर्यग्-व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृति-अन्त-राधानानि ॥३०॥

सूत्रार्थ—ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान; ये दिग्विरमणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—दशों दिशाओं की जो मर्यादा निश्चित की हो उसका उल्लंघन करना अतिक्रम है। वह अतिक्रम तीन प्रकार का है—(१) ऊर्ध्वव्यतिक्रम; (२) अधोव्यतिक्रम; (३) तिर्यग्व्यतिक्रम; इसी के साथ (४) क्षेत्र वृद्धि; (५) स्मृत्यन्तराधान; इस प्रकार ये दिग्विरमणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—(१) ऊर्ध्वव्यतिक्रम—इनमें से मर्यादा के बाहर पर्वतादि पर चढ़ने से ऊर्ध्वव्यतिक्रम होता है। यह ऊर्ध्वव्यतिक्रम दिग्व्रत का पहला अतिचार है। (२) अधोव्यतिक्रम—कुआँ आदि में उतरने आदि से अधोव्यतिक्रम होता है। यह अधोव्यतिक्रम दिग्व्रत का दूसरा अतिचार है। (३) तिर्यक् व्यतिक्रम—तिरछे बिल आदि में; आठ दिशाओं में जाने से तिर्यक् व्यतिक्रम होता है। यह तिर्यक् व्यतिक्रम दिग्व्रत का तीसरा अतिचार है। (४) क्षेत्र वृद्धि—लोभ के कारण मर्यादा की हुई दिशा के बढ़ाने का अभिप्राय रखना क्षेत्रवृद्धि है।

अतिचारों के कारण—प्रमाद से अर्थात् मर्यादा का ध्यान न रखना और शौक में घूमने निकल गए, यह पहला कारण है। मोह से अर्थात् मर्यादा के बाहर हमारी वस्तु जाने से; उसे वापिस लाने के लिए गए, यह दूसरा कारण है। तीसरा कारण; व्यासङ्ग अर्थात् विशेष प्रसङ्ग में जानबूझकर मर्यादा के

बाहर जाना व्यासङ्ग है। चारों प्रकार के अतिचारों में व्यासङ्ग; युद्ध के कारण, दुर्भिक्ष के कारण, तीर्थयात्रा आदि के कारण हो सकता है। जैसे-देशव्रती; युद्ध में सैनिक है, लेकिन उसका किसी दूसरे देश की सीमा में जाने का; ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा, तिर्यक् दिशा में स्वयं का उस देश में जाने का त्याग है, किन्तु युद्ध में सैनिकरूप में इन चारों का प्रयोग करना व्यासङ्ग है अथवा सामान्यव्रतीश्रावक; अपने देश में भूकम्प, अतिवृष्टि-अनावृष्टि, महामारी आदि के विशेष प्रसङ्ग से चारों-मर्यादाओं को लाँघता है तो व्यासङ्ग हैं अथवा व्रती श्रावक; जल-थल-वायु मार्ग से ऐसे तीर्थक्षेत्र की यात्रा करना चाहता है, जहाँ से उसका मार्ग; की हुई मर्यादा से होकर निकलेगा, वह भी व्यासङ्ग है। जैसे; आज-कल कैलाश पर्वत की यात्रा का मार्ग है, वह वायुयान के द्वारा पाकिस्तान होकर जाता है, किन्तु किसी व्रती के पाकिस्तान जाने का त्याग है और कैलाश पर्वत जाता है तो यह व्यासङ्ग है। इसी तरह जल-थल आदि स्थानों में भी घटित कर लेना चाहिए। (५) स्मृत्यन्तराधान-दशों दिशाओं की मर्यादाओं की सीमाओं के कुछ-कुछ के प्रतीक चिन्ह अथवा सीमा-रेखा भूल जाना स्मृत्यन्तराधान नाम का पाँचवाँ अतिचार है।

जिज्ञासा—अब दूसरे देशव्रत के पाँच अतिचार कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

सूत्र उच्चारण—आनयन-, प्रेष्यप्रयोग-, शब्द-, रूपानुपात-, पुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

सूत्रार्थ—(१) आनयन; (२) प्रेष्यप्रयोग; (३) शब्द; (४) रूपानुपात; (५) पुद्गलक्षेप; ये दूसरे देशव्रत के पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—(१) **आनयन**—अपने द्वारा संकल्पित देश में ठहरे हुए पुरुष को; प्रयोजनवश किसी वस्तु को लाने की आज्ञा करना आनयन है।

(२) **प्रेष्यप्रयोग**—ऐसा करो; इस प्रकार काम में लगाना प्रेष्यप्रयोग है।

(३) **शब्दानुपात**—जो पुरुष किसी उद्योग में जुटे हैं, उन्हें उद्देश्य कर खाँसना आदि शब्दानुपात है।

(४) **रूपानुपात**—उन्हीं पुरुषों को अपने शरीर को दिखलाना रूपानुपात है।

(५) **पुद्गलक्षेप**—ढेला आदि फेंकना पुद्गलक्षेप है।

इस प्रकार ये देशविरमणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—(१) **आनयन**—इस अतिचार में व्रती व्यक्ति; मर्यादित-सीमा के बाहर की वस्तुयें; दूसरों को लाने की आज्ञा देता है, यह देशव्रत का आनयन पहला अतिचार है।

(२) **प्रेष्यप्रयोग**—इस अतिचार में व्रती व्यक्ति; मर्यादित-सीमा के बाहर, यहाँ की वस्तुयें वहाँ भेजता है, यह देशव्रत का प्रेष्यप्रयोग दूसरा अतिचार है।

(३) **शब्दानुपात**—इस अतिचार में व्रती व्यक्ति; मर्यादा के भीतर रहकर, मर्यादा के बाहर की न वस्तुयें मँगाता है, न वस्तुयें भेजता है, किन्तु मौखिक शब्द से किसी कार्य को करवाता है, यह देशव्रत का शब्दानुपात तीसरा अतिचार है। जैसे-दूध आ गया, पानी आ गया कह देना।

(४) **रूपानुपात**—मर्यादा में रहकर अपने शरीर की आकृति दिखाकर; अपने इष्ट कार्य को कराना रूपानुपात है, यह देशव्रत का रूपानुपात चौथा अतिचार है। जैसे—कोई व्यक्ति किसी वस्तु को लेने आया, उसे शरीर के अवयव; गर्दन, आँख, अँगुली, पैर आदि से संकेत करना।

(५) **पुद्गलक्षेप**—इस अतिचार में व्रती व्यक्ति; न तो शब्द करता है, न रूप दिखलाता है, किन्तु ढेला-कङ्कण, तिनका आदि के द्वारा सङ्केत करके कार्य करवाता है, यह देशव्रत का पुद्गलक्षेप है, यह देशव्रत का पाँचवाँ अतिचार है।

ये पाँचों अतिचार; स्थूल से सूक्ष्म की ओर लगाये जाते हैं। जैसे—किसी देशव्रती ने एक दिन का किसी दूसरे ग्राम न जाने का व्रत लिया; लेकिन उस ग्राम से किसी वस्तु को लाने का प्रसङ्ग बन गया तब उस ग्राम को स्वयं न जाकर, इस ग्राम से किसी अन्य व्यक्ति को भेजकर वस्तु मँगाना आनयन है।

इसी प्रकार मर्यादित देश से अमर्यादित देश में; किसी वस्तु को किसी व्यक्ति के द्वारा भेजना प्रेष्यप्रयोग है। इस प्रकार ये दो अतिचार पर-ग्राम सम्बन्धी हो सकते हैं।

कभी-कभी व्रती; कुछ समय; घण्टे-दो घण्टे के लिए, अपनी गली-गृह की भी मर्यादा कर लेता है कि मैं यहाँ इतने समय तक नहीं जाऊँगा, किन्तु इसी बीच में कोई काम; गली-गृह में आ गया तब उस काम को दूसरों से कराना शब्दानुपात, रूपानुपात एवं पुद्गलक्षेप; ये तीन अतिचार हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त तीसरे अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचार कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि
॥३२॥

सूत्र उच्चारण—कन्दर्प-, कौत्कुच्य-मौखर्या-, समीक्ष्याधि-करणोप-भोग-, परिभोगा-नर्थक्यानि
॥३२॥

सन्धि विग्रह—कन्दर्प - कौत्कुच्य - मौखर्य - असमीक्ष्य - अधिकरण - उपभोग - परिभोग - अनर्थक्यानि ॥३२॥

सूत्रार्थ—(१) कन्दर्प; (२) कौत्कुच्य; (३) मौखर्य; (४) असमीक्ष्याधिकरण; (५) उपभोग परिभोगानर्थक्य; ये अनर्थदण्ड विरति के पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—(१) **कन्दर्प**—रागभाव की तीव्रतावश हास्य मिश्रित असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है।

(२) **कौत्कुच्य**—परिहास और असभ्य वचन; इन दोनों के साथ दूसरे के लिए शारीरिक कुचेष्टायें करना कौत्कुच्य है।

(३) **मौखर्य**—धीठता को लिए हुए; निस्सार कुछ भी बकवास करना मौखर्य है।

(४) **असमीक्ष्याधिकरण**—प्रयोजन का विचार किए बिना; मर्यादा के बाहर अधिक काम करना असमीक्ष्याधिकरण है।

(५) **उपभोग परिभोगानर्थक्य**—उपभोग-परिभोग के लिए जितनी वस्तु की जरूरत थी; वह अर्थ है, उससे अतिरिक्त अधिक वस्तु रखना उपभोग परिभोगानर्थक्य है।

विशेषार्थ—अणुव्रती श्रावक; दिग्विरति-देशविरति व्रतों के पालन में जो सीमा के बाहर मन-वचन-काय के व्यापार को तो रोक लेता है, किन्तु प्रमाद अथवा राग विशेष के कारण सीमा के भीतर रहकर जो अनावश्यक कार्य; मन-वचन-काय को बहलाने के लिए करता है, वह सब अनर्थदण्डरूप है, अतः अनर्थदण्डविरति व्रत वाला श्रावक; इस व्रत में अतिचार कैसे लगाता है ? इसकी चर्चा की गयी है।

(१) **कन्दर्प**—बैठे-बैठे रागद्वेष को बढ़ाने वाले हँसी-मजाक वाले खोटे चुटकुले; सुनना-सुनाना कन्दर्प है।

(२) **कौत्कुच्य**—मुँह से हँसी मजाक करते हुए हाथ-पैर-आदि से किसी की नकल उतारते हुए-कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है।

(३) **मौख्य**—जहाँ हमारी बात सुनी नहीं जाती हो, मानी नहीं जाती हो अथवा हमें जहाँ पर बोलने का अधिकार नहीं हो, ऐसी जगह पर जबर्दस्ती बोलना मौख्य है।

(४) **असमीक्ष्याधिकरण**—शारीरिक जितनी क्षमता है, उसकी समीक्षा किए बिना शरीर की क्षमता से अधिक कार्य करना अथवा जितना कार्य जरूरी है, उससे भी अधिक कार्य करना असमीक्ष्याधिकरण है, ऐसा करने से या तो शरीर की शक्ति असमय में क्षीण होगी अथवा अधिक कार्य करने से कार्य की शुद्धता नहीं रहेगी, अतः असमीक्ष्याधिकरण नाम का अतिचार है।

(५) **उपभोग-परिभोगानर्थक्य**—भोग-उपभोग के प्रयोजन भूत सामग्री; अर्थ है, इससे अधिक वस्तु उपभोग-परिभोगानर्थक्य है। जैसे—श्राविकायें मेंहदी, उपटन आदि बनाती हैं, लेकिन आवश्यकता से अधिक बनाकर बर्बाद करती हैं। थाली में अधिक मात्रा में भोजन ले लिया, नहीं खाया गया झूठा छोड़ दिया; ऐसे ही सभी भोग-उपभोग की वस्तु का अनावश्यक संग्रह, निर्माण आदि उपभोग-परिभोगानर्थक्य नाम का अतिचार है।

इस प्रकार तीन गुणव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार कहे हैं।

जिज्ञासा—तीन गुणव्रतों के अतिचार कहने के बाद; अब चार शिक्षाव्रतों के अतिचार कहना चाहिए, उसमें भी जो पहले सामायिक शिक्षाव्रत है, उसके पाँच अतिचार कौन-से हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

सूत्र उच्चारण—योग-, दुष्प्रणिधाना-नादर-, स्मृत्यनुप-स्थानानि ॥३३॥

सन्धि विग्रह—योग-दुःप्रणिधान-अनादर-स्मृति-अन्-उप-स्थानानि ॥३३॥

सूत्रार्थ—(१) काययोग दुष्प्रणिधान; (२) वचनयोग दुष्प्रणिधान; (३) मनोयोग दुष्प्रणिधान; (४) अनादर; (५) स्मृति-अनुपस्थापन; ये सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—तीन प्रकार के योग—काय, वचन, मन; इन तीनों का बुरी तरह प्रयोग करना योग दुष्प्रणिधान है। उत्साह नहीं होना अनुत्साह है और वही अनादर है। एकाग्रता का न होना स्मृत्यनुपस्थान है।

विशेषार्थ—(१) **काययोग दुष्प्रणिधान**—शरीर का स्थिर-निश्चल न करना, आसनच्युत होना, इधर-उधर सरकना सो यह सामायिक व्रत का पहला अतिचार काययोग दुष्प्रणिधान है।

(२) वचनयोगदुष्प्रणिधान—सामायिक पाठ आदि ठीक-ठीक न बोलना, जल्दी पूरा करना, अशुद्ध बोलना, कुछ पाठ छोड़ देना आदि सामायिक व्रत का दूसरा अतिचार वचनयोग दुष्प्रणिधान है।

(३) मनोयोगदुष्प्रणिधान—मन स्थिर न रखना, आत्म चिन्तन के निमित्त जो चिन्तन करना चाहिए; वह न करके, खोटे-विषयों की चिन्ता करना आदि सामायिक व्रत का तीसरा अतिचारमनोयोग दुष्प्रणिधान है।

(४) अनादर—सामायिक करने में उत्साह नहीं होना अनादर है अथवा सामायिक के योग्य आवर्त-शिरोनति आदि नहीं करना सामायिक व्रत का चौथा अतिचार अनादर है।

(५) स्मरणानुपस्थान—सामायिक कब करना है? इस बात का स्मरण नहीं रखना सो स्मरणानुपस्थान कहलाता है, यह सामायिक व्रत का पाँचवाँ अतिचार स्मरणानुपस्थान है।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुप-स्थानानि ॥३४॥

सूत्र उच्चारण—अप्रत्यवेक्षिता-, प्रमार्जितोत्सर्गादान-, संस्तरोप-क्रमणा-नादर-, स्मृत्यनुप-स्थानानि ॥३४॥

सन्धि विग्रह—अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग-आदान-संस्तर-उपक्रमण-अनादर-स्मृति-अन्-उप-स्थानानि ॥३४॥

सूत्रार्थ—(१) अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमि में उत्सर्ग; (२) अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तु का आदान; (३) अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तर का उपक्रमण; (४) अनादर; (५) स्मृति-अनुपस्थान; ये प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—जीव है या नहीं; इस प्रकार आँख से देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है। कोमल उपकरण से जो प्रयोजन साधा जाता है, वह प्रमार्जित कहलाता है। छोड़ने योग्य क्रिया को उत्सर्ग कहते हैं। ग्रहण करने की क्रिया को आदान कहते हैं। प्रत्यवेक्षण से उल्टा; अप्रत्यवेक्षण कहलाता है। प्रमार्जित से उल्टा; अप्रमार्जित कहलाता है। इन दोनों पदों का उत्सर्ग आदि अगले तीन पदों से सम्बन्ध होता है, जिसमें आगे के शेष दो पदों को जोड़ने से प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार बन जाते हैं।

विशेषार्थ—(१) अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्ग—बिना देखी और बिना प्रमार्जित भूमि में मल-मूत्र का त्याग करना; अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्ग नाम का प्रोषधोपवास व्रत का पहला अतिचार है। इसका तात्पर्य यह है कि व्रती को फलश आदि में मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए।

(२) अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितादान—अरिहन्त और आचार्य की पूजा के उपकरण, गन्ध, पुष्प-माला, धूप आदि को तथा अपने पहनने आदि के वस्त्रादि पदार्थों को बिना देखे, बिना परिमार्जित किये हुए ले लेना; अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान नाम का प्रोषधोपवास व्रत का दूसरा अतिचार है। तात्पर्य यह कि परमेष्ठियों की पूजन सामग्री में जिस गन्ध, माला और धूप का प्रयोग बतलाया है, उसे देख-

शोधकर ग्रहण करना चाहिए अन्यथा अतिचार है, इसका अभिप्राय है कि भगवान् की पूजा में गन्ध, माला, धूप का माहात्म्य है, किन्तु कोई व्यक्ति प्रमादी होकर एक साथ गन्ध बनाकर रख ले एवं कई दिनों तक चढ़ाता रहे तो अतिचार है, यहाँ गन्ध का अर्थ परमेष्ठी के चरणों में चढ़ाया जाने वाला केशर-कर्पूर युक्त चन्दन; गन्ध कहलाता है। माला पद हमेशा पुष्प-माला की ओर ही सङ्केत करता है, यहाँ पर परमेष्ठी की पूजा में पुष्प के स्थान पर चढ़ाई जाने वाली फूल की माला है।

अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार ग्रन्थ में आस्रव तत्त्व की व्याख्या में जिनप्रतिमा की पूजा के लिए रखी गयी; गन्ध, माला एवं धूप की चोरी करना अशुभ नामकर्म के आस्रव में कारण लिखा है। चरणानुयोग के कई ग्रन्थों में पञ्चामृत अभिषेक एवं फल-फूल के द्वारा परमेष्ठी का पूजन करना लिखा है फिर भी प्रमादी, लोभी, अज्ञानी लोग इन सबका निषेध करते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने स्वयं स्वतन्त्ररूप से पञ्चामृत अभिषेक पाठ की रचना; कविता के रूप में की थी, इसी अभिषेक पाठ के श्लोकों पर प्रभाचन्द्राचार्य ने संस्कृत टीका भी लिखी है फिर भी लोग अज्ञान-प्रमाद एवं लोभ कषाय के वशीभूत होकर इन सबका निषेध करते हैं जो पाप बन्ध का महाकारण है। लगभग अठारह पञ्चामृतपाठ संस्कृत भाषा में मिलते हैं।

योगेन्दु देव ने अपने सावय धम्मदोहा में यहाँ तक कह दिया कि जो व्यक्ति; जिनेन्द्र प्रतिमा के अभिषेक को पाप का कारण मानता है, मानों उसने अपने सम्यक्त्व को ही नष्ट कर दिया है, अतः कभी आगमोक्त क्रिया-चर्या का निषेध नहीं करना चाहिए।

तत्त्वविचार सार (तत्त्व-वियारो सारो) ग्रन्थ, रचित-दिगम्बर जैनाचार्यश्री वसुनन्दी जी, जिसका हिन्दी अनुवाद-सम्पादन एवं संस्कृत छाया, आचार्यश्री विद्यासागर जी के परम शिष्य मुनिश्री मार्दवसागर जी ने किया है। उन्होंने अपनी सम्पादकीय एवं टीका में जिनाभिषेक के प्रकरण में पञ्चामृताभिषेक एवं सचित्त फल-फूल चढ़ाने का आगमिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पुरजोर समर्थन किया है। वर्तमान में आचार्यश्री के शिष्य, आगमनिष्ठ क्षुल्लकश्री ध्यानसागर जी भी उपरोक्त विधि का समर्थन एवं प्रचार आज भी कर रहे हैं, क्योंकि उन्होंने जैनागम को श्रद्धा पूर्वक स्वीकार किया है।

आचार्यश्री ज्ञानसागर जी द्वारा रचित जयोदय काव्य, पृ० ९१०, श्लोक ४८ में भगवान के चरणों में केशर लगाने का एवं पृ० ११११, श्लोक ६७ में भगवान के चरणों में कमल पुष्प चढ़ाने का प्रमाण है। मूकमाटी के रचयिता आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज ने मुनिराजों के पङ्गाहन की विधि में अनेक प्रकार के सचित्त हरे फलों का वर्णन किया है एवं मिट्टी के कलश को गुलाब पुष्प के द्वारा शृंगारित भी किया है। आचार्यश्री शान्तिसागर जी की माँ सत्यवती जी ने बालक सातगौडा के गर्भ में आने पर १००८ पत्र वाले कमल पुष्पों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा की थी। बरांग चरित्र के रचयिता जटासिंहनन्दी आचार्य एवं पद्मपुराण के रचयिता श्रीरविषेण आचार्य ने पञ्चामृत अभिषेक एवं उसके फल का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि पञ्चामृत अभिषेक काष्ठा संघ से आया है, किन्तु काष्ठा संघ के किसी भी आचार्य ने पञ्चामृत अभिषेक पाठ नहीं लिखे। वर्तमान में कुछ मनीषी विद्वान् एवं आचार्य-मुनियों का मानना है कि दिगम्बर जैन आचार्यों ने अभिषेक-पूजा की पद्धति; हिन्दू पूजा पद्धति के

आधार पर शास्त्रों में लिखी है। इस वाक्य पर हमारा कहना यह है कि जब सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों में अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव अतिचार है तब हमारे दिगम्बर जैनाचार्य अन्य मत की क्रिया को कैसे अपनाते ? यदि यह सिद्ध करते हो कि यह क्रिया अन्य मत से जैन धर्म में आयी है तब आपने; अपने आचार्यों को चोर बना दिया। भविष्य में अन्य मत के लोग आपकी बात से यह सिद्ध करेंगे कि देखो जैन विद्वान्-साधु कह रहे हैं, लिख रहे हैं कि जैन धर्म में अभिषेक पूजा पद्धति; हिन्दु धर्म से ली गयी है, अतः आपकी व्यक्तिगत मान्यता कुछ भी हो, किन्तु जैनाचार्यों पर दूषण लगाकर अपने सम्यक्त्व को प्रदूषित न करें।

विशेष—विश्व में जितने भी नाम मात्र के धर्म हैं, उनकी अपनी-अपनी पूजा पद्धति एक-सी हैं अर्थात् जिस धर्म में जिस इष्ट की जो पूजा की सामग्री है उसमें कोई फेर बदल नहीं है, झगड़ा नहीं है। जैसे—हिन्दुओं में; हनुमान जी का सिन्दूरी चोला। शंकर जी के; जल, पत्र, पुष्प। राम-श्याम जी का शृङ्गार आदि। बौद्ध में; चीवर, गन्ध, पुष्प, वर्क आदि। ईसाई में; पुष्प, गन्ध, प्रकाश आदि। मुस्लिम में; धूप-लोभान, गन्ध, पुष्प, इत्र, चादर आदि। श्वेताम्बर मूर्ति पूजक में; गन्ध, पुष्प, अँगिया आदि सब नियत हैं, किन्तु दिगम्बर जैनों में देखते ही देखते पूजा पद्धति के भेद से अनेक पन्थ बन गए जो कहाँ तक उचित हैं ?

(३) **अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जित संस्तरोपक्रमण**—बिना देखे और बिना परिमार्जित किये हुए प्रावरण-चादर आदि और संस्तर (विस्तर) का बिछाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण नाम का प्रोषधोपवास व्रत का तीसरा अतिचार है, क्योंकि व्रती; उपवास के कारण क्षीण शरीर होने से भोग-उपभोग की सामग्री का संशोधन ठीक से नहीं करता, अतः इस कार्य में प्रमाद होने से हिंसा होती है।

(४) **अनादर**—उपवास की भूख से पीड़ित होने के कारण आवश्यक कार्यों में उत्साह नहीं रहता, अतः अनादर नाम का चौथा अतिचार है।

(५) **स्मृत्यनुपस्थान**—किसी अच्छे कार्यों को क्रम से नहीं करना। जैसे—पहले पूजा फिर अभिषेक एवं शुभ कार्य करते समय एकाग्रता नहीं होना स्मृत्यनुपस्थान नाम का प्रोषधोपवास व्रत का पाँचवाँ अतिचार है। इस प्रकार प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार कहे हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त तीसरे शिक्षाव्रत—उपभोगपरिभोग—परिमाणव्रत के पाँच अतिचार कौन-से हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ॥३५॥

सूत्र उच्चारण—सचित्त-सम्बन्ध-, सम्मिश्राभिषव-, दुष्पक्वाहाराः ॥३५॥

सन्धि विग्रह—सचित्त-सम्बन्ध-सम्मिश्र-अभिषव-दुःपक्व-आहाराः ॥३५॥

सूत्रार्थ—(१) सचित्ताहार; (२) सम्बन्धाहार; (३) सम्मिश्राहार; (४) अभिषवाहार; (५) दुष्पक्वाहार; ये उपभोग-परिभोग अर्थात् भोगोपभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—जो चीजें-वस्तुयें बार-बार प्रयोग की जा सकें, वे उपभोग हैं। जैसे—वस्त्र-वाहन, मकान आदि।

जो चीजें-वस्तुयें एक बार में ही प्रयोग आकर उसकी जगह दूसरी ही वस्तु ली जावें, उसे भोग अथवा परिभोग कहते हैं। जैसे—भोजन-पानी आदि खाद्य वस्तुयें।

सचित्त शब्द के दो अर्थ हैं। पहला योनिभूत अर्थात् जिसमें जीव नहीं है, किन्तु निमित्त मिलने पर जीव की उत्पत्ति हो सकती है, अतः जो करणानुयोग में सचित्ताचित्त आदि नौ योनि के भेद कहे हैं, वे सब यहाँ घटित कर लेना चाहिए, क्योंकि सचित्त त्यागी श्रावक; योनिभूत वस्तु के सेवन करने का त्यागी होता है, उन्हें अचित्त करके अपने प्रयोग में लाता है।

यदि सचित्त का अर्थ मूलरूप से प्राणी लेंगे तब क्या कोई व्रती श्रावक; प्राणी को अचित्त करके खायेगा ? क्योंकि व्रती ने त्रस हिंसा का त्याग तो पहले कर दिया है और त्रस जीवों के कलेवर की मांस संज्ञा है, अतः यहाँ सचित्त का अर्थ योनिभूत द्रव्य लेना चाहिए, क्योंकि टीका में भी सचित्त का अर्थ चेतनवत् द्रव्य लिया है अर्थात् चेतन है नहीं, चेतन होने की सम्भावना है, ऐसे बीज-फल-फूल आदि। जैसे बीज में प्राणी नहीं हैं, किन्तु जीव की योनिभूतता है, अतः साबुत बीज को अचित्त अर्थात् योनिभूतता रहित करके सेवन करने का विधान आचार्यों ने किया है, अन्यथा व्रती के हिंसा-अहिंसा का प्रमाण भी समाप्त हो जावेगा।

विशेषार्थ—(१) सचित्त-आहार—जो चित्त सहित है, वह सचित्त कहलाता है। जैसे-छना हुआ जल, साबुत अनाज-फल आदि। जैसे-शुद्ध भोजन को सचित्र कमल-पत्र आदि पर रखकर स्वयं करना।

(२) सचित्तसम्बन्धाहार—उस सचित्त से उपसंसृष्ट उपश्लिष्ट है, जिसको पृथक् कर सकते हैं, संसर्ग मात्र से सहित है अथवा स्वयं शुद्ध होते हुए भी सचित्त के सम्बन्ध मात्र से दूषित है, वह सचित्तसम्बन्धाहार है।

(३) सचित्त-सम्मिश्राहार—सचित्त से व्यतिकीर्ण (एकमेक) सचित्त-सम्मिलित; सचित्त द्रव्याश्रित से मिश्रित, जिसको पृथक् करना शक्य नहीं है, वह सचित्त सम्मिश्राहार कहलाता है। कच्चे छने जल में पका गर्म जल मिलाना। सम्बन्ध और सम्मिश्र में पृथक् करना शक्य होना और पृथक् करना शक्य नहीं होना यही भेद है। शङ्का—व्रती गृहस्थ सचित्तादिक में प्रवृत्ति क्यों करता है ? समाधान—मोह और प्रमाद के कारण प्रवृत्ति करता है।

(४) अभिषव आहार—रात्रि के चतुर्प्रहर के क्लिन्न (भिगोए हुए) चावल; द्रव कहलाते हैं अर्थात् रात्रि में चार प्रहर तक गलाया या पकाया हुआ चावल आदि अन्न; द्रव कहलाता है। इन्द्रियों के बल का वृद्धिकारक-उड़द विकारादि वृष्य कहलाता है। जिस आहार से मानव; बैल के समान कामी होता है, ऐसा कामोत्पादक आहार वृष्य कहलाता है। वृष्य और द्रव्य; ये दोनों अभिषव कहलाते हैं। अभिषव के आहार को चौथा; अभिषवआहार कहते हैं।

(५) दुःपक्वाहार—जो ठीक तरह से पका नहीं है, वह दुःपक्व है। अर्द्धपक्व है, अति गीला हो जाने से दुष्पक्व है, जला हुआ है, उसे दुष्पक्व कहते हैं। उस दुःपक्व आहार को दुःपक्वाहार कहते हैं। इस वृष्य और दुष्पक्व आहार के सेवन करने से इन्द्रियों में मद की वृद्धि होती है तथा दुष्पक्वाहार से वातादि का प्रकोप उदर-पीड़ा आदि रोगों की उत्पत्ति होती है और उस रोग का प्रतिकार करने में सचित्त का उपयोग तथा अग्नि आदि के जलाने में महान् असंयम होता है, अतः इनका त्याग करना ही श्रेयस्कर है। आहार शब्द का प्रयोग सबके साथ करना चाहिए, अतः सचित्ताहार, सचित्त-सम्बन्धाहार, सचित्त-सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुष्पक्वाहार; ये पाँच उपभोग-परिभोग या भोगोपभोगपरि-संख्यान नामक शीलव्रत के अतिचार हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त चौथे शिक्षाव्रत; अतिथि संविभागव्रत के पाँच अतिचार कौन-से हैं ?
ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः॥३६॥

सूत्र उच्चारण—सचित्त-निक्षेपा-पिधान-, परव्यपदेश-मात्सर्य-, कालातिक्रमाः ॥३६॥

सन्धि विग्रह—सचित्त-निक्षेप-अपिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-काल-अतिक्रमाः ॥३६॥

सूत्रार्थ—(१) सचित्त निक्षेप; (२) सचित्त अपिधान; (३) परव्यपदेश; (४) मात्सर्य; (५) कालातिक्रम; ये अतिथिसंविभाग व्रत के पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—निक्षेप का अर्थ; रखना है तथा अपिधान का अर्थ; ढाँकना है। सचित्त का अर्थ यहाँ प्राणी सहित लेना, क्योंकि कमलपत्र, कदलीपत्र अथवा पलास पत्र; जिनके सहारे सूक्ष्म त्रस जीव रहते हैं, भोजन में इन पत्रों के उपयोग करने से जीव; विराधना को प्राप्त होंगे, क्योंकि पत्राधारित जीवों को धोने से, पौछने से भी उन्हें आधार न मिलने से मरण को प्राप्त होंगे, अतः भोजन को कमल-कदली-पलास पत्रों पर रखना अथवा उससे ढकना अतिचार है।

विशेषार्थ—(१) सचित्त-निक्षेप—सचित्त कमलपत्र आदि में भोजन आदि रखना, अतिथिसंविभाग व्रत का पहला अतिचार सचित्त-निक्षेप है।

(२) सचित्त-अपिधान—सचित्त कमल पत्र आदि से भोजन आदि को ढकना, अतिथिसंविभाग व्रत का दूसरा अतिचार सचित्त-अपिधान है।

(३) परव्यपदेश—इस दान की वस्तु का दाता अन्य है, यह कहकर देना, अतिथिसंविभाग व्रत का तीसरा अतिचार परव्यपदेश है।

(४) मात्सर्य—दान देते हुए भी आदर का न होना या दूसरे दाता के गुणों को न सह सकना, अतिथि-संविभाग व्रत का चौथा अतिचार मात्सर्य है।

(५) कालातिक्रम—भिक्षा काल के अतिरिक्त (छोड़कर) अन्य दूसरा काल; अकाल है और उसमें भोजन कराना, अतिथिसंविभाग व्रत का पाँचवाँ अतिचार कालातिक्रम है।

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राहार एवं सचित्तनिक्षेपापिधानाहार में क्या अन्तर है ? सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राहार का उपयोग व्रती; स्वयं के लिए करता है एवं सचित्तनिक्षेपापिधानाहार में व्रती; अतिथि के लिए प्रयोग करना है, यही दोनों में अन्तर है।

इस प्रकार क्रम से सात शीलव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार कहे।

जिज्ञासा—इस अध्याय के सूत्र संख्या बाइस में; व्रती प्रीति पूर्वक सल्लेखना का सेवन करने वाला होता है, ऐसा कहा था तब सल्लेखना के भी अतिचार होते हैं क्या ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जीवितमरणाशंसा मित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥

सूत्र उच्चारण—जीवित-मरणाशंसा-, मित्रानुराग-, सुखानुबन्ध-, निदानानि ॥३७॥

सन्धि विग्रह—जीवित-मरण-आशंसा-मित्र-अनुराग-सुख-अनुबन्ध-निदानानि ॥३७॥

सूत्रार्थ—(१) जीवित-आशंसा; (२) मरण-आशंसा; (३) मित्र-अनुराग; (४) सुख-अनुबन्ध; (५) निदान; ये सल्लेखना व्रत के पाँच अतिचार हैं।

लब्धार्थ—आशंसा का अर्थ; चाहना है। पांसु क्रीडन का अर्थ; चौपड़-जुआदि है।

(१) **जीविताशंसा**—जीने की चाह करना जीविताशंसा है।

(२) **मरणाशंसा**—मरने की चाह करना मरणाशंसा है।

(३) **मित्रानुराग**—पहले मित्रों के साथ पांसुक्रीडन आदि अनेक प्रकार की क्रीड़ायें की थीं, उनका स्मरण करना मित्रानुराग है।

(४) **सुखानुबन्ध**—अनुभव में आए हुए अनेक सुखों को बार-बार स्मरण करना सुखानुबन्ध है।

(५) **निदान**—भोगाकाङ्क्षा के जिसमें या जिसके कारण चित्त नियम से दिया जाता है, वह निदान है।

विशेषार्थ—सल्लेखना का नियम लेने के बाद; उस सल्लेखनाधारी व्रती के ये पाँच अतिचार किस कारण से लगते हैं, स्पष्ट करें ?

(१) **जीविताशंसा**—सल्लेखना का समय पूरा हो रहा हो, किन्तु सभी प्रकार की अनुकूलतायें पाकर पुनः सल्लेखना का समय अधिक बढ़ जावे, जिससे मैं कुछ समय तक और अधिक जी लूँ; ऐसी भावना करना, जीविताशंसा सल्लेखना व्रत का पहला अतिचार है।

(२) **मरणाशंसा**—सल्लेखना का समय अभी अधिक है, किन्तु पीड़ा-अपवाद आदि कारणों से समय पूर्व मरने की इच्छा करना, मरणाशंसा सल्लेखना व्रत का दूसरा अतिचार है।

(३) **मित्रानुराग**—सल्लेखना धारण करने के बाद; सल्लेखनाधारी अपने पूर्व मित्रों को याद करता है कि अरे ! अमुक मित्र मुझे देखने-मिलने नहीं आया, अब जाने के पहले एक बार तो उससे मिल लूँ, वह मेरा लँगोटिया यार था, चौपड़ आदि साथ खेलते थे, हमारी पढ़ाई, शादी, बच्चे आदि सभी उसके साथ-साथ हुए, उसे बुला दो, एक बार देख तो लें आदि, मित्रानुराग सल्लेखना व्रत का तीसरा अतिचार है।

(४) **सुखानुबन्ध**—अनुभव में आये हुए विविध इन्द्रिय सुखों को पुनः-पुनः याद करना, बतलाना कि हमें खाने-पीने, ओढ़ने-बिछाने, घूमने-फिरने में अमुक वस्तुयें पसन्द थीं, सुखानुबन्ध सल्लेखना व्रत का चौथा अतिचार है।

(५) **निदान**—सल्लेखना व्रतधारी व्यक्ति के व्रत होने से निःशल्य होना जरूरी है, किन्तु सल्लेखना के समय में किसी एक शल्य का अंश जागृत हो सकता है, अतः सूत्रकार एवं टीकाकार ने इसके अतिचार में मात्र निदान पद दिया, उसका विशेषण शल्य या बन्ध नहीं जोड़ा है, अतः इससे सिद्ध होता है कि निदान शल्य; सल्लेखना का अतिचार है अथवा मेरे अपने व्रतों का फल इस पदवी को देने वाला हो, यह निदान बन्ध अतिचार है। इस प्रकार सल्लेखना व्रत के पाँच अतिचार होते हैं।

जिज्ञासा—सोलह कारण भावना में शक्तितस्त्याग भावना में दान कहा; सात शीलों के अतिथिसंविभाग व्रत में दान का कथन किया, किन्तु दान का लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

सूत्र उच्चारण—अनुग्रहार्थं, स्वस्यातिसर्गो, दानम् ॥३८॥

सन्धि विग्रह—अनुग्रह-अर्थम् स्वस्य अतिसर्गः दानम् ॥३८॥

सूत्रार्थ—अनुग्रह—उपकार के लिए; अपने द्रव्य-धन का त्याग करना; दान है।

लब्धार्थ—स्वयं अपना और दूसरों का उपकार करना अनुग्रह है। दान देने से स्वयं का पुण्य संचय होता है, यह अपना उपकार है तथा जिन्हें दान दिया जाता है, उनके सम्यग्ज्ञान आदि की वृद्धि होती है, यह पर का उपकार है। सूत्र में आये हुए “स्व” शब्द का अर्थ; धन है।

विशेषार्थ—अनुग्रह—उपकार के लिए जो धन का अतिसर्ग—त्याग किया जाता है, वह दान है। धन के त्याग में भाव प्रधान होते हैं। जो त्यागरूप द्रव्य होता है, जिससे दूसरे को लाभ मिलता है, वह दान है। दान करने के भाव को त्याग कहते हैं।

जिज्ञासा—दान का लक्षण कहा, किन्तु दान में विशेषता किन कारणों से आती है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्-विशेषः ॥३९॥

सूत्र उच्चारण—विधि-द्रव्य-, दातृ-पात्र-विशेषात्-, तद्-विशेषः ॥३९॥

सूत्रार्थ—विधि, देयवस्तु, दाता और पात्र की विशेषता से उस दान की विशेषता है।

लब्धार्थ—प्रतिग्रह आदि करने का जो क्रम है, वह विधि है। विशेषता; गुणों से आती है, अतः विशेष शब्द को विधि आदि प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ लेना चाहिए। जैसे—विधि विशेष, द्रव्य विशेष, दाता विशेष और पात्र विशेष की अपेक्षा दान में विशेषता आती है।

सूत्रार्थ—विधि, देयवस्तु, दाता और पात्र की विशेषता से उस दान की विशेषता है।

विशेषार्थ—(१) विधि विशेष—नवधा भक्ति आदि विधि है, इस विधि में प्रतिग्रह आदिक में आदर और अनादर होने से जो भेद होता है, वह विधि विशेष है।

(२) **द्रव्य विशेष—**दान देने योग्य वस्तु-द्रव्य है, किन्तु जिससे तप और स्वाध्याय आदि की वृद्धि होती है, वह द्रव्य विशेष है।

(३) **दाता विशेष—**दान देने योग्य व्यक्ति-दाता है, किन्तु जिसमें अनसूया अर्थात् ईर्ष्या रहित अविषाद अर्थात् खेद रहित होना, दाता की विशेषता है।

(४) **पात्र विशेष—**दान लेने योग्य व्यक्ति-पात्र है, किन्तु मोक्ष के कारणभूत गुणों से युक्त रहना पात्र की विशेषता है।

जिस प्रकार पृथ्वी आदि में विशेषता होने से उससे उत्पन्न बीज में विशेषता आ जाती है। वैसे ही विधि आदिक की विशेषता से दान में विशेषता से प्राप्त होने वाले पुण्य फल में विशेषता आ जाती है। जो व्यक्ति; इन विधि विशेषों से दातार बनकर दान देता है, वह दान तीर्थकर बनता है।

वर्तमान में कुछ आचार्य-मुनि एवं विद्वान्; नवधा भक्ति आदि के स्वरूप को बदल रहे हैं जो प्राचीन आचार्यों के सूत्र से बाधित हैं, अतः श्रावकों को चाहिए कि अपने पुण्य कमाने-बढ़ाने वाले मार्ग को बन्द न करें।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) सप्तमोऽध्यायः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

जिज्ञासा—छटवें एवं सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व को आस्रव पदार्थ बनाकर कथन किया है। अब आगे बन्ध तत्त्व को बन्ध पदार्थ बनाकर व्याख्यान करना चाहिए, अतः पहले बन्ध किन कारणों से होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥

सूत्र उच्चारण—मिथ्यादर्शना-विरति-, प्रमाद-कषाय-योगा, बन्ध-हेतवः ॥१॥

सन्धि विग्रह—मिथ्यादर्शन-अविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्ध-हेतवः ॥१॥

सूत्रार्थ—(१) मिथ्यादर्शन; (२) अविरति; (३) प्रमाद; (४) कषाय; (५) योग; बन्ध के हेतु हैं।

लब्धार्थ—(१) मिथ्यादर्शन—सम्यग्दर्शन से विपरीत; मिथ्यादर्शन है। (२) अविरति—अहिंसा आदि विरति से विपरीत; अविरति है। (३) प्रमाद—अच्छे कार्यों के करने में आदर भाव नहीं होना; प्रमाद है। (४) कषाय—क्रोधादिक कषाय हैं। (५) योग—काय, वचन एवं मन; ये तीन योग हैं। इस प्रकार मिथ्यादर्शन आदि पाँच बन्ध के हेतु हैं।

विशेषार्थ—(१) मिथ्यादर्शन—यह दो प्रकार का है—१. नैसर्गिक; २. परोपदेशक।

(१) इसमें से जो परोपदेश के बिना; मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जीवादि तत्त्वार्थों का अश्रद्धान रूपभाव होता है, वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। (२) परोपदेश के निमित्त से होने वाला मिथ्यादर्शन चार प्रकार का है—१. क्रियावादी; २. अक्रियावादी; ३. अज्ञानी; ४. वैनयिक।

क्रियावादियों के एक-सौ अस्सी, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सड़सठ और वैनयिकों के बत्तीस भेद हैं अथवा मिथ्यादर्शन पाँच प्रकार का है—१. एकान्त; २. विपरीत; ३. संशय; ४. वैनयिक; ५. अज्ञानिक।

१. **एकान्त मिथ्यादर्शन**—यही है, इसी प्रकार का है, इस प्रकार धर्म और धर्मी में एकान्तरूप अभिप्राय रखना; एकान्त मिथ्यादर्शन है। जैसे—यह सब जग परम ब्रह्मरूप ही है या सब पदार्थ अनित्य ही हैं या नित्य ही हैं।
२. **विपरीत मिथ्यादर्शन**—सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, केवली को कवलाहारी मानना और स्त्री को मोक्ष होना मानना; विपर्यय मिथ्यादर्शन है।
३. **संशय मिथ्यादर्शन**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र; ये तीनों मिलकर क्या मोक्षमार्ग है या नहीं; इस प्रकार किसी एक पक्ष को स्वीकार नहीं करना; संशय मिथ्यादर्शन है।
४. **वैनयिक मिथ्यादर्शन**—सब देवता और सब मतों को एक समान मानना; वैनयिक मिथ्यादर्शन है।
५. **अज्ञानिक मिथ्यादर्शन**—हिताहित की परीक्षा से रहित होना; अज्ञानिक मिथ्यादर्शन है। जैसे—कुदेवों को जीवों की बलि आदि चढ़ाना।

(२) अविरति—छहकाय के जीवों की दया न करने से और छह इन्द्रियों के विषय भेद से अविरति बारह प्रकार की होती है।

(३) कषाय—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान आदि सोलह एवं हास्यादि नौ; इस प्रकार पच्चीस कषाय हैं।

(४) प्रमाद—शुद्धचष्टक—१. भाव शुद्धि अर्थात् मनशुद्धि; २. वचन शुद्धि; ३. काय शुद्धि; ४. विनय शुद्धि; ५. ईर्या शुद्धि; ६. भिक्षा शुद्धि; ७. शायनासन शुद्धि; ८. प्रतिष्ठापन शुद्धि; ये आठ शुद्धियाँ हैं एवं दशधर्म विषयक भेद से इन सबके पालन करने में उत्साह नहीं होने से प्रमाद अनेक प्रकार का है।

(५) योग—मन के चार, वचन के चार, काय के पाँच अथवा सात; इन सबका योग; तेरह अथवा पन्द्रह प्रकार का होता है।

इस प्रकार ये मिथ्यादर्शन आदि पाँचों अथवा पृथक्-पृथक् बन्ध के हेतु हैं। जैसे—मिथ्यादृष्टि जीव के पाँचों ही मिलकर बन्ध के हेतु हैं। सासादन, मिश्र, अविरति सम्यग्दृष्टि के अविरति आदि चार बन्ध के हेतु हैं। संयतासंयत के विरति और अविरति; ये दोनों मिश्ररूप तथा प्रमाद, कषाय और योग; ये बन्ध के हेतु हैं। प्रमत्तसंयत के प्रमाद, कषाय और योग; ये तीन बन्ध के हेतु हैं। अप्रमत्त-संयत आदि चार गुणस्थान में योग और कषाय; ये दो बन्ध के हेतु हैं। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय एवं सयोग-केवली के; एक योग ही बन्ध का हेतु है। अयोग-केवली के बन्ध का हेतु नहीं है।

जिज्ञासा—बन्ध के पाँच हेतु कहे, किन्तु बन्ध तत्त्व क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥२॥

सूत्र उच्चारण—सकषायत्वाज्-जीवः, कर्मणो योग्यान्, पुद्गलानादत्ते, स बन्धः ॥२॥

सन्धि विग्रह—सकषायत्वाज्-जीवः कर्मणः योग्यान् पुद्गलान्-आदत्ते स बन्धः ॥२॥

सूत्रार्थ—कषाय सहित होने से जीव; कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध तत्त्व है।

लब्धार्थ—कषाय सहित होने से “सकषाय” है। आयु के सद्भाव के कारण “जीव” है। “कर्मणः” यह हेतु परक निर्देश है, जिसका अर्थ है कि कर्म के कारण जीव; कषाय सहित होता है। इस कारण जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है। सूत्र में “पुद्गल” पद; कर्म के साथ तादात्म्य दिखलाने के लिए दिया है। इससे आत्मा के अदृष्ट गुण हैं, इस बात का निराकरण हो जाता है। सूत्र में “आदत्ते” पद कषाय और कर्म का ख्यापन करने के लिए दिया है अथवा कषाय; कारण है, कर्म; कार्य है, अतः “आदत्ते” पद से कारण-कार्य भाव ग्रहण किया है, क्योंकि बिना कारण; कार्य नहीं होता है।

इस कारण-कार्य भाव में मिथ्यादर्शन आदि के अभिनिवेशवश गीले किए गए आत्मा के सब अवस्थाओं में योगविशेष से उन सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्मभाव को प्राप्त होने योग्य पुद्गलों का उपलेश होना बन्ध है।

विशेषार्थ—इस सूत्र में प्रत्येक पद की महत्त्वता का वर्णन किया गया है। जैसे—कषाय सहित होने से “सकषाय” यह पद लिया है। कषाय सहित कौन है? इसके लिए “जीव” पद लिया है। “पुद्गल” पद; कर्मरूप संज्ञा को धारण करता है। “आदत्ते” पद; कारण-कार्यपद की सिद्धि करता है।

इस कार्य-कारण भाव के हेतु; पहले सूत्र में कहे गए मिथ्यादर्शन आदि के अभिनिवेश हैं, जिनके कारण बन्ध होता है।

जिस प्रकार पात्र विशेष में रखे गए; अनेक रस वाले बीज, फूल और फलों का मदिरारूप से परिणमन होता है। उसी प्रकार आत्मा में स्थित हुए पुद्गलों का भी योग और कषाय के निमित्त से कर्मरूप से परिणमन जानना चाहिए। सूत्र में “सः” पद से यह ही बन्ध है; अन्य और नहीं है।

जिज्ञासा—बन्ध के हेतु; बन्ध तत्त्व की परिभाषा का कथन तो किया, किन्तु बन्ध पदार्थ के कितने भेद हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्-विधयः ॥३॥

सूत्र उच्चारण—प्रकृति-, स्थित्यनुभव-, प्रदेशास्-, तद्-विधयः ॥३॥

सन्धि विग्रह—प्रकृति-स्थिति-अनुभव-प्रदेशाः तद्-विधयः ॥३॥

सूत्रार्थ—उस बन्ध पदार्थ के प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश; ये चार भेद हैं।

लब्धार्थ—(१) प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। (२) जिसका जो स्वभाव है, उससे च्युत न होना स्थिति है। (३) इन कर्मों के रस विशेष का नाम अनुभव है। (४) कर्म इतने हैं, प्रमाण का निश्चय करना प्रदेश है अर्थात् कर्मरूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेश बन्ध है।

विधि शब्द प्रकारवाची है। ये प्रकृति आदिक चार उस बन्ध के प्रकार हैं।

विशेषार्थ—(१) **प्रकृति बन्ध**—जिस प्रकार नीम की प्रकृति कड़वी है, गुड़ की प्रकृति मीठी है। उसी प्रकार इन कर्मों की प्रकृति है।

(१) ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति का कार्य; अर्थ (पदार्थ) का ज्ञान न होने देना है।

(२) दर्शनावरण कर्म की प्रकृति का कार्य; अर्थ (पदार्थ) का अवलोकन नहीं होने देना है।

(३) वेदनीय कर्म का कार्य; सुख-दुःख का संवेदन कराना है।

(४) तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होने देना; दर्शनमोह की तथा असंयम भाव; चारित्रमोह की प्रकृति है।

(५) भव धारण करना; आयु कर्म की प्रकृति है।

(६) उच्च और नीच स्थान का संशब्दन; गोत्र कर्म की प्रकृति है।

(७) नारक आदि; नामकर्म की प्रकृति है।

(८) दानादि में विघ्न करना; अन्तराय कर्म की प्रकृति है।

इस प्रकार का कार्य किया जाता है अर्थात् जिससे होता है, वह प्रकृति है। यह बन्ध का प्रथम भेद है।

(२) **स्थिति बन्ध**—जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध का माधुर्य स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है। उसी प्रकार से ज्ञानावरण आदि कर्मों का; अर्थ (पदार्थ) का ज्ञान न होने देना आदि स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है।

(३) **अनुभव (अनुभाग) बन्ध**—जिस प्रकार बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध का अलग-अलग; तीव्र-मन्द आदिरूप से रस विशेष होता है। उसी प्रकार कर्म पुद्गलों का अलग-अलग स्वगत सामर्थ्य विशेष होता है, वह अनुभव है अर्थात् इन कर्मों के रस विशेष का नाम अनुभव है।

(४) प्रदेश बन्ध—कर्म बन्ध के पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या प्रदेशबन्ध है।

जैसे—(१) औषधि की प्रकृति—स्वभाव (नेचर) है रोग दूर करना; यह है प्रकृति। (२) जब तक औषधि में रोग को दूर करने की सामर्थ्य (एक्सपायरी डेट) है, वह है स्थिति। (३) औषधि की रस विशेष (पोटेन्सी) है अनुभव। (४) औषधि का मात्रा (डोज) है प्रदेश।

आठों कर्मों के इन चार प्रकारों की हीनाधिकता के दो मुख्य कारण हैं—योग और कषाय। योग के निमित्त से प्रकृति बन्ध के साथ हीनाधिक प्रदेश बन्ध होता है तथा कषाय के निमित्त से हीनाधिक स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है।

योग; तेरहवें एवं कषाय; दसवें गुणस्थान तक होती है, अतः स्थिति और अनुभाग बन्ध; दसवें गुणस्थान तक एवं प्रकृति और प्रदेश बन्ध; तेरहवें गुणस्थान तक होता है। अयोग-केवली गुणस्थान में योग का अभाव है, इसलिए वहाँ किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता है।

जिज्ञासा—अब बन्ध के चार भेदों में से प्रथम प्रकृति बन्ध के कितने भेद हैं? इस बात का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥

सूत्र उच्चारण—आद्यो, ज्ञान-दर्शनावरण-, वेदनीय-मोहनीयायु-, नाम-गोत्रान्तरायाः ॥४॥

सन्धि विग्रह—आद्यः ज्ञान-दर्शन-आवरण-वेदनीय-मोहनीय-आयुः-नाम-गोत्र-अन्तरायाः ॥४॥

सूत्रार्थ—पहले अर्थात् प्रकृति बन्ध के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप आठ भेद हैं।

लब्धार्थ—पहले प्रकृति बन्ध के ज्ञानावरणादि आठ भेद हैं। जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है, वह आवरण कहलाता है।

विशेषार्थ—(१) ज्ञानावरण—जो कर्म; ज्ञान पर आवरण करता है, वह ज्ञानावरण कर्म है। जैसे—कपड़े के परदे से ढकी वस्तु आवरण के कारण दिखती नहीं है।

(२) दर्शनावरण—जो कर्म; दर्शन पर आवरण करता है, वह दर्शनावरण कर्म है। जैसे—चौकीदार-पहरेदार के कारण राजा का दर्शन नहीं हो पाता है।

(३) वेदनीय—जो वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदा जाता है, वह वेदनीय कर्म है। जैसे—शहद लपेटी तलवार चाँटने पर शहद का स्वाद मीठा होते हुए भी जिह्वा को काट देती है। वैसे ही सातावेदनीय-असातावेदनीय है।

(४) मोहनीय—जो मोहित होता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है, वह मोहनीय कर्म है। जैसे—शराब पीने से व्यक्ति; अपूज्य को पूज्य एवं पूज्य को अपूज्य कहता है या बना लेता है। जैसे—पत्नी को माँ या माँ को पत्नी कहता है, यह दर्शनमोहनीय कर्म का भाव है तथा वही शराबी व्यक्ति; भक्ष्य को अभक्ष्य या अभक्ष्य को भक्ष्य बनाकर सेवन करता है, यह चारित्रमोहनीय कर्म का भाव है।

(५) आयु—जिसके द्वारा नरकायु आदि भव को जाता है, वह आयु कर्म है। जैसे—जेल होने पर अपराधी को उतने समय तक हथकड़ी-बेड़ी पहनायी जाती है।

(६) नाम—जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है, वह नाम कर्म है। जैसे—चित्रकार; अनेक प्रकार के रङ्गों से सुन्दर-बेडौल आदि चित्र बनाता है।

(७) गोत्र—जिसके द्वारा जीव; उच्च-नीच कहा जाता है, वह गोत्र कर्म है। जैसे—कुम्भकार मिट्टी के छोटे-बड़े घड़े बनाता है।

(८) अन्तराय—जो दाता और देय आदि में अन्तर करता है अर्थात् बीच में आता है, वह अन्तराय कर्म है। जैसे—भण्डारी अथवा खजाज्वी; वस्तु होते हुए भी देने से मना कर देता है।

जिस प्रकार एक बार खाये गए अन्न का; रस-रुधिर आदिरूप से अनेक प्रकार का परिणामन होता है। उसी प्रकार एक आत्मपरिणाम के द्वारा ग्रहण किए गए पुद्गलस्कन्ध के परमाणु; ज्ञानावरणादि अनेक भेदों को प्राप्त होते हैं।

जिज्ञासा—प्रकृति बन्ध के आठ भेद कहे, किन्तु संसार के सभी जीव; उन कर्मों को आठ ही प्रकार से बन्ध करते हैं या उनमें कोई विशेषता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्-द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥५॥

सूत्र उच्चारण—पञ्च-नव-, द्व्यष्टाविंशति-चतु-, द्विचत्वारिंशद्-, द्वि-पञ्च-भेदा, यथाक्रमम्।
सन्धि विग्रह — पञ्च-नव-द्वि-अष्टाविंशति-चतुः द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पञ्च-भेदा यथाक्रमम्।

सूत्रार्थ—आठ मूल प्रकृतियों के अनुक्रम से; पाँच, नौ, दो, अट्ठाइस, चार, ब्यालीस, दो और पाँच भेद हैं।

लब्धार्थ—(१) ज्ञानावरण के पाँच; (२) दर्शनावरण के नौ; (३) वेदनीय के दो; (४) मोहनीय के अट्ठाइस; (५) आयु के चार; (६) नाम के ब्यालीस; (७) गोत्र के दो; (८) अन्तराय के पाँच भेद जानना चाहिए।

विशेषार्थ—यह सूत्र संख्यात्मक है, जिसमें मूल कर्म प्रकृतियों के क्रम से भेद बतलाये हैं, उन भेदों के संख्यात्मक उत्तर भेद कहे हैं।

जिज्ञासा—मूल ज्ञानावरण प्रकृति के पाँच उत्तर भेद संख्यात्मक कहे हैं, किन्तु उनके पाँच नाम कौनसे हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥६॥

सूत्र उच्चारण—मति-श्रुतावधि-, मनःपर्यय-, केवलानाम् ॥६॥

सन्धि विग्रह—मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय-केवलानाम् ॥६॥

सूत्रार्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान; इनको आवरण करने वाले कर्म; पाँच ज्ञानावरण हैं।

लब्धार्थ—इन पाँचों ज्ञानों की व्याख्या पहले अध्याय के सूत्र संख्या नौ में कर आये हैं।

विशेषार्थ—अभव्य जीव के भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा मनःपर्यय एवं केवलज्ञान की शक्ति पायी जाती है, किन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उसके व्यक्त करने का अभाव है, अतः भव्य जीव के व्यक्ति-शक्ति दोनों की अपेक्षा सद्भाव है, किन्तु अभव्य जीव के शक्ति की अपेक्षा सद्भाव एवं व्यक्ति की अपेक्षा अभाव कहा है, इससे अभव्य जीव के भी मनःपर्यय एवं केवलज्ञान शक्ति का सद्भाव होने

से उनके आवरण कर्म का सद्भाव पाया जाता है। जैसे-कनकपाषाण एवं अन्धपाषाण; कनकपाषाण से कनक को प्रक्रिया द्वारा पृथक् कर सकते हैं, किन्तु अन्धपाषाण में कनक रहते हुए भी उससे किसी भी प्रक्रिया से कनक अलग नहीं कर सकते हैं।

जैसे-कङ्कण मूंग-बठर मूंग; प्रेसर कुकर में सिझाने पर भी नहीं सीझती। वैसे ही अभव्य जीव को महाव्रतों का संयोग मिलने पर भी केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है।

जिस जीव को निमित्त मिलने पर सम्यग्दर्शन आदि व्यक्त हो जावे; वे भव्य हैं और जिसके व्यक्त नहीं हो तो अभव्य हैं।

जिज्ञासा—ज्ञानावरण की पाँच; उत्तर प्रकृति के भेद कहने के बाद; क्रम प्राप्त दर्शनावरण की नौ उत्तर प्रकृति के भेद-नाम कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यान-
गृह्यश्च ॥७॥**

सूत्र उच्चारण—चक्षु-रचक्षु-, रवधि-केवलानां, निद्रा-निद्रानिद्रा-, प्रचला-प्रचलाप्रचला-,
स्त्यानगृह्यश्च ॥७॥

सन्धि विग्रह—चक्षुः-अचक्षुः-अवधि-केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-
स्त्यानगृह्यः च ॥७॥

सूत्रार्थ—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन; इन चारों के चार आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला एवं स्त्यानगृह्य; ये पाँच निद्रादिक; ऐसे नौ दर्शनावरण हैं।

लब्धार्थ—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल का दर्शनावरण की अपेक्षा भेद निर्देश किया है। जैसे-चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण; ये चार कर्म आवरण की अपेक्षा यथाक्रम से अपने-अपने दर्शन के विषय को स्पष्ट नहीं होने देते हैं। इसी के साथ निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृह्य; इन पाँच को मिलाकर नौ दर्शनावरण के भेद हैं।

विशेषार्थ—(१) चक्षुदर्शनावरण—जिस कर्म के उदय से चक्षुदर्शन (चाक्षुषज्ञान से पहले होने वाला सामान्य अवलोकन) न हो सके, उसे चक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

(२) अचक्षुदर्शनावरण—जिस कर्म के उदय से अचक्षुदर्शन (चक्षु इन्द्रिय के सिवाय; शेष इन्द्रिय व मन से होने वाला सामान्य अवलोकन) न हो सके, उसे अचक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

(३) अवधिदर्शनावरण—जिस कर्म के उदय से अवधिदर्शन (अवधिज्ञान से पहले होने वाला सामान्य अवलोकन) न हो सके, उसे अवधिदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

(४) केवलदर्शनावरण—जिस कर्म के उदय से केवलदर्शन (केवलज्ञान के साथ होने वाला सामान्य अवलोकन) न हो सके, उसे केवलदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

(५) निद्रा—जिस कर्म के उदय का निमित्त पाकर मद-खेद श्रम-निवारक निद्रा आती है, उसे निद्रा कर्म कहते हैं।

(६) निद्रानिद्रा—जिस कर्म के उदय से निद्रा के ऊपर निद्रा आवे, उसे निद्रानिद्रा कर्म कहते हैं।

(७) **प्रचला**—जिस कर्म के उदय से प्रचला अर्थात् बैठे-बैठे नेत्रादिक में विकार करने वाली (अर्द्ध निद्रा-सी) आती है, उसे प्रचला कर्म कहते हैं।

(८) **प्रचलाप्रचला**—जिस कर्म के उदय से प्रचला के बाद; ऊपर प्रचला (जिसमें दाँत, आँठ, हाथ आदि चलायमान हों, लार बहे) उसे प्रचलाप्रचला कर्म कहते हैं।

(९) **स्त्यानगृद्धि**—जिस कर्म के उदय से स्त्यानगृद्धि (निद्रा में ही कोई भयङ्कर कार्य कर लिया जाए और जागने पर मालूम भी न हो, ऐसी निद्रा) आवे, उसे स्त्यानगृद्धि कर्म कहते हैं।

यहाँ दर्शनावरण कर्म के नौ भेद गिनाये हैं। दर्शन के कुल भेद चार हैं, इस अपेक्षा से प्रारम्भ के चार भेद गिनाये हैं। निद्रा आदि सामान्य कर्म हैं, जिनके होने पर चक्षु-अचक्षु आदि से दिखने वाली वस्तुयें भी आवृत हो जाती हैं, अतः इनके सामने आवरण पद लगा लेना चाहिए, क्योंकि निद्रा के आने पर निद्रा आवृत नहीं होती है। निद्रा के कारण वस्तुयें दिखना बन्द हो जाती हैं। संसारी जीव के; पहले दर्शनोपयोग होता है और ये निद्रादिक उस उपयोग में बाधक हैं, अतः निद्रादिक पाँच कर्मों की दर्शनावरण के भेदों में परिगणना की जाती है। इससे दर्शनावरण कर्म के नौ भेद सिद्ध होते हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त तीसरे वेदनीय कर्म की दो उत्तर प्रकृतियों के क्या नाम हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सदसद्वेद्ये ॥८॥

सूत्र उच्चारण—सद-, सद्वेद्ये ॥८॥

सन्धि विग्रह—सद-असद्वेद्ये ॥८॥

सूत्रार्थ—सातावेदनीय और असातावेदनीय; ये दो वेदनीय कर्म हैं।

लब्धार्थ—जिसके उदय से देवादि गतियों में शरीर और मन सम्बन्धी सुख की प्राप्ति होती है, वह सद्वेद्ये अर्थात् सातावेदनीय है। प्रशस्त वेद्ये अर्थात् अनुभव का नाम सद्वेद्ये है। जिसके फल स्वरूप अनेक प्रकार के दुःख अनुभव में आवे, वह असद्वेद्ये है। अप्रशस्त वेद्ये का नाम असद्वेद्ये है।

विशेषार्थ—यहाँ वेदनीय कर्म के जो दो भेद साता-असाता कहे हैं; वे जीव विपाकी कर्म हैं, क्योंकि जिसका फल जीव वेदन करे सो जीव विपाकी है। वेदनीय कर्म के उदय से जिस सुख-दुख का वेदन होता है, वह जीव में होता है, बाह्य सामग्री तो निमित्त मात्र है। सातावेदनीय के उदय से; जिस वस्तु के सेवन से सुख की अनुभूति हो रही हो, असातावेदनीय कर्म के उदय से; उसी वस्तु के सेवन से दुःख की अनुभूति होने लगती है।

कभी-कभी दुःखरूप सामग्री भी सातावेदनीय के उदय से सुखरूप प्रतीत होती है। जैसे-नरकों में घोर दुःख; द्रव्य-क्षेत्र-काल, भव एवं भाव निमित्तिक हैं, किन्तु सातावेदनीय के उदय को प्राप्त देव; उस दुःखरूप सामग्री में भी दुःखी नहीं होते हैं।

इसी प्रकार सुखरूप सामग्री भी असातावेदनी के उदय से दुःखरूप प्रतीत होती है। जैसे-बुखार के आने पर मीठा दूध; कड़वा लगने लगता है। गर्मी में पतले कपड़े एवं सर्दी में मोटे कपड़े भी दुःखरूप प्रतीत होते हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त चौथे मोहनीय कर्म की अट्टाईस उत्तर प्रकृतियों के नाम क्या हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः
सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभय-
जुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-
सञ्चलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥**

सूत्र उच्चारण — दर्शन-चारित्रमोहनीया-, कषाय-कषायवेदनीयाख्यास्-, त्रि-द्वि-, नव-षोडश-भेदाः, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-, तदुभयान्य-, कषाय-कषायौ, हास्य-रत्य-रति-शोक, भय-जुगुप्सा-, स्त्री-पुन्-नपुंसक-वेदा, अनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यान-, प्रत्याख्यान-सञ्चलन-, विकल्पाश्चैकशः, क्रोध-मान-माया-लोभाः ॥९॥

सन्धि विग्रह — दर्शन-चारित्रमोहनीय-अकषाय-कषायवेदनीय-आख्याः त्रि-द्वि-नव-षोडश-भेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तद्-उभयानि अकषाय-कषायौ-हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुं-नपुंसक-वेदा अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-सञ्चलन-विकल्पाः च-एकशः क्रोध-मान-माया-लोभाः ॥९॥

सूत्रार्थ—इस सूत्र अनुसार दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय; इनके संख्या क्रम से; तीन, दो, नौ एवं सोलह भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय अर्थात् सम्यङ्मिथ्यात्व; ये तीन दर्शनमोहनीय हैं। अकषायवेदनीय एवं कषाय वेदनीय; ये दो चारित्रमोहनीय हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद; ये नौ अकषायवेदनीय हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सञ्चलन; ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया और लोभ के चार-चार भेद से सोलह कषाय वेदनीय हैं।

लब्धार्थ—दर्शनमोहनीय आदि चार हैं और तीन आदिक संख्या भी चार हैं। इनका नाम के अनुसार क्रम से सम्बन्ध लगा लेना। जैसे-दर्शनमोहनीय तीन प्रकार की है—(१) सम्यक्त्व; (२) मिथ्यात्व; (३) तदुभय अर्थात् सम्यङ्मिथ्यात्व। चारित्रमोहनीय दो प्रकार की है—(१) अकषाय-वेदनीय; (२) कषाय-वेदनीय। अकषायवेदनीय नौ प्रकार की है। कषायवेदनीय सोलह प्रकार की है।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीय; बन्ध की अपेक्षा एक होकर भी सत्कर्म की अपेक्षा तीन प्रकार की है—(१) सम्यक्त्व; (२) मिथ्यात्व; (३) तदुभय-सम्यङ्मिथ्यात्व।

इन तीनों में से जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने में निरुत्सुक, हिताहित का विचार करने में असमर्थ; ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व-दर्शनमोहनीय है।

वही मिथ्यात्व जब शुभ परिणामों के कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता है और उदासीनरूप से अवस्थित रहकर आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता है, वह सम्यक्त्व है। इसका वेदन करने वाला पुरुष (आत्मा) सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

वही मिथ्यात्व; प्रक्षालन विशेष के कारण क्षीणाक्षीण मद-शक्ति वाले कोदों (धान्य विशेष; जो वर्षा ऋतु में उगता है, जितना पुराना होता है, उतना ही विशेष मद शक्ति वाला होता है) के समान अर्द्धशुद्ध स्वरस वाला होने से अर्द्धशुद्ध मदशक्ति वाले कोदों और ओदन के उपयोग से प्राप्त हुए मिश्र परिणाम के समान उभयात्मक परिणाम होता है।

चारित्रमोहनीय दो प्रकार की हैं—अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय।

(१) अकषायवेदनीय—किञ्चित्-थोड़ी कषाय को अकषाय कहते हैं। इसके नौ भेद हैं—

- (१) हास्य — जिसके उदय से हँसी आती है, वह हास्य है।
- (२) रति — जिसके उदय से देश (शरीर आदि के अङ्गों में या स्थान विशेष में) आदि में उत्सुकता होती है, वह रति है।
- (३) अरति — रति से विपरीत अरति है।
- (४) शोक — जिसके उदय से इष्ट-अनिष्ट जन्य शोक होता है, वह शोक है।
- (५) भय — जिसके उदय से उद्वेग होता है, वह भय है।
- (६) जुगुप्सा — जिसके उदय से आत्मदोषों का संवरण और परदोषों का आविष्करण होता है, वह जुगुप्सा है।
- (७) स्त्रीवेद — जिसके उदय से स्त्री सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है, वह स्त्रीवेद है।
- (८) पुरुषवेद — जिसके उदय से पुरुष सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है, वह पुरुषवेद है।
- (९) नपुंसकवेद — जिसके उदयसे नपुंसक सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है, वह नपुंसकवेद है।

(२) कषायवेदनीय—जो समीचीन श्रद्धा के अनुकूल सम्यक् चारित्र के होने में बाधक कर्म है, वह कषाय वेदनीय-चारित्रमोहनीय है। इसके सोलह भेद हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन, इनमें प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ; ये चार-चार भेद हैं।

- (१) अनन्तानुबन्धी—अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन; अनन्त कहलाता है तथा जो कषाय; मिथ्यात्व की अनुबन्धी हैं, वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।
- (२) अप्रत्याख्यान—प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है और जिसके प्रत्याख्यान नहीं है सो अप्रत्याख्यान है अर्थात् जिनके उदय से जिसका दूसरा नाम संयमासंयम है, ऐसी देशविरति को यह जीव; थोड़ा भी करने में समर्थ नहीं होता है, वे देश प्रत्याख्यान को आवृत करने वाले; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।
- (३) प्रत्याख्यान—जिनके उदय से सकलसंयम नाम वाली परिपूर्ण विरति को यह जीव करने में समर्थ नहीं होता है, वे सकल प्रत्याख्यान को आवृत करने वाले; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।
- (४) संज्वलन—सं-एकीभाव अर्थ में रहता है, संयम के साथ अवस्थान होने में एक होकर जो ज्वलित होते हैं अर्थात् चमकते हैं या जिसके सद्भाव में एक होकर जो ज्वलित होते हैं अर्थात् चमकते हैं या जिसके सद्भाव में संयम चमकता है, वे संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।

इस तरह दर्शनमोहनीय की तीन एवं चारित्रमोहनीय की पच्चीस; सब मिलकर मोहनीय कर्म की अट्ठाइस उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त पाँचवें आयु कर्म की चार उत्तर प्रकृतियों के नाम क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥१०॥

सूत्र उच्चारण—नारक-तैर्यग्-योन-, मानुष-दैवानि ॥१०॥

सूत्रार्थ—नरकायु, तिर्यज्यायु, मनुष्यायु, देवायु; ये चार आयु कर्म हैं।

लब्धार्थ—नारक आदि गतियों में भव के सम्बन्ध से आयु कर्म का नामकरण किया जाता है। जैसे-नरकों में होने वाली नारक आयु है। तिर्यज्व योनि में होने वाली तैर्यग्योन आयु है। मनुष्यों में होने वाली मानुष आयु है। देवों में होने वाली देवायु है।

अति शीत-उष्ण वेदना वाले नरकों में जिसके निमित्त से दीर्घ जीवन होता है, वह नरक आयु है। इसी प्रकार से उनके सुख-दुख के अनुसार अन्य आयु भी जानना चाहिए।

विशेषार्थ—दस प्राणों में आयु प्राण मुख्य है, यह जीवित रहने का सर्वोत्कृष्ट निमित्त माना गया है। इसके सद्भाव में प्राणी का जीवन है और इसके अभाव में वह मरा हुआ माना जाता है। अन्नादिक तो आयु को कायम रखने में सहकारी मात्र है। भव धारण करने का प्रमुख कारण आयु कर्म है, ऐसा समझना चाहिए।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त छठवें नामकर्म की ब्यालीस उत्तर प्रकृतियों के नाम क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र — गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्श-
रसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः
प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्ति-
सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११॥**

सूत्र उच्चारण — गति-जाति-, शरीराङ्गोपाङ्ग-, निर्माण-बन्धन-सङ्घात-, संस्थान-संहनन-, स्पर्श-रस-गन्ध-, वर्णानुपूर्व्या-, गुरुलघूपघात-, परघाता-, तपोद्योतोच्छ्वास-, विहायोगतयः, प्रत्येकशरीर-, त्रस-सुभग-, सुस्वर-शुभ-, सूक्ष्म-पर्याप्ति-, स्थिरादेय-, यशःकीर्ति-, सेतराणि, तीर्थकरत्वं च ॥११॥

सन्धि विग्रह — गति-जाति-शरीर-अङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बन्धन-सङ्घात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-आनुपूर्वी-अगुरुलघु-उपघात-परघात-आतप-उद्योत-उच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिर-आदेय यशःकीर्ति-स-इतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११॥

सूत्रार्थ—गति से लेकर विहायोगति तक इक्कीस नामकर्म की प्रकृतियाँ गिनना पुनः त्रस से लेकर यशःकीर्ति तक दश कर्म प्रकृतियाँ हैं, किन्तु सेतराणि पद से इन दसों की प्रतिपक्ष दश प्रकृतियाँ और भी हैं, इस प्रकार ये बीस प्रकृतियाँ हो गयीं। इन बीस प्रकृतियों में एक तीर्थकरत्व प्रकृति मिलाने से; ये भी इक्कीस नामकर्म की प्रकृतियाँ हो गयीं। पूर्वोक्त इक्कीस और ये इक्कीस; दोनों मिलाने से नामकर्म की ब्यालीस उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

लब्धार्थ—(१) गति; (२) जाति; (३) शरीर; (४) अङ्गोपाङ्ग; (५) निर्माण; (६) बन्धन; (७) संघात; (८) संस्थान; (९) संहनन; (१०) स्पर्श; (११) रस; (१२) गन्ध; (१३) वर्ण; (१४) आनुपूर्वी; (१५) अगुरुलघु; (१६) उपघात; (१७) परघात; (१८) आतप; (१९) उद्योत; (२०) उच्छ्वास; (२१) विहायोगति; ये इक्कीस प्रकृतियाँ तथा प्रतिपक्षभूत प्रकृतियों के सहित अर्थात् (२२) प्रत्येक शरीर एवं उसकी प्रतिपक्ष प्रकृति (२३) साधारण शरीर है। उसी प्रकार (२४) त्रस; (२५) स्थावर; (२६) सुभग; (२७) दुर्भग; (२८) सुस्वर; (२९) दुस्स्वर; (३०) शुभ; (३१) अशुभ; (३२) सूक्ष्म; (३३) बादर; (३४) पर्याप्ति; (३५) अपर्याप्ति; (३६) स्थिर; (३७) अस्थिर; (३८) आदेय; (३९) अनादेय; (४०) यशःकीर्ति; (४१) अयशःकीर्ति तथा (४२) तीर्थकरत्व; ये ब्यालीस नामकर्म के भेद हैं।

विशेषार्थ—(१) गति—जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है, वह गति है। गति चार प्रकार की हैं। तद्गत उनके गति नामकर्म हैं।

(२) जाति—उन नरकादि गतियों में जिस अव्यभिचारी सादृश्य से एकपनेरूप अर्थ की प्राप्ति होती है, वह जाति है। जाति पाँच प्रकार की हैं—एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक उनके जाति नामकर्म हैं। जैसे—एकेन्द्रिय जाति आदि।

(३) शरीर—जिसके उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है, वह शरीर नामकर्म है। वह शरीर नामकर्म; पाँच प्रकार का है। इसका व्याख्यान पहले कर आये हैं। जैसे—औदारिक शरीर कर्म आदि।

(४) अङ्गोपाङ्ग—जिसके उदय से शरीर में अङ्गोपाङ्ग भेद होता है, वह अङ्गोपाङ्ग नामकर्म है, वह तीन प्रकार का है—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक; इन तीनों के अङ्गोपाङ्ग होते हैं।

(५) निर्माण—जिसके निमित्त से परिनिष्पत्ति अर्थात् रचना होती है, वह निर्माण नामकर्म है। वह दो प्रकार का है—स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। वह जाति नामकर्म के उदय का अवलम्बन लेकर चक्षु आदि अवयवों के स्थान एवं प्रमाण की रचना करता है। यह नामकर्म; शरीर के वास्तुशास्त्र को बतलाता है।

(६) बन्धन—शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए पुद्गलों का अन्योन्य प्रदेश संश्लेष; जिसके निमित्त से होता है, वह बन्धन नामकर्म है।

(७) संघात—जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों की छिद्र रहित होकर परस्पर प्रदेशों के अनुप्रवेश द्वारा एकरूपता आती है, वह संघात नामकर्म है।

(८) संस्थान—जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों की आकृति बनती है, वह संस्थान नामकर्म है। वह छह प्रकार का है—१. समचतुरस्र संस्थान; २. न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान; ३. स्वाति संस्थान; ४. कुब्जक संस्थान; ५. वामन संस्थान; ६. हुण्ड संस्थान।

(९) **संहनन**—जिसके उदय से अस्थियों का बन्धन विशेष होता है, वह संहनन नामकर्म है। वह छह प्रकार का है—१. वज्रर्षभनाराच संहनन; २. वज्र-नाराच संहनन; ३. नाराच संहनन; ४. अर्धनाराच संहनन; ५. कीलक संहनन; ६. असम्प्राप्ता-सृपाटिका संहनन है।

(१०) **स्पर्श**—जिसके उदय से स्पर्श की उत्पत्ति होती है, वह स्पर्श नामकर्म है। वह स्पर्श आठ प्रकार का है—हल्का, भारी, ठण्डा, गरम, रूखा, चिकना, कड़ा, नरम।

(११) **रस**—जिसके उदय से रस में भेद होता है, वह रस नामकर्म है। वह रस पाँच प्रकार का है—खट्टा, मीठा, चर्परा, कडुआ, कषायला।

(१२) **गन्ध**—जिसके उदय से गन्ध की उत्पत्ति होती है, वह गन्ध नामकर्म है। वह गन्ध दो प्रकार का है—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

(१३) **वर्ण**—जिसके निमित्त से वर्ण में विभाग होता है, वह वर्ण नामकर्म है। वह वर्ण पाँच प्रकार का है—कृष्ण, नील, लाल, पीला, सफेद।

(१४) **आनुपूर्वी**—जिसके उदय से पूर्व शरीर के आकार का विनाश नहीं होता है, वह आनुपूर्वी नामकर्म है। वह आनुपूर्वी चार प्रकार का होता है—(१) नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी; (२) तिर्यञ्चगति प्रायोग्यानुपूर्वी; (३) मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी; (४) देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी। जैसे—अपराधी जब पकड़ा जाता है तब अपने घर के ही वस्त्र पहने जेल तक जाता है पुनः उसे जेल के वस्त्र पहनाये जाते हैं। वैसे ही मनुष्यगति से मरकर देवगति में जाने वाले जीव के देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म रहेगा, लेकिन उसका आकार मनुष्य शरीर का ही होगा। इसी प्रकार अन्य तीन में भी लगा लेना।

(१५) **अगुरुलघु**—जिसके उदय से लोहे के पिण्ड के समान गुरु होने से न तो नीचे गिरता है और न अर्कतूल के समान लघु होने से ऊपर जाता है, वह अगुरुलघु नामकर्म है।

(१६) **उपघात**—जिसके उदय से स्वयंकृत उद्बन्धन और मरुस्थल में गिरने आदि निमित्तिक; उपघात होता है, वह उपघात नामकर्म है अथवा स्वयं के अवयव स्वयं के घात के कारण बन जावें। जैसे—मकड़ी का जाल, बारहसिंहा के सींग, चमरीगाय की पूँछ, हरिण के लिए मरुस्थल की मृगमरीचिका आदि।

(१७) **परघात**—जिसके उदय से पर-शस्त्रादिक का निमित्त पाकर पर का व्याघात होता है, वह परघात नामकर्म है।

विशेष—सूत्र संख्या पच्चीस के अनुसार शुभ नामकर्म की सैंतीस कर्म प्रकृतियों में परघात नामकर्म की प्रकृति को शुभ नामकर्म में गिना गया है, किन्तु परघात नामकर्म की परिभाषा के अनुसार—जिसके उदय से परशस्त्र आदिक का निमित्त पाकर व्याघात होता है, वह परघात नामकर्म है। ऐसा जो परघात नामकर्म का लक्षण; शुभ कर्म प्रकृतियों में गिना है, उसमें परशस्त्र आदिक का अवलम्बन क्यों लिखा है ?

शस्त्रविहीन; पशु-पक्षी आदि बड़े नाखून, नुकीले-विषैले दाँत आदि के द्वारा दूसरों का घात; स्वयं की रक्षा के लिए करते हैं, इसीलिए इसे परघात नामकर्म की प्रकृति कहा जाता है अर्थात् स्वयं की रक्षा के उपकरण होने के कारण; बड़े नाखून, नुकीले-विषैले दाँत आदि के द्वारा परघात होता है। उसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि परघात की शक्ति स्वयं के पास होती है तभी स्वयं की रक्षा हो सकती है।

मांसाहारी प्राणियों को भोजन आदि के लिए भी बड़े नाखून एवं नुकीले-विषैले दाँतों की आवश्यकता होती है, जिससे वे अपनी भूख को शान्त करते हैं, अतः यह उनकी परघात नामकर्म की प्रकृति है।

मनुष्यों में स्वयं की रक्षा करने की शक्ति; शस्त्र आदि परद्रव्य के निमित्त से आती है, क्योंकि मनुष्यों के पास इतने बड़े, मजबूत नाखून एवं नुकीले-विषैले दाँत आदि नहीं होते हैं। उनके पास; पर-शस्त्र आदि से ही स्वयं की रक्षा करने की शक्ति आती है, अतः उसे परघात कहा जाता है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार करने से पर अर्थात् दूसरे शस्त्र आदि में भी परघात का आरोप किया जाता है, इसी लक्ष्य को सामने रखकर पूज्यपादाचार्य ने परशस्त्र आदि का निमित्त पाकर व्याघात करने को परघात नामकर्म कहा है।

स्वयं के परघात नामकर्म का उदय हो तब पर अर्थात् दूसरों के फलक, कवच आदि आवरण होने पर भी उनका घात होता है, वह परघात नाम कर्म है। (राजवार्तिक)

जिस प्रकार मृग को मरुस्थल; उपघात नामकर्म में कारण है, उसी प्रकार मनुष्यों को परशस्त्र आदि परघात नामकर्म में कारण है अर्थात् दूसरों को मारने में कारण है। यदि स्वयं के उपघात नामकर्म का उदय आता है तब स्वयं की रक्षा के लिए रखे गए शस्त्र, विष आदि भी अचानक-अबुद्धि पूर्वक स्वयं के घात के कारण बन जाते हैं। यह मनुष्य के उपघात नामकर्म की विशेषता है, लेकिन स्वयं के शस्त्र-विष आदि को योजना से बुद्धि पूर्वक स्वयं पर प्रयोग करने से आत्मघात कहा जाता है।

(१८) आतप—जिसके उदय से शरीर में आतप की रचना होती है, वह आतप नामकर्म है। वह सूर्य बिम्ब में होता है।

(१९) उद्योत—जिसके निमित्त से शरीर में उद्योत होता है, वह उद्योत नामकर्म है। वह चन्द्रबिम्ब, जुगुनु आदि में होता है।

(२०) उच्छ्वास—जिसके निमित्त से उच्छ्वास होता है, वह उच्छ्वास नामकर्म है।

(२१) विहायोगति—विहायस् का अर्थ आकाश है। उसमें गति का निर्वर्तक कर्म विहायोगति नामकर्म है। वह विहायोगति दो प्रकार की है—प्रशस्त, अप्रशस्त।

(२२) प्रत्येक शरीर—जिस शरीर नामकर्म के उदय से रचा जाने वाला जो शरीर जिसके निमित्त से एक आत्मा के उपभोग का कारण होता है, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है अर्थात् एक शरीर का; एक जीव स्वामी होता है।

(२३) साधारण शरीर बहुत आत्माओं के उपभोग का हेतुरूप होता है। साधारण शरीर जिसके निमित्त से होता है, वह साधारण शरीर नामकर्म है अर्थात् एक शरीर के स्वामी अनेक जीव हैं।

(२४) त्रस—जिसके उदय से द्वीन्द्रियादिक में जन्म होता है, वह त्रस नामकर्म है।

(२५) स्थावर—जिसके उदय से एकेन्द्रियों में जन्म होता है, वह स्थावर नामकर्म है।

(२६) सुभग—जिसके उदय से अन्य-जन प्रीतिकर अवस्था होती है, वह सुभग नामकर्म है।

(२७) दुर्भग—जिसके उदय से रूपादि गुणों से युक्त होकर भी अप्रीतिकर अवस्था होती है, वह दुर्भग नामकर्म है।

(२८) सुस्वर—जिसके उदय से मनोज्ञ स्वर की रचना होती है, वह सुस्वर नामकर्म है।

(२९) दुःस्वर—सुस्वर से विपरीत दुःस्वर नामकर्म है।

- (३०) शुभ—जिसके उदयसे रमणीय रूप होता है, वह शुभ नामकर्म है।
 (३१) अशुभ—शुभ से विपरीत अशुभ नामकर्म है।
 (३२) सूक्ष्म—सूक्ष्म शरीर का निर्वर्तक कर्म; सूक्ष्म नामकर्म है।
 (३३) बादर—अन्य बाधाकर शरीर का निर्वर्तक कर्म; बादर नामकर्म है।
 (३४) पर्याप्ति—जिसके उदय से आहार आदि पर्याप्तियों की रचना होती है, वह पर्याप्ति नामकर्म है।
 वह छह प्रकार का है—१. आहार; २. शरीर; ३. इन्द्रिय; ४. श्वासोच्छ्वास; ५. भाषा; ६. मनःपर्याप्ति।
 (३५) अपर्याप्ति—जो छह पर्याप्तियों के अभाव का हेतु है, वह अपर्याप्ति नामकर्म है।
 (३६) स्थिर—स्थिर भाव का निर्वर्तक कर्म; स्थिर नामकर्म है।
 (३७) अस्थिर—स्थिर भाव से विपरीत अस्थिर नामकर्म है।
 (३८) आदेय—प्रभा युक्त शरीर का कारण आदेय नामकर्म है।
 (३९) अनादेय—निष्प्रभ शरीर का कारण अनादेय नामकर्म है।
 (४०) यशःकीर्ति—पुण्य गुणों की प्रसिद्धि का कारण यशःकीर्ति नामकर्म है।
 (४१) अयशःकीर्ति—यशःकीर्ति से विपरीत अयशःकीर्ति नामकर्म है।

विशेष—यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति; पुण्यगुणों की प्रसिद्धि का कारण यशःकीर्ति नामकर्म है। पाप की निन्दा का कारण अयशःकीर्ति नामकर्म है। इस लक्षण के अनुसार जीव; स्वयं के गुणों और पापों का अनुभव करे तभी उसे यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति कहा जाता है। यश फैलता है। कीर्ति गायी जाती है, क्री-कीर्तने।

स्वयं की जानकारी के बिना यदि कोई हमारी प्रशंसा या निन्दा करता है तो करने वाले को उच्च-नीच गोत्र का आस्रव होगा।

अवर्णवाद—जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोषों से दूर हैं फिर भी उनमें दोष दिखाना अवर्णवाद है। जैसे—कुछ लोग; केवलियों, श्रुत, संघ, धर्म एवं देवों का अवर्णवाद करते हैं। वह दर्शनमोहनीय के आस्रव का कारण है।

अपवाद—एकांश गुण या दोष का कथन करना अपवाद है। जैसे—सीता का अपवाद हुआ था, क्योंकि सीता का मात्र दोष यही था कि वह रावण के घर रही थी। इसमें सीता का अयशःकीर्ति नहीं था; अपवाद था।

(४२) तीर्थकर—आर्हन्त्य अर्थात् विशेष पूज्यता का कारण तीर्थकर नामकर्म है।

विशेष—मूल कर्म आठ हैं, उनमें से नामकर्म को छोड़कर शेष सात कर्म प्रकृतियाँ जीव विपाकी मानी गयी हैं। यहाँ नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों के स्वरूप की चर्चा की है। नामकर्म; जीव विपाकी, पुद्गल विपाकी, क्षेत्र विपाकी, भव विपाकी; ये चार प्रकार का है—(१) जिन कर्मों का विपाक; जीव में होता है, वे जीव विपाकी हैं। (२) जिन कर्मों का विपाक; शरीरादि पुद्गल से होता है, वे पुद्गल विपाकी हैं। (३) जिन कर्मों का विपाक; क्षेत्र विशेष के निमित्त से होता है, वे क्षेत्र विपाकी हैं। (४) जिन कर्मों का विपाक; भव विशेष के निमित्त से होता है, वे भव विपाकी हैं।

(१) जीव विपाकी कर्म—जीव के विविध प्रकार के परिणाम और उसकी विविध अवस्थाओं के होने में सहायता करते हैं, अतः इनकी जीव विपाकी संज्ञा है।

(२) **पुद्गल विपाकी कर्म**—जब तक जीव को औदारिक आदि नोकर्म वर्गणा का निमित्त नहीं मिलता है तब तक पुद्गल विपाकी कर्म अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते हैं। इनका विपाक; पुद्गलों का निमित्त पाकर होता है, अतः इन्हें पुद्गल विपाकी कहते हैं। जैसे—कोई एक जीव; दो मोड़ा लेकर यदि जन्म लेता है तो उसके प्रथम और द्वितीय विग्रह के समय शरीर आदि पुद्गल विपाकी प्रकृतियों का उदय नहीं होता है। तीसरे समय में जब वह नवीन शरीर को ग्रहण करता है तभी उसके इन प्रकृतियों का उदय होता है, जिससे इनकी पुद्गल विपाकी संज्ञा होती है।

(३) **भव विपाकी कर्म**—भव की कारणभूत जो आयु कर्म की प्रकृतियाँ हैं और जिनका उदय तत्-तत् भव तक ही सीमित है, इससे इनकी भव विपाकी संज्ञा है।

(४) **क्षेत्र विपाकी कर्म**—मरण के बाद; दूसरे भव के अन्तरालवर्ती क्षेत्र में अपना काम करती हैं, इसलिए इनकी क्षेत्र विपाकी संज्ञा है। इस प्रकार आठ कर्मों को चार प्रकार के विपाक में भी विभाजित किया गया है।

जिज्ञासा—नामकर्म के बाद; अब क्रम प्राप्त सातवें गोत्र कर्म की दो उत्तर प्रकृतियों के नाम क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

सूत्र उच्चारण—उच्चैः, नीचैश्च ॥१२॥

सन्धि विग्रह—उच्चैः नीचैः च ॥१२॥

सूत्रार्थ—उच्चगोत्र एवं नीचगोत्र; ये दो गोत्र कर्म हैं।

लब्धार्थ—जिसके उदय से लोकपूजित कुलों में जन्म होता है, वह उच्च गोत्र है। जिसके उदय से गर्हित कुलों में जन्म होता है, वह नीच गोत्र है।

विशेषार्थ—वीरसेनाचार्य ने धवला पुस्तक जी ७ में निम्न गाथा द्वारा गोत्र कर्म के छह भेद बतलाये हैं—

उच्चुच्च उच्च तह उच्चणीच णीचुच्च णीचणीचं च ।

जस्सोदण्ण भावो णीचुच्च-विवज्जिदो तस्स ॥१०॥

अनुवाद—जिस गोत्र कर्म के उदय से जीव; उच्चोच्च, उच्च, उच्चनीच, नीचोच्च, नीच या नीचनीच भाव को प्राप्त होता है, उसी गोत्र कर्म के क्षय से वह जीव नीच और ऊँच भावों से मुक्त होता है।

(१) **उच्च-उच्च**—जिनका जन्म एवं कर्म (क्रिया) भी उच्च है, वे उच्च-उच्च हैं। जैसे—तीर्थकर; उनका जन्म और कर्म (क्रिया) दोनों उच्च हैं, अतः तीर्थकर उच्च-उच्च हैं।

(२) **उच्च**—जिनका मात्र जन्म उच्च है, वे उच्च हैं। जैसे—भोगभूमि के मनुष्य एवं देव।

(३) **उच्च-नीच**—जिनका जन्म उच्च एवं कर्म (क्रिया) नीच है, वे उच्च-नीच हैं। जैसे—क्षत्रिय कुल में उत्पन्न; सप्त व्यसनी अंजनचोर, कर्मभूमिज म्लेच्छ खण्ड के क्षत्रिय।

(४) **नीच**—जिनका जन्म नीच है, वे नीच हैं। जैसे—कुभोगभूमि के कुमानुष, नारकी, एक इन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक के तिर्यच।

(५) **नीच-उच्च**—जिनका जन्म नीच है एवं कर्म (क्रिया) उच्च है, वे नीच-उच्च हैं। जैसे—सम्यग्दृष्टि चाण्डाल, अणुव्रती तिर्यच ।

(६) **नीच-नीच**—जिनका जन्म एवं कर्म (क्रिया) दोनों नीच है, वे नीच-नीच हैं। जैसे—हिंसक चाण्डाल-कसाई । नीच-नीच व्यक्ति; यदि कसाई कर्म छोड़कर अहिंसा को अपनाता है तब वह नीच-उच्च की श्रेणी में भी आ सकता है। जैसे—चाण्डाल ने हिंसा छोड़ी ।

जैसे—राष्ट्र के संविधान में; राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री आदि विशेष पदों के लिये भी पात्रतायें किसी न किसी मानक द्वारा तय की जाती हैं। जैसे—(१) भारतीय नागरिक हो; (२) निरपराधी हो; (३) कोड़ी या दिवालिया न हो, वही भारत का प्रथम नागरिक हो सकता है। वैसे ही धार्मिक पदों के लिये भी विशेष नियम हैं। तीर्थंकर; क्षत्रिय कुलों में ही उत्पन्न होते हैं। आचार्य से लेकर साधु तक के पद; “देश-कुल-जाति” से शुद्ध होना चाहिये। यदि श्रावकों की देश-कुल-जाति शुद्ध नहीं है तब उन्हें त्रिलोक्य पूज्य साधुपद कैसे मिल सकता है? त्रिलोक पूज्य साधुपद तो दूर की बात है, उन्हें आहारदान का लाभ भी दुर्लभ है, अतः अपनी जाति-कुल की रक्षा अवश्य करें।

आचार्यों ने उच्चगोत्र को शुक्ल ध्यान का हेतु कहा है, क्योंकि नीचगोत्री को शुक्ल ध्यान की सिद्धि नहीं होगी। यदि नीचगोत्री को शुक्ल ध्यान की सिद्धि मान ली जाए तो शूद्र मुक्ति का भी प्रसङ्ग आयेगा जो कि मूल-आचार्यों के मत से, आगम के मत से विरुद्ध है, क्योंकि कुन्दकुन्द आचार्य ने; आचार्य भक्ति में कहा है कि “देश-कुल-जाय शुद्धा”। आचार्य; देश-कुल एवं जाति से शुद्ध होना चाहिए, इससे भी सिद्ध है कि शूद्र को मुनि दीक्षा नहीं दी जा सकती है।

दर्शनमोहनीय के आस्रव में; संघ के अवर्णवाद में; ये शूद्र हैं, ऐसा कहना दर्शनमोहनीय का आस्रव कहा है, इससे भी सिद्ध है कि पूज्यपादाचार्य शूद्र दीक्षा के समर्थक नहीं थे।

समन्तभद्राचार्य ने सम्यग्दृष्टि मातङ्ग को निम्न तरह से कहा है—“भस्म गूढाङ्गारान्तरौजसम्” मातङ्ग के कुलरूप शरीर को भस्म से आच्छादित ओज के समान कहा है।

नवपुण्यैः प्रतिपत्ति सप्तगुण समाहितेन शुद्धेन, अपसूनारम्भाणा-मार्याणा-मिष्यते दानम् ॥ ‘२०क०’

इस कारिका की टीका करते समय प्रभाचन्द्र आचार्य ने दान देने वाले दाता की योग्यता “शुद्धेन” पद द्वारा की है, जिसका अर्थ पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य ने निम्न प्रकार से किया है। शुद्धेन पद से तीन प्रकार की शुद्धि ली हैं—(१) **कौलिक शुद्धि**—परम्परागत कुल की शुद्धि। (२) **चारित्रिक शुद्धि**—व्यसन आदि से रहित, चारित्र शुद्धि। (३) **शारीरिक शुद्धि**—अछूत बीमारी आदि से रहित, सूतक-पातक से रहित, वस्त्र आदि की शुद्धि से सहित शारीरिक शुद्धि है। जैसे—सोलहकारणभावना धर्मतीर्थंकर पद का कारण है। वैसे ही नवधाभक्ति सप्तगुण; ये सोलह, तीन शुद्धि सहित दानतीर्थंकर पद का कारण है।

भारत के अंग्रेज अफसर अपनी सन्तानों को इंग्लैण्ड में ही पैदा करते थे, जिससे उन बच्चों में अपने देश का संस्कार बना रहे। राजीव गाँधी को नेपाल के हिन्दू मन्दिर में फारसी होने के कारण प्रवेश नहीं करने दिया गया। इन सब प्रकार की युक्तियों से सिद्ध है कि उच्च-नीच गोत्र का प्रभाव जीवन के उत्थान-पतन में भी कारण होता है।

गोत्र कर्म को जीवविपाकी जरूर कहा है, किन्तु उच्च पुद्गल द्रव्य के संयोग से ही जीव; अपने आपको उच्च अनुभव करेगा। जैसे-करोड़पति व्यक्ति; अपने करोड़ रुपये के पुद्गल द्रव्य के संयोग से ही करोड़पति होने का अनुभव करेगा, किन्तु मुनीम; करोड़पति होने का अनुभव नहीं करेगा।

उच्च जाति के घोड़ों की तीन पीढ़ियाँ देखी जाती हैं। शुद्ध रत्न; खान से निकला रत्न ही शुद्धता के कारण बहुमूल्य है। वैसे ही उच्चगोत्र के कारण ही; परिवार की पुनः पूजा प्रतिष्ठा कीर्ति हो पाती है, अतः लोकपूजित, लोकगर्हित “जन्म” को ही उच्च-नीच गोत्र कहा है।

पूज्यपादाचार्य ने बोधिदुर्लभ भावना में कहा है कि एक बार मनुष्य पर्याय मिलकर छूट जावे और पुनः उसे प्राप्त करना, ऐसे ही दुर्लभ है; जैसे-सूखे वृक्ष का जलकर राख हो जाना और पुनः उन्हीं परमाणुओं का मिलकर पुनः उसी वृक्षरूप हो जाना, कदाचित् वे परमाणु भी वृक्षरूप हो जावें, वैसे ही पुनः मनुष्य पर्याय मिल जावे, किन्तु उत्तम देश, कुल, इन्द्रिय सम्पन्नता एवं नीरोगता मिलना कठिन हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि उच्च कुल का मिलना भी बोधिदुर्लभ भावना से समझा जा सकता है, अतः जो लोग जाति-कुल-गोत्र का उपहास करते हैं अथवा मद करते हैं, उन्हें कभी समीचीन धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

जिज्ञासा—गोत्र कर्म के बाद; अब क्रम प्राप्त आठवें अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ कौन-सी हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥

सूत्र उच्चारण—दान-लाभ-, भोगोप-भोग-, वीर्याणाम् ॥१३॥

सन्धि विग्रह—दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्याणाम् ॥१३॥

सूत्रार्थ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य; ये पाँच अन्तराय कर्म हैं।

लब्धार्थ—दानादि परिणाम के होने पर; व्याघात-व्यवधान का कारण होने से अन्तराय; यह संज्ञा मिलती है।

विशेषार्थ—(१) दान अन्तराय—जिनके उदय से; दान की इच्छा होते हुए भी दान नहीं दे पाता, वह दान अन्तराय कर्म है।

(२) लाभ अन्तराय—जिसके उदय से; प्राप्त करने की इच्छा होते हुए भी प्राप्त नहीं कर पाता, वह लाभ अन्तराय कर्म है।

(३) भोग अन्तराय—जिसके उदय से; भोगने की इच्छा करता हुआ भी भोग नहीं पाता, वह भोग अन्तराय कर्म है।

(४) उपभोग-अन्तराय—जिसके उदय से; उपभोग करने की इच्छा करता हुआ भी उपभोग नहीं कर सकता, वह उपभोग अन्तराय कर्म है।

(५) वीर्य अन्तराय—जिसके उदय से; उत्साहित होने की इच्छा रखता हुआ भी उत्साहित नहीं हो पाता है, वह वीर्यान्तराय कर्म है।

इस प्रकार जीव; पाँच अन्तराय कर्म के द्वारा संसार एवं परमार्थ सुख भोगने में बाधा अनुभव करता है।

जिज्ञासा—बन्ध के कथन में आठों कर्मों के प्रकृति बन्ध के भेद कहे, अब क्रम प्राप्त आठों कर्मों के स्थिति बन्ध के भेद कहना चाहिए। स्थिति बन्ध दो प्रकार का है—(१) उत्कृष्ट स्थिति; (२) जघन्य स्थिति बन्ध। इनमें भी जिन कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति समान है, उनका निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र — आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

सूत्र उच्चारण—आदितस्-तिसृणा-, मन्तरायस्य च, त्रिंशत्-सागरोपम-, कोटी-कोट्यः, परा स्थितिः ॥१४॥

सन्धि विग्रह—आदितः तिसृणाम्-अन्तरायस्य च त्रिंशत्-सागर-उपम-कोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

सूत्रार्थ—आदि की तीन कर्म प्रकृतियाँ अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय; इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम है।

लब्धार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय; इन चार कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध; तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।

विशेषार्थ—सागरोपम का प्रमाण पहले कह आए हैं। करोड़ का करोड़ से गुणा करने पर कोड़ाकोड़ी का प्रमाण होता है। यहाँ “पर” शब्द उत्कृष्ट वाची है। मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय और पर्याप्तक जीव को ही; इन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है—आगे भी इन्हीं जीवों के अन्य कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिए। अन्य जीवों की स्थिति आगम से जानना चाहिए।

जिज्ञासा—अब कर्म के क्रम प्राप्त मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

सूत्र उच्चारण—सप्तति-, मोहनीयस्य ॥१५॥

सन्धि विग्रह—सप्ततिः मोहनीयस्य ॥१५॥

सूत्रार्थ—मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम है।

लब्धार्थ—इस सूत्रमें “सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः” पद की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से ली है, जिससे इस सूत्र का पूरा अर्थ निकलता है कि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय, दर्शनमोहनीय का उत्कृष्ट बन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है। चारित्रमोहनीय का उत्कृष्ट बन्ध चालीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है। यह उत्कृष्ट बन्ध भी मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक जीव के जानना चाहिए। अन्य जीवों की मोहनीय की स्थिति आगम से जानना चाहिए।

जिज्ञासा—अब आयु कर्म के क्रम को छोड़कर नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥

सूत्र उच्चारण—विंशतिः, नाम-गोत्रयोः ॥१६॥

सन्धि विग्रह—विंशतिः नाम-गोत्रयोः ॥१६॥

सूत्रार्थ—नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम है ।

लब्धार्थ—इस सूत्र में भी “सागरोपमकोटी-कोट्यः परा स्थितिः” पद की अनुवृत्ति की गयी है । जिससे इस सूत्र का पूरा अर्थ निकलता है कि नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है ।

विशेषार्थ—नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति; मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक जीव के जानना चाहिए । अन्य जीवों की नाम-गोत्र की स्थिति आगम से जानना चाहिए ।

जिज्ञासा—अब क्रम से पृथक् किए गए; आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

सूत्र उच्चारण—त्रयस्त्रिंशत्, सागरोप-, माण्यायुषः ॥१७॥

सन्धि विग्रह—त्रयस्त्रिंशत्-सागर-उपमाणि-आयुषः ॥१७॥

सूत्रार्थ—आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है ।

लब्धार्थ—इस सूत्र में पुनः सागरोपम पद का ग्रहण कोड़ाकोड़ी पद की निवृत्ति के लिए दिया है; “परा स्थिति” पद की अनुवृत्ति होती है । जिससे इस सूत्र का पूरा अर्थ निकलता है कि आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम प्रमाण है ।

विशेषार्थ—यहाँ टीका में आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बन्ध का स्वामी; मिथ्यादृष्टि आदि पद टीका की अनुवृत्ति से आ रहा है । जैसे कि मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक जीव भी नरकायु बन्ध के योग्य उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों के होने पर नरकायु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध करता है । इसका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य गुणस्थान वाले के आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध नहीं होता । देवायु में सर्वार्थसिद्धि के देवों की तैंतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति बन्ध सकल संयम के धारी उपशम श्रेणी में शुक्ललेश्या के धारक साधु के ही होता है, लेकिन टीकाकार का सामान्य कथन होने से उसकी यहाँ विवक्षा नहीं की अथवा अर्थापत्ति न्याय से उत्कृष्ट देवायु को भी ग्रहण किया जा सकता है ।

जिज्ञासा—आठों कर्मों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का कथन करने के बाद; उनके जघन्य स्थिति बन्ध कहना चाहिए । उनमें भी समान जघन्य स्थिति वाली; पाँच प्रकृतियों को स्थगित करके थोड़े में कहने के अभिप्राय से तीन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का ज्ञान कराने के लिए आगे दो सूत्र कहते हैं, उसमें पहला यह सूत्र है—

सूत्र—अपरा द्वादशमुहूर्त्ता वेदनीयस्य ॥१८॥**सूत्र उच्चारण—अपरा, द्वादश-मुहूर्त्ता, वेदनीयस्य ॥१८॥****सूत्रार्थ—**अपरा अर्थात् जघन्य; वेदनीय की बारह मुहूर्त्त है।**लब्धार्थ—**वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध; बारह मुहूर्त्त है।**विशेषार्थ—**सुख-दुःख; हमेशा रहने वाले नहीं हैं। जैसे-अतिथि अधिक समय नहीं रुकते। वैसे ही सुख-दुःख हैं।**जिज्ञासा—**वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति कहने के बाद; नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति कहने के लिए दूसरा सूत्र कौन-सा है? ऐसी जिज्ञासा होने पर उसका दूसरा सूत्र कहते हैं—**सूत्र—नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥****सूत्र उच्चारण—**नाम-गोत्रयोः, रष्टौ ॥१९॥**सन्धि विग्रह—**नाम-गोत्रयोः अष्टौ ॥१९॥**सूत्रार्थ—**नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त है।**लब्धार्थ—**नाम कर्म और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त है।**विशेषार्थ—**इस सूत्र में “मुहूर्त्ता” एवं “अपरा” पद की अनुवृत्ति ऊपर के सूत्र से ली है, किन्तु “स्थितिः” पद की अनुवृत्ति सूत्र संख्या चौदह से ली है, क्योंकि वहाँ “परा स्थितिः” पद लिया है, उसमें से परा हटाकर अपरा लगा दिया है, जिससे इस सूत्र का पूर्ण अर्थ इस प्रकार हो जाता है कि नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त है।**जिज्ञासा—**वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति कहने के बाद; शेष पाँच कर्म प्रकृतियों के जघन्य स्थिति बन्ध कितना है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—**सूत्र—शेषाणामन्तर्मुहूर्त्ता ॥२०॥****सूत्र उच्चारण—**शेषाणां, मन्तर्मुहूर्त्ता ॥२०॥**सन्धि विग्रह—**शेषाणाम्-अन्तर्मुहूर्त्ता ॥२०॥**सूत्रार्थ—**शेष-बाकी के पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है।**लब्धार्थ—**शेष; ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय; इन पाँच कर्म प्रकृतियों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है।**विशेषार्थ—**ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय; इन तीन कर्मों का जघन्य स्थिति बन्ध; सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में होता है। मोहनीय का जघन्य स्थितिबन्ध; अनिवृत्तिबादर साम्पराय गुणस्थान में और आयु का जघन्य स्थिति बन्ध; संख्यात वर्ष की आयु वाले अर्थात् कर्मभूमि के तिर्यञ्च और मनुष्यों में प्राप्त होता है।**जिज्ञासा—**आठों कर्मों के उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्ध का कथन करने के बाद; अब इन्हीं आठों कर्मों के अनुभाग बन्ध का स्वरूप क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विपाकोऽनुभवः ॥२१॥

सूत्र उच्चारण—विपाकोऽनु-भवः ॥२१॥

सन्धि विग्रह—विपाकः अनुभवः ॥२१॥

सूत्रार्थ—विपाक अर्थात् विशेष फल को अनुभव कहते हैं।

लब्धार्थ—विशिष्ट या अनेक प्रकार के पाक का नाम विपाक है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त कषायों के तीव्र, मन्द आदिरूप भावास्रव के भेद से विशिष्ट पाक का होना विपाक है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव; लक्षण निमित्त भेद से उत्पन्न हुआ वैश्वरूप नाना प्रकार का पाक; विपाक है, इसी को अनुभव कहते हैं।

शुभ परिणामों के प्रकर्ष के कारण; शुभप्रकृतियों का प्रकृष्ट अनुभव होता है और अशुभ प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभव होता है। इसी प्रकार अशुभ परिणामों के प्रकर्षभाव के कारण; अशुभ प्रकृतियों का प्रकृष्ट अनुभव होता है, शुभ प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभव होता है। इस प्रकार कारणवश से प्राप्त हुआ वह अनुभव दो प्रकार से प्रवृत्त होता है—स्वमुख और परमुख।

सब मूल प्रकृतियों का अनुभव स्वमुख से ही प्रवृत्त होता है। आयु, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के सिवा, तुल्यजातीय उत्तर प्रकृतियों का अनुभव परमुख से भी प्रवृत्त होता है। नरकायु के मुख से तिर्यञ्चायु या मनुष्यायु का विपाक नहीं होता है अर्थात् किसी एक आयु का किसी दूसरी आयु से विपाक नहीं होता है। दर्शनमोह; चारित्रमोहरूप और चारित्रमोह; दर्शनमोहरूप से विपाक को प्राप्त नहीं होता है।

जिज्ञासा—पूर्व सञ्चित नाना प्रकार के कर्मों का विपाक; अनुभव या अनुभाग है, किन्तु यह अनुभव किसके अनुसार होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स यथानाम ॥२२॥

सूत्र उच्चारण—स, यथानाम ॥२२॥

सूत्रार्थ—वह अनुभव; नाम के अनुसार होता है।

लब्धार्थ—जिस कर्म का जैसा नाम है, उसी के नामानुसार अनुभव होता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण का फल; ज्ञान को रोकना है। दर्शनावरण का फल; दर्शन शक्ति का उपरोध करना है। इसी प्रकार आगे के सभी कर्मों का नाम के अनुसार फल का अनुभव जिस बन्ध से होता है, वह अनुभव बन्ध है।

जिज्ञासा—जिस कर्म के अनुभव बन्ध को फलरूप से भोग लिया है, उस कर्म का क्या होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ततश्च निर्जरा ॥२३॥

सूत्र उच्चारण—ततश्च, निर्जरा ॥२३॥

सन्धि विग्रह—ततः च निर्जरा ॥२३॥

सूत्रार्थ—इसके बाद; उस कर्म की निर्जरा होती है।

लब्धार्थ—उस कर्म के अनुभव बन्धरूप फल को भोगने के बाद; उस कर्म की निर्जरा होती है। अनुभव, अनुभाग एवं फलदान शक्ति; इनका एक ही अर्थ है।

विशेषार्थ—जैसे-भात आदि का मल निवृत्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है। वैसे ही आत्मा को भला-बुरा फल देकर, पूर्व प्राप्त स्थिति का नाश हो जाने से स्थिति न रहने के कारण; कर्म की निवृत्ति का होना निर्जरा है। वह निर्जरा दो प्रकार की है—सविपाक निर्जरा, अविपाक निर्जरा।

(१) **सविपाक निर्जरा**—संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव के क्रम से परिपाक काल को प्राप्त हुए और अनुभव-उदयावलिरूपी स्रोत (नाली) में प्रविष्ट हुए ऐसे शुभ-अशुभ कर्म का फल देकर जो निवृत्ति होती है, वह सविपाकजा निर्जरा है।

(२) **अविपाक निर्जरा**—जिसका अभी विपाक काल प्राप्त नहीं हुआ है फिर भी औपक्रमिक क्रिया विशेष की सामर्थ्य से उदयावलि के बाहर स्थित जो कर्म बलपूर्वक उदीरणा द्वारा उदयावलि में प्रविष्ट कराके अनुभवा जाता है, वह अविपाकजा निर्जरा है। जैसे-आम, पनस आदि को समय से पहले पाल में; पाक विधि द्वारा पका लेते हैं, वैसे ही तप विधि द्वारा कर्म को समय से पहले पकाकर फल देने योग्य बना लेते हैं।

जिज्ञासा—आठों कर्मों के अनुभव बन्ध का कथन करने के बाद; प्रदेशबन्ध के बारे में विस्तार से बतलायें। जैसे-प्रदेशबन्ध का हेतु क्या है? वह कब होता है? उसका क्या निमित्त है? उसका स्वभाव क्या है? वह किसमें होता है? और उसका परिणामन क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्-सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्म-प्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥२४॥

सूत्र उच्चारण—नामप्रत्ययाः, सर्वतो योगविशेषात्-, सूक्ष्मैक-, क्षेत्राव-गाह-स्थिताः, सर्वात्म-प्रदेशेष्व-, नन्तानन्त-प्रदेशाः ॥२४॥

सन्धि विग्रह—नामप्रत्ययाः सर्वतः योगविशेषात्-सूक्ष्म-एकक्षेत्र-अवगाह-स्थिताः सर्व-आत्म-प्रदेशेषु-अनन्तानन्त-प्रदेशाः ॥२४॥

सूत्रार्थ—कर्म प्रकृतियों के कारणभूत; प्रतिसमय, योग विशेष से, सूक्ष्म, एकक्षेत्र अवगाही और स्थित, अनन्तान्त पुद्गल परमाणु, सब आत्मप्रदेशों में (बन्ध को प्राप्त) होते हैं।

लब्धार्थ—प्रदेश बन्ध के इस सूत्र में (१) नामप्रत्ययाः; प्रदेश बन्ध का हेतु है। (२) सर्वतः; पद से सभी भवों में हमेशा अर्थात् प्रतिसमय होता है, अतः काल वाचक है। (३) योगविशेष; प्रदेश बन्ध का विशेष निमित्त है। (४) सूक्ष्म; ग्रहण योग्य प्रदेश-पुद्गल सूक्ष्म हैं, यह स्वभाव है। (५) एक क्षेत्र अवगाह; क्षेत्रान्तर का निराकरण करने के लिए एक क्षेत्रावगाह वचन दिया है। (६) स्थिताः; क्रियान्तर की निवृत्ति के लिए स्थिताः वचन दिया है। (७) सर्वात्म प्रदेशेषु; आधार निर्देश करने के लिए यह पद लिया है। (८) अनन्तानन्त प्रदेशाः; प्रदेशों की संख्या का नियम करने के लिए यह पद लिया है।

विशेषार्थ—(१) नामप्रत्यय; प्रदेशबन्ध का हेतु है, आठ कर्मरूप परिणमन करने वाली वर्गणायें जिन्हें “विस्त्रसोपचय” कहते हैं। (२) सर्वतः; संसारी जीव के “प्रत्येक समय” प्रदेश बन्ध सभी जीवों में होता है। (३) योगविशेष;—योग से प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है, यह उसका “निमित्त” है। (४) सूक्ष्म; कर्मरूप से ग्रहण योग्य पुद्गलों का “स्वभाव” दिखलाने के लिए किया है, जिससे स्थूलता का निषेध हो जाता है। (५) एक क्षेत्र अवगाह; क्षेत्रान्तर का निराकरण करने के लिए। (६) क्रियान्तर की निवृत्ति के लिए स्थिता: वचन दिया है अर्थात् ग्रहण योग्य पुद्गल स्थित होते हैं, गमन करते हुए नहीं हैं। (७) आधार निर्देश के लिए सर्वात्मप्रदेशेषु वचन दिया है अर्थात् एक प्रदेश आदि में कर्म प्रदेश नहीं रहते हैं, ऊपर, नीचे, तिरछे सब आत्म प्रदेशों में व्याप्त होकर स्थित होते हैं। (८) अनन्तानन्त प्रदेशाः पद से उन प्रदेशों का परिमाण लिया है, जिससे कर्म प्रदर्शों की संख्या नियत होती है अर्थात् ये संख्यात-असंख्यात-अनन्त नहीं होते बल्कि अनन्तानन्त होते हैं।

अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण संख्या वाले, घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र की अवगाहना वाले; एक, दो, तीन, चार, संख्यात और असंख्यात समय की स्थिति वाले तथा पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, चार स्पर्श वाले; आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियों के योग्य कर्मस्कन्ध (विस्त्रसोपचय), योगविशेष से आत्मा द्वारा आत्मसात् किये जाते हैं। इस प्रकार संक्षेप में प्रदेश बन्ध जानना चाहिए।

जिज्ञासा—जिस प्रकार आस्रव के शुभ आस्रव एवं अशुभ आस्रव; ये भेद होने से उनके पुण्य और पापरूप दो भेद हो जाते हैं। उसी प्रकार बन्ध पदार्थ के भी पुण्य और पापरूप दो भेद हैं, अतः बन्ध में पुण्य प्रकृतियाँ कितनी हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सद्देद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

सूत्र उच्चारण—सद्-वेद्य-शुभायु-, नाम-गोत्राणि, पुण्यम् ॥२५॥

सन्धि विग्रह—सद्-वेद्य-शुभ-आयुः-नाम-गोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

सूत्रार्थ—सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र; ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

लब्धार्थ—एक सातावेदनीय, तीन शुभआयु, सैंतीस शुभनाम, एक शुभ उच्चगोत्र; इस तरह कुल ब्यालीस पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ—(१) सातावेदनीय; तीन शुभ आयु—(२) तिर्यञ्चायु; (३) मनुष्यायु; (४) देवायु;। शुभ नामकर्म के सैंतीस भेद हैं—(५) मनुष्य गति; (६) देव गति; (७) पञ्चेन्द्रिय जाति; (८) औदारिक शरीर; (९) वैक्रियिक शरीर; (१०) आहारक शरीर; (११) तैजस शरीर; (१२) कर्मण शरीर; (१३) औदारिक अङ्गोपाङ्ग; (१४) वैक्रियिक अङ्गोपाङ्ग; (१५) आहारक अङ्गोपाङ्ग; (१६) निर्माण; (१७) समचतुरस्र संस्थान; (१८) वज्रर्षभनाराच संहनन; (१९) प्रशस्त स्पर्श; (२०) प्रशस्त रस; (२१) प्रशस्त गन्ध; (२२) प्रशस्त वर्ण; (२३) मनुष्यगत्यानुपूर्वी; (२४) देवगत्यानुपूर्वी; (२५) अगुरुलघु; (२६) परघात; (२७) उच्छ्वास; (२८) आतप; (२९) उद्योत; (३०) प्रशस्त विहायोगति; (३१) त्रस; (३२) बादर; (३३) पर्याप्त; (३४) प्रत्येक शरीर; (३५) स्थिर; (३६) शुभ; (३७) सुभग; (३८) सुस्वर; (३९) आदेय; (४०) यशःकीर्ति; (४१) तीर्थङ्कर; (४२) उच्च गोत्र; ये ब्यालीस प्रकृतियाँ पुण्य संज्ञक हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त बन्ध में पाप प्रकृतियाँ कितनी हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अतोऽन्यत्पापम् ॥२६॥

सूत्र उच्चारण—अतोऽन्यत्, पापम् ॥२६॥

सन्धि विग्रह—अतः अन्यत् पापम् ॥२६॥

सूत्रार्थ—इनके सिवा (पुण्य प्रकृतियाँ छोड़कर) शेष सब पापरूप प्रकृतियाँ हैं ।

लब्धार्थ—इस पुण्य संज्ञा वाले कर्म-प्रकृति समूह से जो भिन्न कर्म समूह है, वह पापरूप कहा जाता है ।

विशेषार्थ—पाप प्रकृतियाँ ब्यासी हैं—ज्ञानावरण की पाँच; दर्शनावरण की नौ; मोहनीय की छब्बीस; अन्तराय की पाँच; ऐसी पैंतालीस प्रकृतियाँ । नामकर्म की चौँतीस प्रकृतियाँ—(१) नरक गति; (२) तिर्यञ्च गति; (३) एकेन्द्रिय; (४) द्वीन्द्रिय; (५) त्रीन्द्रिय; (६) चौइन्द्रिय; (७) स्वाति; (८) न्यग्रोधपरिमण्डल; (९) वामन; (१०) कुब्जक; (११) हुण्डक संस्थान; (१२) वज्रनाराच; (१३) नाराच; (१४) अर्द्धनाराच; (१५) कीलक; (१६) अर्द्धकीलित संहनन; (१७) अप्रशस्त स्पर्श; (१८) अप्रशस्त रस; (१९) अप्रशस्त गन्ध; (२०) अप्रशस्त वर्ण; (२१) नरकगत्यानुपूर्वी; (२२) तिर्यग्गत्यानुपूर्वी; (२३) उपघात; (२४) अप्रशस्त विहायोगति; (२५) स्थावर; (२६) सूक्ष्म; (२७) अपर्याप्त; (२८) साधारण शरीर; (२९) अस्थिर; (३०) अशुभ; (३१) दुर्भग; (३२) दुस्वर; (३३) अनादेय; (३४) अयशःकीर्ति; ये चौँतीस । एक असाता वेदनीय, एक नरकायु, एक नीचगोत्र; इस तरह कुल ब्यासी (८२) प्रकृतियाँ; पापरूप हैं ।

तिर्यञ्च आयु को शुभ प्रकृति एवं तिर्यञ्चगति को अशुभ प्रकृति में ग्रहण किया है । इसका कारण यह है कि कोई भी तिर्यञ्च; अपनी आयु छोड़कर मरना नहीं चाहता है, अतः तिर्यञ्चायु शुभ है, किन्तु कोई भी जीव मरकर तिर्यञ्चगति में जाना नहीं चाहता है, अतः तिर्यञ्चगति अशुभ है ।

इस तरह विस्तार के साथ बन्ध पदार्थ का व्याख्यान किया, यह अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है और इन ज्ञान वाले जीवों द्वारा उपदिष्ट आगम से अनुमेय है ।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) अष्टमोऽध्यायः ॥

अथ नवमोऽध्यायः

विज्ञासा—आठवें अध्याय में बन्ध पदार्थ का निर्देश किया। अब इस समय बन्ध पदार्थ के बाद; कहने योग्य संवर तत्त्व के निर्देश का समय आ गया है, अतः यह सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

सूत्र उच्चारण—आस्रव-निरोधः, संवरः ॥१॥

सूत्रार्थ—आस्रव का निरोध संवर है।

लब्धार्थ—नवीन कर्म के ग्रहण में हेतुरूप क्रिया आस्रव है, उस आस्रव का निरोध होना संवर है।

विशेषार्थ—संवर दो प्रकार का है—भाव संवर एवं द्रव्य संवर।

भाव संवर—संसार के निमित्तभूत क्रिया की निवृत्ति होना भाव संवर है।

द्रव्य संवर—भाव संवर के होने पर; उससे होने वाले कर्म-पुद्गलों के ग्रहण का विच्छेद होना द्रव्य संवर है।

गुणस्थान क्रम से संवर की कर्म प्रकृतियों का कथन करते हैं।

(१) **पहला गुणस्थान—**जो आत्मा; मिथ्यादर्शन कर्म के उदय के आधीन है, वह मिथ्यादृष्टि है। इस मिथ्यादृष्टि के मिथ्यादर्शन की प्रधानता से जिस कर्म का आस्रव होता है, उसका मिथ्यादर्शन के अभाव में शेष रहे सासादन सम्यग्दृष्टि आदि में संवर होता है।

इसे बन्धव्युच्छिन्ति भी कहते हैं अर्थात् तत्-तत् गुणस्थान तक ही उन कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है, लेकिन उसके आगे के गुणस्थान में वे बन्ध से छूट जाती हैं, अतः बन्ध व्युच्छिन्ति कहलाती हैं। जैसे—पहले गुणस्थान में बन्ध योग्य मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियाँ हैं, वे दूसरे सासादन गुणस्थान में अबन्धरूप से संवर कहलाती हैं।

(२) **दूसरा गुणस्थान—**अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होने वाले असंयम की मुख्यता से आस्रव को प्राप्त होने वाली निद्रानिद्रा आदि पच्चीस कर्म प्रकृतियाँ हैं जो एकेन्द्रिय से लेकर सासादन गुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं, अतः अनन्तानुबन्धी के उदय से होने वाले असंयम के अभाव से आगे तीसरे गुणस्थान में इनका संवर होता है।

(३) **तीसरा गुणस्थान—**सम्यग्मिथ्यात्व गुण के होने पर आयु कर्म का बन्ध तीसरे गुणस्थान में नहीं होता है, यह तीसरे गुणस्थान की विशेषता है।

(४) **चौथा गुणस्थान—**अप्रत्याख्यानारण कषाय के उदय से होने वाले असंयम की मुख्यता से आस्रव को प्राप्त होने वाली अप्रत्याख्यानारण आदि दश कर्म प्रकृतियों का एकेन्द्रिय से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं, अतः अप्रत्याख्यानारण कषाय के उदय से होने वाले असंयम का अभाव होने पर आगे इनका संवर होता है।

(५) **पाँचवाँ गुणस्थान—**प्रत्याख्यानारण कषाय के उदय से होने वाले असंयम से आस्रव को प्राप्त होने वाली प्रत्याख्यानारण आदि चार कर्म प्रकृतियों का एकेन्द्रिय से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं, अतः प्रत्याख्यानारण कषाय के उदय से होने वाले असंयम के अभाव में आगे इनका संवर होता है।

(६) छटवाँ गुणस्थान—प्रमाद के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाले असातावेदनीय आदि छह कर्म प्रकृतियों का आगे अप्रमत्त गुणस्थान में संवर होता है।

(७) सातवाँ गुणस्थान—देवायु के बन्ध का आरम्भ प्रमाद हेतुक भी होता है और उसके नजदीक का अप्रमाद हेतुक भी है, अतः इसका अभाव होने पर आगे उसका संवर जानना चाहिए।

(८) आठवाँ गुणस्थान—जिस कर्म का मात्र कषाय के निमित्त से आस्रव होता है, प्रमाद आदिक से नहीं, उसका कषाय का अभाव होने पर संवर जानना चाहिए। इस अपूर्वकरण के प्रारम्भिक संख्येय भाग में निद्रादि से लेकर अन्तिम भाग तक छत्तीस कर्म प्रकृति; तीव्र कषाय से आस्रव को प्राप्त होती हैं, अतः आगे तीव्र कषाय का उत्तरोत्तर अभाव होने से विवक्षित भाग के आगे उनका संवर होता है।

(९) नौवाँ गुणस्थान—अनिवृत्ति बादर साम्पराय के प्रथम समय से लेकर उसके संख्यात अर्द्ध भागों में पुंवेद आदि पाँच कर्म प्रकृतियों का मध्यम कषाय के निमित्त से आस्रव होता है, अतः मध्यम कषाय का उत्तरोत्तर अभाव होने पर विवक्षित भाग के आगे इनका संवर होता है।

(१०) दसवाँ गुणस्थान—सूक्ष्म साम्पराय-मन्द कषाय के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाली ज्ञानावरणादि सोलह कर्म प्रकृतियों का बन्ध करता है, अतः मन्द कषाय का अभाव होने से आगे इनका संवर होता है।

(११) ग्यारहवाँ गुणस्थान—उपशान्त कषाय में एक योग से बन्ध होता है।

(१२) बारहवाँ गुणस्थान—क्षीणकषाय में एक योग से बन्ध होता है।

(१३) तेरहवाँ गुणस्थान—केवल योग के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाली सातावेदनीय का ग्यारह, बारह, तेरह; इन तीन गुणस्थानों में एक योग से बन्ध होता है।

(१४) चौदहवाँ गुणस्थान—योग का अभाव होने पर; अयोग-केवली के योग का संवर होता है।

इस तरह प्रथम गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक कितनी कर्म प्रकृतियों का संवर होता है? उनका संख्यात्मक कथन किया है, उनके नाम जानने के लिए कर्मकाण्ड अथवा सर्वार्थसिद्धि की टीका का आधार लें।

जिज्ञासा—संवर तत्त्व का कथन किया। संवर पदार्थ के हेतु क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ॥२॥

सूत्र उच्चारण—स, गुप्ति-समिति-, धर्मानुप्रेक्षा-, परिषहजय-, चारित्रैः ॥२॥

सन्धि विग्रह—स गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः ॥२॥

सूत्रार्थ—वह संवर; गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र से होता है।

लब्धाथ—वह संवर; तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय तथा पाँच प्रकार के चारित्र द्वारा होता है।

विशेषार्थ—(१) गुप्ति—जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा होती है, वह गुप्ति है। मन-वचन-काय; ये तीन गुप्ति हैं।

(२) **समिति**—प्राणीपीड़ा का परिहार करने के लिए भले प्रकार प्रवृत्ति-समिति चलना, बोलना, देखना, रखना-ग्रहण करना व मोचन करना; ये पाँच समिति हैं।

(३) **धर्म**—जो इष्ट (उत्तम) स्थान में धरता है, वह धर्म है।

(४) **अनुप्रेक्षा**—शरीर आदिक के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

(५) **परिषहजय**—क्षुधा आदि वेदना के होने पर; कर्मों की निर्जरा करने के लिए उसे सह लेना परिषह है और परिषह को जीतना परिषहजय है।

(६) **चारित्र**—अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्त होना व्यवहार चारित्र है, किन्तु शुभाशुभ दोनों क्रियाओं से निवृत्त होना निश्चय चारित्र है। यहाँ संवर का प्रकरण होने से शुभ कर्मरूप तीर्थयात्रा करना, अभिषेक करना, दीक्षा लेना आदि। अशुभ कर्मरूप उपहार स्वरूप मस्तक से पूजा करना आदि का निराकरण हो जाता है, क्योंकि राग-द्वेष और मोह से ग्रहण किए गए कर्मों का; अन्य किसी दूसरे प्रकार से अभाव नहीं किया जा सकता है।

जिज्ञासा—संवर के सामान्य हेतुओं का कथन करने के बाद; जिससे संवर के साथ निर्जरा तत्त्व एवं पदार्थ दोनों हैं, अतः निर्जरा का स्वरूप क्या विशेष है, अतः ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तपसा निर्जरा च ॥३॥

सूत्र उच्चारण—तपसा, निर्जरा च ॥३॥

सूत्रार्थ—तप से संवर एवं निर्जरा; दोनों होती है।

लब्धार्थ—तप का धर्म में अन्तर्भाव होता है फिर भी वह तप, संवर और निर्जरा; इन दोनों का कारण है तथा संवर का प्रमुख कारण है, यह बतलाने के लिए उसका अलग से कथन किया है।

विशेषार्थ—तप से संवर और निर्जरा होती है अथवा तप; स्वर्ग आदि के ऐश्वर्य का कारण है, अतः एक तप से अनेक कार्य कैसे हो सकते हैं? जैसे—एक अग्नि से पकाना, जलाना, प्रकाशित करना आदि अनेक कार्य होते हैं। उसी प्रकार एक तप से संवर, निर्जरा अथवा स्वर्ग सुख आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं, ऐसा होने में कोई विरोध नहीं है।

जिज्ञासा—संवर के हेतुओं में सर्व प्रथम गुप्ति का कथन किया है, अतः गुप्ति का स्वरूप क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

सूत्र उच्चारण—सम्यग्योग-निग्रहो, गुप्तिः ॥४॥

सन्धि विग्रह—सम्यग्योग-निग्रहः गुप्तिः ॥४॥

सूत्रार्थ—सम्यक् प्रकार से योगों का निग्रह करना गुप्ति है।

लब्धार्थ—मन-वचन-काय को सम्यक् प्रकार से निग्रह करना गुप्ति है।

विशेषार्थ—योगों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का बन्द होना निग्रह है। विषयसुख की अभिलाषा के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति का निषेध करने के लिए “सम्यक्” विशेषण दिया है।

सम्यक् योगों का अर्थात् शुभयोग का; सम्यक् निग्रह करना अर्थात् सम्यक् प्रकार से निग्रह करना सम्यक् गुप्ति है अर्थात् शुद्धोपयोग है।

सातवें अध्याय की सूत्र संख्या चार में; अहिंसाव्रत की भावना में तीनों गुप्ति एवं पाँचों समिति के स्वरूप को ग्रहण किया है, लेकिन उन तीनों गुप्ति-समिति आदि में सम्यक् विशेषण नहीं दिया, अतः वहाँ उनका अर्थ; मात्र अशुभ से अपने तीनों योगों को रोककर शुभ में लगाना अर्थात् प्रवृत्तिरूप गुप्ति, समिति हैं, इन गुप्ति-समिति को पालन करके अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव; अनेक बार मुनिव्रतों के निरतिचार पालन से नौवें ग्रैवेयक तक की यात्रा कर आया है, किन्तु इस नौवें अध्याय के गुप्ति-समिति आदि सभी में सम्यक् विशेषण लगा होने से ध्वनित होता है कि जो मुनिराज शुभ उपयोग छोड़कर भी; शुद्धोपयोग में रमते हैं, उनके ही सम्यक् गुप्ति कही जायेंगी, अतः उन गुप्ति-समितियों में एवं इन गुप्ति-समितियों में अन्तर है। कायादिक योगों के सम्यक् निरोध होने से तन्निमित्तक कर्मों का आस्रव नहीं होता है, अतः गुप्ति से संवर की सिद्धि होती है।

जिज्ञासा—जो मुनि; शुद्धोपयोगरूप गुप्ति में अधिक समय तक रुकने में असमर्थ हैं, उनके लिए निर्दोष प्रवृत्ति कैसे हो? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

सूत्र उच्चारण—ईर्या-भाषैषणा-, दाननिक्षेपोत्सर्गाः, समितयः ॥५॥

सन्धि विग्रह—ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेप-उत्सर्गाः समितयः ॥५॥

सूत्रार्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग; ये पाँच समितियाँ हैं।

लब्धार्थ—इस सूत्र में सम्यक् पद की अनुवृत्ति है, जिससे ईर्यादिक समिति विशेष्यपने को प्राप्त होती हैं। जैसे-सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेप और सम्यगुत्सर्ग; ये पाँच समिति हैं।

विशेषार्थ—इन पाँचों समितियों में सम्यक् विशेषण प्रमाद के परिहार हेतु लगा है, क्योंकि प्रमाद के योग से ही हिंसा होती है, अतः जीवस्थानादि विधि के जानने वाले मुनि के प्राणियों की पीड़ा को दूर करने के उपाय; समितियाँ जानना चाहिए। इस प्रकार से प्रवृत्ति करने वाले के असंयमरूप परिणामों के निमित्त से जो कर्मों का आस्रव होता है, समिति द्वारा उसका संवर हो जाता है, अतः समिति; संवर का हेतु है।

जिज्ञासा—दूसरा संवर का हेतु समितियाँ कहीं, अब तीसरा संवर का हेतु धर्म है, अतः धर्म के भेद आदि का स्वरूप क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र — उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

सूत्र उच्चारण — उत्तमक्षमा-, मार्द-वार्जव-, शौच-सत्य-, संयम-तपस्त्यागा-, किञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि, धर्मः ॥६॥

सन्धि विग्रह — उत्तमक्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपः-त्याग-आकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

सूत्रार्थ—उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य एवं ब्रह्मचर्य; ये दश प्रकार का धर्म है।

लब्धार्थ—इस सूत्र में “उत्तम” पद आदि दीपक है, अतः सभी के साथ “उत्तम” विशेषण लगेगा। जैसे—उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिञ्चन्य एवं उत्तमब्रह्मचर्य; ये दशधर्म संवर के हेतु हैं।

विशेषार्थ—संवर का प्रथम कारण प्रवृत्ति का निग्रह करने के लिए कहा है, किन्तु जो गुप्ति पालने में असमर्थ हैं, उन्हें प्रवृत्ति का उपाय दिखलाने के लिए दूसरा कारण समिति कहा गया है, किन्तु ये दश प्रकार के धर्म का कथन जो कि संवर का तीसरा कारण है, समितियों में प्रवृत्ति करने वाले के प्रमाद का परिहार करने के लिए कहा है।

(१) **उत्तम क्षमा**—शरीर की स्थिति के कारण की खोज करने के लिए पर-घर में जाते हुए भिक्षु को; दुष्टजन गाली-गलौज करते हैं, उपहास करते हैं, तिरस्कार करते हैं, मारते-पीटते हैं और शरीर को तोड़ते-मरोड़ते हैं तो भी उनके कलुषता का उत्पन्न न होना उत्तम क्षमा है।

(२) **उत्तम मार्दव**—जाति आदि मर्दों के आवेश वश होने वाले अभिमान का अभाव करना उत्तम मार्दव है। मार्दव का अर्थ है मान का नाश करना।

(३) **उत्तम आर्जव**—योगों का वक्र-कुटिल न होना उत्तम आर्जव है।

(४) **उत्तम शौच**—प्रकर्ष लोभ का त्याग करना उत्तम शौच है।

(५) **उत्तम सत्य**—अच्छे पुरुषों के साथ साधु-वचन बोलना उत्तम सत्य है।

वचन गुप्ति, भाषा समिति, सत्य वचन एवं सत्य धर्म; इन चारों में क्या अन्तर है ?

वचन गुप्ति; साधु-असाधु; दोनों में मौन व्रत रहना, यह वचन गुप्ति है।

भाषा समिति; साधु-असाधु के प्रति भाषा व्यवहार करता हुआ हितकारी, परिमित वचन बोलें, अन्यथा होने से अनर्थदण्ड का दोष लगता है, यह भाषा समिति है।

सत्य वचन; सत्य धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि; सज्जन पुरुष, दीक्षित या उनके भक्तों में साधु सत्य वचन बोलता हुआ भी ज्ञान-चारित्र के शिक्षण आदि के निमित्त से बहुविध कर्तव्यों की सूचना देता है और यह सब धर्म की अभिवृद्धि के अभिप्राय से करता है, यह सत्य वचन है। सत्य धर्म; कषाय छोड़ कर, आत्मा के साथ प्रति समय रहना, सत्य धर्म है, यही इन चारों में भेद है।

(६) **उत्तम संयम**—समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के उनका परिपालन करने के लिए जो प्राणियों का और इन्द्रियों का परिहार होता है, वह उत्तम संयम है।

(७) **उत्तम तप**—कर्म क्षय के लिए जो तपा जाता है, वह उत्तम तप है।

(८) **उत्तम त्याग**—संयत के योग्य ज्ञानादि का दान करना उत्तम त्याग है; चूँकि मुनिराज ही दश धर्मों को पूर्णरूप से पालन करते हैं, अतः वे आहार और औषधि दान का उपदेश तो दे सकते हैं, जो ज्ञान दान के अन्तर्गत आता है, किन्तु आहार और औषधि तैयार करके स्वयं दान नहीं दे सकते हैं, अतः उत्तम त्याग धर्म में साधु; मात्र ज्ञान दान, अभय दान; ये दोनों दान ही देता है, अतः दशधर्मों के त्याग धर्म में टीकाकार ने ज्ञानादि दान को त्याग कहा है।

(९) उत्तम आकिञ्चन्य—जो शरीरादिक उपात्त (लब्ध प्राप्त) हैं, उनमें भी संस्कार का त्याग करने के लिए “यह मेरा है” इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना उत्तम आकिञ्चन्य है। जिसका कुछ नहीं है, वह उत्तम अकिञ्चन, उसका भाव उत्तम आकिञ्चन्य है।

(१०) उत्तम ब्रह्मचर्य—अनुभूत स्त्री का स्मरण न करने से; स्त्री विषयक कथा के सुनने का त्याग करने से और स्त्री से सटकर; सोने व बैठने का त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है अथवा स्वतन्त्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करना उत्तम ब्रह्मचर्य है।

दिखाई देने वाले प्रयोजन का निषेध करने के लिए अर्थात् ख्याति-पूजा-लाभ आदि की निवृत्ति के लिए सूत्र में आगे उत्तम विशेषण लगा है।

इस प्रकार जीवन में उतारे गये स्वगुण और प्रतिपक्षभूत दोषों के सद्भाव में यह लाभ और हानि है, इस तरह की भावना से प्राप्त हुए; ये धर्म संज्ञा वाले उत्तम क्षमादिक संवर के कारण हैं।

जिज्ञासा—तीसरा संवर का हेतु उत्तमक्षमा आदिक दश धर्म कहा है, किन्तु यह जीव; क्षमादिक का अवलम्बन किस कारण से लेता है; क्रोधादि को प्राप्त क्यों नहीं होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा लोकबोधि-
दुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥७॥**

सूत्र उच्चारण—अनित्या-शरण-, संसारैकत्वा-न्यत्वा-, शुच्यास्रव-, संवर-निर्जरा-, लोक-बोधिदुर्लभ-, धर्मस्वाख्या-, तत्वानु-चिन्तन-, मनुप्रेक्षाः ॥७॥

सन्धि विग्रह—अनित्य-अशरण-संसार-एकत्व-अन्यत्व-अशुचि-आस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यातत्व-अनुचिन्तनम् अनुप्रेक्षाः ॥७॥

सूत्रार्थ—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्म; इनके नाम अनुसार इनके भावों का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

लब्धार्थ—संसार, शरीर एवं भोगों के स्वरूप का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है अर्थात् इनके स्वरूप को अपने भावों में रखकर चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। जिससे संसार, शरीर एवं भोगों से विरक्ति-वैराग्य होता है और वैराग्य से कर्मों की संवर एवं निर्जरा भी होती है।

संसार, शरीर एवं भोगों की चिन्ता करने से कर्मों का आस्रव एवं बन्ध होता है, अतः चिन्ता की जगह चिन्तन करना चाहिए, जिससे कर्मों की संवर एवं निर्जरा होती है।

(१) अनित्य भावना—ये समुदायरूप शरीर, इन्द्रिय विषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य; जल के बुल-बुले के समान अनवस्थित स्वभाव वाले हैं तथा गर्भादि अवस्था विशेषों में सदा प्राप्त होने वाले संयोगों से विपरीत अर्थात् वियोग स्वभाव वाले हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता का अनुभव करता है, परन्तु वस्तुतः आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव के सिवा इस संसार में अन्य कोई भी पद; ध्रुव-स्थिर-नित्य नहीं है, इस प्रकार का चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

इस प्रकार से चिन्तन करने वाले भव्य जीव के संसार, शरीर एवं भोगों में आसक्ति का अभाव होता है। यह अनित्य भावना भाने वाले जीव के भोगादिक के प्रति ऐसी प्रतिक्रिया होती है।

अनित्य भावना का फल; जैसे-भोग-उपभोग के पदार्थ गन्ध-माला आदि उपभोग करने के बाद उनके छोड़ने में सन्ताप-संकलेश आदि नहीं होता है। उसी प्रकार संसार, शरीर एवं भोगों के वियोग होने पर कोई खेद-सन्ताप नहीं होता है, यह अनित्य भावना भाने (चाहने) का फल है।

(२) अशरण भावना—जैसे-एकान्त में भूखे और मांस के लोभी, बलवान् व्याघ्र के द्वारा दबोचे गए मृग शिशु के लिए कुछ भी शरण नहीं होता। वैसे ही जन्म-जरा-मृत्यु और व्याधि आदि दुःखों के मध्य में परिभ्रमण करने वाले जीव का कुछ भी शरण नहीं है।

परिपुष्ट हुआ शरीर भी भोजन के प्रति सहायक है, दुःखों के प्राप्त होने पर नहीं। यत्न से सञ्चित किया हुआ धन भी भवान्तर में साथ नहीं जाता। जिन्होंने सुख और दुःख को समानरूप से बाँट लिया है, ऐसे मित्र भी मरण के समय रक्षा नहीं कर सकते हैं। मिलकर बन्धुजन; रोग से व्याप्त इस जीव की रक्षा करने में असमर्थ होते हैं।

यदि सुचरित धर्म हो तो वह ही दुःखरूपी महासमुद्र से तरने का उपाय हो सकता है। मृत्यु से ले जाने वाले इस जीव के सहस्रनयन अर्थात् इन्द्र आदि भी शरण नहीं है, इसलिए संसार के विपत्तिरूप स्थान में धर्म ही शरण है। वही मित्र है और वही कभी न छूटने वाला अर्थ-धन है, अन्य कुछ भी शरण नहीं है, इस प्रकार की भावना करना अशरण-अनुप्रेक्षा है।

इस प्रकार से चिन्तन करने वाले भव्य जीव के “मैं सदा अशरण हूँ” इस तरह अतिशय उद्विग्न होने के कारण संसार के कारणभूत पदार्थों में ममता नहीं रहती है, यह अशरण भावना भाने वाले जीव के पदार्थों के प्रति ऐसी प्रतिक्रिया होती है।

अशरण भावना का फल; अशरण भावना को भाने वाला भव्य जीव; सच्चे भगवान् अरिहन्त-सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग में ही प्रयत्नशील-शरणभूत हो जाता है अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण में आ जाता है, यह अशरण भावना भाने का फल है।

(३) संसार भावना—कर्म विपाक के वश से आत्मा का भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। अनेक योनि एवं कुल, लाख कोटि से व्याप्त इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव, कर्म यन्त्र से प्रेरित होकर; पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है। माता होकर भगिनी, भार्या और लड़की होता है। स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रङ्ग स्थल में नट नाना रूप धारण करता है। उस प्रकार यह होता है अथवा बहुत कहने से क्या प्रयोजन, स्वयं अपना पुत्र होता है (कार्तिकेय-अनुप्रेक्षा में अठारह नाते की कथा है) इत्यादिरूप से संसार के स्वभाव का चिन्तन करना संसार-अनुप्रेक्षा है।

इस प्रकार चिन्तन करते हुए, संसार के दुःख के भय से उद्विग्न होते हुए, इसके संसार से निर्वेद होता है, यह संसार भावना भाने वाले जीव के संसार के प्रति ऐसी प्रतिक्रिया होती है।

संसार भावना का फल; संसार, शरीर, भोगों से अनासक्त होकर संसार का नाश करने के लिए भव्य जीव प्रयत्न करता है, यह संसार भावना भाने का फल है।

(४) **एकत्व भावना**—जन्म, जरा और मरण की आवृत्तिरूप महादुःख का अनुभवन करने के लिए “अकेला मैं ही हूँ, न कोई मेरा स्व है और न पर है” अकेला ही जन्मता हूँ, अकेला ही मरता हूँ। मेरा कोई स्वजन या परजन; व्याधि, जरा-मरण आदि दुःखों को दूर नहीं करता।

बन्धु और मित्र; श्मशान से आगे नहीं जाते। धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़ने वाला सदा काल सहायक है, इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

इस प्रकार का चिन्तन करने वाले इस जीव को स्वजनों के प्रति; प्रीति का अनुबन्ध नहीं होता और परजनों के प्रति; द्वेष का अनुबन्ध नहीं होता है, यह एकत्व भावना भाने वाले जीव में अपनों से राग; दूसरों से द्वेष की भावना समाप्त हो जाती है।

एकत्व भावना का फल; एकत्व भावना वाले निःसङ्गता को प्राप्त होकर मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करते हैं।

(५) **अन्यत्व भावना**—शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। जैसे—बन्ध के प्रति अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से “मैं” अन्य हूँ। शरीर ऐन्द्रियिक (इन्द्रिय वाला) है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ, शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर सादि-अन्त वाला है और मैं अनादि-अनन्त हूँ। संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गए, उनसे भिन्न वह ही “मैं हूँ”।

इस प्रकार शरीर से भी जब मैं अन्य हूँ तब हे वत्स ! मैं बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊँ तो इसमें क्या आश्चर्य ? इस प्रकार मन को समाधान युक्त करने वाले शरीरादिक में स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है, अन्यत्व भावना भाने वाले जीव के शरीरादिक के प्रति ऐसी प्रतिक्रिया होती है।

अन्यत्व भावना का फल; इससे तत्त्वज्ञान की भावना पूर्वक वैराग्य की वृद्धि होने पर आत्यन्तिक (अन्त में शीघ्र) मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

एकत्व एवं अन्यत्व अनुप्रेक्षा में मात्र विधि-निषेध का अन्तर है। जैसे—मैं अकेला हूँ एकत्व, मेरे से सब भिन्न हैं अन्यत्व। मैं किसी का नहीं एकत्व, मेरा कोई नहीं अन्यत्व आदि।

(६) **अशुचि भावना**—यह शरीर अत्यन्त अशुचि पदार्थों की योनि है। शुक्र और शोणितरूप अशुचि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, शौच गृह के समान अशुचि पदार्थों का भाजन है, त्वचा मात्र से आच्छादित है। अति दुर्गन्ध रस को बहाने वाला झरना है। अङ्गार के समान अपने आश्रय में आये हुए पदार्थ को भी अति शीघ्र ही नष्ट करता है।

स्नान, अनुलेपन, धूप की मालिश और सुगन्धित माला आदि के द्वारा भी इसकी अशुचिता को दूर करना शक्य नहीं है, किन्तु अच्छी तरह भावना किये गए सम्यग्दर्शन आदिक जीव की आत्यन्तिक शुद्धि को प्रकट करते हैं। जैसा कि समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—“स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रय पवित्रते” निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता। स्वभाव से अपवित्र शरीर भी रत्नत्रय के धारण करने से पवित्र-पूज्य हो जाता है। इस प्रकार वास्तविक रूप से चिन्तन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है।

इस प्रकार चिन्तन करने वाला; ऐसे अशुचि शरीर से निर्वेद होता है, ऐसी अशुचि भावना भाने वाले जीव के शरीर आदि के प्रति ऐसी प्रतिक्रिया होती है।

अशुचि भावना का फल; शरीरादि से उदासीन होकर जन्मोदधि से तिरने के लिए चित्त लगाता है।

(७) **आस्रव भावना**—आस्रव; इस लोक और परलोक में दुःखदायि हैं। महा-नदी के वेग के समान तीक्ष्ण हैं तथा इन्द्रियाँ; वनगज, कौआ, सर्प, पतङ्ग और हरिण आदि को दुःखरूप समुद्र में अवगाहन कराती हैं।

१. **वनगज**—जङ्गल में हाथी को पकड़ने के लिए, स्पर्शन इन्द्रिय की प्रतीक नकली हथिनी को गड्ढे के ऊपर घास आदि डालकर खड़ा कर देते हैं, जिससे हाथी; हथिनी के प्रति आकर्षित होकर गड्ढे में गिरकर पराधीन होकर दुख उठाता है।

२. **कौआ**—कौआ; रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर संसार की अशुचि से अशुचि वस्तु को खा लेता है। कभी-कभी कौआ; बहती लाश पर बैठकर अथाह समुद्र में पहुँच कर मर जाता है।

३. **सर्प**—सर्प; चन्दन जैसे सुगन्धित पदार्थों का अनुरागी होता है, जहाँ सुगमता से मोर द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है।

विशेष—चन्दन के सूखे वृक्ष पर ही सर्प लिपटते हैं, हरे-भरे वृक्षों पर नहीं; कारण कि चन्दन के वृक्ष सूखने पर उसके तने में चटकन से दरारें आ जाती हैं, जिससे चन्दन की सुगन्ध बाहर फैलने लगती है, उस गन्ध से आकर्षित होकर ही सर्प उस वृक्ष से लिपटते हैं।

४. **पतङ्ग**—पतङ्ग; चक्षु इन्द्रिय की आसक्ति से दीपक में जलकर मर जाता है।

५. **हरिण**—हरिण; कर्ण इन्द्रिय के वशीभूत होकर बहेलियों द्वारा पकड़े जाते हैं।

कषाय एवं अव्रतरूप परिणाम भी इस लोक में वध, बन्ध, अपयश और क्लेशादिक दुःखों को उत्पन्न करते हैं तथा परलोक में नाना प्रकार के दुःखों से प्रज्ज्वलित नाना गतियों में परिभ्रमण कराते हैं, इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिन्तन करना आस्रव-अनुप्रेक्षा है।

इस प्रकार चिन्तन करने वाले जीव के क्षमादिक में कल्याणरूप बुद्धि का त्याग नहीं होता है, ऐसी आस्रव भावना भाने वाले जीव के इन्द्रिय आदि विषयों के प्रति ऐसी प्रतिक्रिया होती है।

आस्रव भावना का फल ; कछुए के समान अपनी आत्मा को संवृत कर लिया है जिसने, उसके ये सभी आस्रव के दोष नहीं होते हैं।

(८) **संवर भावना**—जैसे-महासमुद्र में नाव के छिद्र ढँके नहीं रहने पर, क्रम से झिरे हुए जल से व्याप्त होने पर, उसके आश्रय से बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यम्भावी है और उस छिद्र के ढँके रहने पर, निरुपद्रवरूप से अभिलषित देशान्तर का प्राप्त होना अवश्यम्भावी है। उसी प्रकार कर्मागम के द्वार के ढँके होने पर कल्याण का प्रतिबन्ध नहीं होता है, इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है।

इस प्रकार चिन्तन करने वाले जीव के संवर में निरन्तर उद्यमशीलता रहती है, ऐसी संवर भावना भाने वाले के पुरुषार्थ होता है। संवर भावना का फल—इस प्रकार संवर करने से कर्मों की निर्जरा होती है, जिसका फल नियम से मोक्षपद की प्राप्ति है।

(९) **निर्जरा भावना**—वेदना विपाक का नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला; जिसे सविपाक एवं अविपाक भी कहते हैं।

१. **अबुद्धिपूर्वा**—सविपाक निर्जरा-नरकादि गतियों में कर्म फल के विपाक से जायमान जो निर्जरा है, वह सविपाक-अकुशलानुबन्धा है अर्थात् कर्म; निर्जरा होते समय शुभाशुभयोग द्वारा शुभाशुभरूप नवीन कर्म का बन्ध भी करा देता है।

२. **कुशलमूला**—अविपाक निर्जरा-परिषह जीतने पर जो निर्जरा होती है, वह कुशलमूला-अविपाक निर्जरा है। वह निर्जरा या तो शुभ का अनुबन्ध कराने वाली होने से **शुभोपयोगी जीव** के होने से शुभानुबन्धा कहलाती है अन्यथा **शुद्धोपयोगी जीव** के शुभाशुभ बन्ध रहित होने से निरनुबन्धा कहलाती है। इस निरनुबन्धा निर्जरा से ही जीव समस्त कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है,

इस प्रकार निर्जरा के गुण-दोष का चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है, ऐसी निर्जरा भावना भाने वाले जीव के कर्म के शुभ-अशुभ एवं शुद्ध; योग-उपयोग की ओर भेद होकर शुद्धोपयोगरूप क्रिया का पुरुषार्थ होता है।

निर्जरा भावना का फल; समस्त शुभ-अशुभ कर्मों को नाश करके शुद्ध अवस्था प्राप्त होती है।

(१०) **लोक भावना**—चारों ओर से अनन्त अलोकाकाश के बहु मध्य देश में स्थित; लोक के संस्थान आदि का भेद पूर्वक उसके स्वभाव का अनुचिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है।

लोक अनुप्रेक्षा का चिन्तन करने से जीव को अपने सही स्थान का परिचय होता है कि आज तक यह जीव कौन-कौन से स्थान में किन-किन परिस्थितियों में रहा, किन्तु इसका सही स्थान कौन-सा है? अतः मोक्ष भावना न लेकर लोक भावना को लिया है।

लोक भावना का फल; लोक भावना वाले के तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है।

(११) **बोधि दुर्लभ भावना**—इस भावना में जीव की उत्तरोत्तर दुर्लभ पर्यायों का वर्णन किया गया है—

इस जीव का अनादि निवास स्थान निगोद है। निगोद के दो भेद हैं—नित्यनिगोद और इतर निगोद।

१. जो जीव; नित्यनिगोद से निकलकर संसार की त्रसादिक पर्यायों को पञ्च परावर्तनरूप काल से व्यतीत करके पुनः निगोद में जाता है, उसे इतर निगोद या चतुर्गति निगोद कहते हैं। २. नित्यनिगोद; सातवें नरक के नीचे कलकला या कलङ्कल नामक पृथ्वी में है, जहाँ उनका निवास स्थान है। अनन्त स्कन्धों के समूह में से “एक स्कन्ध” में असंख्यात लोक प्रमाण “अण्डर” होते हैं। उनमें से “एक अण्डर” में असंख्यात लोक प्रमाण “आवास” होते हैं। उनमें से “एक आवास” में असंख्यातलोक प्रमाण “पुलवि” होते हैं। उनमें से “एक पुलवि” में असंख्यातलोक प्रमाण “निगोद शरीर” होते हैं। उनमें से “एक निगोद शरीर” में अनन्तानन्त निगोद जीवों का अवस्थान पाया जाता है। वहाँ पर एक निगोद शरीर के अनन्त जीवों का सामूहिकरूप से एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण होता है।

इन्हीं नित्यनिगोदिया जीवों में से छह महीने आठ समय में छह-सौ आठ जीव निकलकर संसार की व्यवहार राशि में आते हैं एवं इतने ही समय में छह-सौ आठ जीव संसार की व्यवहार राशि से निकलकर मोक्ष चले जाते हैं, जिससे संसारी जीवों की व्यवहार राशि बराबर बनी रहती है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यह जीव नित्यनिगोद से निकलकर व्यवहारराशि में कैसे आता है?

इस प्रश्न का उत्तर हमेशा विद्वानों द्वारा दिया जाता रहा है। जैसे-कोई एक भड़भूँजा (चना फोड़ने-सँकने वाला) जब भाड़ भूँजता है तब कोई विरला चने का दाना भाड़ से उचटकर भाड़ के बाहर आ जाता है। वैसे ही नित्यनिगोद से निकलकर जीव व्यवहार राशि में आ जाता है।

इस दृष्टान्त में भाड़ से उचटकर बाहर निकलने वाले चने की प्रवृत्ति का विश्लेषण करना अत्यन्त आवश्यक है कि यह चने का दाना; भाड़ से उचटकर बाहर कैसे आया ? कौन-सा निमित्त, कौन-सी पात्रता उस चने को भाड़ से बाहर निकालने में सहायक है ?

जब चनों को भाड़ में भूँजते हैं तब उसके पहले उन चनों को पानी में भिँगोकर फुलाते हैं पुनः भाड़ में भूँजते हैं। भाड़ में भूँजते समय भट्टी की गर्मी से गीले चनों के दानों में वाष्प का निर्माण होता है। जिस चने के दाने में एक निश्चित अनुपात में वाष्प बन जाती है, वह वाष्प विस्फोट करती है। यदि वह चने का दाना भाड़ में नीचे की तरफ हो तो वहीं फूटकर नीचे ही रह जाता है, लेकिन भाड़ की ऊपर की सतह पर हो तब विस्फोट के कारण भाड़ से उचटकर बाहर निकल आता है। ठीक इसी प्रकार नित्यनिगोदिया जीव; नित्य निगोद से निकलकर व्यवहार राशि में आ जाते हैं। इस प्रक्रिया में नित्यनिगोद से निकलने वाले जीव का कारण “जघन्य कापोत लेश्या के आठ मध्यम अंश के परिणाम” कहे हैं, क्योंकि नित्य निगोदिया जीवों की जघन्य कापोत लेश्या होती है और उसमें भी उस लेश्या के असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं। “कषायोदयरज्जितयोगप्रवृत्तिः लेश्याः”। जैसे-गर्मी और पानी के संयोग से वाष्प बनती है वैसे ही कषाय से अनुरज्जित-प्रभावित होकर योगों में जो परिवर्तन आता है, उसे लेश्या कहा जाता है।

जिस प्रकार भाड़ के चने को भाड़ से बाहर उचटाने में वाष्प कारण है, उसी प्रकार जघन्य कापोत लेश्या के महत्त्व पूर्ण आठ मध्यम अंश; इस जीव को नित्यनिगोद से बाहर निकालने तथा व्यवहार राशि के लिए कारण हैं, अतः इस जीव का नित्यनिगोद से व्यवहार राशि में आना अत्यन्त कठिन है।

एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से सम्पूर्ण लोक भरा हुआ है, अतः इस लोक में त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुका के समुद्र में पड़ी हुयी वज्र-सिकता (हीरा) की कणिका का प्राप्त होना। उसमें भी विकलेन्द्रिय जीवों की बहुलता होने के कारण गुणों में जिस प्रकार कृतज्ञता का गुण प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। उसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना अति कठिन है। उसमें भी पशु, मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यज्चों की बहुलता होती है। इसलिए जिस प्रकार चौपथ-चौराहे पर रत्नराशि का प्राप्त होना अति कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना भी अति कठिन है।

मनुष्य पर्याय के मिलने के बाद; उसके च्युत (छूटने) हो जाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति होना इतना कठिन है, जितना कि जले हुए वृक्ष के पुद्गलों का पुनः उस वृक्ष पर्यायरूप से उत्पन्न होना। कदाचित् पुनः इसकी प्राप्ति हो जावे तो देश-कुल-इन्द्रिय सम्पत् (पूर्णता) और नीरोगता; इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति न हो तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना; मुख व्यर्थ होता है। उसी प्रकार मनुष्य जन्म व्यर्थ है।

बोधिदुर्लभ का फल; इस प्रकार कठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्त कर विषय-सुख में रमना; भस्म के लिए चन्दन को जलाने के समान निष्फल है। कदाचित् विषय-सुख से विरक्त हुआ तो भी इसके लिए तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुख पूर्वक मरणरूप समाधि का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है। ऐसा विचार करना बोधि दुर्लभ भावना है। इस प्रकार का विचार करने वाले जीव के; बोधि को प्राप्त कर कभी भी प्रमाद नहीं होता है।

जिस प्रकार नित्य निगोद से निकलकर यह जीव अत्यन्त कठिनता से त्रसादि पर्यायों को प्राप्त कर मनुष्य पर्याय की पूर्णता को प्राप्त करता है। उसी प्रकार हमारा तो चिन्तन यह है कि उससे भी अधिक कठिन इन सबकी प्राप्ति की दुर्लभता का श्रद्धान-ज्ञान का होना है कि हमें यह मनुष्य पर्याय कितनी कठिनता, दुर्लभता से मिली है, अतः इस भावना का नाम बोधिदुर्लभ रखा गया है।

(१२) धर्म भावना—जिनेन्द्र देव ने यह जो अहिंसा लक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से वह रक्षित है, उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है।

विशेष—धर्म का लक्षण अहिंसा है; यह पहला वाक्य है, क्योंकि पाप की शुरुआत हिंसा से होती है, अतः धर्म की शुरुआत अहिंसा से होगी। अहिंसा का आधार सत्य है, अतः दूसरा वाक्य है, सत्य उसका आधार है। विनय उसकी जड़ है, यह तीसरा वाक्य है अर्थात् मान रहितपना अर्थात् मार्दवता से ही उसकी मजबूती है। क्षमा उसका बल है, यह चौथा वाक्य है अर्थात् क्रोध रहितपना से अहिंसा को बल मिलता है—अहिंसा पुष्ट होती है। ब्रह्मचर्य से वह रक्षित है, यह पाँचवाँ वाक्य है अर्थात् धर्म की रक्षा ब्रह्मचर्य से होती है। उपशम की प्रधानता है उसमें; यह छठवाँ वाक्य है, इसमें “उपशम” पद से माया रहित आर्जवता एवं शौच अर्थात् लोभ रहित होना सिद्ध होता है। नियत उसका लक्षण है, यह सातवाँ वाक्य है अर्थात् उपरोक्त धर्म का स्वरूप कभी पलटने वाला नहीं है, ‘वस्तुस्वभावधम्मो’ यह धर्म का नियत लक्षण है। परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है, यह आठवाँ वाक्य है अर्थात् अपरिग्रह अन्त में है, जिससे सिद्ध होता है कि धर्म का उत्कर्ष अपरिग्रह से होता है।

संक्षिप्त—क्षमा-क्रोध। विनय-मान। उपशम-माया। अपरिग्रह-लोभ। अहिंसा-धर्म। सत्य-आधार।
अचौर्य-उपशम। ब्रह्मचर्य-रक्षक। अपरिग्रह-अवलम्बन।

धर्म भावना में चार कषाय एवं पाँच पापों के स्वरूप को समझकर छोड़ना ही; धर्म का नियति लक्षण बनेगा।

धर्म भावना का फल; इस प्रकार नियतिरूप धर्म की प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म विपाक से जायमान दुःख को अनुभव करते हुए; ये जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं। इस प्रकार चिन्तन करने वाले जीव के धर्मानुरागवश उसकी प्राप्ति के लिए सदा यत्न होता है, परन्तु ऐसे धर्म का लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्ति पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है, यही इस भावना का फल है। ऐसा चिन्तन करना धर्म स्वाख्या तत्त्वानुचिन्तन अनुप्रेक्षा है।

विशेषार्थ—सर्व प्रथम; संसार, शरीर एवं भोगों के स्वरूप में अनित्यता का चिन्तन करें। यदि मन; अनित्यता से नहीं मानता है तो अशरणता का अवलम्बन लें और ऐसा विचार करें कि जो वस्तु स्वयं में अनित्य है, वह दूसरों को शरण कैसे दे सकती है? यदि मन; अशरण वस्तु को शरण बनाने की चेष्टा करता है तो संसार की वृद्धि होती है। इस संसार में जीव; एकत्वरूप अकेला ही परिभ्रमण करता है, इसका कोई अन्य साथ नहीं देता है, अतः अन्यत्व भावना को प्राप्त करता है। इस जीव के अन्य कोई साथ देने की तो दूर रहे, यह शरीर जिसके पीछे सभी प्रपञ्च रचे; यह अशुचि-अपवित्र है, इसके आश्रय से ही तीन योग होते हैं, जो कर्म आस्रव में कारण हैं।

इस कर्म आस्रव को रोकने के लिए संवर की सामग्री चाहिए। आने वाले कर्म तो संवर से रुक गए, किन्तु सत्तागत कर्म की निर्जरा करके लोक में मोक्ष का यथार्थ स्वरूप और स्थान कैसा है? अतः लोक भावना का अवलम्बन लें।

इस लोक में अपने आत्म-स्वरूप के अस्तित्व का बोध होना अत्यन्त दुर्लभ है, अतः बोधिदुर्लभ भावना को सही दिशा देने के लिए धर्म भावना का आश्रय लें; तभी ये बारह अनुप्रेक्षायें कर्मों के संवर में हेतु बन सकेंगीं।

इस प्रकार अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं का सान्निध्य मिलने पर उत्तम क्षमादि के धारण करने से महान् संवर होता है, अतः अनित्यादि अनुप्रेक्षा के पहले क्षमादि दश धर्मों को रखा अर्थात् धर्म के बाद अनुप्रेक्षा का कथन किया, क्योंकि अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता हुआ यह जीव; उत्तम क्षमादि दश धर्मों को ठीक तरह से पालन करता है और सूत्र में क्रम प्राप्त आगे के बाईस परिषहों को जीतने के लिए उत्साहित होता है, अतः दश धर्मों और बाईस परिषहों के मध्य अनुप्रेक्षाओं का कथन किया है।

जिज्ञासा—वे परिषह कौन-से हैं और क्यों सहन किए जाते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः ॥८॥

सूत्र उच्चारण—मार्गा-च्यवन-, निर्जरार्थं, परिषोढव्याः, परिषहाः ॥८॥

सन्धि विग्रह—मार्ग-अच्यवन-निर्जरा-अर्थम् परिषोढव्याः परिषहाः ॥८॥

सूत्रार्थ—मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए जो सहन करने योग्य हों, वे परिषह हैं।

लब्धार्थ—संवर का प्रकरण होने से; वह मार्ग का विशेषण है अर्थात् मार्ग पद से संवर मार्ग का ग्रहण करना चाहिए, उस संवरमार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए सहन करने योग्य परिषह होते हैं।

विशेषार्थ—क्षुधा, पिपासा आदि को सहन करने वाले, जिनदेव के द्वारा कहे हुए मार्ग से च्युत नहीं होने वाले, मार्ग के सतत अभ्यासरूप परिचय के द्वारा कर्मागम द्वार को संवृत (रोकने) करने वाले तथा औपक्रमिक-उदीरणा से कर्म फल को अनुभव करने वाले; क्रम से कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि गुप्ति, समिति, धर्म एवं अनुप्रेक्षा की सिद्धि परिषहजय से होती है, अतः संवर के कारणों का क्रम इस प्रकार से रखा है।

जिज्ञासा—अब उन परिषहों के स्वरूप एवं संख्या क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-
याचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥९॥**

सूत्र उच्चारण— क्षुत्-पिपासा-, शीतोष्ण-, दंशमशक-, नाग्न्या-रति-स्त्री-, चर्या-निषद्या-शय्या-, क्रोश-वध-याचना-, लाभ-रोग-, तृणस्पर्श-मल-, सत्कारपुरस्कार-, प्रज्ञा-ज्ञाना-, दर्शनानि ॥९॥

सन्धि विग्रह — क्षुत्-पिपासा-शीत-उष्ण-दंशमशक-नाग्न्य-अरति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्या-आक्रोश-वध-याचना-अलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कारपुरस्कार-प्रज्ञा-अज्ञान-अदर्शनानि ॥९॥

सूत्रार्थ—(१) क्षुधा; (२) पिपासा; (३) शीत; (४) उष्ण; (५) दंशमशक; (६) नग्नता; (७) अरति; (८) स्त्री; (९) चर्या; (१०) निषद्या; (११) शय्या; (१२) आक्रोश; (१३) वध; (१४) याचना; (१५) अलाभ; (१६) रोग; (१७) तृणस्पर्श; (१८) मल; (१९) सत्कार-पुरस्कार; (२०) प्रज्ञा; (२१) अज्ञान; (२२) अदर्शन; ये नाम वाले बाईस परिषह हैं।

लब्धार्थ—परिषह तीन प्रकार के होते हैं—(१) स्वकृत; (२) परकृत; (३) कर्मकृत।

(१) स्वकृत — उपवास आदि।

(२) परकृत — चार प्रकार के उपसर्ग आदि।

(३) कर्मकृत — अज्ञान आदि।

उपसर्ग कारण हैं एवं परिषह उनके कार्य हैं।

क्षुधादिक वेदना विशेष बाईस परिषह हैं, मोक्षार्थी पुरुष को इन्हें सहन करना चाहिए।

विशेषार्थ—(१) क्षुधा-परिषहजय—जो भिक्षु; निर्दोष आहार का शोध करता है। जो भिक्षा के नहीं मिलने पर या अल्प मात्रा में मिलने पर क्षुधा वेदना को प्राप्त नहीं होता है, अकाल में या अदेश में जिसे भिक्षा लेने की इच्छा नहीं होती, आवश्यकों की हानि को जो थोड़ा भी सहन नहीं करता। जो स्वाध्याय और ध्यानभावना में तत्पर रहता है। जिसने अनेक बार स्वकृत और परकृत (प्रायश्चित्त विधि के) अनशन व अवमौदर्य तप किया है। जो नीरस आहार को लेता है। अत्यन्त गरम भाण्ड में गिरि हुई जल की कतिपय बूंदों के समान जिसका गला सूख गया है और क्षुधावेदनीय की उदीरणा होने पर भी जो भिक्षालाभ की अपेक्षा; उसके अलाभ को अधिक गुणकारी मानता है, उसका क्षुधाजन्य बाधा का चिन्तन नहीं करना क्षुधा परिषहजय है।

विशेष—संसार में सबसे अधिक कठिन है क्षुधा को जीतना; कारण कि प्राणीमात्र चार संज्ञाओं के आधीन हैं—

चार संज्ञाओं में पहली संज्ञा; आहार संज्ञा है।

चार दानों में; प्रथम आहारदान है।

चार विकथा में; प्रथम भोजन कथा है।

अठारह दोषों में; प्रथम क्षुधा दोष है।

बाईस परिषहों में; प्रथम क्षुधा परिषह है।

बारह तपों में; प्रथम चार तप भोजन के हैं।

चारों आयु कर्म का नोकर्म; आहार है ।
 स्वस्थ रहने के लिए; सबसे पहले भोजन की शुद्धि ।
 झगड़े में; प्रथम भोजन का त्याग ।
 एक करने में; प्रथम प्रीतिभोज करो ।
 अपनी बात मनमाने में; पहले भोजन का त्याग ।
 घर से अलग होने में; पहले भोजन अलग ।
 परदेश गमन में; पहले भोजन की चिन्ता ।
 शहर-गाँव में मुनिराज आने पर; श्रावकों को पहले उनके आहार की चिन्ता ।
 मुनिराज को अपने आहार में; छ्यालीस दोष आहार के टालने की चिन्ता ।
 पेट की बीमारियों में; आहार सम्बन्धी, भस्मक व्याधि होती है ।
 खानदान की पहचान; खान-पान से होती है ।
 जिनका बिगड़ा खान-पान; उनका बिगड़ा खानदान ।

व्यक्तित्व की पहचान; खान-पान के तरीके से होती है । जैसे-ये खाते-पीते घर के हैं की जगह; ये पीते-खाते हैं, कहने से; खराब व्यक्तित्व समझा जाता है।

व्रती बनने की पहली शर्त; भोजन की शुद्धि है, अतः महाव्रतियों को भी आहार आदि न मिलने पर, पहले ही क्षुधा परिषह का कथन किया है ।

कठिन क्षुधा वेदना होने पर भी जो भिक्षा लाभ की अपेक्षा, उसके अलाभ को अधिक गुणकारी मानने से कर्मों का विशेष संवर होता है ।

(२) पिपासा-परिषहजय—जिसने जल से स्नान करने, उसमें अवगाहन करने और उससे सिञ्चन करने का त्याग कर दिया है, जिसका पक्षी के समान आसन और आवास नियत नहीं है, जो अति खारे, अति स्निग्ध और अति रुक्ष; प्रकृति विरुद्ध आहार, ग्रीष्म कालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदि के कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियों को मथने वाली पिपासा का प्रतिकार करने में आदर भाव नहीं रखता और जो पिपासारूपी अग्नि शिखा को सन्तोषरूपी नूतन मिट्टी के घड़े में भरे हुए, शीतल सुगन्धी-समाधिरूपी जल से शान्त कर रहा है, उसके पिपासाजय प्रशंसा के योग्य है ।

विशेष—इस पिपासा परिषहजय में; प्यास लगने के प्राकृतिक अथवा स्वकृत जितने भी प्रयोग हैं, उनका वर्णन एवं प्यास शान्त करने के जितने भी उपाय हैं, उनका कथन करने के बाद; जिस उपमा-उपमेय से सम्बोधन करके साधु अपनी प्यास को शान्त करते या जीतते हैं, वह पिपासा परिषहजय है ।

(३) शीत-परिषहजय—जिसने आवरण का त्याग कर दिया है, पक्षी के समान जिसका आवास निश्चित नहीं है, वृक्षमूल, चौपथ और शिलातल आदि पर निवास करते हुए, बर्फ गिरने पर और शीतल हवा के झोंके आने पर उसका प्रतिकार करने की इच्छा से जो निवृत्ति है, पहले अनुभव किए गए शीत के प्रतिकार के हेतुभूत वस्तुओं का जो स्मरण नहीं करता और जो ज्ञान भावनारूपी गर्भागार में निवास करता है, उसके शीतवेदना जय प्रशंसा के योग्य है ।

विशेष—इस शीत परिषहजय में; शीत लगने के जितने भी प्राकृत कारण हैं, उनका वर्णन एवं उस शीत के प्रतिकार करने वाले साधनों का अस्मरण करने के बाद; जिस उपमा-उपमेय से स्वयं को शीत से सुरक्षित करता है, वह शीत परिषहजय है।

(४) **उष्ण-परिषहजय**—निर्वात-वायु रहित और निर्जल-जल रहित तथा ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों से सूखकर पत्तों के गिर जाने से पत्र-छाया रहित वृक्षों से युक्त; ऐसे वन के मध्य जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त हुआ है, अनशन आदि आभ्यन्तर साधनवश जिसे दाह उत्पन्न हुई है, दावाग्नि (जङ्गल की अग्नि) जन्य दाह, अति कठोर वायु और आतप के कारण जिसे गले और तालु में शोष (जलन) उत्पन्न हुआ है। जो उसके प्रतिकार के बहुत से अनुभूत हेतुओं को जानता हुआ भी उनका चिन्तन नहीं करता है तथा जिसका प्राणियों की पीड़ा के परिहार में चित्त लगा हुआ है, उस साधु के चारित्र के रक्षणरूप उष्ण परिषहजय कही जाती है।

विशेष—इस उष्ण परिषहजय में; उष्णता के बाह्य और आभ्यन्तर कारणों के मिलने से जो शारीरिक सन्ताप होता है, उस सन्ताप के दूर करने वाले अनुभूत प्रयोगों को जानता हुआ भी उनका प्रयोग तो क्या, चिन्तन भी नहीं करता है, क्योंकि उष्णता को दूर करने वाले प्रयोगों से जीवों की विराधना होगी, अतः चारित्र की रक्षा के लिए उष्ण परिषहजय किया जाता है।

(५) **दंशमशक-परिषहजय**—सूत्र में “दंशमशक” पद से दंशमशक, मक्खी, पिस्सू, छोटी मक्खी, खटमल, कीट, चींटी और बिच्छु आदि का ग्रहण होता है। जो इनके द्वारा की गयी बाधा-पीड़ा को बिना प्रतिकार किए सहन करता है, उन्हें मन-वचन-काय से बाधा नहीं पहुँचाता है और निर्वाण की प्राप्ति रूप संकल्प ही जिसका मात्र ओढ़ना है, उसके; उनकी वेदना को सह लेना दंशमशक परिषहजय कहा जाता है।

विशेष—सूत्र में दंशमशक उपलक्षण मात्र है अर्थात् दंशमशक के समान जितने भी जीव-जन्तु पीड़ा देते हैं; वे सब दंशमशक के अन्तर्गत आते हैं, अतः पीड़ा पहुँचाने वाले जीव-जन्तुओं के प्रति; मन-वचन-काय से बाधा नहीं पहुँचाता, किन्तु उनके द्वारा दी हुई पीड़ा को सहने के लिए जैसे-मच्छर आदि से बचने के लिए शरीर को वस्त्र उढ़ा देते हैं। वैसे ही निर्वाण की प्राप्ति रूप संकल्प ही जिसका ओढ़ना है, उसके दंशमशक परिषहजय होता है।

(६) **नाग्न्य-परिषहजय**—बालक के स्वरूप के समान जो निष्कलङ्क जातरूप को धारण करनेरूप है। जिसका याचना करने से प्राप्त होना अशक्य है। जो याचना, रक्षा करना और हिंसा आदि दोषों से रहित है। जो निष्परिग्रहरूप होने से निर्वाण प्राप्ति का एक अनन्य साधन है, अन्य बाधाकर नहीं है ऐसी नाग्न्यता को जो धारण करता है। जो मन की विक्रियारूप उपद्रव से रहित होने के कारण स्त्रियों के रूप को अत्यन्त अपवित्र, दुर्गन्धित अनुभव करता है और जो रात-दिन अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करता है, उसके निर्दोष नाग्न्य-अचेलव्रत जानना चाहिए।

विशेष—इस नाग्न्य परिषहजय में, स्वयं की नग्नता की उपलब्धि की कठिनता का; उसकी रक्षा का एवं उसके परिपालन का कथन है। “नग्नो हि मोक्ष मग्नो” नग्नता ही मोक्षमार्ग है।

जैन साधुओं की नग्नता अन्य मतावलम्बियों को भी आश्चर्य में डालने वाली है, श्रद्धा की मुद्रा है। जिस मुद्रा को तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती आदि महापुरुष धारण करते हैं, उस मुद्रा की मूर्तियों के अवशेष मोहन जोदड़ो आदि की खुदाई में मिले हैं। आज भी विश्व को आश्चर्य करने वाली सत्तावन फुट ऊँची बाहुबली की मूर्ति एक हजार वर्ष से दिगम्बरत्व की पहचान बनाये हुए हैं। बावनगजा की उत्तुंग आदिनाथ की मूर्ति, मांगीतुंगी की १०८ फुट उत्तुंग आदिनाथ की मूर्ति, उत्तर भारत में भी अनेक-अनेक विशाल मूर्तियाँ हैं, किन्तु फिरोजाबाद जिले के भरतेशपुरम-शिकोहाबाद में विश्व की प्रथम इकत्तीस फुट उत्तुंग कल्पतरु भरतेश भगवान की मूर्ति स्थापित है जो युग-युगान्तर तक जीवित रहेगी।

यह नग्नता चाहे मूर्ति के रूप में हो या प्रत्यक्ष साधु के रूप में, पञ्चपरमेष्ठी की नग्न मुद्रा सम्यग्दर्शन में कारण है।

(७) **अरति-परिषहजय**—जो संयत; इन्द्रियों के इष्ट विषय सम्बन्ध के प्रति निरुत्सुक है। जो गीत, नृत्य और वादित्र आदि से रहित शून्य-घर, देवकुल, वृक्षकोटर और पत्थर की गुफा आदि में स्वाध्याय, ध्यान और भावना में लीन है, पहले देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किए गए विषय-भोग के स्मरण, विषय-भोग सम्बन्धी कथा के श्रवण और कामशर प्रवेश के लिए जिसका हृदय निश्छिद्र है और जो प्राणियों के ऊपर सदा काल सदय है, उसके अरति परिषहजय जानना चाहिए।

विशेष—इस अरति परिषहजय में; रति के कारणभूत वाद्य-यन्त्र आदि की ध्वनि से मन-वचन-काय में राग नहीं होता। सांस्कृतिक-धार्मिक कार्यों में बजने वाले वाद्ययन्त्रों में भी स्वयं के मन-वचन-काय की प्रवृत्ति नहीं होती है। वाद्य यन्त्रों की ध्वनि सुनकर; गर्दन हिलाना, पैर हिलाना, हाथों की अँगुलियों से चौकी-पाटा या कोई भी वाद्य यन्त्र या ताली बजाना-बजवाना आदि तथा विषय-भोग सम्बन्धी रति के प्रसङ्गों को अपने हृदय में प्रवेश नहीं करने देता है, सभी का त्याग होता है तभी अरति परिषहजय सार्थक है। इन्द्रिय विषयों में नहीं है रति, अतः इसे कहते हैं अरति।

(८) **स्त्री-परिषहजय**—एकान्त; बगीचा और भवन आदि स्थानों पर नव यौवन, मद विभ्रम और मदिरापान से प्रमत्त हुयी स्त्रियों के द्वारा बाधा पहुँचाने पर कछुए के समान जिसने इन्द्रिय और हृदय के विकार को रोक लिया है तथा जिसने मन्द मुस्कान, कोमल भाषण, तिरछी नजरों से देखना, हँसना, मदभरी धीमी चाल से चलना और कामबाण मारना आदि को विफल कर दिया है, उसके स्त्री बाधा परिषहजय जानना चाहिए।

विशेष—इस स्त्री परिषहजय में; स्त्रियों की साधुओं के प्रति संसार सुख की आसक्ति का कथन किया है; कारण कि संसार सुख से अतृप्त स्त्रियाँ सोचती हैं कि साधुओं के ब्रह्मचर्यव्रत होने से उनके साथ अधिक समय तक संसार सुख भोगा जा सकता है, अतः वे स्त्रियाँ; साधुओं को रिझाने के अनेक उपाय करती हैं, जिनका वर्णन टीका में किया है, ऐसे उपायों को जीतना अर्थात् स्त्री को जीतना, स्त्री से जीतना, स्त्री परिषहजय है।

(९) **चर्या-परिषहजय**—जिसने दीर्घकाल तक गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य को धारण किया है, जिसने बन्ध-मोक्ष पदार्थों के स्वरूप को जान लिया है, संयम के आयतन शरीर को भोजन देने के लिए जो देशान्तर का अतिथि बना है, गुरु के द्वारा जिसे स्वीकृति मिली है। जो वायु के समान विसङ्गता को

स्वीकार करता है। बहुत बार अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रस परित्याग आदि जन्य बाधा के कारण जिसका शरीर परिक्लान्त है, देश और काल प्रमाण से रहित तथा संयम विरोधी मार्ग गमन का जिसने परिहार कर दिया है, जिसने खड़ाऊँ आदि का त्याग कर दिया है, तीक्ष्ण कङ्कड़ और काँटे आदि के बिंधने से चरणों में खेद के उत्पन्न होने पर भी पहले योग्य यान और वाहन आदि से गमन करने का जो स्मरण नहीं करता है तथा जो यथाकाल आवश्यकों का परिपूर्ण परिपालन करता है, उसके चर्या परिषहजय जानना चाहिए।

विशेष—इस चर्या परिषहजय में; चर्या-आहार को जाते हुए साधु के मन में बहुत से विकल्प उठ सकते हैं। जैसे—मैं आहार को जाऊँ तो कोई मुझे आहार के लिए पड़गाहेगा या नहीं, कल मेरा उपवास या अन्तराय था, अतः आहार के लिए दूर कैसे जाऊँ? उस श्रावक के यहाँ चर्या ठीक नहीं होती, वह श्रावक चर्या ठीक करवाता है, ऐसे संकल्प-विकल्प करना। चर्या में जाने का मार्ग कङ्कड़ीला-कटीला-कच्चा है, ऐसे अनेक विचार चर्या में नहीं आना, चर्या परिषहजय है।

(१०) **निषद्या-परिषहजय**—जिनमें पहले रहने का अभ्यास नहीं किया है, ऐसे श्मशान, उद्यान, शून्यघर, गिरि-गुफा और गह्वर आदि में जो निवास करता है, आदित्य के प्रकाश और स्वेन्द्रिय ज्ञान से परीक्षित प्रदेश में जिसने नियम क्रिया की है, जो नियत काल निषद्या लगाकर बैठता है, सिंह और व्याघ्र आदि की नाना प्रकार की भीषण ध्वनि के सुनने से जिसे किसी प्रकार का भय नहीं होता है, चार प्रकार के उपसर्ग सहन करने से जो मोक्षमार्ग से च्युत नहीं हुआ है तथा वीरासन और उत्कुटिका आदि आसन के लगाने से जिसका शरीर चलायमान नहीं हुआ है, उसके निषद्याकृत बाधा सहन करना निषद्या परिषहजय निश्चित होता है।

विशेष—इस निषद्या परिषहजय में; अज्ञात स्थान को परीक्षित करके नियत समय के लिए किसी आसन को चुनकर उस स्थान पर बैठ जाते हैं फिर पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं की डरावनी ध्वनि से विचलित नहीं होते, चारों प्रकार के उपसर्गों के होने पर भी आसन नहीं छोड़ते, यही निषद्या परिषहजय है।

(११) **शय्या-परिषहजय**—स्वाध्याय, ध्यान और अध्व (मार्ग) श्रम के कारण थककर जो कठोर, विषम तथा प्रचुर मात्रा में कङ्कड़ और खपरों के दुकड़ों से व्याप्त ऐसे अतिशीत तथा अत्युष्ण भूमि प्रदेशों में एक मुहूर्त प्रमाण निद्रा का अनुभव करता है। जो यथाकृत एक पार्श्व भाग से या दण्डायित आदिरूप से शयन करता है, करवट लेने से प्राणियों को होने वाली बाधा का निवारण करने के लिए जो गिरे हुए लकड़ी के कुन्दे के समान या मुर्दा के समान करवट नहीं बदलता, जिसका चित्त ज्ञान भावना में लगा हुआ है, व्यन्तरादि के द्वारा किए गए नाना प्रकार के उपसर्गों से भी जिसका शरीर चलायमान नहीं होता और जो अनियत कालिक तत्कृत बाधा को सहन करता है, उसके शय्या परिषहजय कहा जाता है।

विशेष—इस शय्या परिषहजय में; निद्रा के कारण, उसका समय एवं स्थान के कथन के साथ शयन मुद्रा एवं शयन में होने वाली बाधाओं का वर्णन किया गया है, जिन्हें जीतने से शय्या परिषहजय होती है।

(१२) **आक्रोश-परिषहजय**—मिथ्यादर्शन के उद्रेक से कहे गए जो क्रोधाग्नि की शिखा को बढ़ाते हैं ऐसे क्रोधरूप, कठोर, अवज्ञाकर, निन्दारूप और असभ्य वचनों को सुनते हुए भी जिसका; उनके विषय में चित्त नहीं जाता है, यद्यपि तत्काल उनका प्रतिकार करने में समर्थ हैं फिर भी यह सब

पापकर्म का विपाक है, इस तरह जो चिन्तन करता है, जो उन शब्दों को सुनकर तपश्चरण की भावना में तत्पर रहता है और जो कषायविष के लेशमात्र को भी अपने हृदय में अवकाश नहीं देता, उसके आक्रोश परिषह सहन निश्चित होता है।

विशेष—इस आक्रोश परिषहजय में; अज्ञान आदि के कारण कहे गए क्रोध आदि को बढ़ाने वाले हर तरह के असभ्य वचनों को सुनकर, अपना कर्मोदय मानकर, प्रतिकार शक्ति होते हुए भी तपश्चरण में उन शब्दों को साधक मानकर कषाय को विष के समान समझते हुए, उसे अपने हृदय में प्रवेश नहीं होने देता है, यही आक्रोश परिषहजय है।

(१३) **वध-परिषहजय**—तीक्ष्ण तलवार, मूसल और मुद्गर आदि अस्त्रों के द्वारा प्रहार-ताड़न और पीड़न आदि से जिसका शरीर तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है तथापि मारने वालों पर जो लेशमात्र भी मन में विकार नहीं लाता, यह मेरे पहले किये गये दुष्कर्म का फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं? यह शरीर जल के बुलबुले के समान विशरण स्वभाव है, दुःख के कारणों को ही ये अतिशय बाधा पहुँचाते हैं। मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र को कोई नष्ट नहीं कर सकता, इस प्रकार जो विचार करता है, वह वसूला से छीलने और चन्दन से लेप करने में समदर्शी होता है, इसलिए उसके वध परिषहजय माना जाता है।

विशेष—इस वध परिषहजय में; आक्रोशित व्यक्ति की प्रतिक्रिया न करने पर वह अनेक प्रकार के अस्त्रों से प्रहार आदि करके शरीर को अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचाता है, उस कष्ट को अपने कर्मोदय का फल मानकर, उसे स्वीकार कर शरीर की नश्वरता का चिन्तन करते हुए सोचते हैं कि इसने एक दण्ड ही तो मारा है, मूसल तो नहीं मारा। मूसल मारे तो सोचते हैं, इसने मुद्गर तो नहीं मारा। मुद्गर मारे तो सोचते हैं, इसने तलवार तो नहीं मारी; इस प्रकार अनेक विचार करते हुए सोचते हैं कि इसने जो कुछ किया इस नाशवान शरीर के साथ किया, मेरा रत्नत्रय तो सुरक्षित है, इसकी मुझे प्रसन्नता है। इस शरीर को चाहे कोई छीले या चन्दन लेपन करे; दोनों में समान दृष्टि होने पर ही वध परिषहजय होती है।

(१४) **याचना-परिषहजय**—जो बाह्य और आभ्यन्तर तप के अनुष्ठान करने में तत्पर हैं, जिसने तप की भावना के कारण अपने शरीर को सुखा लिया है, जिसका तीक्ष्ण सूर्य के ताप के कारण; सार और छाया रहित वृक्ष के त्वचा, अस्थि और शिराजाल से युक्त शरीरयन्त्र रह गया है, जो प्राणों का वियोग होने पर भी आहार, वसति और दवाई आदि की दीन शब्दों द्वारा, मुख की विवर्णता दिखा कर व संज्ञा-सङ्केत आदि के द्वारा याचना नहीं करता तथा भिक्षा के समय भी जिसकी मूर्ति; बिजली की चमक के समान दुरुपलक्ष्य रहती है, ऐसे साधु के याचना परिषहजय जानना चाहिए।

विशेष—इस याचना परिषहजय में; साधु के बाह्य और आभ्यन्तर; ये दोनों तप की सिद्धि होती है, क्योंकि जो साधु शरीर की सुरक्षा हेतु भी आहार, वसति, औषधि की याचना; दीन शब्दों से या मुख आदि के सङ्केत मात्र से भी नहीं करता, वह साधु; मन्दिर, मूर्ति, भवन, विद्यालय आदि के नाम से, पुस्तक-शास्त्र, संघ विहार आदि के नाम से, धर्म प्रभावना का प्रलोभन देकर, श्रावकों आदि से याचना

करता है, उसके अयाचना कभी नहीं हो सकती है; वह साधु नहीं, भिखारी है। हाँ ! श्रद्धालु-श्रावकों के विशेष आग्रह करने पर साधु के संयम योग्य आवश्यक साधनों को स्वीकार करना, लेकिन उसमें भी ममत्त्व भाव का त्याग रखना तभी याचना परिषहजय होता है।

(१५) अलाभ-परिषहजय—वायु के समान निःसङ्ग होने से जो अनेक देशों में विचरण करता है, जिसने दिन में एक काल के भोजन को स्वीकार किया है। जो मौन रहता है या भाषा समिति का पालन करता है, एक बार अपने शरीर को दिखलाना मात्र जिसका सिद्धान्त है, पाणिपुट ही जिसका पात्र है, बहुत दिन तक या बहुत घरों में भिक्षा के नहीं प्राप्त होने पर भी जिसका चित्त संक्लेश से रहित है, दाता विशेष की परीक्षा करने में निरुत्सुक है तथा लाभ से भी अलाभ के लिए परम तप है, इस प्रकार जो सन्तुष्ट है, उसके अलाभ परिषहजय जानना चाहिए।

विशेष—इस अलाभ परिषहजय में; साधु की भिक्षा के प्रति उदासीनता दर्शायी गई है, जिसमें दाता विशेष की अर्थात् गरीब-अमीर, छोटा-बड़ा, दाता-अदाता की परीक्षा नहीं करना, किन्तु साधु योग्य आहारदान देने वाला यदि दाता न मिले और आहार दान के अयोग्य दाता मिले तो उसके यहाँ आहार लाभ लेने की अपेक्षा; भिक्षा के अलाभ को ही श्रेयस्कर मानते हैं, क्योंकि साधु छ्यालीस दोषों को टालकर सुकुल-श्रावक के घर ही आहार लेते हैं, यही अलाभ परिषहजय है।

(१६) रोग-परिषहजय—यह सब प्रकार से अशुचि पदार्थों का घर है, यह अनित्य है और परित्राण-रक्षा से रहित है, इस प्रकार इस शरीर में सङ्कल्प रहित होने से जो विगत संस्कार है, गुणरूपी रत्नों के पात्र के सञ्चय, वर्द्धन, संरक्षण और संधारण का कारण होने से जिसने शरीर की स्थिति विधान को भले प्रकार स्वीकार किया है, धुर को ओंगन (ग्रीस जैसा चिकना पदार्थ) लगाने के समान या व्रण पर लेप करने के समान जो बहुत उपकार वाले आहार को स्वीकार करता है, विरुद्ध आहार-पान के सेवनरूप विषमता से जिसके वातादिक विकार-रोग उत्पन्न हुए हैं, एक साथ सैकड़ों व्याधियों का प्रकोप होने पर जो उनके आधीन नहीं हुआ है तथा तपोविशेष से जल्लौषधि की प्राप्ति आदि अनेक ऋद्धियों का सम्बन्ध होने पर भी शरीर से निस्पृह होने के कारण जो उनके प्रतिकार की अपेक्षा नहीं करता, उसके रोग परिषहजय जानना चाहिए।

विशेष—इस रोग परिषहजय में; अपने शरीर की अशुचिता, अनित्यता, अशरणता का चिन्तन करने से शरीर की ममता कम होती है व फिर भी यह शरीर रत्नत्रय का साधन होने के कारण, गाड़ी की धुर में ग्रीस लगाने के समान, आहार आदि करते हैं, किन्तु प्रकृति विरुद्ध आहार सेवन से वातादि जनित अनेक रोग उत्पन्न होने पर भी मन विचलित नहीं होता, रोग परिषहजय है। हाँ ! श्रावकों द्वारा दी गई औषधि को भी उदासीन भाव से ग्रहण करता है अन्यथा श्रावकों द्वारा दिया जाने वाला औषधिदान व्यर्थ ठहरेगा।

(१७) तृणस्पर्श-परिषहजय—जो कोई विंधनेरूप दुःख का कारण है, उसका “तृण” पद का ग्रहण उपलक्षण-प्रतीक है, सूखा तिनका, कठोर लकड़ी, कङ्कड़, काँटा, तीक्ष्ण मिट्टी और शूल आदि के विंधने से पैरों में वेदना होने पर उसमें; जिसका चित्त उपयुक्त नहीं है तथा चर्या, शय्या और निषद्या में प्राणीपीड़ा का परिहार करने के लिए जिसका चित्त निरन्तर प्रमाद रहित है, उसके तृणस्पर्शादि बाधा परिषहजय जानना चाहिए।

विशेष—इस तृणस्पर्श परिषहजय में; साधु के शरीर में चुभने वाले पदार्थ; जो चर्या, शय्या अथवा निषद्या के समय वेदना उत्पन्न करते हैं, उस वेदना को, त्रस-स्थावरप्राणियों की रक्षा के लिए सहन करते हैं। जैसे-मार्ग में चलते हुए कहीं चींटियों का झुण्ड आ गया अथवा गिझाईयों की बहुलता रास्ते में हो और उसके बाजु में कठोर कड़ु या सूखे तृण वाली भूमि है तो उस रास्ते से जीव बचाते हुए जो साधु निकलता है, उसके तृणस्पर्श नामक परिषहजय होता है।

(१८) **मल-परिषहजय**—जलकायिक जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए, जिसने मरण पर्यन्त अस्नान व्रत स्वीकार किया है, तीक्ष्ण सूर्य की किरणों के ताप से उत्पन्न हुए पसीना में जिसके पवन के द्वारा लाया गया धूलिसंचय चिपक गया है, सिध्म, खाज और दाद के होने से खुजली के होने पर भी जो खुजलाने, मर्दन करने और दूसरे पदार्थ से घिसनेरूप से रहित है। स्वगत मल का उपचय, परगत मल का अपचय होने पर जिसके मन में किसी प्रकार का विकल्प नहीं होता तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूपी विमल जल के प्रक्षालन द्वारा जो कर्ममल पङ्क को दूर करने के लिए निरन्तर उद्यतमति है, उससे होने वाली पीड़ा और पीड़ा का अप्रतिकार उपाय बतलाया है, यह मल परिषहजय है।

(१९) **सत्कारपुरस्कार-परिषहजय**—सत्कार का अर्थ पूजा-प्रशंसा है तथा क्रिया-आरम्भ आदिक में आगे करना या आमन्त्रण देना पुरस्कार है। इस विषय में यह मेरा अनादर करता है। चिरकाल से मैंने ब्रह्मचर्य का पालन किया है, मैं महातपस्वी हूँ, स्व-समय और पर-समय का निर्णयज्ञ हूँ, मैंने बहुत बार परवादियों को जीता है तो भी कोई मुझे प्रणाम और मेरी भक्ति नहीं करता और उत्साह से आसन नहीं देता। मिथ्यादृष्टि ही अत्यन्त भक्ति वाले होते हैं, कुछ नहीं जानने वाले को भी सर्वज्ञ समझकर, आदर-सत्कार करके अपने समय की प्रभावना करते हैं। व्यन्तरादिक पहले अत्यन्त उग्र तप करने वालों की प्रत्यग्र (प्रत्यक्ष) पूजा रचते थे, यह मिथ्या श्रुति नहीं है तो इस समय वे हमारे समान तपस्वियों की पूजा-अतिशय क्यों नहीं करते हैं? इस प्रकार खोटे अभिप्राय से जिसका चित्त रहित है, उसके सत्कारपुरस्कार परिषहजय जानना चाहिए।

विशेष—इस सत्कारपुरस्कार परिषहजय में; स्वयं आदर-सत्कार की भावना को जीतना एवं दूसरों के आदर-सत्कार के प्रति भी अप्रभावित रहना। ऐसा कभी नहीं सोचना कि हमारे लिए बहुत जगह से वर्षायोग या प्रवास के निमन्त्रण आते हैं, उनके लिए कोई नहीं पूछता या मेरे लिए सब कोई पूछता है। मेरी जयकार होती हैं, मेरी फोटो छपती है, मेरे इतने भक्त हैं—शिष्य हैं अथवा इससे विपरीत सोचना, इन सब में अपने और पर के आदर-सत्कार के प्रति उदासीन भाव रखना, सत्कार-पुरस्कार परिषहजय है।

(२०) **प्रज्ञा-परिषहजय**—मैं; अङ्ग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रों में विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में निपुण हूँ। मेरे आगे दूसरे जन; सूर्य की प्रभा से अभिभूत हुए खद्योत के समान बिलकुल सुशोभित नहीं होते हैं, इस प्रकार विज्ञान मद का निरास होना, प्रज्ञा परिषहजय जानना चाहिए।

विशेष—इस प्रज्ञा परिषहजय में; अपने ज्ञान का मद नहीं करना, प्रदर्शन नहीं करना बल्कि योग्य पात्र को पढ़ा कर उसे अपने से भी योग्य बनाना, दूसरों के अल्पज्ञान का भी आदर करना ही प्रज्ञा परिषहजय है।

(२१) अज्ञान-परिषहजय—यह मूर्ख है, कुछ नहीं जानता है, पशु के समान है इत्यादि तिरस्कार के वचनों को मैं सहन करता हूँ, मैंने परम दुश्चर तप का अनुष्ठान किया है, मेरा चित्त निरन्तर अप्रमत्त रहता है तो भी मेरे अभी तक ज्ञान का अतिशय उत्पन्न नहीं हुआ है, इस प्रकार विचार नहीं करने वाले के अज्ञान परिषहजय जानना चाहिए।

विशेष—इस अज्ञान परिषहजय में; अपने अज्ञान का सही बोध होना चाहिए। जो जिस विषय का जानकार नहीं है, वह उस विषय का अज्ञानी है। यह क्षायोपशमिक है, यह ज्ञान; बारहवें गुणस्थान तक अज्ञान ही कहा जाता है, अतः आत्महित के लिए अङ्ग-पूर्वों के ज्ञान की अपेक्षा शिवभूति मुनि का “तुषमास भिन्न” इतना ही ज्ञान श्रेष्ठ है, ऐसी भावना करने से अज्ञान परिषहजय होता है।

(२२) अदर्शन-परिषहजय—परम वैराग्य की भावना से मेरा हृदय शुद्ध है, मैंने समस्त पदार्थों के तत्त्व रहस्य को जान लिया है, मैं अरिहन्त, आयतन, साधु और धर्म का उपासक हूँ, चिरकाल से मैं प्रव्रजित हूँ तो भी मेरे अभी ज्ञानातिशय उत्पन्न नहीं हुआ है। महोपवास आदि का अनुष्ठान करने वालों के प्रातिहार्य विशेष उत्पन्न हुए, यह प्रलापमात्र है, यह प्रव्रज्या अनर्थक है, व्रतों का पालन करना निरर्थक है इत्यादि बातों का दर्शनविशुद्धि के योग से मन में विचार नहीं करने वाले के अदर्शन परिषहजय जानना चाहिए।

इस प्रकार जो संकल्प के बिना उपस्थित हुए, परिषहों को सहन करता है और जिसका चित्त संक्लेश रहित है, उसके रागादिक परिणामों के आस्रव का निरोध होने से महान संवर होता है।

जिज्ञासा—ये क्षुधादि बाईस परिषह किस चारित्र वालों के कितने-कितने हो सकते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

सूत्र उच्चारण—सूक्ष्मसाम्पराय-, छद्मस्थ-वीतरागयोश्-, चतुर्दश ॥१०॥

सन्धि विग्रह—सूक्ष्मसाम्पराय-छद्मस्थ-वीतरागयोः चतुर्दश ॥१०॥

सूत्रार्थ—सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थवीतराग; इन दोनों के चौदह परिषह सम्भव हैं।

लब्धार्थ—सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थवीतराग के (१) क्षुधा; (२) पिपासा; (३) शीत; (४) उष्ण; (५) दंशमशक; (६) चर्या; (७) शय्या; (८) वध; (९) अलाभ; (१०) रोग; (११) तृणस्पर्श; (१२) मल; (१३) प्रज्ञा; (१४) अज्ञान; ये चौदह परिषह सम्भव हैं।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसाम्पराय दशवाँ गुणस्थान एवं छद्मस्थवीतराग—ग्यारहवाँ, बारहवाँ गुणस्थान है। छद्मस्थवीतराग के मोहनीय कर्म के अभाव होने से तत्कृत शेष आठ परिषहों का अभाव होने से चौदह परिषह सम्भव हैं, किन्तु सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में मोहनीय कर्म के सूक्ष्मलोभ के मन्दोदय होने से छद्मस्थ वीतराग के समान होने से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में चौदह परिषह होने का नियम बन जाता है।

जिस प्रकार शक्ति की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि के देव के सातवीं पृथ्वी के गमन के सामर्थ्य का निर्देश हैं, उसी प्रकार छद्मस्थवीतराग के समान होने से सूक्ष्मसाम्पराय में चौदह परिषह होने का नियम बन जाता है।

जिज्ञासा—दसवें, ग्यारहवें एवं बारहवें गुणस्थान तक चौदह परिषह सम्भव हैं, किन्तु चार घातिकर्म रहित अरिहन्त-जिन के कितने परिषह सम्भव हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकादश जिने ॥११॥**सूत्र उच्चारण—एकादश, जिने ॥११॥****सूत्रार्थ—**अरिहन्त-जिन में ग्यारह परिषह सम्भव हैं।**लब्धार्थ—**जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है, ऐसे अरिहन्त केवली-जिन में वेदनीय कर्म के सद्भाव होने से तन्निमित्तक; ग्यारह परिषह होते हैं।**विशेषार्थ—**जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरण के नाश हो जाने पर एक साथ समस्त पदार्थों के रहस्य को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञानातिशय के होने पर चिन्ता-निरोध का अभाव होने पर भी कर्मों के नाशरूप उसके फल की अपेक्षा ध्यान का उपचार किया जाता है। उसी प्रकार यहाँ परिषहों का उपचार से कथन जानना चाहिए अथवा जिन-भगवान् में ग्यारह परिषह “नहीं हैं” इतना वाक्यशेष कल्पित कर लेना चाहिए, क्योंकि सूत्र उपस्कार सहित होते हैं अर्थात् सन्दर्भ सहित होते हैं।

जिन-अरिहन्त भगवान् के असाता वेदनीय का उदय होता है, यह क्षुधादि वेदना का कारण है, इसलिए यहाँ जिन-भगवान् के; कारण की दृष्टि से क्षुधादि ग्यारह परिषह कहे हैं, क्योंकि कारण के सद्भाव की अपेक्षा उनके उपचार से ग्यारह परिषह कहे हैं, लेकिन कार्यरूप में क्षुधादि ग्यारह परिषह, जिन-अरिहन्त भगवान् के नहीं होते हैं, इसलिए इस दृष्टि से “न सन्ति” इस वाक्य शेष की योजना कर वहाँ उनका निषेध किया है।

जिज्ञासा—यदि सूक्ष्मसाम्पराय आदि में अलग-अलग परिषह होते हैं तो मिलकर सब परिषह कहाँ होते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—**सूत्र—बादरसाम्पराये सर्वे ॥१२॥****सूत्र उच्चारण—बादर-साम्पराये, सर्वे ॥१२॥****सूत्रार्थ—**बादर-साम्पराय में सब परिषह सम्भव हैं।**लब्धार्थ—**साम्पराय; कषाय को कहते हैं। जिसके साम्पराय बादर होता है, वह बादर साम्पराय कहलाता है। इससे प्रमत्त आदि गुणस्थान से सूक्ष्मसाम्पराय के पहले तक के संयतों का ग्रहण होता है। इनमें कषाय और दोषों के अथवा कषाय दोष के क्षीण न होने से सब परिषह सम्भव हैं।**विशेषार्थ—**बादर साम्पराय; अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान का दूसरा नाम है। नौवें गुणस्थान तक स्थूल कषाय का सद्भाव होता है, इसलिए अन्तदीपक न्याय से इस गुणस्थान का नाम भी बादर साम्पराय है। यहाँ “बादर साम्पराय” पद से इस गुणस्थान का ग्रहण न हो, इसीलिए टीका में इसका निषेध किया है, क्योंकि बादर साम्पराय में तो बाईस परिषह सम्भव हैं, अकेले बादर साम्पराय नामक नौवें गुणस्थान में नहीं; कारण कि इस गुणस्थान में दर्शनमोहनीय का उदय नहीं होता। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। उनमें से सम्यक्त्व मोहनीय का उदय सातवें गुणस्थान तक ही सम्भव है, क्योंकि यहीं तक वेदक सम्यक्त्व होता है, इसलिए यहाँ पर बादर साम्पराय अर्थात् स्थूल कषायों में सब परिषह सम्भव हैं, यही अर्थ लेना चाहिए।

जिज्ञासा—बाईस परिषहों के गुणस्थान विशेष का निश्चय किया, किन्तु हम यह नहीं जानते कि किस कर्म प्रकृति से कितने परिषह होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥

सूत्र उच्चारण—ज्ञानावरणे, प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥

सन्धि विग्रह—ज्ञान-आवरणे प्रज्ञा-अज्ञाने ॥१३॥

सूत्रार्थ—ज्ञानावरण के उदय होने पर; प्रज्ञा और अज्ञान परिषह होते हैं ।

लब्धार्थ—ज्ञानावरण कर्म के उदय होने पर; अज्ञान परिषह तो होता ही है, किन्तु ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर; प्रज्ञा उत्पन्न होती है, किन्तु दूसरों में ज्ञानावरण के उदय होने पर; स्वयं में प्रज्ञा का मद उत्पन्न होता है, अतः जो अपने क्षयोपशमिक ज्ञान का मद नहीं करते उनके प्रज्ञा परिषह होता है, क्योंकि समस्त आवरण कर्म के क्षय होने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अतः ज्ञानावरण के सद्भाव से प्रज्ञा परिषह होती है ।

विशेषार्थ—इस सूत्र में एक साथ दो परिषह का कथन है, वह भी एक-दूसरे के विरोधी प्रज्ञा-अज्ञान । जहाँ प्रज्ञा है, वहाँ अज्ञान नहीं । जहाँ अज्ञान है, वहाँ प्रज्ञा नहीं । इसका कारण ज्ञानावरण कर्म कहा है ।

मति-श्रुतज्ञान की अपेक्षा, एक-दूसरे में प्रज्ञा-अज्ञान बन जाता है । जैसे-किसी के मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम अधिक हो तो प्रज्ञा परिषह, किन्तु उसके श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम कम हो तो अज्ञान परिषह; कारण कि जिसके विषय का क्षयोपशम कम हो तो अज्ञान परिषह, क्योंकि “जो जिस विषय का जानकार नहीं है, वह उस विषय का अज्ञानी है” । यदि किसी के श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम अधिक है तो उसके प्रज्ञा परिषह है, किन्तु उसके अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है तो अज्ञान परिषह है । यदि किसी के अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है तो प्रज्ञा परिषह हैं, किन्तु उसके मनःपर्ययज्ञान का क्षयोपशम नहीं है तो अज्ञान परिषह है । यदि उसके मनःपर्ययज्ञान का क्षयोपशम है तो प्रज्ञा परिषह है, किन्तु उसके केवलज्ञानावरण का क्षय नहीं है तो अज्ञान परिषह है, क्योंकि औदयिक भाव में ज्ञानावरण का उदय बारहवें गुणस्थान तक होता है, अतः अज्ञान भाव बारहवें गुणस्थान तक चलता है । केवलज्ञानी के प्रज्ञा-अज्ञान परिषह नहीं है ।

इस प्रकार प्रज्ञा-अज्ञान ये दोनों परिषह एक साथ रह सकते हैं, इसमें कोई विरोधाभास नहीं है ।

जिज्ञासा—जैसे-ज्ञानावरण के सद्भाव से प्रज्ञा और अज्ञान; ये दो परिषह सम्भव हैं । वैसे अन्य किसी कर्म के सद्भाव से कोई अन्य परिषह होते हैं क्या ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥

सूत्र उच्चारण—दर्शन-मोहान्तराययो-, रदर्शना-लाभौ ॥१४॥

सन्धि विग्रह—दर्शनमोह-अन्तराययोः अदर्शन-अलाभौ ॥१४॥

सूत्रार्थ—दर्शनमोह और अन्तराय के सद्भाव में क्रम से अदर्शन और अलाभ परिषह होते हैं ।

लब्धार्थ—दर्शनमोह के सद्भाव में अदर्शन परिषह होता है एवं अन्तराय के सद्भाव से अलाभ परिषह होता है ।

विशेषार्थ—वैसे तो दर्शनमोह का नाम मिथ्यात्व है, किन्तु जिस दर्शनमोह के सद्भाव से अदर्शन परिषह होता है, उस दर्शनमोह के पहले तीन तुकड़े करलें; कारण कि यहाँ साधुओं के परिषहों की बात कही जा रही है, जिससे दर्शनमोह-मिथ्यात्व तो हो नहीं सकता है, किन्तु मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक् प्रकृति; इन तीनों में से यहाँ मिथ्यात्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व तो हो नहीं सकता, अतः एक सम्यक् प्रकृति ही दर्शनमोह से ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इसके उदय से चल-मल-अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं। सम्यक्त्व के रहते हुए भी आप्त-आगम और पदार्थों के विषय में नाना विकल्प होना चल दोष है। जिस प्रकार स्वच्छ जल के होते हुए भी उसमें वायु के निमित्त से तरङ्गें-लहरें उठा करत हैं। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि साधु के सम्यक् प्रकृति के उदय से आप्त-आगम एवं पदार्थों के विषय में बुद्धि चलायमान होती है, यही चल दोष है।

मल का अर्थ मैल है, शङ्कादिक दोषों के निमित्त से सम्यग्दर्शन का मलिन होना मल दोष है। यह भी सम्यक् प्रकृति के उदय से होता है। अगाढ़ का अर्थ; स्थिर न रहना है। सम्यग्दृष्टि जीव; निदान-बन्ध की ओर झुकाव होने के कारण अस्थिर रहता है, अतः इन तीनों कारणों से भिन्न-भिन्न अभिप्राय की दृष्टि से यहाँ इन्हें पृथक्-पृथक् रूप से कहा है, किन्तु ये तीनों सम्यक् प्रकृति के भेद हैं एवं सम्यक् प्रकृति; दर्शनमोहनीय का भेद होने से इसके सद्भाव में अदर्शन परिषह होता है।

अन्तराय कर्म का कार्य है दान-लाभ आदि में अन्तराय करना, किन्तु यहाँ साधु के परिषहों की चर्चा है, जिससे आहारादि लाभ के निमित्त इस परिषह का वर्णन करेंगे; कारण कि साधु आहारादि दान देता नहीं है, किन्तु शरीर की स्थिति के लिए विधिपूर्वक आहार ग्रहण करना स्वीकार करता है, उसमें भी लाभ की अपेक्षा अलाभ को परम तप मानता है, उसके सन्तुष्ट होने से अलाभ परिषहजय होता है अर्थात् अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर भी उससे लाभ का लाभ नहीं उठाना अलाभ कहलाता है।

जिज्ञासा—दर्शनमोह के सद्भाव से एक अदर्शन परिषह होता है तो दूसरे चारित्रमोह के सद्भाव से कितने परिषह होते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

सूत्र उच्चारण—चारित्रमोहे, नाग्न्य-रति-स्त्री-, निषद्या-क्रोश-याचना-, सत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

सन्धि विग्रह—चारित्रमोहे नाग्न्य-अरति-स्त्री-निषद्या-आक्रोश-याचना-सत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

सूत्रार्थ—चारित्रमोह के सद्भाव में; नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार परिषह होते हैं।

लब्धार्थ—चारित्र; संयम का रूप है, जिसमें प्राणियों की पीड़ा का परिहार किया जाता है, क्योंकि चारित्रमोहोदय के होने पर प्राणी पीड़ारूप परिणाम होते हैं, अतः ऐसे परिणाम को जीतना चारित्र है, किन्तु चारित्रमोह के सद्भाव से नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार; ये सात परिषह होते हैं।

विशेषार्थ—चारित्रमोह; कषाय का नाम है। सूक्ष्म चिन्तन करने पर साधु के छठवें गुणस्थान में संज्वलन की चार; क्रोध-मान, माया-लोभ एवं नौ हास्यादि नोकषाय उदयागत होती हैं।

यहाँ नाग्न्य में पुरुष वेद, नपुंसक वेद एवं स्त्रीवेद; ये तीन वेद कषाय घटित हो सकती हैं; कारण कि नग्नता; स्वयं पुरुष वेद की, अरति; नपुंसक वेद की, रति; स्त्री वेदोदय से स्त्री वेद; इन तीनों भाव वेदों में तीन चारित्रमोह घटित होते हैं एवं निषद्या में लोभ कषाय सहित हास्यादि छह कषायों का अन्तर्भाव हो सकता है; कारण कि निषद्या स्थान में चार प्रकार के उपसर्ग का प्रसङ्ग होने से भय-जुगुप्सा एवं स्थान अनुकूल होने से हास्य-रति, प्रतिकूल होने से अरति-शोक हो सकती हैं, इस तरह तीन वेद एवं छह हास्यादि मिलाकर नोकषाय हैं।

इसी प्रकार आक्रोश; क्रोधरूप, याचना; मायारूप एवं सत्कारपुरस्कार; मानरूप होकर चारित्रमोह कहलाती हैं, इस चारित्रमोह के उदय से ये सात परिषह होते हैं।

इन सब में निषद्या परिषहजय को प्राणीपीड़ा परिहार के कारण चारित्रमोह निमित्तक कहा है, किन्तु चर्या-शय्या परिषहजय को चारित्रमोह निमित्तक न लेकर, अचेतन कण्टकादि के निमित्त से होने वाली वेदना की मुख्यता से उन्हें वेदनीय निमित्तक कहा है।

तात्पर्य यह है कि चर्या, शय्या और निषद्या; इन तीनों में प्राणीपीड़ा और कण्टकादि निमित्तक वेदना; ये दोनों कार्य सम्भव हैं, अतः इन दोनों कार्यों का परिज्ञान कराने के लिए निषद्या को चारित्रमोह निमित्तक कहा है एवं शेष दो; चर्या, शय्या को वेदनीय निमित्तक कहा है।

जिज्ञासा—ज्ञानावरण एवं अन्तराय; दर्शनमोह एवं चारित्रमोह, इन कर्मों के निमित्त से होने वाले परिषहों का कथन किया, किन्तु शेष परिषह किस कर्म के निमित्त से होते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वेदनीये शेषाः ॥१६॥

सूत्र उच्चारण—वेदनीये, शेषाः ॥१६॥

सूत्रार्थ—बाकी के सब परिषह; वेदनीय कर्म के सद्भाव में होते हैं।

लब्धार्थ—ग्यारह परिषह पहले कह आये हैं, उनमें अन्य शेष ग्यारह परिषह; वेदनीय कर्म के सद्भाव में होते हैं—(१) क्षुधा; (२) पिपासा; (३) शीत; (४) उष्ण; (५) दंशमशक; (६) चर्या; (७) शय्या; (८) वध; (९) रोग; (१०) तृण स्पर्श; (११) मल परिषह; ये ग्यारह परिषह वेदनीय कर्म के सद्भाव से होते हैं।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण से प्रज्ञा एवं अज्ञान; ये दो परिषह। दर्शनमोह एवं अन्तराय से अदर्शन एवं अलाभ; ये दो परिषह एवं चारित्रमोह से नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार; ये सात, कुल मिलाकर सभी ग्यारह परिषह पहले कह आये हैं, किन्तु वेदनीय कर्म के सद्भाव में शेष बचे वे ग्यारह परिषह होते हैं।

जिज्ञासा—बाईस परिषहों के निमित्त, लक्षण और भेद कहे, किन्तु प्रत्येक आत्मा में उत्पन्न इन बाईस परिषहों में से एक साथ कितने परिषह हो सकते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥१७॥

सूत्र उच्चारण—एकादयो भाज्या, युगपदे-कस्मिन्-, नैकोन-विंशतेः ॥१७॥

सन्धि विग्रह—एक-आदयः-भाज्या युगपद्-एकस्मिन् न्-आ-एकोन-विंशतेः ॥१७॥

सूत्रार्थ—एक साथ; एक आत्मा में; एक से लेकर उन्नीस तक परिषह विकल्प से हो सकते हैं।

लब्धार्थ—इस सूत्र में एकस्मिन् आङ् एकोनविंशति पद की सन्धि की है एवं आङ् पद मर्यादा और अभिविधि अर्थ में आया है। व्यञ्जन सन्धि के नियम में एकस्मिन् पद के बाद सूत्र संख्या ७९ के अनुसार उपधा संज्ञा होकर सूत्र संख्या ८० के कारण ह्रस्व की उपधा को द्वित्व होने से एकस्मिन् के न् को द्वित्व हो गया, जिससे पूर्ण सन्धि होकर “एकस्मिन्नैकोनविंशति” पद बना है, ये १९ परिषह हैं।

विशेषार्थ—बाईस परिषहों में से शीत और उष्ण; इन दोनों के तथा शय्या, निषद्या एवं चर्या; इन तीनों के एक साथ होने में विरोध आता है, अतः शीत और उष्ण परिषहों में से कोई एक एवं शय्या, निषद्या, चर्या में से कोई एक परिषह होने से; कुल एक साथ तीन परिषह कम हो जाते हैं, जिससे एक साथ उन्नीस परिषह हो जाते हैं।

जिज्ञासा—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषहजय; ये पाँच संवर के हेतु कहे हैं, किन्तु अब क्रम प्राप्त चारित्र भी संवर का हेतु है, अतः चारित्र के बारे में बतलायें। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र — सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥

सूत्र उच्चारण —सामायिकच्-, छेदोप-स्थापना-, परिहारविशुद्धि-, सूक्ष्मसाम्पराय-, यथाख्यात-मिति, चारित्रम् ॥१८॥

सन्धि विग्रह —सामायिक-च्छेदोप-स्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातम्-इति चारित्रम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात; ये पाँच प्रकार का चारित्र है।

लब्धार्थ—चारित्र का संयम में एवं संयम का धर्म में अन्तर्भाव हो जाता है फिर भी चारित्र; मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण है, यह दिखलाने के लिए चारित्र को अन्त में ग्रहण किया है। यह चारित्र; सामायिक आदि के भेद से पाँच प्रकार का कहा है।

विशेषार्थ—यद्यपि श्रावक के सामायिक नाम का एक शिक्षाव्रत होता है, किन्तु साधु के सामायिक नाम का चारित्र होता है। सामायिक; नाम साम्य की अपेक्षा एक होने के कारण भी क्रिया एवं भावों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न है।

यहाँ साधु की सामायिक का कथन है, अतः पूज्यपादाचार्य ने उस सामायिक के दो भेद कहे हैं—नियतकाल सामायिक एवं अनियतकाल सामायिक। साधु की स्वाध्याय आदि क्रिया को नियतकाल सामायिक कहा है एवं साधु की ईर्यपथ आदि क्रिया को अनियतकाल सामायिक कहा है।

प्रमादकृत अनर्थप्रबन्ध का अर्थात् हिंसादि अव्रतों के अनुष्ठान का विलोप अर्थात् सर्वथा त्याग करने पर जो भले प्रकार प्रतिक्रिया अर्थात् पुनः व्रतों का ग्रहण होता है, वह छेदोपस्थापना चारित्र है अथवा विकल्पों की निवृत्ति का नाम छेदोपस्थापना चारित्र है।

प्राणी वध से निवृत्ति को परिहार कहते हैं, इससे युक्त शुद्धि जिस चारित्र में होती है, वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। परिहारविशुद्धि चारित्र ऐसे संयत के होता है, जो तीस वर्ष तक गृहस्थ अवस्था में सुखपूर्वक बिताकर, संयत होने पर तीर्थङ्कर-केवली अथवा सामान्य-केवली के पादमूल में रहकर आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान पूर्व का अध्ययन करता है तब परिहारविशुद्धि संयम की उपलब्धि होती है।

परिहारविशुद्धि संयम वाला साधु; जन्तुओं की रक्षा कैसे करनी चाहिए, वे किस द्रव्य के निमित्त से, किस क्षेत्र में, किस काल में विशेषतः उत्पन्न होते हैं? जीवों की योनि और जन्म कितने प्रकार के होते हैं? इत्यादि बातों को भले प्रकार जानता है। यह साधु; प्रमाद रहित, महाबलशाली, कर्मों की महानिर्जरा करने वाला और अतिदुष्कर चर्या का अनुष्ठान करने वाला होता है तथा यह साधु तीनों सन्ध्या कालों को छोड़कर दो कोश गमन करने वाला होता है। इन सब कारणों से इस संयत के ऐसी सामर्थ्य उत्पन्न होती है, जिसके बल से यह अन्य जीवों को बाधा पहुँचाए बिना, चर्या करने में समर्थ होता है।

जिस चारित्र में कषाय अतिसूक्ष्म हो जाती है, वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है। यह चारित्र; दशवें गुणस्थान में ही पाया जाता है, अतः इस गुणस्थान का नाम भी सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान है।

समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय; जैसा आत्मा का स्वभाव है, उस अवस्था स्वरूप अपेक्षा-लक्षण जो चारित्र होता है, वह अथाख्यात चारित्र कहा जाता है। पूर्व चारित्र का अनुष्ठान करने वालों ने जिसका कथन किया है, परन्तु मोहनीय के क्षय या उपशम होने के पहले जिसे प्राप्त नहीं किया, इसलिए उसे अथाख्यात कहते हैं। “अथ” शब्द “अनन्तर” अर्थवर्ती होने से समस्त मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम के अनन्तर वह आविर्भूत होता है, यह युक्त कथन का तात्पर्य है अथवा इस चारित्र का एक नाम यथाख्यात भी है।

जिस प्रकार आत्मा का स्वभाव अवस्थित है, उसी प्रकार यह कहा गया है, इसलिए इसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं। सूत्र में आया “इति” शब्द परिसमाप्ति अर्थ में जानना चाहिए। इससे यथाख्यात चारित्र से समस्त कर्मों की परिसमाप्ति होती है, यह जाना जाता है।

उत्तरोत्तर गुणों के प्रकर्ष का ख्यापन करने के लिए सामायिक, छेदोपस्थापना आदि क्रम से सूत्र में नाम निर्देश किया है। इस प्रकार विवक्षा भेद से एक चारित्र भी पाँच प्रकार का कहा गया है।

विशेष—(१) प्रथमानुयोग की अपेक्षा—सदाचार अर्थात् सप्तव्यसन आदि का त्याग, रविव्रत, रोहिणीव्रत, कथाव्रत आदि चारित्र है।

(२) करणानुयोग की अपेक्षा—संयमासंयम-श्रावकों का, क्योंकि अकलंक देव ने राजवार्तिक में देशव्रती को संयम होता है; कहा है। वीरसेनाचार्य ने भी धवल पुस्तक १४ में पृष्ठ १२ पर देशव्रती को संयम लिखा है, अतः देशव्रती के भी चारित्र है एवं सामायिक-छेदोपस्थापना आदि पाँच भेद साधुओं के चारित्र हैं।

(३) चरणानुयोग की अपेक्षा—बारह व्रत वाले श्रावकों के देशव्रत तथा पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति; ये तेरह प्रकार का चारित्र साधुओं के होता है।

(४) द्रव्यानुयोग की अपेक्षा—अपनी शुद्धात्मा की रमणता ही चारित्र है।

यहाँ तत्त्वार्थ सूत्र में सामायिक आदि चारित्र; करणानुयोग का चारित्र अभीष्ट है, क्योंकि अभव्य मिथ्यादृष्टि चरणानुयोग के चारित्र के बल से नौवें ग्रैवेयक तक पहुँच जाता है, किन्तु भव्य जीव; सामायिक आदि करणानुयोग के चारित्र की आराधना से अनुदिश-अनुत्तर, सर्वार्थसिद्धि से लेकर सिद्ध शिला तक की यात्रा कर लेता है।

प्रथमानुयोग के चारित्र से लौकिक सुख-समृद्धि आदि मिलती है।

करणानुयोग के चारित्र से शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा होती है।

चरणानुयोग के चारित्र से लौकिक-पारलौकिक सुख के साथ यश-सम्मान आदि मिलता है।

द्रव्यानुयोग के चारित्र के साथ केवल आत्मिक सुख की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

जिज्ञासा—यहाँ तक अध्याय नौ के सूत्र संख्या दो का जो संवर के हेतु थे, उनका विस्तार किया, आगे अब क्रम प्राप्त सूत्र संख्या तीन “तपसा निर्जरा च” तप; संवर और निर्जरा; इन दोनों का हेतु है एवं क्रम प्राप्त निर्जरा भी पदार्थ है, अतः उस निर्जरा के विशेष कथन करने के लिए यहाँ तप का विधान-भेद करना चाहिए। वह तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर, उनमें भी बाह्य तप छह प्रकार का है, अतः वे छह भेद कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसङ्ख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-
कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥**

सूत्र उच्चारण—अनशनाव-मौदर्य-, वृत्तिपरिसङ्ख्यान-, रसपरित्याग-, विविक्तशय्यासन-, कायक्लेशा, बाह्यं तपः ॥१९॥

सन्धि विग्रह—अनशन - अवमौदर्य - वृत्तिपरिसङ्ख्यान - रसपरित्याग - विविक्तशय्यासन- कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥

सूत्रार्थ—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन एवं कायक्लेश; ये छह बाह्य तप हैं।

लब्धार्थ—यह तप; बाह्य-द्रव्य के अवलम्बन से होता है तथा दूसरों के देखने में आता है, इसलिए इसे बाह्य तप कहते हैं। इसके छह भेद हैं—(१) अनशन; (२) अवमौदर्य; (३) वृत्ति-परिसंख्यान; (४) रस-परित्याग; (५) विविक्त-शय्यासन; (६) काय-क्लेश।

विशेषार्थ—(१) अनशन—दृष्टफल, मन्त्र-साधना आदि की अपेक्षा किए बिना; संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मों का विनाश, ध्यान और आगम की प्राप्ति के लिए अनशन तप किया जाता है।

(२) अवमौदर्य—संयम को जागृत रखने, दोषों के प्रशम करने, सन्तोष और स्वाध्याय आदि की सुख पूर्वक सिद्धि के लिए अवमौदर्य तप किया जाता है।

(३) वृत्ति-परिसंख्यान—भिक्षा के इच्छुक मुनि; एक घर आदि विषयक संकल्प अर्थात् चिन्ता का अवरोध करना वृत्ति-परिसंख्यान तप है, आशा की निवृत्ति इस तप का फल जानना चाहिए।

(४) रस-परित्याग—इन्द्रियों के दर्प का निग्रह करने के लिए, निद्रा पर विजय पाने के लिए और सुख पूर्वक स्वाध्याय की सिद्धि के लिए घृतादिक गरिष्ठ रस का त्याग करना, रस-परित्याग चौथा तप है।

(५) विविक्त-शय्यासन—अनेक प्रकार के आसनों से शरीर को अकेले साधना विविक्त-शय्यासन है।

(६) काय-क्लेश—आतापन योग, ग्रीष्मयोग, वृक्ष के मूल में निवास-वर्षायोग, निरावरण शयन, शीतयोग एवं अनेक प्रकार के प्रतिमा स्थान इत्यादि करना काय क्लेश है। यह तप; देह दुःख को सहन करने के लिए, सुख विषय-आसक्ति को कम करने के लिए और प्रवचन-आगम की प्रभावना करने के लिए किया जाता है।

जो स्वयं किया जाता है, वह काय क्लेश है और जो अपने आप प्राप्त होता है, वह परिषहजय है।

जिज्ञासा—छह बाह्य तपों का कथन करने के बाद; छह आभ्यन्तर तप कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

सूत्र उच्चारण—प्रायश्चित्त-विनय-, वैयावृत्य-स्वाध्याय-, व्युत्सर्ग-ध्यानान्-, युत्तरम् ॥२०॥

सन्धि विग्रह—प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानानि उत्तरम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान; ये छह आभ्यन्तर तप के भेद हैं।

लब्धार्थ—इस तप से अन्तरङ्ग मन का नियमन होता है, अतः इसे आभ्यन्तर तप कहते हैं, इसके छह भेद हैं—(१) प्रायश्चित्त; (२) विनय; (३) वैयावृत्य; (४) स्वाध्याय; (५) व्युत्सर्ग; (६) ध्यान।

विशेषार्थ—(१) प्रायश्चित्त—प्रमाद जन्य दोष का परिहार करना प्रायश्चित्त तप है।

(२) विनय—पूज्यपुरुषों का आदर करना विनय तप है।

(३) वैयावृत्य—शरीर की चेष्टा या दूसरे निर्दोष प्रासुक द्रव्य द्वारा उपासना करना वैयावृत्य तप है।

(४) स्वाध्याय—आलस्य का त्याग कर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है।

(५) व्युत्सर्ग—अहङ्कार और ममकाररूप सङ्कल्प का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

(६) ध्यान—चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान तप है।

जिज्ञासा—क्या अन्तरङ्ग तप के प्रायश्चित्त आदि छह भेद ही हैं या इन भेदों में भी कुछ विशेषता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

सूत्र उच्चारण—नव-चतु-र्दश-, पञ्च-द्वि-भेदा, यथाक्रमं, प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

सन्धि विग्रह—नव-चतुः दश-पञ्च-द्वि-भेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

सूत्रार्थ—ध्यान के पहले तक आभ्यन्तर तपों के अनुक्रम से; नौ, चार, दश, पाँच और दो भेद हैं।

लब्धार्थ—प्रायश्चित्त के नौ, विनय के चार, वैयावृत्य के दश, स्वाध्याय के पाँच एवं व्युत्सर्ग तप के दो भेद; क्रम से ध्यान तप के पहले तक हैं।

विशेषार्थ—ध्यान के विषय में बहुत कुछ कहना है, अतः इस सूत्र में प्राग्ध्यानात् अर्थात् ध्यान से पहले तक का ही कथन किया है।

जिज्ञासा—जिस प्रायश्चित्त तप के संख्यात्मक नौ भेद कहे हैं, उसके नामात्मक नौ भेद कौन-से हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

सूत्र उच्चारण—आलोचन-प्रतिक्रमण-, तदुभय-विवेक-, व्युत्सर्ग-तपश्छेद-, परिहारोप-स्थापनाः।

सन्धि विग्रह—आलोचन-प्रतिक्रमण-तद्-उभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपःछेद-परिहार-उपस्थापनाः।

सूत्रार्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार एवं उपस्थापना; ये नौ भेद प्रायश्चित्त तप के हैं।

लब्धार्थ—आलोचना से लेकर उपस्थापना तक के नव भेद प्रायश्चित्त तप के हैं।

विशेषार्थ—(१) आलोचना—गुरु के समक्ष दश दोषों को ढालकर अपने प्रमाद का निवेदन करना आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमण—“मेरा दोष मिथ्या हो” गुरु से ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है।

(३) तदुभय—आलोचना और प्रतिक्रमण; इन दोनों का संसर्ग होने पर दोषों का शोधन होने से तदुभय प्रायश्चित्त है।

(४) विवेक—संस्कृत (मिले हुए) हुए अन्न, पान और उपकरण आदि का विभाग करना विवेक नामक प्रायश्चित्त है।

(५) व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है।

(६) तप—अनशन, अवमौदर्य आदि करना तप प्रायश्चित्त है।

(७) छेद—दिवस, पक्ष और महीना आदि की प्रव्रज्या (दीक्षा) को कम करना छेद प्रायश्चित्त है।

(८) परिहार—पक्ष, महीना आदि के विभाग से संघ से दूर रखकर त्याग करना परिहार प्रायश्चित्त है।

(९) उपस्थापना—पुनः दीक्षा प्राप्त करना उपस्थापना प्रायश्चित्त है।

विशेष—शङ्का—अन्तरङ्ग तप में व्युत्सर्ग तप है एवं प्रायश्चित्त तप के नौ भेदों में एक व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है, इन सबमें क्या अन्तर है ?

समाधान—व्युत्सर्ग तप—स्वयं करने से इसके दो भेद हैं, इसका कार्य; कर्म की निर्जरा करना है। व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त—गुरु के द्वारा दिया गया कायोत्सर्गरूप विधान अपने दोषों की परिशुद्धि के लिए है।

शङ्का—बहिरङ्ग तप में अनशन आदि तप हैं एवं अन्तरङ्ग तप के प्रायश्चित्त तप के भेदों में अनशनादि तप हैं, इनमें क्या अन्तर है ?

समाधान—बहिरङ्ग तप में अनशनादि; कर्म निर्जरा आदि के हेतु हैं। अन्तरङ्ग तप के प्रायश्चित्त तप—अनशनादि; दोष विशुद्धि के हेतु हैं। आलोचना के दश दोष मूलाचार आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त विनय तप के चार भेद कौन-से हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥**सूत्र उच्चारण—ज्ञान-दर्शन-, चारित्रोपचाराः ॥२३॥****सन्धि विग्रह—ज्ञान-दर्शन-चारित्र-उपचाराः ॥२३॥****सूत्रार्थ—**ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय; ये चार प्रकार विनय तप के हैं।**लब्धार्थ—**विनय तप के लक्षण अनुसार पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है, किन्तु जिन गुणों के कारण पुरुषों में पूज्यता आती है, वे चार गुण हैं, इनकी विनय करना तप है।**विशेषार्थ—(१) ज्ञान विनय—**बहुत आदर के साथ मोक्ष के लिए ज्ञान का ग्रहण करना, उसका अभ्यास करना और स्मरण करना आदि ज्ञान विनय है।**(२) दर्शन विनय—**शङ्कादि दोषों से रहित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना दर्शन विनय है।**(३) चारित्र विनय—**सम्यग्दृष्टि का चारित्र में चित्त का लगना चारित्र विनय है।**(४) उपचार विनय—**आचार्य आदि के समक्ष आने पर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचार विनय है तथा परोक्ष में भी उनका काय, वचन और मन से स्मरण करना आदि उपचार विनय है।**विशेष—**कुन्दकुन्द आचार्य ने विनय के पाँच भेद कहे हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं उपचार।**जिज्ञासा—**अब क्रम प्राप्त वैयावृत्य तप के दश भेद कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—**सूत्र—आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसङ्घसाधुमनोज्ञानाम् ॥२४॥****सूत्र उच्चारण—**आचार्यो-पाध्याय-, तपस्वि-शैक्ष-, ग्लान-गण-, कुल-सङ्घ-, साधु-मनोज्ञानाम्।**सन्धि विग्रह—**आचार्य-उपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष-ग्लान-गण-कुल-सङ्घ-साधु-मनोज्ञानाम् ॥२४॥**सूत्रार्थ—**आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ; इन दश की वैयावृत्य के भेद से वैयावृत्य दश प्रकार का है।**लब्धार्थ—**(१) आचार्य; (२) उपाध्याय; (३) तपस्वी; (४) शैक्ष; (५) ग्लान; (६) गण; (७) कुल; (८) संघ; (९) साधु; (१०) मनोज्ञ; ये दश साधुओं के ही भेद हैं, इनकी वैयावृत्ति करने से वैयावृत्य तप दश प्रकार का हो जाता है।**विशेषार्थ—(१) आचार्य—**जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं।**(२) उपाध्याय—**मोक्ष के लिए पास जाकर जिनसे शास्त्र पढ़ते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं।**(३) तपस्वी—**महा-उपवास आदि का अनुष्ठान करने वाले तपस्वी कहलाते हैं।**(४) शैक्ष—**जो साधु शिक्षा शील हैं, वे शैक्ष कहलाते हैं।**(५) ग्लान—**जो साधु रोग आदि से क्लान्त शरीर वाले हैं, वह ग्लान कहलाते हैं।**(६) गण—**दीक्षाकाचार्य के शिष्य समुदाय को गण कहते हैं अथवा सात पुरुषों की परम्परा को गण कहते हैं।

- (७) कुल—दीक्षकाचार्य की परम्परा के शिष्य समुदाय को कुल कहते हैं।
 (८) संघ—चार वर्ण; मुनि, ऋषि, यति और अनगार के समुदाय को संघ कहते हैं।
 (९) साधु—चिरकाल से प्रव्रजित अर्थात् दीक्षित को साधु कहते हैं।
 (१०) मनोज्ञ—लोक सम्मत साधु को मनोज्ञ कहते हैं अथवा जो आचार्य द्वारा मान्य है और मुनि दीक्षा लेने का इच्छुक है, ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ मुनि कहते हैं। (धवला जी)
 इस प्रकार के साधुओं को व्याधि होने पर, परिषह के होने पर व मिथ्यात्व आदि के प्राप्त होने पर; शरीर की चेष्टा द्वारा या अन्य निर्दोष-प्राप्तिक द्रव्य द्वारा उनका प्रतिकार (उपचार) करना वैयावृत्य तप है।

यह वैयावृत्ति तप; समाधि की प्राप्ति, विचिकित्सा (ग्लानि) का अभाव एवं प्रवचन वात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त स्वाध्याय तप के पाँच भेद कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशः ॥२५॥

सूत्र उच्चारण—वाचना-, पृच्छनानु-प्रेक्षाम्नाय-, धर्मोपदेशः ॥२५॥

सन्धि विग्रह—वाचना-पृच्छना-अनुप्रेक्षा-आम्नाय-धर्म-उपदेशः ॥२५॥

सूत्रार्थ—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय एवं धर्मोपदेश; ये पाँच स्वाध्याय तप के भेद हैं।

लब्धार्थ—(१) वाचना; (२) पृच्छना; (३) अनुप्रेक्षा; (४) आम्नाय; (५) धर्मोपदेश; ये पाँच स्वाध्याय तप के भेद हैं अर्थात् इन पाँच प्रकार की विधियों से स्वाध्याय किया जाता है।

विशेषार्थ—(१) वाचना—ग्रन्थ, अर्थ और दोनों का निर्दोष प्रदान करना वाचना है। वाचना में आचार्य रचित ग्रन्थ हो, आगम अनुकूल अर्थ हो एवं इन दोनों का निर्दोष होना अर्थात् पक्षपात रहित हो करके प्रदान करना वाचना नाम का स्वाध्याय है।

वाचना स्वाध्याय करने से; प्रज्ञा में अतिशय उत्पन्न होता है, क्योंकि अनेकों ग्रन्थों-अर्थों के सन्दर्भ संग्रहीत हो जाते हैं।

(२) पृच्छना—संशय के उच्छेद (मिटाने) के लिए अथवा निश्चित बल को पुष्ट करने के लिए; दूसरों को अनुयोग के लाभ के लिए प्रश्न पूछना प्रच्छना है, क्योंकि प्रश्न करने से दूसरों के मन की शङ्काओं का समाधान हो जाता है। प्रच्छना स्वाध्याय करने से अध्यवसाय प्रशस्त होता है।

(३) अनुप्रेक्षा—जाने हुए अर्थात् पढ़े-सुने हुए अर्थ का मन में अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा स्वाध्याय करने से संवेग अर्थात् संसार के दुःखों से डर उत्पन्न होता है।

(४) आम्नाय—उच्चारण की शुद्धि पूर्वक पाठ को पुनः-पुनः दुहराना अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ, विसर्ग एवं अनुस्वार का; छन्द-व्याकरण के हिसाब से सही उच्चारण करना आम्नाय नाम का स्वाध्याय है।

आम्नाय स्वाध्याय करने से तप में वृद्धि होती है; कारण कि शब्दों का उच्चारण सही तरीके से करने में आकुलता नहीं होगी, क्योंकि इच्छा से आकुलता होती है, अतः आम्नाय स्वाध्याय से तप की वृद्धि होती है।

(५) धर्मोपदेश—धर्मकथा आदि का अनुष्ठान अर्थात् धार्मिक नाटक, नृत्य, पूजन आदि करना, पञ्चकल्याणक के दृश्य आदि दिखाना, चार प्रकार की सुकथा कहना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है।

धर्मोपदेश स्वाध्याय करने से; दूसरों के कष्टों को देख-सुनकर स्वयं ऐसा कर्म नहीं करेंगे, इस प्रकार के विरक्त भाव होने से अतिचार विशुद्धि होती है अर्थात् अपराध करने के पहले ही अपराध से विरक्त होने की शिक्षा मिलती है।

इस प्रकार पाँच प्रकार के स्वाध्याय के भेद तथा उनसे होने वाले लाभ का कथन किया।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त व्युत्सर्ग तप के दो भेद कौन-से हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

सूत्र उच्चारण—बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

सन्धि विग्रह—बाह्य-आभ्यन्तर-उपध्योः ॥२६॥

सूत्रार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का त्याग; यह दो प्रकार का व्युत्सर्ग नाम का तप है।

लब्धार्थ—व्युत्सर्ग का अर्थ; त्याग है। वह दो प्रकार का है—बाह्य उपधि त्याग और आभ्यन्तर उपधि त्याग।

(१) बाह्य उपधि—आत्मा से एकत्व को प्राप्त नहीं हुए, ऐसे क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य आदि अर्थात् प्रत्यक्षरूप से अलग दिखने वाले पदार्थ बाह्य उपधि हैं।

(२) आभ्यन्तर उपधि—क्रोधादिरूप आत्मभाव अर्थात् बाह्य पदार्थों के निमित्त से अन्तरङ्ग में अस्थाई क्रोधादिभाव आभ्यन्तर उपधि है।

विशेषार्थ—प्रश्न—पाँच महाव्रतों में परिग्रह त्याग कहा, दश धर्मों में त्याग धर्म कहा तथा नौ प्रकार के प्रायश्चित्तों में व्युत्सर्ग नाम का प्रायश्चित्त कहा, ऐसी अवस्था में पुनः व्युत्सर्ग तप का कथन अलग से क्यों किया ?

उत्तर—पाँच महाव्रतों में जो परिग्रह त्याग महाव्रत है, उसमें गृहस्थ सम्बन्धी उपधि के त्याग की मुख्यता है। दश धर्मों में त्याग धर्म में साधु; ज्ञानादि दान करता है, उसमें अन्तरङ्ग के मात्सर्य आदि भाव के त्याग की मुख्यता है, क्योंकि मात्सर्य के सद्भाव में ज्ञानादि दान नहीं हो सकता है।

व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त में गुरु के द्वारा दिया गया कायोत्सर्गरूप विधान; स्वयं के दोषों की परिशुद्धि के लिए है, जिससे परिग्रह त्याग अर्थात् आकिञ्चन्य धर्म में लगने वाले दोष के परिमार्जन की मुख्यता है, किन्तु व्युत्सर्ग तप; ममत्व त्याग के लिए है, स्वयं के द्वारा स्वीकार करने पर बाह्य में वसतिका आदि का एवं अन्तरङ्ग-आभ्यन्तर के; मन, वचन एवं काय के विकार आदि त्यागना आभ्यन्तर उपधि त्याग है।

इसमें भी नियतकाल तक अथवा यावज्जीवन तक काय के ममत्व का त्याग करना भी आभ्यन्तर उपधि त्याग कहा है। व्युत्सर्ग; अन्तरङ्ग तप का एक भेद है, अतः इसे भी आभ्यन्तर उपधि कहा है।

व्युत्सर्ग तप; निःसंगता, निर्भयता और जीविताशा का व्युदास अर्थात् जीवन के प्रति भी उदासीनता का भाव दर्शाने के लिए किया जाता है। जैसे—बाहुबली भगवान् ने एक वर्ष तक का व्युत्सर्ग तप धारण स्वयं किया था, अतः परिग्रह त्याग, दशधर्म में त्याग भाव एवं प्रायश्चित्त के व्युत्सर्ग में तथा व्युत्सर्ग तप के भावों में इस प्रकार से अन्तर होने के कारण भिन्न-भिन्न हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त अन्तरङ्ग तप में; ध्यान तप के भेदों का कथन करना चाहिए, किन्तु ध्यान के भेदों का कथन करने के पहले इस ध्यान के प्रयोक्ता (प्रयोग करने वाले), ध्यान का स्वरूप एवं ध्यान का समय निर्धारण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तात् ॥२७॥

सूत्र उच्चारण—उत्तम-संहननस्यैकाग्र-, चिन्तानिरोधो, ध्यान-मान्तर्-मुहूर्त्तात् ॥२७॥

सन्धि विग्रह—उत्तम-संहननस्य एकाग्र-चिन्तानिरोधः ध्यानम्-आ-अन्तर्मुहूर्त्तात् ॥२७॥

सूत्रार्थ—उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है। जो ध्यान अन्तर्मुहूर्त्त काल तक होता है।

लब्धार्थ—छह संहननों में से आदि के तीन-वज्रर्षभनाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन एवं नाराच संहनन; उत्तम हैं। प्रथम संहनन ही मोक्ष का साधन है। जिनके ये उत्तम संहनन होते हैं, वे उत्तम संहनन वाले कहलाते हैं। इस पद के द्वारा ध्यान के प्रयोक्ता का कथन किया है।

अग्र पद का अर्थ मुख है। जिसका एक अग्र होता है, वह एकाग्र कहलाता है। अनेक पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पन्दवती होती है, उसे अन्य अशेष मुखों से लौटाकर एक अग्र अर्थात् एक विषय में नियमित करना एकाग्र चिन्ता निरोध कहलाता है। इस पद के द्वारा ध्यान का स्वरूप कहा गया है।

मुहूर्त्त; यह काल का विविक्षत परिमाण है। जो मुहूर्त्त के भीतर होता है, वह अन्तर्मुहूर्त्त कहलाता है। इस पद द्वारा काल की अवधि का कथन किया है, क्योंकि इतने काल के बाद एकाग्र चिन्ता निरोध दुर्धर-कठिन होती है।

विशेषार्थ—आदि के प्रथम तीन संहनन शुभ होने से उत्तम हैं, क्योंकि इन तीन संहननों के द्वारा ही मोक्ष एवं सर्वार्थसिद्धि जैसे उत्कृष्ट स्थानों को प्राप्त किया जा सकता है, उत्तम संहनन वाले ही क्षपक एवं उपशमश्रेणी का आरोहण करने वाले हैं, इन्हीं के शुक्लध्यान की सिद्धि होती है।

वैसे तो आदि के वज्रर्षभनाराचसंहनन वाले जीव ही मोक्ष जाते हैं, किन्तु रौद्रध्यान के प्रभाव से सातवें नरक भी जाते हैं, किन्तु यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से कर्म निर्जरा के विशेष साधन होने से, सर्वार्थसिद्धि आदि जाने से, यहाँ उत्तम संहनन को ग्रहण किया है।

इस सूत्र में “निरोध” पद से असत् का अभाव एवं सत् के सद्भाव का कथन किया है जो अपने विषयरूप से प्रवृत्ति होने के कारण सत् कहा जाता है।

इस प्रकार चिन्ता का जो निरोध है, वह चिन्ता निरोध है। आशय यह है कि निश्चल अग्नि शिखा के समान निश्चलरूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।

जिज्ञासा—ध्यान के प्रयोक्ता, ध्यान का स्वरूप एवं समय निर्धारण करके; अब उस ध्यान के कितने और कौन-से भेद हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥२८॥

सूत्र उच्चारण—आर्त्त-रौद्र-, धर्म्य-शुक्लानि ॥२८॥

सूत्रार्थ—आर्त, रौद्र, धर्म एवं शुक्ल; ये चार ध्यान के भेद हैं।

लब्धार्थ—आर्त शब्द “ऋत” अथवा “अर्ति” इनमें से किसी एक से बना है। ऋत का अर्थ दुःख एवं अर्ति का अर्थ पीड़ा पहुँचाना है। इस भाव में जो होता है, वह आर्त। रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है। इसका कर्म या इसमें होने वाला भाव रौद्र है। धर्म से जो युक्त होता है, वह धर्म्य कहलाता है। जिसमें शुचि गुण का सम्बन्ध है, वह शुक्ल है।

विशेषार्थ—यह चार प्रकार का ध्यान; दो भागों में विभक्त है, क्योंकि प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से वह दो प्रकार का है।

जो पापास्त्रव का कारण है, वह अप्रशस्त है और जो कर्मों के निर्दहन करने की सामर्थ्य से युक्त है, वह प्रशस्त है।

जिज्ञासा—इन चारों ध्यानों के भेदों को प्रशस्त एवं अप्रशस्त; इन दो भागों में विभक्त किया, किन्तु दो प्रशस्त ध्यान कौन-से हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—परे मोक्षहेतू ॥२९॥

सूत्र उच्चारण—परे, मोक्ष-हेतू ॥२९॥

सूत्रार्थ—इन चारों ध्यानों में से बाद के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं।

लब्धार्थ—सूत्र में “परे” पद द्विवचन होने से बाद के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं, ऐसा कहा है।

विशेषार्थ—पर, उत्तर और अन्त्य; एकार्थवाची हैं। अन्तिम शुक्ल ध्यान है और इसका समीपवर्ती होने से धर्मध्यान भी पर है, ऐसा उपचार किया जाता है।

“परे अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान; ये दो मोक्ष के हेतु हैं” इस वचन से पहले के दो अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान; ये संसार के हेतु हैं। तात्पर्य यह है कि मोक्ष और संसार के सिवा और कोई तीसरा साध्य नहीं है।

जिज्ञासा—मूलरूप से ध्यान चार प्रकार के कहे हैं, इनमें प्रथम आर्त ध्यान है, अतः इस आर्त ध्यान के भी चार भेद हैं, ऐसा आगम से जाना जाता है। उनमें से पहले आर्तध्यान के भेद के लक्षण का निर्देश क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः॥३०॥

सूत्र उच्चारण—आर्त-, ममनोज्ञस्य, सम्प्रयोगे, तद्-विप्रयोगाय, स्मृति-समन्वाहारः॥३०॥

सन्धि विग्रह—आर्तम्-अमनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्-विप्रयोगाय स्मृति-समन्वाहारः॥३०॥

सूत्रार्थ—अमनोज्ञ पदार्थ के प्राप्त होने पर; उसके वियोग के लिए चिन्ता सातत्यता का होना, प्रथम आर्तध्यान है।

लब्धार्थ—जिसे हम नहीं चाहते हैं और वही मिल जाये, जिसके कारण उससे छूटने की या हटाने की भावों में आकुलता होती है, उसे अनिष्ट संयोग नाम का पहला आर्तध्यान कहते हैं।

विशेषार्थ—अमनोज्ञ का अर्थ अप्रिय है। विष, कण्टक, शत्रु और शस्त्र आदि जो अप्रिय पदार्थ हैं, वे बाधा के कारण होने से अमनोज्ञ कहे जाते हैं। उनका संयोग होने पर; वे मेरे कैसे नहीं हों? अर्थात् ये हमसे कैसे दूर हो जायें? इस प्रकार का सङ्कल्प; चिन्ता प्रबन्ध अर्थात् स्मृति समन्वाहार है। सम् अनु आ ऋ हरणे, सम्यक् प्रकार से; चारों तरफ से चित्त का हरण किया जाता है, उसे स्मृति समन्वाहार कहते हैं। यह प्रथम अनिष्ट संयोग नाम का आर्तध्यान है।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त दूसरे आर्तध्यान के भेद के लक्षण का निर्देश क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

सूत्र उच्चारण—विपरीतं, मनोज्ञस्य ॥३१॥

सूत्रार्थ—मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर; उसकी प्राप्ति की सतत चिन्ता करना, दूसरा इष्ट वियोग नाम का आर्तध्यान है।

लब्धार्थ—जिसे हम चाहते हैं और वही हमसे दूर हो जाये, जिसके कारण उसको प्राप्त करने की या उसके समीप जाने की भावों में आकुलता होती है, उसे इष्ट वियोगज नाम का दूसरा आर्तध्यान कहते हैं।

विशेषार्थ—मनोज्ञ का अर्थ है प्रिय अर्थात् अपने इष्ट, पुत्र, स्त्री और धनादिक के वियोग होने पर; उसकी प्राप्ति के लिए संकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना, यह द्वितीय इष्ट वियोगज नामक आर्तध्यान है।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त तीसरे आर्तध्यान के भेद के लक्षण का निर्देश क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वेदनायाश्च ॥३२॥

सन्धि विग्रह—वेदनायाः च ॥३२॥

सूत्रार्थ—वेदना के होने पर; उसे दूर करने के लिए सतत चिन्ता करना, तीसरा पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान है।

लब्धार्थ—असातावेदनीय के कारण जो शारीरिक, मानसिक आदि पीड़ा होती है, उसे दूर करने के लिए अतिचिन्तित होना, तीसरा पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान कहलाता है।

विशेषार्थ—वेदना शब्द यद्यपि सुख और दुःख दोनों अर्थों में विद्यमान है, पर यहाँ आर्तध्यान का प्रकरण होने से उससे दुःख-वेदना ली गई है।

वातादि विकार जनित दुःख-वेदना के होने पर; उसका अभाव मेरे कैसे होगा? इस प्रकार विकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना, तीसरा पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान है।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त चौथे आर्तध्यान के भेद के लक्षण का निर्देश क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निदानं च ॥३३॥

सूत्रार्थ—निदान नाम का चौथा आर्तध्यान है।

लब्धार्थ—भोगों की आकाङ्क्षा के प्रति आतुर हुए व्यक्ति के आगामी विषयों की प्राप्ति के लिए मनःप्रणिधान का होना अर्थात् संकल्प तथा निरन्तर चिन्ता करना निदान नाम का चौथा आर्त्तध्यान है।

विशेषार्थ—इस सूत्र के अनुसार निदान नाम का आर्त्तध्यान है। इसके दो भेद हैं—निदानशल्य एवं निदानबन्ध; इन दोनों के लक्षण एवं स्वामी भेद; अध्याय सात, सूत्र संख्या अठारह एवं सूत्र संख्या सैंतीस में खुलासा किया है, वहाँ से पुनः जान लेना चाहिए।

जिज्ञासा—चार प्रकार के आर्त्तध्यानों के लक्षण निर्देश करने के बाद; इन आर्त्तध्यानों के स्वामी कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

सूत्र उच्चारण—तदविरत-, देशविरत-, प्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

सन्धि विग्रह—तद्-अविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

सूत्रार्थ—यह आर्त्तध्यान; अविरत, देशव्रत और प्रमत्तसंयत जीवों के होता है।

लब्धार्थ—प्रथम गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक के जीव अविरत कहलाते हैं। संयतसंयत जीव देशव्रत कहलाते हैं और पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से युक्त क्रिया करने वाले जीव प्रमत्तसंयत कहलाते हैं, अतः परिणामों की विकृति के कारण इन तीनों प्रकार के जीवों को आर्त्तध्यान हो सकते हैं।

विशेषार्थ—(१) अनिष्ट संयोग; (२) इष्ट वियोग; (३) पीड़ा चिन्तन; (४) निदान; ये चार आर्त्तध्यान हैं, जिनके लक्षण निर्देश पूर्व सूत्रों में कर आये हैं।

इसमें प्रथम आर्त्तध्यान अनिष्ट संयोग कहने का हेतु है कि इष्ट वियोग से अधिक; अनिष्ट संयोग की पीड़ा होती है। निदान आर्त्तध्यान के निदान शल्य एवं निदानबन्ध; ये दो भेद करने से; पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक निदान शल्य के स्वामी होते हैं, क्योंकि पञ्चमगुणस्थानवर्ती-व्रती निश्शल्य होता है।

पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक; सल्लेखना स्वीकार करते समय निदान बन्ध कर सकता है, अतः निदानबन्ध; सल्लेखना व्रत का अतिचार है, अतः अविरत एवं देशव्रत में निदान नाम का आर्त्तध्यान घटित हो सकता है, जिससे चारों आर्त्तध्यान की सिद्धि; अविरत एवं देशव्रत में हो जाती है।

प्रमत्त संयतों के तो निदान नाम का आर्त्तध्यान पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध नहीं होता है, अतः उनके निदान आर्त्तध्यान छोड़कर बाकी के तीन आर्त्तध्यान; प्रमाद के उदय की तीव्रतावश कदाचित् होते हैं।

पुराण साहित्य में जिन साधुओं ने निदान आर्त्तध्यान किया, उनका गुणस्थान; छटवें से पाँचवें गुणस्थान आदि में आने से गुणस्थान गिर जाता है।

जिज्ञासा—नाम आदि के द्वारा पहले आर्त्तध्यान का कथन किया; अब क्रम प्राप्त दूसरे रौद्र ध्यान के नाम, हेतु एवं स्वामी; इन तीनों का स्वरूप क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३५॥

सूत्र उच्चारण—हिंसा-नृत-स्तेय-, विषयसंरक्षणेभ्यो, रौद्र-मविरत-, देशविरतयोः ॥३५॥

सन्धि विग्रह—हिंसा-अनृत-स्तेय-विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम्-अविरत-देशविरतयोः ॥३५॥

सूत्रार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी एवं विषयसंरक्षण के लिए सतत चिन्तन करना रौद्रध्यान है। वह रौद्रध्यान; अविरत एवं देशव्रत के होता है।

लब्धार्थ—हिंसादि के लक्षण पहले कह आये हैं। ये हिंसादि; रौद्रध्यान की उत्पत्ति में निमित्त होते हैं। पहले गुणस्थान से लेकर चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक हिंसादिक का त्यागी नहीं होता है, अतः यह रौद्र ध्यान; पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक हो सकता है।

किन्तु पञ्चम गुणस्थानवर्ती; आरम्भी, उद्योगी, विरोधी एवं सङ्कल्पी; इनमें से मात्र सङ्कल्पी हिंसा का त्यागी होता है, अतः तीन प्रकार की हिंसा के निमित्त से तथा वित्तादि के संरक्षण के परतन्त्र होने से कदाचित् उसके भी चार प्रकार का रौद्र ध्यान हो सकता है, किन्तु देशविरत का रौद्रध्यान दुर्गति का कारण नहीं है। हाँ! असाता आदि के तीव्रबन्ध का कारण अवश्य हो सकता है।

विशेषार्थ—संसारी जीव; धर्म (पुण्य) रहित जिस दुःख-सुख का अनुभव करता है, उस दुःख-सुख में आर्त्त-रौद्रध्यान कारण है अर्थात् आर्त्तध्यान से दुखी एवं रौद्रध्यान से सुखी होने का अनुभव करता है, ऋत शब्द दुःख अर्थ में आता है, जिससे आर्त्त शब्द बना है।

रुद्र से रौद्र शब्द बना है, जिन हिंसादि कार्यों के निमित्त से जीव सुख मानता है, वे सब रौद्र ध्यान कहे जाते हैं, अतः इन ध्यानों के पीछे आनन्द या आनन्दी पद जोड़कर हिंसानन्दी पद बना देते हैं। सप्तव्यसन; चारों रौद्रध्यान की सामग्री है।

जिज्ञासा—अन्त के दो ध्यान; मोक्ष के हेतु हैं, यह सूत्र संख्या उन्नीस में कह आये हैं। उनमें से मोक्ष के हेतुरूप प्रथम धर्म ध्यान के भेद, स्वरूप और उनके स्वामी कौन हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

सूत्र उच्चारण—आज्ञापाय-विपाक-, संस्थान-विचयाय, धर्म्यम् ॥३६॥

सन्धि विग्रह—आज्ञा-अपाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

सूत्रार्थ—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय एवं संस्थानविचय; इनकी विचारण के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान है।

लब्धार्थ—विचय, विवेक और विचारणा; ये एकार्थवाची हैं, अतः विचय पद चारों ध्यानों के नाम के पीछे लगा लेना चाहिए। “स्मृतिसमन्वाहारः” इस पद की अनुवृत्ति होती है, जिससे उसका प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। जैसे—आज्ञाविचय के लिए स्मृति समन्वाहार आदि।

विशेषार्थ—(१) आज्ञाविचय—उपदेश देने वाले का अभाव होने से, स्वयं मन्दबुद्धि होने से, कर्मों का उदय होने से तथा पदार्थों के सूक्ष्म होने से, तत्त्व के समर्थन में हेतु और दृष्टान्त का अभाव होने पर; सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण करके “यह इसी प्रकार है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते” इस प्रकार गहन पदार्थों के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है।

स्वयं पदार्थों के रहस्य को जानता है और दूसरों के प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है, इसलिए स्व-सिद्धान्त के अविरोध द्वारा तत्त्व का समर्थन करने के लिए उसका जो तर्क, नय और प्रमाण की योजनारूप निरन्तर चिन्तन होता है, वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञाविचय कहा जाता है।

(२) अपायविचय—मिथ्यादृष्टि जीव; जन्मान्ध पुरुष के समान सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख होते हैं, उन्हें सन्मार्ग का परिज्ञान न होने से; वे मोक्षार्थी पुरुषों को दूर से ही त्याग देते हैं, इस प्रकार सन्मार्ग के अपाय (अभाव) का चिन्तन करना अपायविचय धर्मध्यान है।

ये प्राणी; मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कैसे दूर होंगे ? इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना अपायविचय धर्मध्यान है।

(३) विपाकविचय—ज्ञानावरणादि कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव निमित्तक फल के अनुभव के प्रति उपयोग का होना विपाकविचय धर्मध्यान है।

(४) संस्थानविचय—लोक के आकार और स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। इस ध्यानके करने से परोक्ष पदार्थों की श्रद्धा दृढ़ होती है एवं संवेग की वृद्धि होती है। उत्तम क्षमादि दश धर्मों से युक्त परिणाम; धर्मध्यानरूप चार प्रकार के होते हैं।

इस धर्मध्यान के स्वामी; अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत जीव होते हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि के आज्ञा और अपायविचय; ये दो धर्मध्यान माने हैं, तीसरे गुणस्थान में एक धर्मध्यान उपचार से कहा है। देशविरत-पाँचवें गुणस्थान में आज्ञा, अपाय और विपाकविचय; ये तीन धर्म ध्यान माने हैं क्योंकि पाँचवें गुणस्थान से व्रत होने के कारण अविपाक निर्जरा से विपाक विचय धर्मध्यान होता है, अतः स्वयं के कर्मोदय का चिन्तन शुरू हो जाता है। प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत के आज्ञा आदि चारों ही धर्मध्यान माने हैं।

अपाय विचय में दूसरे जीवों के कर्मों का चिन्तन करना होता है एवं विपाक विचय में स्वयं के कर्मों का चिन्तन करना होता है; यही इन दोनों में अन्तर है।

जिज्ञासा—पूर्व सूत्रों में आदि के आर्त्त, रौद्र एवं धर्म; इन तीन ध्यानों के लक्षण भेद एवं स्वामियों का कथन किया। अब क्रम प्राप्त चौथे शुक्लध्यान का निरूपण करना चाहिए, किन्तु शुक्लध्यान के भेद कहने के पहले, उनके स्वामियों का कथन सूत्रकार कर रहे हैं, इसका कारण यह है कि पिछले सूत्र में धर्मध्यान के जो स्वामी कहे, उनके शुक्लध्यान भी होता है क्या ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

सूत्र उच्चारण—शुक्ले चाद्ये, पूर्वविदः ॥३७॥

सन्धि विग्रह—शुक्ले च-आद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

सूत्रार्थ—आदि के दो शुक्ल ध्यान एवं पहले के चार धर्म ध्यान पूर्वविद के होते हैं

लब्धार्थ—आगे कहे जाने वाले शुक्लध्यान के भेदों में से आदि के दो शुक्लध्यान एवं चारों धर्मध्यान पूर्वविद के अर्थात् श्रुतकेवली के होते हैं।

विशेषार्थ—सूत्र में “च” शब्द आया है, उससे धर्मध्यान का भी समुच्चय होता है; कारण कि “व्याख्यान से विशेष ज्ञान होता है” इस नियम के अनुसार श्रेणि चढ़ने के पहले; श्रुतकेवलियों के धर्मध्यान होता है। यदि सूत्र में “च” पद नहीं देते तो श्रुतकेवलियों के धर्मध्यान का अभाव माना जाता।

जिज्ञासा—पूर्व सूत्र में आदि के दो शुक्लध्यान के स्वामियों का कथन किया, किन्तु बाद के शेष दो शुक्लध्यान के स्वामी कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—परे केवलिनः ॥३८॥

सूत्र उच्चारण—परे, केवलिनः ॥३८॥

सूत्रार्थ—बाद के शेष दो शुक्लध्यान केवली के होते हैं ।

लब्धार्थ—श्रुत केवलियों के तो आदि के दो शुक्लध्यान होते हैं, किन्तु बाद के शेष दो शुक्लध्यान केवली-जिन के होते हैं ।

विशेषार्थ—जिसके समस्त ज्ञानावरण का नाश हो गया, ऐसे सयोग-केवली एवं अयोग-केवली के क्रमशः अन्त के दोनों शुक्ल ध्यान होते हैं ।

जिज्ञासा—चारों शुक्ल ध्यान के स्वामी बतलाने के बाद; अब उन चारों शुक्ल ध्यान के नाम सहित भेद कितने हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

सूत्र उच्चारण—पृथक्-त्वैकत्व-वितर्क-, सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति-, व्युपरतक्रिया-निवर्तीनि ।

सन्धि विग्रह—पृथक्त्व-एकत्व-वितर्क-सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति-व्युपरतक्रिया-निवर्तीनि ।

सूत्रार्थ—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति; ये शुक्लध्यान के नाम सहित चार भेद हैं ।

लब्धार्थ—(१) पृथक्त्ववितर्क; (२) एकत्ववितर्क; (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति; (४) व्युपरतक्रियानिवर्ति; ये चार शुक्ल ध्यान हैं । आगे कहे जाने वाले लक्षण के अनुसार सार्थक नाम हैं ।

विशेषार्थ—ये शुक्लध्यान के चार भेद हैं । कोई आचार्य; आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक पहला पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान मानते हैं, किन्तु कोई आचार्य; ग्यारहवें गुणस्थान से पहला पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान होना मानते हैं, किन्तु पूज्यपाद स्वामी के अनुसार; श्रुत-केवली के धर्म ध्यान की सिद्धि छटवें-सातवें गुणस्थान में होते हुए दोनों श्रेणियों में अर्थात् उपशम एवं क्षपक श्रेणी के प्रारम्भ से ग्यारहवें तक पहला एवं बारहवें गुणस्थान में दूसरा शुक्ल ध्यान होता है ।

जिज्ञासा—अब इन चारों शुक्ल ध्यानों का अवलम्बन विशेष क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥

सूत्र उच्चारण—त्र्येकयोग-, काययोगा-, योगानाम् ॥४०॥

सन्धि विग्रह—त्रि-एक-योग-काययोग-अयोगानाम् ॥४०॥

सूत्रार्थ—ये चार शुक्ल ध्यान क्रम से; तीन योग वाले, एक योग वाले, काय योग वाले एवं अयोग वाले के होते हैं ।

लब्धार्थ—तीन योग वाले के पहला पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान होता है। एक योग वाले के दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान होता है। काय योग वाले के तीसरा सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति शुक्ल ध्यान होता है। अयोग वाले के चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्ल ध्यान होता है।

विशेषार्थ—“कायवाङ्मनःकर्म योगः” इस सूत्र में तीनों योग शब्द की व्याख्या छटवें अध्याय के प्रथम सूत्र में आयी है, इन्हीं योगों को यथासम्भव चारों शुक्ल ध्यानों के साथ लगा लेना चाहिए।

जिज्ञासा—अब इन चारों शुक्लध्यान के भेदों में से आदि के दो भेदों का विशेष स्वरूप क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥

सूत्र उच्चारण—एकाश्रये, सवितर्क-वीचारे, पूर्वे ॥४१॥

सन्धि विग्रह—एक-आश्रये सवितर्क-वीचारे पूर्वे ॥४१॥

सूत्रार्थ—पहले के दो शुक्ल ध्यान; एक आश्रय वाले, सवितर्क और सवीचार होते हैं।

लब्धार्थ—जो वितर्क और वीचार के साथ रहते हैं, वे सवितर्क और सवीचार कहलाते हैं, अतः आदि के दो शुक्लध्यान; एक आश्रय सहित, सवितर्क और सवीचार सहित होते हैं।

विशेषार्थ—आदि के जिन दो शुक्लध्यानों का एक आश्रय होता है, वे एक आश्रय वाले कहलाते हैं अर्थात् जिसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान (भाव श्रुत) प्राप्त कर लिया है, उसके द्वारा ही ये दो शुक्लध्यान आरम्भ किए जाते हैं। पृथक्त्व वितर्क एवं एकत्व वितर्क आदि के ये दोनों शुक्लध्यान, एक आश्रय, सवितर्क और सवीचार होते हैं।

जिज्ञासा—सूत्र संख्या इक्तालीस के सम्बन्ध से दोनों शुक्लध्यानों का स्वरूप एक-सा है, अतः इन दोनों में क्या अन्तर है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

सूत्र उच्चारण—अवीचारं, द्वितीयम् ॥४२॥

सूत्रार्थ—दूसरा शुक्लध्यान अवीचार है।

लब्धार्थ—पहले दो शुक्ल ध्यानों में जो दूसरा शुक्लध्यान; एकत्ववितर्क है, वह अवीचार है।

विशेषार्थ—पहला शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्क; एक आश्रय, सवितर्क और सवीचार होता है, किन्तु दूसरा शुक्ल ध्यान एकत्ववितर्क; एक आश्रय, सवितर्क और अवीचार होता है, यही इन दोनों शुक्ल ध्यानों की विशेषता है।

जिज्ञासा—अब वितर्क किसे कहते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

सूत्र उच्चारण—वितर्कः, श्रुतम् ॥४३॥

सूत्रार्थ—वितर्क का अर्थ; श्रुत है।

लब्धार्थ—विशेषरूप से तर्कणा करना अर्थात् ऊहा-खोज करना, वितर्क—श्रुतज्ञान कहलाता है।

विशेषार्थ—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं, ऐसे विशेष तर्कपूर्ण श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं।

जिज्ञासा—अब क्रम प्राप्त वीचार किसे कहते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥४४॥

सूत्र उच्चारण—वीचारोऽर्थ-, व्यञ्जन-योग-, संक्रान्तिः ॥४४॥

सन्धि विग्रह—वीचारः अर्थ-व्यञ्जन-योग-संक्रान्तिः ॥४४॥

सूत्रार्थ—अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति; वीचार है।

लब्धार्थ—अर्थ; ध्येय को कहते हैं। इस अर्थ पद से द्रव्य और पर्याय लिए जाते हैं।

व्यञ्जन का अर्थ; वचन है तथा काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। संक्रान्ति का अर्थ; परिवर्तन है। यह संक्रान्ति पद; अर्थ, व्यञ्जन और योग; इन तीनों के साथ लगा लेना चाहिए, जिससे अर्थ संक्रान्ति, व्यञ्जन संक्रान्ति एवं योग संक्रान्तिरूप पूर्ण पद बन जाते हैं।

(१) **अर्थ संक्रान्ति**—जब जीव का उपयोग; द्रव्य को छोड़कर पर्याय को प्राप्त होता है और पर्याय को छोड़कर द्रव्य को प्राप्त होता है, यह अर्थ संक्रान्ति है।

(२) **व्यञ्जन संक्रान्ति**—जब जीव का उपयोग; एक श्रुत वचन का आलम्बन लेकर दूसरे वचन का आलम्बन लेता है और उसे भी त्यागकर अन्य दूसरे वचन का आलम्बन लेता है, यह व्यञ्जन संक्रान्ति है।

(३) **योग संक्रान्ति**—काय योग को छोड़कर दूसरे योग को स्वीकार करता है और दूसरे योग को छोड़कर पुनः काय योग को स्वीकार करता है, यह योग संक्रान्ति है।

इन तीनों प्रकार के परिवर्तन को वीचार कहते हैं।

विशेषार्थ—सामान्य और विशेषरूप से कहे गए इन चार प्रकार के धर्मध्यान और शुक्लध्यान को पूर्वोक्त गुप्ति आदि बहुत प्रकार के उपायों से युक्त होने पर; संसार का नाश करने के लिए जिसने भले प्रकार से परिकर्म को किया है, ऐसा मुनि; ध्यान करने के योग्य होता है।

(१) **पृथक्त्ववितर्क वीचार**—जिस प्रकार अपर्याप्त उत्साह से युक्त बालक; अव्यवस्थित और मौंथरे शस्त्र के द्वारा भी चिरकाल में वृक्ष को छेदता है। उसी प्रकार चित्त की सामर्थ्य को प्राप्त कर जो द्रव्य-परमाणु अर्थात् द्रव्य की सूक्ष्मता एवं भाव-परमाणु अर्थात् पर्याय की सूक्ष्मता का ध्यान कर रहा है, वह अर्थ और व्यञ्जन तथा काय और वचन में पृथक्त्वरूप से संक्रमण करने वाले मन के द्वारा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशमन और क्षय करता हुआ पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान को धारण करने वाला होता है।

विशेष—पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक शुक्लध्यान; आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है, अतः इस ध्यान के स्वामी तीन योग सहित, जो उपशम श्रेणी वाले हैं, वे मोहनीय कर्म प्रकृतियों का उपशम करके ग्यारहवें गुणस्थान तक जाते हैं और पुनः उपशम श्रेणी से गिरकर प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान तक आ सकते हैं।

जो जीव इस प्रथम शुक्लध्यान से क्षपक श्रेणी आरोहण करते हैं, वे मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का दशवें गुणस्थान में क्षय करके सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुँचते हैं और वे कभी वहाँ से गिरकर नीचे के गुणस्थान में नहीं आते हैं।

(२) एकत्ववितर्क अवीचार—एकत्ववितर्क अवीचाररूप शुक्लध्यान के द्वारा जो समूल मोहनीय कर्म का दाह करना चाहता है, जो अनन्तगुणी विशुद्धि विशेष को प्राप्त होकर बहुत प्रकार की ज्ञानावरण की सहायीभूत प्रकृतियों के बन्ध को रोक रहा है। जो कर्मों की स्थिति को न्यून और नाश कर रहा है। जो श्रुतज्ञान के उपयोग से युक्त अर्थात् पूर्वविद है और वैदूर्यमणि के समान निरुपलेप है, वह ध्यान करके पुनः नहीं लौटता है अर्थात् बारहवें गुणस्थान से गिरकर कभी ग्यारहवें आदि गुणस्थान में नहीं आता है। इस प्रकार उसके, दूसरा; एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान कहा गया है।

विशेष—ये सब बारहवें गुणस्थान में होने वाले कार्य बताये गए हैं।

(३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति—इस प्रकार एकत्ववितर्क शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा जिसने चार घातिया कर्मरूपी ईन्धन को जला दिया है, जिसके केवलज्ञानरूपी किरण समुदाय प्रकाशित हो गया है। जो मेघमण्डल का निरोध कर निकले हुए सूर्य के समान भासमान हो रहा है। ऐसे भगवान् तीर्थङ्कर-केवली या सामान्य केवली; इन्द्रों के द्वारा आदरणीय और पूज्यनीय होते हुए उत्कृष्टरूप से कुछ कम पूर्वकोटि काल तक विहार करते हैं।

वह; जब आयु में अन्तर्मुहूर्त्त काल शेष रहता है तथा वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म के बराबर शेष रहती है तब सब प्रकार के वचनयोग, मनोयोग और बादर काययोग को त्यागकर तथा सूक्ष्मकाय योग का अवलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को स्वीकार करता है, परन्तु जब उन सयोगीजिन के आयु अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहती है तब जिन्हें सातिशय आत्मोपयोग प्राप्त है। जिन्हें सामायिक का अवलम्बन है। जो विशिष्ट करण से युक्त हैं। जो कर्मों का महासंवर कर रहे हैं और जिनके स्वल्प मात्रा में कर्मों का परिपाचन हो रहा है, ऐसे वे अपने आत्म-प्रदेशों के फैलने से कर्मरज को परिशातन करने की शक्ति वाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात को चार समयों के द्वारा करके पुनः उतने ही समयों द्वारा अनन्तर प्रदेशों के विसर्पण का सङ्कोच करके तथा शेष चार अघातिया कर्मों की स्थिति को समान करके, अपने पूर्व शरीर प्रमाण होकर, सूक्ष्मकाय योग के द्वारा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को स्वीकार करते हैं।

विशेष—तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान के साथ उत्पन्न होने वाला बादरक्रिया काययोग का संयोग रहता है, किन्तु जब आयु कर्म अन्तर्मुहूर्त्त काल शेष रहा और वेदनीय कर्म का काल; आयु कर्म के काल से अधिक हो तब वेदनीय कर्मों के निषेकों को आयु कर्म के बराबर करने के लिए केवली समुद्घात होता है। उस केवली समुद्घात के बाद अथवा जिनके चार अघातियाँ कर्मों की स्थिति; मात्र अन्तर्मुहूर्त्त रह गयी है, वह बादरकाय त्याग कर सूक्ष्मक्रिया-काययोग का अवलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति ध्यान को स्वीकार करता है। (रा० वा०)

इसे सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति ध्यान इसलिए कहा जाता है कि जो तेरहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में वचन योग, मनोयोग एवं बादरकाय योग का सम्बन्ध था, वह अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त में सूक्ष्मकाय योग में

परिवर्तित हो गया एवं सूक्ष्मकाय योग का अवलम्बन लेने के बाद पुनः गिरकर बादरकाय योग में नहीं आता, अतः इस ध्यान का नाम सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति है, जो तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में होता है। तीसरा शुक्लध्यान दो प्रकार से होता है—केवली समुद्घात रहित एवं सहित।

(४) व्युपरतक्रियानिवर्ति—तेरहवें गुणस्थान को सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान पूर्ण करने के बाद; चौथे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यान को आरम्भ करते हैं। इस ध्यान में प्राणापान के प्रचाररूप क्रिया का तथा सब प्रकार के काययोग, वचनयोग और मनोयोग द्वारा होने वाली आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप क्रिया का उच्छेद हो जाने से उसे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति अथवा व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान कहते हैं।

इस समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यान में सब प्रकार के कर्मबन्ध के आस्रव का निरोध हो जाने से तथा बाकी के बचे सब कार्यों के नाश करने की शक्ति उत्पन्न हो जाने से अयोगी केवली-जिन के संसार के सब प्रकार के दुःख जाल के सम्बन्ध का उच्छेद करने वाला सम्पूर्ण यथाख्यात चारित्र, ज्ञान और दर्शनरूप साक्षात् मोक्ष का कारण उत्पन्न होता है।

वे अयोगिकेवली भगवान् उस समय ध्यानातिशयरूप अग्नि के द्वारा सब प्रकार के मल-कलङ्क बन्धन को जलाकर और किट्ट धातु व पाषाण का नाशकर शुद्ध सोने के समान अपनी आत्मा को प्राप्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार यह दोनों प्रकार का तपः नूतन कर्मों के निरोध का हेतु होने से संवर का कारण है और प्राक्तन-सत्तागत कर्मरूपी रज के नाश करने का हेतु होने से निर्जरा का भी हेतु है, अतः “तपसा निर्जरा च” इस सूत्र की पूरी व्याख्या यहाँ तक के सूत्रों में की गई है।

नौवाँ अध्याय; संवर, निर्जरा का कथन करने वाला है। इसके पहले सूत्र में संवर का लक्षण एवं दूसरे सूत्र में संवर के कारण एवं उनकी व्याख्या तथा तीसरे सूत्र में संवर सहित निर्जरा के हेतु कहे हैं, उसी की व्याख्या भेद-प्रभेद सहित यहाँ की है। कहने का तात्पर्य है कि पूरा नौवाँ अध्याय; दूसरे एवं तीसरे सूत्र की व्याख्या करता है।

जिज्ञासा—यहाँ कहते हैं कि सब सम्यग्दृष्टि आदि क्या समान निर्जरा वाले होते हैं या कुछ विशेषता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोप-
शान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥**

सूत्र उच्चारण — सम्यग्दृष्टि-श्रावक-, विरतानन्त-वियोजक-, दर्शनमोह-, क्षपकोप-शमकोप-,
शान्तमोह-क्षपक-, क्षीणमोह-जिनाः, क्रमशोऽसङ्ख्येयगुण-, निर्जराः ॥४५॥

सन्धि विग्रह — सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरत-अनन्त-वियोजक-दर्शनमोह-क्षपक-उपशमक-
उपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशः असङ्ख्येयगुण-निर्जराः ॥४५॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी वियोजक, दर्शनमोह क्षपक, चारित्रमोह उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह एवं जिन; ये क्रम से असंख्यगुण निर्जरा वाले होते हैं।

लब्धार्थ—भद्र मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टि की निर्जरा असंख्यात गुणी होती है। अविरत सम्यग्दृष्टि से श्रावक-देशव्रती की, श्रावक-देशव्रती से विरत की, विरत से अनन्तानुबन्धी वियोजक की, अनन्तानुबन्धी वियोजक से दर्शनमोहक्षपक की, दर्शनमोहक्षपक से चारित्रमोह-उपशमक की, चारित्रमोह-उपशमक से उपशान्तमोह की, उपशान्तमोह से क्षपक की, क्षपक से क्षीणमोह की एवं क्षीणमोह से 'जिन' की असंख्यातगुणी-असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि आदि में दश पद क्रम से असंख्येयगुण निर्जरा वाले होते हैं।

(१) **सम्यग्दृष्टि**—जिसे तीन प्रकार की काललब्धि आदि की सहायता मिली है और परिणामों की विशुद्धि द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, ऐसा भव्य, पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्तक जीव क्रम से अपूर्वकरण आदि सोपान पंक्ति पर चढ़ता हुआ बहुतर कर्मों की निर्जरा करने वाला होता है।

सर्व प्रथम वह ही प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त के मिलने पर सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्येयगुण कर्म निर्जरा वाला होता है।

(२) **श्रावक**—वही सम्यग्दृष्टि; चारित्रमोहनीय कर्म के एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कर्म के क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की प्राप्ति के समय विशुद्धि का प्रकर्ष होने से श्रावक होता हुआ; अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

(३) **विरत**—वही श्रावक; प्रत्याख्यानावरण कर्म के क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की विशुद्धिवश विरत संज्ञा को प्राप्त होता हुआ; श्रावक की अपेक्षा असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

(४) **अनन्तानुबन्धी वियोजक**—वही विरत; जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ की विसंयोजना करता है तब परिणामों की विशुद्धि के प्रकर्षवश उस विरत की अपेक्षा असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

(५) **दर्शनमोह क्षपक**—वही अनन्तानुबन्धी वियोजक; दर्शनमोहनीय त्रिक-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक् प्रकृतिरूपी तृण समूह को भस्मसात् करता हुआ; परिणामों की विशुद्धि के अतिशयवश दर्शनमोह क्षपक संज्ञा को प्राप्त होता हुआ; पहले से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

(६) **चारित्रमोह उपशमक**—दर्शनमोह क्षपक अर्थात् क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणि पर आरोहण करने के सम्मुख होता हुआ तथा चारित्रमोहनीय के उपशम करने के लिए प्रयत्न करता हुआ; विशुद्धि के प्रकर्षवश उपशमक संज्ञा को अनुभव करता हुआ; पहले की अपेक्षा से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

(७) **उपशान्तमोह**—पूर्वोक्त उपशमक ही समस्त चारित्रमोहनीय के उपशम का निमित्त मिलने पर उपशान्तमोह या उपशान्तकषाय संज्ञा को प्राप्त होता हुआ; पहले की अपेक्षा असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

(८) **क्षपक**—पूर्वोक्त उपशान्तमोह ही चारित्रमोहनीय की क्षपणा के लिए सम्मुख होता हुआ तथा परिणामों की विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होकर क्षपक संज्ञा को अनुभव करता हुआ; पहले की अपेक्षा असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

(९) **क्षीणमोह**—पूर्वोक्त क्षपक; समस्त चारित्रमोहनीय की क्षपणा के कारणों से प्राप्त हुए परिणामों के अभिमुख होकर क्षीणकषाय मोह संज्ञा को प्राप्त करता हुआ; पहले की अपेक्षा असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

(१०) जिन—पूर्वोक्त क्षीणमोह ही द्वितीय शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा घातिकर्म समूह का नाश करके जिन संज्ञा को प्राप्त होता हुआ; पहले की अपेक्षा असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

विशेष—पूर्वोक्त दश निर्जरा स्थानों में आगे-आगे समय कम-कम एवं कर्मों की निर्जरा अधिक-अधिक होती है।

जिज्ञासा—सम्यग्दृष्टि से लेकर जिन-पद तक ही निर्जरा समान नहीं है, अतः विरत आदि भी गुण भेद के कारण परस्पर भेद होने पर भी नैगमादि नयों की अपेक्षा से वे सभी क्या कहलाते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥४६॥

सूत्र उच्चारण—पुलाक-बकुश-कुशील-, निर्ग्रन्थ-स्नातका, निर्ग्रन्थाः ॥४६॥

सूत्रार्थ—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक; ये पाँचों पद निर्ग्रन्थ हैं।

लब्धार्थ—पुलाक आदि पाँचों निर्ग्रन्थ अर्थात् भावलिङ्गी साधु होते हैं।

विशेषार्थ—(१) पुलाक—जिनका मन उत्तरगुणों (बारह तप-बाईस परिषह) की भावना से रहित है, जो कहीं पर और कदाचित् मूल व्रतों में भी परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होते हैं, वे अविशुद्ध पुलाक (मुरझाये हुए धान्य) के समान होने से पुलाक कहे जाते हैं।

(२) बकुश—जो निर्ग्रन्थ होते हैं, व्रतों का अखण्डरूप से पालन करते हैं, शरीर और उपकरणों की शोभा बढ़ाने में लगे रहते हैं, परिवार (भक्तों) से घिरे रहते हैं और विविध प्रकार के मोह से युक्त होते हैं, वे बकुश कहलाते हैं। यहाँ बकुश शब्द “शबल” (चित्र-विचित्र) शब्द का पर्यायवाची है।

(३) कुशील—कुशील दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रतिसेवना कुशील; (२) कषाय कुशील। जो परिग्रह से-उपकरण, शिष्य, संस्था आदि से घिरे रहते हैं, जो मूल और उत्तरगुणों में परिपूर्ण हैं, लेकिन कभी-कभी उत्तरगुणों की विराधना करते हैं, वे प्रतिसेवना कुशील कहलाते हैं। जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को जीत लिया है और जो केवल संज्वलन कषाय के अधीन हैं, वे कषाय कुशील कहलाते हैं।

(४) निर्ग्रन्थ—जिस प्रकार जल में लकड़ी से की गयी रेखा अप्रकट रहती है। उसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अप्रकट हो तथा अन्तर्मुहूर्त्त के बाद प्रकट होने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करते हैं, वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

(५) स्नातक—जिन्होंने चार घातिया एवं चार अघातिया कर्मों का क्रमशः नाश कर दिया है, ऐसे सयोग एवं अयोग दोनों प्रकार के केवली; स्नातक कहलाते हैं।

विशेष—ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ होते हैं। इनमें चारित्ररूप परिणामों की न्यूनाधिकता के कारण भेद होने पर भी नैगम और संग्रह आदि नयों की अपेक्षा वे सब निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

जिज्ञासा—पूर्वोक्त पाँच प्रकार के पुलाक आदि निर्ग्रन्थों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान कैसे हो सकता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥४७॥

सूत्र उच्चारण—संयम-श्रुत-, प्रतिसेवना-, तीर्थ-लिङ्ग-, लेश्योप-पाद-स्थान-, विकल्पतः, साध्याः ।
सन्धि विग्रह — संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिङ्ग-लेश्या-उपपाद-स्थान-विकल्पतः साध्याः ।

सूत्रार्थ—संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान के भेद से इन निर्ग्रन्थों का व्याख्यान करना चाहिए ।

लब्धार्थ—पूर्वोक्त पाँच प्रकार के पुलाक आदि निर्ग्रन्थ; संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान; इन आठ अनुयोगों के द्वारा साध्य अर्थात् व्याख्यान करने योग्य हैं ।

विशेषार्थ—ये पुलाक आदि पाँचों प्रकार के भेद; संयम आदि आठ प्रकार के अनुयोगों द्वारा विस्तार करने योग्य हैं ।

(१) संयम—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील; सामायिक और छेदोपस्थापना, इन दो संयमों में रहते हैं। कषाय कुशील पूर्वोक्त दो संयमों के साथ परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय; इन दो संयमों में रहते हैं ।

निर्ग्रन्थ और स्नातक—एक यथाख्यात चारित्र (संयम) में रहते हैं ।

(२) श्रुत—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील; उत्कृष्टरूप से अभिन्नाक्षर दश पूर्वधर होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ; उत्कृष्टरूप से चौदह पूर्वधर होते हैं ।

जघन्यरूप से पुलाक का श्रुतज्ञान; आचार वस्तु प्रमाण अर्थात् गुरु आज्ञा प्रमाण होता है। जैसे-गुरु ने कहा कि “तुष मास भिन्नं” दाल अलग; छिलका अलग। वैसे ही आत्महित के लिए; आत्मा अलग, कर्मण शरीर अलगरूप सच्चा श्रद्धान, ज्ञान करना जघन्य श्रुतज्ञान है ।

बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थों का जघन्य श्रुतज्ञान; आठ प्रवचन मातृका प्रमाण होता है अर्थात् पाँच समिति, तीन गुप्ति; ये आठ प्रवचन मातृका कहलाती हैं, इतने प्रमाण होता है। स्नातक; श्रुतज्ञान से रहित-केवली होते हैं ।

(३) प्रतिसेवना—दूसरों के दबाववश जबरदस्ती से पाँच मूलगुण-(पाँच महाव्रत) और रात्रि भोजन वर्जन व्रत में से किसी एक की प्रतिसेवना करने वाला पुलाक होता है ।

बकुश दो प्रकार के होते हैं—उपकरण बकुश और शरीर बकुश। उनमें से अनेक प्रकार की विशेषताओं को लिए हुए उपकरणों को चाहने वाला उपकरण बकुश होता है तथा शरीर का संस्कार करने वाला शरीर बकुश होता है ।

प्रतिसेवनाकुशील; मूलगुणों की विराधना न करता हुआ, उत्तरगुणों की किसी प्रकार की विराधना की प्रतिसेवना करने वाला होता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकों को प्रतिसेवना नहीं होती है ।

(४) तीर्थ—ये पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ सब तीर्थङ्करों के तीर्थों में होते हैं ।

(५) लिङ्ग—लिङ्ग दो प्रकार का है—द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग। भावलिङ्ग की अपेक्षा पाँचों ही साधु; निर्ग्रन्थलिङ्ग वाले अर्थात् दिगम्बर मुनि ही होते हैं। द्रव्यलिङ्ग प्रतीत्य भाज्या अर्थात् द्रव्यलिङ्ग; दिगम्बर मुनि का होकर भी भावलिङ्ग का विकल्प हो, क्योंकि अभव्य मिथ्यादृष्टि दिगम्बर मुनि बनकर नौवें

ग्रेवेयक तक की यात्रा करता है। पुष्पडाल एवं अभव्यसेन; दिगम्बर मुनि होकर भी भावलिङ्गी नहीं थे, अतः टीकाकार ने द्रव्यलिङ्ग में भावलिङ्ग को प्रतीत्य भाज्या कहा है अर्थात् द्रव्यलिङ्ग में भावलिङ्ग भाज्य है। यहाँ भाज्य पद भावलिङ्ग का विकल्पवाची है।

विशेष—लिङ्ग और वेद में हमेशा से विद्वानों में विषमवाद रहा है, क्योंकि उन्होंने द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग, द्रव्यवेद और भाववेद; इनके लक्षणों का सही स्वरूप नहीं समझा, जिससे शास्त्रों के अर्थ को अनर्थ रूप से प्ररूपित किया। पहले हम; तीनों लिङ्ग में स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग। संज्ञा मार्गणा में चार संज्ञाओं में मैथुन संज्ञा। कषाय मार्गणा में नोकषायों में तीन वेद एवं वेद मार्गणा में तीन वेद होते हैं, यह जानते हैं।

यदि हम; लिङ्ग, संज्ञा, नोकषाय एवं वेद इनको समझ लें तो सभी विसंगतियाँ दूर हो सकती हैं। जैसे—कोई बालक निर्विकार रूप से खेल रहा है, किन्तु वहाँ पर कोई दूसरा बालक मिठाई या खिलौना लेकर आ गया तब उस बालक में मिठाई या खिलौने के चिह्न को देखकर उसको प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत हुई फिर उस मिठाई या खिलौने को छीनने या खरीदने का प्रयास किया, छीनने या खरीदने के बाद उस मिठाई या खिलौने का सेवन किया, यह एक दृष्टांत है। इस दृष्टांत में मिठाई या खिलौना; चिह्न रूप लिङ्ग है। उसे प्राप्त करने की इच्छा; संज्ञा है। उसे छीनने या खरीदने का प्रयास; कषाय है। उसे छीनकर या खरीदकर सेवन करने का भाव; वेद है।

सिद्धान्त का नियम है कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता है, किन्तु कारण के मिलने पर कोई कार्य हो यह भी जरूरी नहीं है, अतः इस प्रसंग में लिङ्ग कारण है संज्ञा में। संज्ञा कारण है कषाय में। कषाय कारण है वेद में।

द्रव्यलिङ्ग; भावलिङ्ग में कारण है, जिसके कारण संज्ञा का जन्म होता है। संज्ञा के अनुसार कषाय का प्रवर्तन होता है और कषाय जिस स्वाद का वेदन करती है, वह वेद कहा जाता है। इन चारों को समझ लेने से; लिङ्ग, संज्ञा, कषाय एवं वेद सम्बन्धी द्रव्य और भाव की सभी विसंगतियाँ दूर हो जाती हैं।

यदि हम वेद मार्गणा में वेद को द्रव्यवेद मानते हैं तब नौवें गुणस्थान के बाद अपगत वेद होने पर क्या द्रव्यवेद का चिह्न नष्ट हो जायेगा पुनः श्रेणी से वापिस आने पर द्रव्यवेद का चिह्न प्रकट हो जायेगा? किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि करणानुयोग में भाववेद की अपेक्षा ही श्रेणी का आरोहण होता है। देव, नारकी, भोगभूमि के मनुष्य एवं तिर्यच तथा सम्मूर्च्छन जीवों के जो द्रव्यवेद है, वही भाववेद होगा, किन्तु कर्मभूमि के मनुष्य एवं पंचेन्द्रिय तिर्यचों के वेद में वैषम्य पाया जाता है, अतः द्रव्य पुरुषवेदी में भाव स्त्रीवेद की विषमता के लिए उसे स्त्री न कहकर मानुषी शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार द्रव्य पुरुषवेदी तिर्यच के भाव स्त्रीवेद की विषमता के लिए उसे योनिमती तिर्यच कहा है।

(६) **लेश्या**—पुलाक मुनि के बाद की तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्यायें होती हैं; कारण कि इनके उपकरण आदि की आसक्ति के कारण आर्त्तध्यान उत्पन्न हो सकता है, अतः आर्त्तध्यान के कारण तीन अशुभ लेश्या सम्भव हैं। कषाय कुशील के अन्त की चार लेश्यायें होती हैं, अन्त की तीन शुभ लेश्या के साथ एक कापोत लेश्या संज्वलन कषाय के सद्भाव से परिग्रह की आसक्ति के सद्भाव के कारण होती है। सूक्ष्मसाम्पराय, कषायकुशील के तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक शुक्ल लेश्या होती है और अयोगी लेश्या रहित होते हैं।

(७) उपपाद—पुलाक का उत्कृष्ट उपपाद; सहस्रार (बारहवाँ स्वर्ग) कल्प के उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों में होता है। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील का उत्कृष्ट उपपाद; आरण और अच्युत कल्प में बाईस सागरोपम की स्थिति वाले देवों में होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उपपाद; सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागरोपम की स्थिति वाले देवों में होता है। इन सभी का जघन्य उपपाद; सौधर्म कल्प में दो सागरोपम की स्थिति वाले देवों में होता है तथा स्नातक मोक्ष जाते हैं।

(८) स्थान—कषाय निमित्तक असंख्यात संयम स्थान होते हैं। पुलाक और कषाय कुशील के सबसे जघन्य लब्धिस्थान होते हैं। वे दोनों असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते हैं, उसके बाद पुलाक की व्युच्छित्ति हो जाती है और आगे कषायकुशील असंख्यात स्थानों तक अकेला जाता है। इससे आगे कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश; असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते हैं, यहाँ बकुश की व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर प्रतिसेवनाकुशील की व्युच्छित्ति हो जाती है पुनः इससे भी असंख्यातस्थान आगे जाकर कषायकुशील की व्युच्छित्ति हो जाती है, इससे आगे अकषाय स्थान है, जिन्हें निर्ग्रन्थ प्राप्त होता है। उसकी भी असंख्यात स्थान आगे जाकर व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे आगे एक स्थान जाकर स्नातक; निर्वाण को प्राप्त होता है, इसकी संयम लब्धि अनन्तगुणी होती है।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) नवमोऽध्यायः ॥

प्रज्ञाशक्तिमण
मुनि

अथ दशमोऽध्यायः

जिज्ञासा—नौवें अध्याय में संवर एवं निर्जरा पदार्थों का कथन विस्तार से किया । अब क्रम प्राप्त मोक्ष का कथन करना चाहिए, किन्तु केवलज्ञान की उत्पत्ति होने पर ही मोक्ष तत्त्व की प्राप्ति होती है, अतः पहले केवलज्ञान की उत्पत्ति के क्या कारण हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मोहक्षयाज्-ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

सूत्र उच्चारण—मोहक्षयाज्-, ज्ञानदर्शना-, वरणान्तराय-, क्षयाच्-च, केवलम् ॥१॥

सन्धि विग्रह—मोहक्षयाज्-ज्ञानदर्शन-आवरण-अन्तराय-क्षयाच्-च केवलम् ॥१॥

सूत्रार्थ—मोह का क्षय होने से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है ।

लब्धार्थ—पहले ही मोह का क्षय करके और अन्तर्मुहूर्त काल तक क्षीणकषाय संज्ञा को प्राप्त होकर अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ—पहले; मोह के क्षय के क्रम में परिणामों की विशुद्धि द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता हुआ असंयत सम्यग्दृष्टि, संयमासंयम, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत; इन चार गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में मोहनीय की सात प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर; क्षपक श्रेणि पर आरोहण करने के लिए सम्मुख होता हुआ अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त होकर, अपूर्वकरण के प्रयोग द्वारा अपूर्वकरण क्षपक गुणस्थान संज्ञा का अनुभव करके और वहाँ पर नूतन-परिणामों की विशुद्धिवश पाप प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग को कृश करके तथा शुभकर्मों के अनुभाग की वृद्धि करके अनिवृत्तिकरण की प्राप्ति द्वारा अनिवृत्तिबादर साम्पराय क्षपक गुणस्थान पर आरोहण करके, वहाँ आठ कषायों को नाश करके तथा नपुंसक वेद और स्त्री वेद का क्रम से नाश करके, छह नो कषाय का पुरुषवेद में संक्रमण द्वारा नाश करके तथा पुरुष वेद का क्रोध संज्वलन में, क्रोध संज्वलन का मान संज्वलन में, मान संज्वलन का माया संज्वलन में और माया संज्वलन का लोभ संज्वलन में; क्रम से बादर कृष्टि विभाग के द्वारा संक्रमण करके तथा लोभ संज्वलन को कृश करके, सूक्ष्मसाम्पराय क्षपकत्व का अनुभव करके, समस्त मोहनीय का निर्मूल नाश करके, क्षीणकषाय गुणस्थान पर आरोहण करके मोहनीय के भार को उतार कर क्षीणकषाय गुणस्थान के उपान्त्य समय-अन्तिम समय के पहले समय में निद्रा और प्रचला का नाश करके तथा अन्तिम समय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मों का अन्त करके, तदनन्तर ज्ञानदर्शन स्वभावअवितर्क्य अर्थात् तर्क रहित विभूति विशेषरूप केवलज्ञान पर्याय को प्राप्त होता है ।

जिज्ञासा—केवलज्ञान होने के बाद पुनः किस कारण से मोक्ष प्राप्त होता है और मोक्ष तत्त्व भी है, अतः उसका लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

सूत्र उच्चारण—बन्ध-हेत्व-भाव-, निर्जराभ्यां, कृत्स्नकर्म-, वि-प्र-मोक्षो, मोक्षः ॥२॥

सन्धि विग्रह—बन्ध-हेतु-अभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म-वि-प्र-मोक्षो मोक्षः ॥२॥

सूत्रार्थ—बन्ध के हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

लब्धार्थ—मिथ्यादर्शन आदि पाँच बन्ध के हेतुओं का अभाव होने से नूतन कर्मों का अभाव होता है और गुप्ति, समिति आदि निर्जरा के हेतुओं के मिलने पर अर्जित कर्मों का वि यानि विशेष, प्र यानि प्रकृष्टरूप से नाश होता है।

जिसने इन दोनों हेतुओं द्वारा भवस्थिति के हेतुभूत आयु कर्म के बराबर शेष कर्मों की अवस्था को कर लिया है, उसके उक्त कारणों से एक साथ समस्त कर्मों का आत्यन्तिक वियोग होना मोक्ष है।

विशेषार्थ—मोक्ष जाने के पहले; कर्मों का अभाव-क्षय दो प्रकार से होता है—यत्न साध्य और अयत्न साध्य।

अयत्नसाध्य अभाव—चरम देह वाले के नरकायु, तिर्यज्वायु और देवायु का अभाव यत्न साध्य नहीं होता है, क्योंकि उनके; उनका सत्त्व उपलब्ध नहीं होता है।

यत्नसाध्य अभाव—असंयत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में से अर्थात् चौथे से सातवें में से किसी एक गुणस्थान में सात प्रकृतियों का क्षय करता है।

पुनः निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यज्वगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यज्वगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण नाम वाली सोलह कर्म प्रकृतियों का अनिवृत्ति बादरसाम्पराय गुणस्थान में एक साथ क्षय करता है।

इसके बाद उसी गुणस्थान में आठ कषायों का नाश करता है पुनः वहीं पर नपुंसक वेद और स्त्री वेद का क्रम से क्षय करता है तथा छह हास्य आदि नौ कषायों को एक ही प्रहार के द्वारा गिरा देता है। तदनन्तर पुरुष वेद, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान और संज्वलन माया का वहाँ पर क्रम से अत्यन्त क्षय करता है तथा संज्वलन लोभ; सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त में विनाश को प्राप्त होता है।

निद्रा और प्रचला; क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान के उपान्त्य समय में प्रलय को प्राप्त होते हैं। पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मों का उसी गुणस्थान (बारहवें) के अन्तिम समय में क्षय होता है।

कोई एक वेदनीय, देवगति, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छह संस्थान, औदारिकशरीर-अङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिकशरीर-अङ्गोपाङ्ग, आहारकशरीर-अङ्गोपाङ्ग, छह संहनन, पाँच प्रशस्त वर्ण, पाँच अप्रशस्त वर्ण, दो गन्ध, पाँच प्रशस्त रस, पाँच अप्रशस्त रस, आठ स्पर्श, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त-विहायोगति, अप्रशस्त-विहायोगति, अपर्याप्तक, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र नाम वाली बहत्तर प्रकृतियों का अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में विनाश होता है।

कोई एक वेदनीय, मनुष्य आयु, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थङ्कर और उच्चगोत्र नाम वाली तेरह प्रकृतियों का अयोगकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में वियोग होता है।

विशेष—मूल आठों कर्मों की कुल उत्तर प्रकृतियाँ एक-सौ अड़तालीस हैं। उनमें से चरमशरीरी जीव के नरकायु, तिर्यञ्चायु और देवायु का सत्त्व होता ही नहीं है, अतः इसे अयत्न साध्य अभाव कहा जाता है।

आहारक चतुष्क—आहारक, आहारकमिश्र, आहारक-अङ्गोपाङ्ग एवं आहारकबन्धन और तीर्थङ्कर का सत्त्व किसी के होता है और किसी के नहीं होता है। इसके सिवा शेष प्रकृतियों का सत्त्व नियम से होता है।

यह जीव; गुणस्थान क्रम से बन्ध के हेतुओं का अभाव करता है, अतः क्रम से नूतन बन्ध का अभाव होता जाता है और सत्ता में स्थित प्राचीन कर्म प्रकृतियों का परिणाम विशेष से क्षय करता जाता है, अतः सत्ता में स्थित कर्मों का अभाव भी होता जाता है और इसी प्रकार अन्त में सब कर्मों का वियोग हो जाने से जीव मुक्त होता है।

यहाँ मोक्ष शब्द का प्रयोग; द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म के वियोग अर्थ में किया गया है। संसारी जीव कर्मनिबद्ध है, अतः वह किसी अपेक्षा से कर्माधीन-परतन्त्र है। उसके कर्मों के यथाक्रम से अभाव होने पर उसे मोक्ष होता है, ऐसा कथन इस सूत्र में किया है।

जिज्ञासा—क्या इन द्रव्यकर्म की पौद्गलिक प्रकृतियों के वियोग से ही मोक्ष मिलता है अथवा भाव कर्मों के अभाव से भी मोक्ष मिलता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥३॥

सूत्र उच्चारण—औपशमिकादि-, भव्यत्वानां च ॥३॥

सन्धि विग्रह—औपशमिक-आदि-भव्यत्वानां च ॥३॥

सूत्रार्थ—तथा औपशमिक आदि भावों और भव्यत्व भाव के अभाव होने से मोक्ष होता है।

लब्धार्थ—जीव के औपशमिक आदि पाँच भावों में से; औपशमिक आदि भावों का अभाव एवं पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव का अभाव होने से मोक्ष होता है।

विशेषार्थ—जीव के पाँच भावों में से औपशमिक, मिश्र एवं औदयिक; इन तीन भावों का पूर्णतः अभाव होता है एवं पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव का अभाव लिया है; कारण कि मोक्ष में जीवत्व भाव का अभाव कभी नहीं होता है। यदि मोक्ष में जीवत्व भाव का अभाव मानेंगे तो जीव; जड़भाव को प्राप्त हो जाएगा, जिससे मोक्ष का स्वरूप विकृत हो जाएगा, अतः जीवत्व भाव का अभाव नहीं कहा है। अभव्य जीव को मोक्ष मिलता ही नहीं है, अतः उसके अभाव-सद्भाव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

अब रही भव्यत्व भाव के अभाव की बात तो भव्य की परिभाषा अनुसार “भवितं योग्यः भव्यः” अर्थात् जिसमें कुछ होने की योग्यता हो वह भव्य है, इसके अनुसार जिस जीव के रत्नत्रय प्राप्ति की योग्यता हो, वह भव्य है, अतः मोक्ष में रत्नत्रय की पूर्णता हो जाती है, वहाँ कुछ भी आगे बनना शेष नहीं है, अतः वहाँ भव्यत्व भाव का अभाव कहा है।

जिज्ञासा—पूर्व सूत्रानुसार औपशमिक आदि भावों के अभाव से मोक्ष होता है, अतः उन पाँच भावों में से जीव के क्षायिक भावों के भी अभाव होने का प्रसङ्ग आयेगा। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

सूत्र उच्चारण—अन्यत्र, केवल-सम्यक्त्व-, ज्ञान-दर्शन-, सिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त भावों को छोड़कर; केवल सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन एवं सिद्धत्व भाव का अभाव नहीं होता है।

लब्धार्थ—यहाँ पर अन्यत्र शब्द की अपेक्षा पञ्चमी विभक्ति का निर्देश किया है। सूत्र में मोक्ष प्राप्त जीवों में अर्थात् सिद्धों में कौन-से शेष भाव हैं, इसका कथन किया है।

विशेषार्थ—इस सूत्र में “केवल” पद चिन्तनीय है, जिसका अर्थ अकेला, अभेद-सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्व भाव लेना चाहिए।

यदि हम प्रत्येक के साथ केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन इस तरह अर्थ लगाते हैं तो “परे केवलिनः” बाद के दो शुक्लध्यान केवलज्ञान वाले केवली के होते हैं, ऐसा सिद्ध हो जायेगा, जिससे सिद्धों में भी शुक्लध्यान की सिद्धि मानना होगी।

दूसरी बात; सम्यक्त्व गुण है, सम्यग्दर्शन पर्याय है। ज्ञान और दर्शन गुण हैं, किन्तु केवलज्ञान; केवलदर्शन उसकी पर्यायें हैं। सिद्ध भक्ति में कहा है कि—

सम्मत गाण दंसण वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं,
अगुरुलघुमव्वावाहं अट्ट गुणा होति सिद्धाणं।

अतः इससे सिद्ध होता है कि सिद्धों में केवलज्ञान और केवलदर्शन न कहकर सिर्फ-अकेले सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शनरूप भाव ही ग्रहण करना चाहिए।

ज्ञान-दर्शन के अविनाभावी होने से अनन्तवीर्य आदि भी सिद्धों में समानरूप से पाये जाते हैं, क्योंकि अनन्त सामर्थ्य से हीन व्यक्ति के अनन्तज्ञान की वृत्ति नहीं हो सकती और बिना ज्ञान के सुख नहीं हो सकता है, क्योंकि सुख; ज्ञानमय होता है।

सिद्धों का आकार अन्तिम शरीर से किञ्चित् न्यून है, नामकर्म के अभाव होने के कारण सिद्ध जीव के सङ्कोच-विस्तार नहीं होता है।

जिज्ञासा—मुक्त जीव के कर्मों का अभाव होने पर; वह जीव कहाँ जाता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ॥५॥

सूत्र उच्चारण—तदनन्तर-, मूर्ध्वं गच्छत्या, लोकान्तात् ॥५॥

सन्धि विग्रह—तद्-अनन्तरम्-ऊर्ध्वम् गच्छति-आ लोक-अन्तात् ॥५॥

सूत्रार्थ—कर्मों के अभाव के बाद अथवा कर्म से मुक्त जीव; लोक के अन्त तक ऊपर जाता है।

लब्धार्थ—सब कर्मों के वियोग होने से मुक्त जीव; लोक के अन्त तक ऊपर जाता है।

विशेषार्थ—जिन लोगों की धारणा है कि कर्ममुक्त जीव; आड़ा-तिरछा अथवा ऊपर-ऊपर ही चलता रहता है, उन लोगों की भ्रान्ति निकालने के लिए यह सूत्र आया है। सूत्र में आङ् पद मर्यादा (अभिविधि) अर्थ में आया है, आङ् पद में से ङ् का अनुबन्ध लोप होकर मात्र आ पद शेष रहा।

सूत्र; क्रिया पद रहित होते हैं, किन्तु यह सूत्र अपवाद है, क्योंकि इस सूत्र में गच्छति क्रिया पद लगा है।

जिज्ञासा—कर्म रहित-मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन ही क्यों करते हैं? इसका कोई हेतु नहीं बतलाया है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्-बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

सूत्र उच्चारण—पूर्वप्रयोगा-, दसङ्गत्वाद्-, बन्धच्छेदात्-, तथागति-परिणामाच्-च ॥६॥

सन्धि विग्रह—पूर्वप्रयोगाद्-असङ्गत्वाद्-बन्धच्छेदात्-तथागति-परिणामाच्-च ॥६॥

सूत्रार्थ—पूर्व प्रयोग से, सङ्ग का अभाव होने से, बन्धन के टूटने से और वैसा गमन करना स्वभाव होने से मुक्त जीव; ऊर्ध्वगमन करता है।

लब्धार्थ—इस सूत्र में मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन करने के चार कारण बतलाये हैं।

विशेषार्थ—ऊर्ध्वगमन के चार हेतुओं को बतलाने का कारण; अन्य अनेक प्रकार के मतों की भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करना है।

जिज्ञासा—मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के बहुत से और भी हेतु हो सकते हैं, किन्तु अनेक हेतु भी दृष्टान्त द्वारा समर्थन के बिना; अभिप्रेत-इच्छित अर्थ की सिद्धि करने में समर्थ नहीं होते तो उपरोक्त चारों हेतुओं के दृष्टान्त क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आविद्धकुलालचक्रवद्-व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥

सूत्र उच्चारण—आविद्ध-कुलाल-चक्रवद्-, व्यपगत-लेपालाबु-, वदेरण्डबीज-, वदग्नि-शिखावच्-च ॥७॥

सन्धि विग्रह—आविद्ध-कुलाल-चक्रवद्-व्यपगतलेप-आल-आबुवद्-एरण्डबीजवद्-अग्नि-शिखावच्-च ॥७॥

सूत्रार्थ—घुमाये गए कुम्हार के चक्र के समान, लेप से मुक्त हुई तुमड़ी के समान, सूखे एरण्ड के बीज के समान और अग्नि की शिखा के समान; ये चार दृष्टान्त हैं।

लब्धार्थ—पूर्व प्रयोग के लिए; घुमाये गए कुम्हार के चक्र समान। सङ्ग अभाव के लिए; लेप से मुक्त हुई तुमड़ी के समान। बन्धन के टूटने के लिए; एरण्ड बीज के समान एवं ऊर्ध्वगमन स्वभाव के लिए, अग्नि की शिखा के समान; ये चार जीव के ऊर्ध्वगमन के हेतुपूर्ण दृष्टान्त हैं।

विशेषार्थ—(१) पूर्व प्रयोग—जैसे-कुम्भकार हाथ में दण्ड आदि के सहयोग से चक्र को तीव्र गति से घुमाता है और अपना हाथ और दण्ड से घुमाने का कार्य रोक देता है फिर भी कुम्भकार का चक्र घूमता ही रहता है। कुम्भकार की इस क्रिया को “भावना” कहते हैं। यही उस कुम्भकार का

कुम्भचक्र के प्रति पूर्वप्रयोग है। वैसे ही संसार में स्थित आत्मा ने मोक्ष प्राप्ति के लिए जो अनेक बार प्रणिधान किया है अर्थात् “भावना” भायीं थीं। जैसे—मोक्ष तत्त्व एवं मोक्ष पदार्थ का श्रद्धान कर; श्रावक हो या साधु हो सब अपनी दैनिक धार्मिक क्रियायें भी “दुःखकषओ, कम्मकषओ, बोहिलाहो, सुगङ्गमणं, समाहिमरणं, जिनगुण संपत्ति होदु मज्झं।” इस प्रकार पूर्व प्रयोगरूप भावना भाते हैं, उस भावनारूप क्रिया का अभाव होने पर भी उसके आवेश पूर्वक मुक्त जीव का गमन माना जाता है, यही इस आत्मा का मोक्ष के प्रति पूर्वप्रयोग है।

(२) सङ्ग का अभाव—जिस प्रकार मृत्तिका के लेप से तूमड़ी में जो भारीपन आता है, उससे जल में नीचे पड़ी हुई तूमड़ी; जल से मिट्टी के गीले हो जाने के कारण बन्धन शिथिल होने से शीघ्र ही ऊपर हो जाती है। उसी प्रकार कर्मभार के आक्रमण से आधीन हुआ आत्मा; उसके आवेशवश संसार में अनियम (अनिश्चित दिशारूप) से गमन करता है, किन्तु कर्मसङ्ग से मुक्त होने पर ऊपर ही जाता है।

(३) बन्धन का टूटना—जिस प्रकार सूखे बीज कोश के बन्धन के टूटने से एरण्ड बीज की ऊर्ध्वगति देखी जाती है। उसी प्रकार मनुष्यादि भव को प्राप्त कराने वाले गतिनाम और जातिनाम आदि समस्त कर्मों के बन्ध का छेद होने से मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति जानी जाती है।

(४) तथागति परिणाम—जिस प्रकार तिर्यग्बहन—तिरछे बहने वाले स्वभाव से युक्त वायु के सम्बन्ध से रहित, प्रदीपशिखा स्वभाव से ऊपर की ओर गमन करती है। उसी प्रकार मुक्त आत्मा भी नाना गतिरूप विकार के कारणभूत कर्म का अभाव होने पर ही ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से ऊपर की ओर ही आरोहण करता है।

मुक्त आत्मा के ऊपर जाने वाले चार हेतुओं को; दृष्टान्तों द्वारा घटित किया है, जिससे मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति की सिद्धि होती है।

जिज्ञासा—यदि मुक्त जीव ऊर्ध्वगति स्वभाव वाला है तो लोकान्त से ऊपर किस कारण से गमन नहीं करता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

सूत्र उच्चारण—धर्मास्तिकाया-, भावात् ॥८॥

सन्धि विग्रह—धर्म-अस्तिकाय-अभावात् ॥८॥

सूत्रार्थ—धर्मास्तिकाय का अभाव होने से मुक्त जीव लोकान्त से आगे ऊपर नहीं जाता है।

लब्धार्थ—गति के उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है, इसलिए मुक्त जीव का अलोक में गमन नहीं होता है।

विशेषार्थ—चलते हुए जीव और पुद्गल के गमन में सहकारी; धर्मद्रव्य का अस्तित्व अलोकाकाश में नहीं है, अतः मुक्त अवस्था में गमन करने वाले जीव का अलोक में गमन नहीं है। यदि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने पर जीव का अलोक में गमन माना जाता है तो लोक-अलोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है। इससे सदाशिववादी मत; जो जीव को हमेशा ऊर्ध्व गति वाला कहता है, उसके मत में जीव; आकाश में हमेशा ऊपर की ओर जा रहा है, कहाँ तक जा रहा है? इसकी कोई सीमा नहीं है, इसकी पुष्टि होती है, अतः मुक्त जीव के निश्चित स्थान की सिद्धि के लिए इस सूत्र में कथन किया गया है।

प्रश्न—सूत्र में धर्मास्तिकायाभावात् कहा है, धर्मद्रव्याभावात् क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—धर्मद्रव्य बहु प्रदेशी द्रव्य होने से लोकाकाश में व्याप्त रहता है, जिससे धर्मद्रव्य की अस्तिकाय संज्ञा है, अलोकाकाश में धर्मद्रव्य का अस्तित्व नहीं है, अतः वहाँ अस्तिकाय नहीं है, इसलिए सूत्र में धर्मास्तिकायाभावात् कहा है।

जिज्ञासा—इस प्रकार मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए ये जीव; गति-जाति आदि भेद के कारणों का अभाव होने से भेद-व्यवहार से रहित ही मोक्ष तत्त्व है फिर मोक्ष पदार्थ के कारण भी इन मुक्त जीवों में भी क्या कोई भेद पाया जाता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्र—क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-सङ्ख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

सूत्र उच्चारण—क्षेत्र-काल-गति-, लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-, प्रत्येक-बुद्ध-बोधित-, ज्ञानावगाह-नान्तर-, सङ्ख्याल्प-बहुत्वतः, साध्याः ॥९॥

सन्धि विग्रह—क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येक-बुद्ध-बोधित-ज्ञान-अवगाहना-अन्तर-सङ्ख्या-अल्पबहुत्वः साध्याः ॥९॥

सूत्रार्थ—क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध-बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व; इनसे सिद्ध जीव विभाग-भेद करने योग्य हैं।

लब्धार्थ—क्षेत्र आदिक बारह अनुयोगों के द्वारा सिद्ध जीव साध्य हैं अर्थात् विभाग करने योग्य हैं और यह विभाग; वर्तमान और भूत का अनुग्रह करने वाले दो नयों की विवक्षा से किया गया है। जिससे मुक्त अवस्था को प्राप्त सिद्ध जीवों के प्रति अनेक दृष्टिकोण वाले मत-मतान्तरों की भ्रान्त धारणाओं का भी निराकरण हो जाता है।

विशेषार्थ—(१) क्षेत्र—क्षेत्र की अपेक्षा किस क्षेत्र में सिद्ध होते हैं ? वर्तमान को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा सिद्धि क्षेत्र में, अपने प्रदेश में या आकाश प्रदेश में सिद्धि होती है। अतीत को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा; पन्द्रह कर्मभूमियों में जन्म लेने की अपेक्षा और अपहरण की अपेक्षा मानुष क्षेत्र में सिद्धि होती है।

(२) काल—काल की अपेक्षा किस काल में सिद्धि होती है ? वर्तमानग्राही नय की अपेक्षा एक समय में सिद्ध होता हुआ सिद्ध होता है। अतीतग्राही नय की अपेक्षा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में जन्म से उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है।

विशेषरूप से अवसर्पिणी काल में सुषमा-दुःषमा के अन्तभाग में और दुःषमा-सुषमा में उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। दुःखमा में उत्पन्न हुआ दुःषमा में सिद्ध नहीं होता है। इस काल को छोड़कर अन्य काल में सिद्ध नहीं होता है। संहरण की अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सब समयों में सिद्ध होते हैं।

(३) गति—गति की अपेक्षा किस गति में सिद्धि होती है ? सिद्धिगति में या मनुष्य गति में सिद्धि होती है।

(४) लिङ्ग—किस लिङ्ग से सिद्धि होती है ? अवेद भाव से या तीनों वेद से सिद्धि होती है। यह कथन भाव वेद की अपेक्षा है, द्रव्य वेद की अपेक्षा नहीं। द्रव्य वेद की अपेक्षा पुल्लिङ्ग से ही सिद्धि होती है अथवा निर्ग्रन्थ-लिङ्ग से सिद्धि होती है। भूतपूर्वनय की अपेक्षा सग्रन्थ लिङ्ग से सिद्धि होती है, क्योंकि सग्रन्थ अवस्था

से ही निर्ग्रन्थ अवस्था प्राप्त होती है। यदि ऐसा न माना जाए तो जन्म से उत्पन्न मनुष्य एवं पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी निर्ग्रन्थ हो जाएंगे। जैसे-सांख्य-वैशेषिक मत वाले आत्मा को सदा कर्म रहित मानते हैं। वैसे ही जन्म से निर्ग्रन्थ पद की सिद्धि हो जायेगी, अतः आचार्यश्री ने सग्रन्थ लिङ्ग से सिद्धि होती है, ऐसा कहा है।

(५) तीर्थ—तीर्थ सिद्धि दो प्रकार की है—तीर्थकर सिद्ध और इतर सिद्ध। जो तीर्थङ्कर बनकर सिद्ध होते हैं, वे तीर्थकर सिद्ध हैं। इतर सिद्ध दो प्रकार के होते हैं—कुछ जीव; तीर्थङ्कर के रहते हुए सिद्ध होते हैं और कुछ जीव; तीर्थङ्कर के अभाव में सिद्ध होते हैं।

(६) चारित्र—किस चारित्र से सिद्धि होती है? नाम रहित चारित्र से सिद्धि होती है या एक, चार और पाँच प्रकार के चारित्र से सिद्धि होती है।

(७) प्रत्येकबुद्ध-बोधितबुद्ध—अपनी शक्तिरूप निमित्त से होने वाले ज्ञान के भेद से प्रत्येक बुद्ध होते हैं अर्थात् स्वयं ज्ञान से बोधित होकर मोक्ष जाने वाले स्वयम्बोधित-प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं।

परोपदेशरूप निमित्त से होने वाले ज्ञान के भेद से बोधितबुद्ध होते हैं। इस प्रकार स्व-पर निमित्त ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाने वाले प्रत्येकबुद्ध - बोधितबुद्ध; ये दो प्रकार के होते हैं।

(८) ज्ञान—किस ज्ञान से सिद्धि होती है? एक, दो, तीन और चार प्रकार के ज्ञान विशेषों से सिद्धि होती है।

विशेष—ऋजुसूत्र नय से एक केवलज्ञान से सिद्धि होती है। मोक्ष की प्ररूपणा करने के पहले केवलज्ञान का कथन दशवें अध्याय के प्रथम सूत्र में किया है। इससे सिद्ध होता है कि केवलज्ञान; ज्ञान की पर्याय है गुण नहीं, अतः सिद्धों में केवलज्ञान न लेकर मात्र-सिर्फ-अकेला ज्ञानगुण लिया है, जो ज्ञान; अनन्तज्ञानरूप सिद्धों में होता है।

व्यवहार नय से मति-श्रुत; ये दो ज्ञान पूर्वक केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार मति-श्रुत-अवधि; ये तीन ज्ञान पूर्वक केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय; ये चार ज्ञान पूर्वक केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होते हैं।

इस तरह एक, दो, तीन एवं चार ज्ञान के भेदों से सिद्ध होते हैं।

मति और श्रुतज्ञान; जलते हुये दीपक के प्रकाश के समान हैं। अवधिज्ञान; टार्च की रोशनी के समान हैं। मनःपर्यय ज्ञान; दीवाल पर टंगे दर्पण के समान हैं। केवलज्ञान; आकाश में फैले सूर्य के प्रकाश के समान है।

मिथ्यादृष्टि के कुज्ञान; स्व-पर विनाशक तन-मन-धन में अग्नि लगाने के समान हैं।

चौथे गुणस्थान; अविरत सम्यग्दृष्टि के सुज्ञान-प्रमादी का अग्नि तापने के समान है जो दूसरों का अहित नहीं करता, किन्तु स्वयं का हित भी नहीं करता।

पाँचवें गुणस्थान; श्रावक का ज्ञान-रसोई घर की अग्नि के समान है जो स्वयं और अतिथि का हित करता है।

छटवें गुणस्थान; साधु का ज्ञान-जलते हुए दीपक में लौ की अग्नि के समान है जो न स्वयं अँधेरे में रहता है न दूसरों को अज्ञान अँधेरे में रहने देता है।

(९) अवगाहना—आत्मप्रदेशों में व्याप्त होकर रहने का नाम अवगाहना है। वह दो प्रकार की है—जघन्य और उत्कृष्ट।

उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण खड़ासन मुद्रा की अपेक्षा से है, क्योंकि कर्म भूमि के मनुष्य के शरीर की उत्कृष्ट ऊँचाई, पाँच-सौ पच्चीस धनुष मानी गयी है।

जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन अरत्ति प्रमाण भी खड़ासन मुद्रा की अपेक्षा से है, क्योंकि कर्मभूमि के मनुष्य के शरीर की जघन्य ऊँचाई साढ़े तीन अरत्ति प्रमाण मानी गयी है।

बन्ध मुट्टी करके एक हाथ के प्रमाण को अरत्ति कहते हैं। बीच में अवगाहना के अनेक भेद हैं, उनमें से किसी एक अवगाहना में सिद्धि होती है।

(१०) अन्तर—सिद्धि को प्राप्त होने वाले सिद्धों का जघन्य अनन्तर दो समय और उत्कृष्ट अनन्तर आठ समय है, किन्तु जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है।

जिसमें विरह-वियोग नहीं है—अन्तर नहीं है, वह अनन्तर है, किन्तु जिसमें विरह-वियोग हो, वह अन्तर है।

(११) संख्या—जघन्यरूप से एक समय में एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्टरूप से एक समय में एक-सौ आठ जीव सिद्ध होते हैं।

(१२) अल्पबहुत्व—क्षेत्रादिक भेदों की अपेक्षा भेद को प्राप्त हुए जीवों की परस्पर संख्या का विशेष-भेद प्राप्त करना अल्पबहुत्व है।

जैसे-वर्तमान नय की अपेक्षा सिद्ध क्षेत्र में सिद्ध होने वाले जीवों का अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्व नय की अपेक्षा विचार करते हैं।

क्षेत्र सिद्ध जीव दो प्रकार के होते हैं—जन्म सिद्ध और संहरण सिद्ध। इनमें से संहरण सिद्ध जीव सबसे अल्प हैं, इनसे जन्म सिद्ध जीव; संख्यात गुणे हैं। जन्म सिद्ध—जहाँ क्षेत्र में जन्म हो, वहाँ उसी क्षेत्र में मोक्ष जाना; जन्म सिद्ध है। संहरण सिद्ध; जन्म स्थान क्षेत्र को छोड़कर अन्य किसी दूसरे क्षेत्र से मोक्ष जाना; संहरण सिद्ध हैं। संहरण; किसी वैरी अथवा मित्र देवों के द्वारा होता है। जो द्वेष-वैर के कारण अन्य क्षेत्र में ले जाते हैं अथवा राग-प्रीति के कारण अपने इष्ट स्थान में ले जाते हैं, ये दोनों संहरण हैं।

इसमें से संहरण सिद्ध जीव; सबसे अल्प हैं। इनसे जन्म सिद्ध जीव; संख्यात गुणे है।

क्षेत्रों का विभाग इस प्रकार है—कर्मभूमि, अकर्मभूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक। इनमें से ऊर्ध्वलोक सिद्ध सबसे कम हैं, इनसे अधोलोक सिद्ध संख्यात गुणे हैं, इनसे तिर्यग्लोक सिद्ध संख्यात गुणे हैं। समुद्र सिद्ध सबसे स्तोक हैं, इनसे द्वीप सिद्ध संख्यात गुणे हैं। यह सामान्यरूप से कहा है।

विशेषरूप से विचार करने पर लवण समुद्र सिद्ध सबसे स्तोक हैं। इनसे कालोद सिद्ध संख्यात गुणे हैं। इनसे जम्बूद्वीप सिद्ध संख्यात गुणे हैं। इनसे धातकीखण्ड सिद्ध संख्यात गुणे हैं। इनसे पुष्करार्द्ध द्वीप सिद्ध संख्यात गुणे हैं। इसी प्रकार कालादि का विभाग करने पर भी आगम के अनुसार अल्पबहुत्व जान लेना चाहिए।

इति श्री पावन प्रशस्ति

माघ शुक्ल की पञ्चमी, कार्य किया प्रारम्भ ।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, किया कार्य का अन्त ॥१॥

ग्राम दूण्डला मध्य में, श्री जिन-पारस नाथ ।
कार्य अन्त-आरम्भ था, पर-जिनवाणी साथ ॥२॥

श्रुतगुरु शिक्षा सिन्धु थे, श्रुतसागर मुनिराज ।
दीक्षा गुरु आशीष था, धर्मसिन्धु का माथ ॥३॥

इनकी कृपा प्रसाद से, पाया जो कुछ ज्ञान ।
अल्प बुद्धि से लिख लिया, समय-समय को जान ॥४॥

जिज्ञासा मन में जगी, पढ़ा सूत्र तत्त्वार्थ ।
जगे अनुत्तर भाव तब, पाकर सुन्दर सार्थ ॥५॥

पूज्यपाद हिरदय बसें, गुरु समन्त शिरवास ।
विद्यानन्द-अकलंक जी, प्रज्ञा करें प्रकाश ॥६॥

नहि ईर्ष्या नहि मान हो, नहीं नाम की चाह ।
स्वा हित हो; मन शुद्ध हो, मिले मोक्ष की राह ॥७॥

आगम-युक्ती से लिया, आमनाय का अर्थ ।
स्वानुभव से हि देख लो, बाकी है सब व्यर्थ ॥८॥

सन् संख्या हि हजार दो, तेरह ऊपर जान ।
आठ माह इक्कीस दिन, बुद्धवार दिनमान ॥९॥

घड़ी मुहूरत ठीक सब, चौघड़िया गतिमान ।
भूल-चूक जो हो कहीं, शोध पढ़ो धीमान ॥१०॥



तत्त्वार्थसूत्र मूल पाठ-उच्चारण

मङ्गलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म-भूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्व-तत्त्वानां, वन्दे तद्-गुण-लब्धये ॥

ॐ अथ प्रथमोऽध्यायः ॐ

- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-, चारित्राणि, मोक्षमार्गः ॥१॥
- तत्त्वार्थ-श्रद्धानं, सम्यग्दर्शनम् ॥२॥
- तन्-निसर्गा-, दधिगमाद्-, वा ॥३॥
- जीवा-जीवास्रव-, बन्ध-संवर-निर्जरा-, मोक्षास्-तत्त्वम् ॥४॥
- नाम-स्थापना-, द्रव्य-भावतस्-, तन्-न्यासः ॥५॥
- प्रमाण-नयै-, रधिगमः ॥६॥
- निर्देश-स्वामित्व-, साधनाधिकरण-, स्थिति-विधानतः ॥७॥
- सत्-सङ्ख्या-, क्षेत्र-स्पर्शन-, कालान्तर-, भावाल्प-बहुत्वैश्च ॥८॥
- मति-श्रुतावधि-, मनःपर्यय-, केवलानि, ज्ञानम् ॥९॥
- तत्-, प्रमाणे ॥१०॥
- आद्ये, परोक्षम् ॥११॥
- प्रत्यक्ष-, मन्यत् ॥१२॥
- मतिः स्मृतिः सञ्ज्ञा, चिन्ताऽभिनिबोध, इत्य-नर्थान्तरम् ॥१३॥
- तदिन्द्रिया-ऽनिन्द्रिय-, निमित्तम् ॥१४॥
- अवग्रहे-हावाय-, धारणाः ॥१५॥
- बहु-बहुविध-, क्षिप्रा-ऽनिःसृता-, ऽनुक्त-ध्रुवाणां, सेतराणाम् ॥१६॥
- अर्थस्य ॥१७॥
- व्यञ्जनस्याव-ग्रहः ॥१८॥
- न चक्षु-, रनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥
- श्रुतं मतिपूर्व, द्व्यनेक-द्वादश-, भेदम् ॥२०॥
- भव-प्रत्ययोऽवधि-, देव-नारकाणाम् ॥२१॥

- क्षयोपशम-निमित्तः, षड्-विकल्पः, शेषाणाम् ॥२२॥
- ऋजु-विपुलमती, मनःपर्ययः ॥२३॥
- विशुद्धच-प्रतिपाताभ्यां, तद्-विशेषः ॥२४॥
- विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-, विषयेभ्योऽवधि-, मनःपर्यययोः ॥२५॥
- मति-श्रुतयो-र्निबन्धो, द्रव्येष्व-सर्व-, पर्यायेषु ॥२६॥
- रूपिष्व-वधेः ॥२७॥
- तदनन्त-भागे, मनःपर्ययस्य ॥२८॥
- सर्वद्रव्य-पर्यायेषु, केवलस्य ॥२९॥
- एकादीनि भाज्यानि, युगपदे-कस्मिन्ना, चतुर्भ्यः ॥३०॥
- मति-श्रुतावधयो, विपर्ययश्च ॥३१॥
- सद-सतो-, र-विशेषाद्-, यदृच्छोप-लब्धे-, रुन्मत्तवत् ॥३२॥
- नैगम-संग्रह-, व्यवहा-रर्जुसूत्र-, शब्द-समभिरूढे-, वम्भूता, नयाः ॥३३॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) प्रथमोऽध्यायः ॥



अथ द्वितीयोऽध्यायः



- औपशमिक-क्षायिकौ, भावौ मिश्रश्च, जीवस्य स्वतत्त्व-, मौदयिक-पारिणामिकौ च ॥१॥
- द्वि-नवाष्टा-, दशैकविंशति-, त्रि-भेदा, यथाक्रमम् ॥२॥
- सम्यक्त्व-, चारित्रे ॥३॥
- ज्ञान-दर्शन-, दान-लाभ-, भोगोप-भोग-, वीर्याणि च ॥४॥
- ज्ञाना-ज्ञान-, दर्शन-लब्धयश्-, चतुस्-त्रि-त्रि-, पञ्च-भेदाः, सम्यक्त्व-चारित्र-, संयमासंयमाश्च ॥५॥
- गति-कषाय-लिङ्ग-, मिथ्यादर्शना-ज्ञाना-, संयता-सिद्ध-लेश्याश्-, चतुश्-चतुस्-, त्र्ये-कै-कै-कैक-, षड्-भेदाः ॥६॥
- जीव-भव्या-, भव्यत्वानि च ॥७॥
- उपयोगो, लक्षणम् ॥८॥
- स, द्वि-विधोऽष्ट-, चतु-र्भेदः ॥९॥
- संसारिणो, मुक्ताश्च ॥१०॥
- स-मनस्का-, ऽमनस्काः ॥११॥

- संसारिणस्-, त्रस-स्थावराः ॥१२॥
- पृथि-व्यप्-तेजो-, वायु-वनस्पतयः, स्थावराः ॥१३॥
- द्वीन्द्रियादयस्-, त्रसाः ॥१४॥
- पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥
- द्वि-, विधानि ॥१६॥
- निर्वृत्युप-करणे, द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥
- लब्ध्युप-योगौ, भावेन्द्रियम् ॥१८॥
- स्पर्शन-रसन-घ्राण-, चक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥
- स्पर्श-रस-गन्ध-, वर्ण-शब्दास्-, तदर्थाः ॥२०॥
- श्रुत-, मनिन्द्रियस्य ॥२१॥
- वनस्पत्यन्ताना-, मेकम् ॥२२॥
- कृमि-पिपीलिका-, भ्रमर-मनुष्यादीना-, मेकैक-वृद्धानि ॥२३॥
- सज्जिनः, स-मनस्काः ॥२४॥
- विग्रह-गतौ, कर्म-योगः ॥२५॥
- अनुश्रेणि, गतिः ॥२६॥
- अविग्रहा, जीवस्य ॥२७॥
- विग्रहवती च, संसारिणः, प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥
- एक-समया-, ऽविग्रहा ॥२९॥
- एकं द्वौ, त्रीन्-वा-, ऽनाहारकः ॥३०॥
- सम्मूर्च्छन-, गर्भोप-पादा, जन्म ॥३१॥
- सचित्त-शीत-, संवृताः सेतरा, मिश्राश्-चैकशस्-, तद्-योनयः ॥३२॥
- जरायु-जाण्डज-, पोतानां, गर्भः ॥३३॥
- देव-नारकाणा-, मुपपादः ॥३४॥
- शेषाणां, सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥
- औदारिक-वैक्रियि-, काहारक-तैजस-, कर्मणानि, शरीराणि ॥३६॥
- परं परं, सूक्ष्मम् ॥३७॥
- प्रदेशतो-, ऽसङ्ख्येय-गुणं, प्राक् तैजसात् ॥३८॥
- अनन्त-गुणे, परे ॥३९॥
- अप्रतीघाते ॥४०॥

- अनादि-, सम्बन्धे च ॥४१॥
- सर्वस्य ॥४२॥
- तदादीनि भाज्यानि, युगपदे-कस्या^१, चतुर्थः ॥४३॥
- निरुप-भोग-, मन्त्यम् ॥४४॥
- गर्भ-सम्मूर्च्छनज-, माद्यम् ॥४५॥
- औपपादिकं, वैक्रियिकम् ॥४६॥
- लब्धि-, प्रत्ययं च ॥४७॥
- तैजस-, मपि ॥४८॥
- शुभं विशुद्ध-, मव्याधाति, चाहारकं, प्रमत्त-संयतस्यैव ॥४९॥
- नारक-सम्मूर्च्छिनो-, नपुंसकानि ॥५०॥
- न देवाः ॥५१॥
- शेषास्-, त्रि-वेदाः ॥५२॥
- औपपादिक-, चरमोत्तमदेहा-, ऽसङ्ख्येय-वर्षायुषो-, ऽनप-वर्त्यायुषः ॥५३॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) द्वितीयोऽध्यायः ॥



अथ तृतीयोऽध्यायः



- रत्न-शर्करा-, वालुका-पङ्क-, धूम-तमो-, महातमःप्रभा, भूमयो घनाम्बु-, वाताकाश-प्रतिष्ठाः, सप्ताधोऽधः ॥१॥
- तासु त्रिंशत्-, पञ्चविंशति-, पञ्चदश-, दश-त्रि-, पञ्चोनैक-, नरक-शत-सहस्राणि, पञ्च चैव, यथाक्रमम् ॥२॥
- नारका नित्या-, शुभतर-लेश्या-, परिणाम-देह-, वेदना-विक्रियाः ॥३॥
- परस्परोदीरित-, दुःखाः ॥४॥
- संक्लिष्टा-, ऽसुरोदीरित-, दुःखाश्च, प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥
- तेष्वेक-, त्रि-सप्त-, दश-, सप्तदश-, द्वाविंशति-, त्रयस्त्रिंशत्-, सागरोपमा, सत्त्वानां, परा स्थितिः ॥६॥
- जम्बूद्वीप-, लवणोदादयः, शुभनामानो, द्वीप-समुद्राः ॥७॥
- द्वि-द्वि-विष्कम्भाः, पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो, वलयाकृतयः ॥८॥
- तन्-मध्ये, मेरु-नाभिर्वृत्तो, योजनशत-, सहस्र-विष्कम्भो, जम्बूद्वीपः ॥९॥

- भरत-हैमवत-, हरि-विदेह-, रम्यक-हैरण्य-, वतैरावत-, वर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥
- तद्-विभाजिनः, पूर्वा-परायता, हिमवन्-महाहिमवन्-, निषध-नील-, रुक्मि-शिखरिणो, वर्षधर-पर्वताः ॥११॥
- हेमार्जुन-तपनीय-, वैडूर्य-रजत-, हेममयाः ॥१२॥
- मणि-विचित्र-पाशर्वा, उपरि मूले च, तुल्य-विस्ताराः ॥१३॥
- पद्म-महापद्म-, तिगिञ्छ-केसरि-, महापुण्डरीक-पुण्डरीका, हृदास्-तेषा-, मुपरि ॥१४॥
- प्रथमो, योजन-सहस्रायामस्-, तदर्द्ध-विष्कम्भो, हृदः ॥१५॥
- दश-, योजनाव-गाहः ॥१६॥
- तन्मध्ये, योजनं पुष्करम् ॥१७॥
- तद्-द्विगुण-, द्विगुणा हृदाः, पुष्कराणि च ॥१८॥
- तन्-निवासिन्यो देव्यः, श्री-ह्री-धृति-, कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्यः, पल्योपम-स्थितयः, स-सामानिक-परिषत्काः ॥१९॥
- गङ्गा-सिन्धु-, रोहिद्-रोहितास्या-, हरिद्-धरिकान्ता-, सीता-सीतोदा-, नारी-नरकान्ता-, सुवर्ण-रूप्यकूला-, रक्ता-रक्तोदाः, सरितस्-, तन्-मध्यगाः ॥२०॥
- द्वयो-र्द्वयोः, पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥
- शेषास्-, त्वपरगाः ॥२२॥
- चतुर्दश-नदी-, सहस्र-परिवृता, गङ्गा-सिन्ध्वादयो, नद्यः ॥२३॥
- भरतः षड्विंश^१-, पञ्चयोजन-, शत-विस्तारः, षट् चैकोन-विंशति-भागा, योजनस्य ॥२४॥
- तद्-द्विगुण-, द्विगुण-विस्तारा, वर्षधर-वर्षा, विदेहान्ताः ॥२५॥
- उत्तरा, दक्षिण-तुल्याः ॥२६॥
- भरतै-रावतयो-, वृद्धि-ह्लासौ, षट्समयाभ्या-, मुत्सर्पिण्य-, वसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥
- ताभ्या-मपरा, भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥
- एक-द्वि-त्रि-, पल्योपम-स्थितयो, हैमवतक-, हारिवर्षक-, दैवकुरवकाः ॥२९॥
- तथोत्तराः ॥३०॥
- विदेहेषु, सङ्ख्येय-कालाः ॥३१॥
- भरतस्य विष्कम्भो, जम्बूद्वीपस्य, नवतिशत-भागः ॥३२॥

१. विंशति, इति पाठ भेदः ।

- द्वि-, धातुकी-खण्डे ॥३३॥
- पुष्करार्द्धे च ॥३४॥
- प्राङ्-मानुषोत्तरान्-, मनुष्याः ॥३५॥
- आर्या, म्लेच्छाश्च ॥३६॥
- भरतै-रावत-विदेहाः, कर्मभूमयोऽन्यत्र, देवकुरुत्तर-कुरुभ्यः ॥३७॥
- नृ-स्थिती, परावरे, त्रिपल्योप-, मान्तर्मुहूर्त्ते ॥३८॥
- तिर्यग्-, योनिजानां च ॥३९॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

- देवाश्-, चतु-र्णिकायाः ॥१॥
- आदितस्-त्रिषु, पीतान्त-लेश्याः ॥२॥
- दशाष्ट-पञ्च-, द्वादश-विकल्पाः, कल्पोप-पन्न-, पर्यन्ताः ॥३॥
- इन्द्र-सामानिक-, त्रायस्त्रिंश-, पारिषदात्मरक्ष-, लोकपालानीक-, प्रकीर्ण-काभियोग्य-, किल्बिषिकाश्-, चैकशः ॥४॥
- त्रायस्त्रिंश-, लोकपाल-वर्ज्या, व्यन्तर-ज्योतिष्काः ॥५॥
- पूर्वयो-, द्वीन्द्राः ॥६॥
- काय-प्रवीचारा, आ ऐशानात् ॥७॥
- शेषाः, स्पर्श-रूप-, शब्द-मनः, प्रवीचाराः ॥८॥
- परेऽप्रवीचाराः ॥९॥
- भवनवासिनो-, ऽसुर-नाग-, विद्युत्-सुपर्णाग्नि-, वात-स्तनितो-, दधि-द्वीप-दिक्-, कुमाराः ॥१०॥
- व्यन्तराः, किन्नर-किम्पुरुष-, महोरग-गन्धर्व-, यक्ष-राक्षस-, भूत-पिशाचाः ॥११॥
- ज्योतिष्काः, सूर्या-चन्द्रमसौ, ग्रह-नक्षत्र-, प्रकीर्णक-तारकाश्-च ॥१२॥
- मेरु-प्रदक्षिणा, नित्य-गतयो, नृलोके ॥१३॥
- तत्-कृतः, काल-विभागः ॥१४॥
- बहि-, रवस्थिताः ॥१५॥
- वैमानिकाः ॥१६॥
- कल्पोप-पन्नाः, कल्पातीताश्-च ॥१७॥
- उपर्यु-परि ॥१८॥

- सौधर्मैशान-, सानत्कुमार-माहेन्द्र-, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-, लान्तव-कापिष्ठ-, शुक्र-महाशुक्र-, शतार-सहस्रा-, रेष्वात-प्राणतयो-, रारणा-च्युतयो-, नवसु ग्रैवेयकेषु, विजय-वैजयन्त-, जयन्ता-पराजितेषु, सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥
- स्थिति-प्रभाव-, सुख-द्युति-लेश्या-, विशुद्धीन्द्रियावधि-, विषयतोऽधिकाः ॥२०॥
- गति-शरीर-, परिग्रहाभि-मानतो, हीनाः ॥२१॥
- पीत-पद्म-, शुक्ल-लेश्या, द्वि-त्रि-, शेषेषु ॥२२॥
- प्राग्-ग्रैवेयकेभ्यः, कल्पाः ॥२३॥
- ब्रह्म-लोकालया, लौकान्तिकाः ॥२४॥
- सारस्वतादित्य-, वह्न्यरुण-, गर्दतोय-तुषिता-, व्याबाधा-रिष्टाश्च ॥२५॥
- विजयादिषु, द्विचरमाः ॥२६॥
- औपपादिक-, मनुष्येभ्यः, शेषास्-, तिर्यग्-, योनयः ॥२७॥
- स्थिति-, रसुर-नाग-, सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां, सागरोपम-, त्रिपल्योप-मार्द्ध-, हीन-मिता ॥२८॥
- सौधर्मैशानयोः, सागरोपमे अधिके ॥२९॥
- सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः, सप्त ॥३०॥
- त्रि-सप्त-, नवैकादश-, त्रयोदश-, पञ्चदशभि-, रधिकानि तु ॥३१॥
- आरणा-च्युता-, दूर्ध्व-मेकैकेन, नवसु ग्रैवेयकेषु, विजयादिषु, सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥
- अपरा, पल्योपम-मधिकम् ॥३३॥
- परतः परतः, पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥३४॥
- नारकाणां च, द्वितीयादिषु ॥३५॥
- दशवर्ष-सहस्राणि, प्रथमायाम् ॥३६॥
- भवनेषु च ॥३७॥
- व्यन्तराणां च ॥३८॥
- परा, पल्योपम-मधिकम् ॥३९॥
- ज्योतिष्काणां च ॥४०॥
- तदष्टभागो-, ऽपरा ॥४१॥
- लौकान्तिकाना-मष्टौ, सागरोप-माणि, सर्वेषाम् ॥४२॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) चतुर्थोऽध्यायः ॥

 अथ पञ्चमोऽध्यायः

- अजीवकाया, धर्मा-धर्माकाश-, पुद्गलाः ॥१॥
- द्रव्याणि ॥२॥
- जीवाश्च ॥३॥
- नित्याव-स्थितान्य-, रूपाणि ॥४॥
- रूपिणः, पुद्गलाः ॥५॥
- आ आकाशा-, देव-द्रव्याणि ॥६॥
- निष्क्रियाणि च ॥७॥
- असङ्ख्येयाः, प्रदेशा, धर्माधर्मैक-, जीवानाम् ॥८॥
- आकाशस्यानन्ताः ॥९॥
- सङ्ख्येया-, ऽसङ्ख्येयाश्च, पुद्गलानाम् ॥१०॥
- नाणोः ॥११॥
- लोकाकाशेऽव-गाहः ॥१२॥
- धर्मा-धर्मयोः, कृत्स्ने ॥१३॥
- एक-प्रदेशादिषु, भाज्यः, पुद्गलानाम् ॥१४॥
- असङ्ख्येय-भागादिषु, जीवानाम् ॥१५॥
- प्रदेश-, संहार-विसर्पाभ्यां, प्रदीपवत् ॥१६॥
- गति-, स्थित्युप-ग्रहौ, धर्माधर्मयो-, रूपकारः ॥१७॥
- आकाशस्याव-गाहः ॥१८॥
- शरीर-वाङ्-मनः-, प्राणापानाः, पुद्गलानाम् ॥१९॥
- सुख-दुःख-जीवित-, मरणोप-ग्रहाश्च ॥२०॥
- परस्परोप-ग्रहो, जीवानाम् ॥२१॥
- वर्तना-, परिणाम-क्रियाः, परत्वा-परत्वे च, कालस्य ॥२२॥
- स्पर्श-रस-, गन्ध-वर्णवन्तः, पुद्गलाः ॥२३॥
- शब्द-बन्ध-, सौक्ष्म्य-स्थौल्य-, संस्थान-भेद-, तमश्छाया-, ऽऽतपोद्योत-वन्तश्च ॥२४॥
- अणवः, स्कन्धाश्च ॥२५॥
- भेद-सङ्घातेभ्यः, उत्पद्यन्ते ॥२६॥
- भेदा-दणुः ॥२७॥

- भेद-सङ्घाताभ्यां, चाक्षुषः ॥२८॥
- सद्-, द्रव्य-लक्षणम् ॥२९॥
- उत्पाद-व्यय-, ध्रौव्य-युक्तं, सत् ॥३०॥
- तद्-भावाव्ययं, नित्यम् ॥३१॥
- अर्पिता-नर्पित-, सिद्धेः ॥३२॥
- स्निग्ध-रुक्षत्वाद्-, बन्धः ॥३३॥
- न, जघन्य-गुणानाम् ॥३४॥
- गुण-साम्ये, सदृशानाम् ॥३५॥
- द्व्यधिकादि-, गुणानां तु ॥३६॥
- बन्धेऽधिकौ, पारिणामिकौ च ॥३७॥
- गुण-पर्ययवद्-, द्रव्यम् ॥३८॥
- कालश्च ॥३९॥
- सोऽनन्त-, समयः ॥४०॥
- द्रव्याश्रया, निर्गुणा, गुणाः ॥४१॥
- तद्-भावः, परिणामः ॥४२॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) पञ्चमोऽध्यायः ॥



अथ षष्ठोऽध्यायः



- काय-वाङ्-मनःकर्म, योगः ॥१॥
- स, आस्रवः ॥२॥
- शुभः पुण्यस्या-, शुभः पापस्य ॥३॥
- सकषाया-, कषाययोः, साम्परायि-, केर्यापथयोः ॥४॥
- इन्द्रिय-कषाया-, व्रत-क्रियाः, पञ्च-चतुः-पञ्च-, पञ्चविंशति-सङ्ख्याः, पूर्वस्य भेदाः ॥५॥
- तीव्र-मन्द-, ज्ञाताज्ञात-, भावाधिकरण-, वीर्यविशेषेभ्यस्-, तद्-विशेषः ॥६॥
- अधिकरणं, जीवाजीवाः ॥७॥
- आद्यं, संरम्भ-समारम्भारम्भ-, योग-, कृत-कारितानुमत-, कषाय-विशेषैस्-, त्रिस्-त्रिस्-त्रिस्-, चतुश्-चैकशः ॥८॥
- निर्वर्तना-निक्षेप-, संयोग-निसर्गा, द्वि-चतुर्द्वि-, त्रि-भेदाः, परम् ॥९॥

- तत्-प्रदोष-निह्व- , मात्सर्यान्तराया- , सादनोपघाता, ज्ञान-दर्शनावरणयोः ॥१०॥
- दुःख-शोक- , तापाक्रन्दन- , वध-परिदेव- , नान्यात्म- , परोभय-स्थान्य- , सद्-वेद्यस्य ॥११॥
- भूत-व्रत्यनुकम्पा-दान- , सरागसंयमादियोगः , क्षान्तिः शौच-मिति, सद्-वेद्यस्य ॥१२॥
- केवलि-श्रुत- , सङ्घ-धर्म- , देवावर्णवादो, दर्शनमोहस्य ॥१३॥
- कषायोदयात्- , तीव्र-परिणाम- , चारित्रमोहस्य ॥१४॥
- बह्वारम्भ- , परिग्रहत्वं , नारकस्यायुषः ॥१५॥
- माया, तैर्यग्- , योनस्य ॥१६॥
- अल्पारम्भ- , परिग्रहत्वं , मानुषस्य ॥१७॥
- स्वभावमार्दवं च ॥१८॥
- निश्शील- , व्रतत्वं च , सर्वेषाम् ॥१९॥
- सरागसंयम- , संयमासंयमा- , कामनिर्जरा- , बालतपांसि, दैवस्य ॥२०॥
- सम्यक्त्वं च ॥२१॥
- योगवक्रता, विसंवादनं, चाशुभस्य, नाम्नः ॥२२॥
- तद्-विपरीतं, शुभस्य ॥२३॥
- दर्शनविशुद्धि- , विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्व-नतीचारो- , ऽभीक्षण-ज्ञानोपयोग-संवेगौ, शक्तितस्-त्याग-तपसी, साधुसमाधि- , वैयावृत्यकरण- , मर्हदाचार्य- , बहुश्रुत-प्रवचनभक्ति- , रावशयका-परिहाणि- , मार्गप्रभावना, प्रवचनवत्सलत्व-मिति, तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥
- परात्म-निन्दा-प्रशंसे, सद- , सद्-गुणोच्-छादनोद्- , भावने च, नीचै-र्गोत्रस्य ॥२५॥
- तद्-विपर्ययो, नीचै-र्वृत्यनुत्सेकौ, चोत्तरस्य ॥२६॥
- विघ्नकरण-मन्तरायस्य ॥२७॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) षष्ठोऽध्यायः ॥



अथ सप्तमोऽध्यायः



- हिंसाऽनृत-स्तेया- , ब्रह्म-परिग्रहेभ्यो, विरति-व्रतम् ॥१॥
- देश-सर्वतोऽणु- , महती ॥२॥
- तत्-स्थैर्यार्थ, भावनाः, पञ्च पञ्च ॥३॥

- वाङ्मनो-गुप्तीर्या-, दान-निक्षेपण-समित्या-, लोकितपान-भोजनानि, पञ्च ॥४॥
- क्रोध-लोभ-भीरुत्व-, हास्य-प्रत्याख्यानान्यनु-, वीचिभाषणं च, पञ्च ॥५॥
- शून्यागार-, विमोचितावास-, परोपरोधाकरण-, भैक्षशुद्धि-, सधर्मा-विसंवादाः, पञ्च ॥६॥
- स्त्रीराग-कथाश्रवण-, तन्मनोहराङ्ग-निरीक्षण-, पूर्वरतानु-स्मरण-, वृष्येष्ट-रस-, स्वशरीर-संस्कार-त्यागाः, पञ्च ॥७॥
- मनोज्ञा-, मनोज्ञेन्द्रिय-विषय-, राग-द्वेष-वर्जनानि, पञ्च ॥८॥
- हिंसा-दिष्विहा-, मुत्रापाया-, वद्य-दर्शनम् ॥९॥
- दुःख-मेव, वा ॥१०॥
- मैत्री-प्रमोद-, कारुण्य-माध्यस्थानि च, सत्त्व-गुणाधिक-, क्लिश्यमाना-विनेयेषु ॥११॥
- जगत्काय-, स्वभावौ वा, संवेग-वैराग्यार्थम् ॥१२॥
- प्रमत्त-योगात्-, प्राण-व्यपरोपणं, हिंसा ॥१३॥
- अ-सदभिधान-, मनृतम् ॥१४॥
- अ-दत्तादानं, स्तेयम् ॥१५॥
- मैथुन-, मब्रह्म ॥१६॥
- मूर्च्छा, परिग्रहः ॥१७॥
- निश्शल्यो, व्रती ॥१८॥
- अगार्य-, नगारश्-च ॥१९॥
- अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥
- दिग्देशा-, नर्थदण्ड-विरति-, सामायिक -प्रोषधोप-, वासोपभोग-परिभोग-, परिमाणा-तिथिसंविभाग-, व्रतसम्पन्नश्-च ॥२१॥
- मारणान्तिर्की, सल्लेखनां, जोषिता ॥२२॥
- शङ्का-काङ्क्षा-, विचिकित्सान्य-, दृष्टि-प्रशंसा-संस्तवाः, सम्यग्दृष्टे-रतिचाराः ॥२३॥
- व्रत-शीलेषु, पञ्च पञ्च, यथाक्रमम् ॥२४॥
- बन्ध-वधच्छेदाति-, भारा-रोपणान्-, पाननिरोधाः ॥२५॥
- मिथ्योपदेश-, रहोभ्याख्यान-, कूटलेखक्रिया-, न्यासापहार-, साकारमन्त्र-भेदाः ॥२६॥

- स्तेनप्रयोग-, तदाहतादान-, विरुद्धराज्यातिक्रम-, हीनाधिक-मानोन्मान-, प्रतिरूपक-व्यवहाराः ॥२७॥
- परविवाह-करणे-त्वरिका-, परिग्रहीता-ऽपरिग्रहीता-, गमना-नङ्ग-क्रीडा-, कामतीव्राभि-निवेशाः ॥२८॥
- क्षेत्रवास्तु-, हिरण्यसुवर्ण-, धनधान्य-, दासीदास-, कुप्य^१ प्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥
- ऊर्ध्वाधस्-, तिर्यग्-व्यतिक्रम-, क्षेत्रवृद्धि-, स्मृत्यन्त-राधानानि ॥३०॥
- आनयन-, प्रेष्यप्रयोग-, शब्द-, रूपानुपात-, पुद्गलक्षेपाः ॥३१॥
- कन्दर्प-, कौत्कुच्य-मौखर्या-, समीक्ष्याधि-करणोप-भोग-, परिभोगा-नर्थक्यानि ॥३२॥
- योग-, दुष्प्रणिधाना-नादर-, स्मृत्यनुप-स्थानानि ॥३३॥
- अप्रत्यवेक्षिता-, प्रमार्जितोत्सर्गादान-, संस्तरोप-क्रमणा-नादर-, स्मृत्यनुप-स्थानानि ॥३४॥
- सचित्त-सम्बन्ध-, सम्मिश्राभिषव-, दुष्पक्वाहाराः ॥३५॥
- सचित्त-निक्षेपा-पिधान-, परव्यपदेश-मात्सर्य-, कालातिक्रमाः ॥३६॥
- जीवित-मरणाशंसा-, मित्रानुराग-, सुखानुबन्ध-, निदानानि ॥३७॥
- अनुग्रहार्थ-, स्वस्यातिसर्गो, दानम् ॥३८॥
- विधि-द्रव्य-, दातृ-पात्र-विशेषात्-, तद्-विशेषः ॥३९॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) सप्तमोऽध्यायः ॥



अथाष्टमोऽध्यायः



- मिथ्यादर्शना-विरति-, प्रमाद-कषाय-योगा, बन्ध-हेतवः ॥१॥
- सकषायत्वाज्-जीवः, कर्मणो योग्यान्, पुद्गलानादत्ते, स बन्धः ॥२॥
- प्रकृति-, स्थित्यनुभव-, प्रदेशास्-, तद्-विधयः ॥३॥
- आद्यो, ज्ञान-दर्शनावरण-, वेदनीय-मोहनीयायु-, नर्म-गोत्रान्तरायाः ॥४॥
- पञ्च-नव-, द्व्यष्टाविंशति-चतु, द्विचत्वारिंशद्-, द्वि-पञ्च भेदा, यथाक्रमम् ॥५॥
- मति-श्रुतावधि-, मनःपर्यय-, केवलानाम् ॥६॥
- चक्षु-रचक्षु-, रवधि-केवलानां, निद्रा-निद्रानिद्रा-, प्रचला-प्रचलाप्रचला-, स्त्यानगृह्ययश्च ॥७॥
- सद-, सद्-वेद्ये ॥८॥

१. सिरिभूवल्लय ग्रन्थ में कुप्य के साथ भाण्ड पद भी आया है।

- दर्शन-चारित्रमोहनीया-, कषाय-कषायवेदनीयाख्यास्-, त्रि-द्वि-, नव-षोडशभेदाः, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-, तदुभयान्य-, कषाय-कषायौ, हास्य-रत्य-रति-शोक-, भय-जुगुप्सा-, स्त्री-पुन्-नपुंसक-वेदा, अनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यान-, प्रत्याख्यान-संज्वलन-, विकल्पाश्चैकशः, क्रोध-मान-माया-लोभाः ॥९॥
- नारक-तैर्यग्-योन-, मानुष-दैवानि ॥१०॥
- गति-जाति-, शरीराङ्गोपाङ्ग-, निर्माण-बन्धन-सङ्घात-, संस्थान-संहनन-, स्पर्श-रस-गन्ध-, वर्णानुपूर्व्या-, गुरुलघूपघात-, परघाता-, तपोद्योतो-च्छ्वास-, विहायोगतयः, प्रत्येकशरीर-, त्रस-सुभग-, सुस्वर-शुभ-, सूक्ष्म-पर्याप्ति-, स्थिरादेय-, यशःकीर्ति-, सेतराणि, तीर्थकरत्वं च ॥११॥
- उच्चै-, नीचैश्च ॥१२॥
- दान-लाभ-, भोगोप-भोग-, वीर्याणाम् ॥१३॥
- आदितस्-तिसृणा-, मन्तरायस्य च, त्रिंशत्-सागरोपम-, कोटी-कोट्यः, परा-स्थितिः ॥१४॥
- सप्तति-, मोहनीयस्य ॥१५॥
- विंशति-, नाम-गोत्रयोः ॥१६॥
- त्रयस्त्रिंशत्-, सागरोप-, माण्यायुषः ॥१७॥
- अपरा, द्वादश-मुहूर्त्ता, वेदनीयस्य ॥१८॥
- नाम-गोत्रयो-, रष्टौ ॥१९॥
- शेषाणा-, मन्तर्मुहूर्त्ता ॥२०॥
- विपाकोऽनु-भवः ॥२१॥
- स, यथानाम ॥२२॥
- ततश्च, निर्जरा ॥२३॥
- नामप्रत्ययाः, सर्वतो योगविशेषात्-, सूक्ष्मैक-, क्षेत्राव-गाह-स्थिताः, सर्वात्म-प्रदेशेष्व-, नन्तानन्त-प्रदेशाः ॥२४॥
- सद्-वेद्य-शुभायु-, नाम-गोत्राणि, पुण्यम् ॥२५॥
- अतोऽन्यत्, पापम् ॥२६॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) अष्टमोऽध्यायः ॥

 अथ नवमोऽध्यायः

- आस्रव-निरोधः, संवरः ॥१॥
- स, गुप्ति-समिति-, धर्मानुप्रेक्षा-, परिषहजय-, चारित्रैः ॥२॥
- तपसा, निर्जरा च ॥३॥
- सम्यग्योग-निग्रहो, गुप्तिः ॥४॥
- ईर्या-भाषैषणा-, दाननिक्षेपोत्सर्गाः, समितयः ॥५॥
- उत्तमक्षमा-, मार्द-वार्जव-, शौच-सत्य-, संयम-तपस्त्यागा-, किञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि, धर्मः ॥६॥
- अनित्या-शरण-, संसारै-कत्वा-न्यत्वा-, शुच्यास्रव-, संवर-निर्जरा-, लोक-बोधिदुर्लभ-, धर्मस्वाख्या-, तत्वानु-चिन्तन-, मनुप्रेक्षाः ॥७॥
- मार्गा-च्यवन-, निर्जरार्थ, परिषोढव्याः, परीषहाः ॥८॥
- क्षुत्-पिपासा, शीतोष्ण-, दंशमशक-, नाग्न्या-रति-स्त्री-, चर्या-निषद्या-शय्या-, क्रोश-वध-याचना-, लाभ-रोग-, तृणस्पर्श-मल-, सत्कारपुरस्कार-, प्रज्ञा-ज्ञाना-, दर्शनानि ॥९॥
- सूक्ष्मसाम्पराय-, छद्मस्थ-वीतरागयोः, चतुर्दश ॥१०॥
- एकादश, जिने ॥११॥
- बादर-साम्पराये, सर्वे ॥१२॥
- ज्ञानावरणे, प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥
- दर्शन-मोहान्तराययो-, रदर्शना-लाभौ ॥१४॥
- चारित्रमोहे, नाग्न्या-रति-स्त्री-, निषद्या-क्रोश-याचना-, सत्कारपुरस्काराः ॥१५॥
- वेदनीये, शेषाः ॥१६॥
- एकादयो भाज्या, युगपदे-कस्मिन्-, नैकोन-विंशतेः ॥१७॥
- सामायिकच्-, छेदोप-स्थापना-, परिहारविशुद्धि-, सूक्ष्मसाम्पराय-, यथाख्यात-मिति, चारित्रम् ॥१८॥
- अनशनाव-मौदर्य-, वृत्तिपरिसङ्ख्यान-, रसपरित्याग-, विविक्तशय्यासन-, कायक्लेशा, बाह्यं तपः ॥१९॥
- प्रायश्चित्त-विनय-, वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-, व्युत्सर्ग-ध्यानान्-, युत्तरम् ॥२०॥
- नव-चतु-र्दश-, पञ्च-द्वि-भेदा, यथाक्रमं, प्राग्ध्यानात् ॥२१॥
- आलोचन-प्रतिक्रमण-, तदुभय-विवेक-, व्युत्सर्ग-तपश्छेद-, परिहारोप-स्थापनाः ॥२२॥

- ज्ञान-दर्शन-, चारित्रोपचाराः ॥२३॥
- आचार्यो-पाध्याय-, तपस्वि-शैक्ष-, ग्लान-गण-, कुल-सङ्घ-, साधु-मनोज्ञानाम् ॥२४॥
- वाचना-, पृच्छनानु-प्रेक्षाम्नाय-, धर्मोपदेशाः ॥२५॥
- बाह्याभ्यन्तरो-पध्योः ॥२६॥
- उत्तम-संहननस्यैकाग्र-, चिन्तानिरोधो, ध्यान-मान्त-मुहूर्त्तात् ॥२७॥
- आर्त्त-रौद्र-, धर्म्य-शुक्लानि ॥२८॥
- परे, मोक्ष-हेतू ॥२९॥
- आर्त्त-, ममनोज्ञस्य, सम्प्रयोगे, तद्-विप्रयोगाय, स्मृति-समन्वाहारः ॥३०॥
- विपरीतं, मनोज्ञस्य ॥३१॥
- वेदनायाश्च ॥३२॥
- निदानं च ॥३३॥
- तदविरत-, देशविरत-, प्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥
- हिंसा-नृत-स्तेय-, विषयसंरक्षणेभ्यो, रौद्र-मविरत-, देशविरतयोः ॥३५॥
- आज्ञापाय-विपाक-, संस्थान-विचयाय, धर्म्यम् ॥३६॥
- शुक्ले चाद्ये, पूर्वविदः ॥३७॥
- परे, केवलिनः ॥३८॥
- पृथक्-त्वैकत्व-वितर्क-, सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति-, व्युपरतक्रिया-निवर्तीनि ॥३९॥
- त्र्येकयोग-, काययोगा-, योगानाम् ॥४०॥
- एकाश्रये, सवितर्क-वीचारे, पूर्वे ॥४१॥
- अवीचारं, द्वितीयम् ॥४२॥
- वितर्कः, श्रुतम् ॥४३॥
- वीचारोऽर्थ-, व्यञ्जन-योग-, संक्रान्तिः ॥४४॥
- सम्यग्दृष्टि-श्रावक-, विरतानन्त-वियोजक-, दर्शनमोह-, क्षपकोप-शमकोप-, शान्तमोह-क्षपक, क्षीणमोह-जिनाः, क्रमशोऽसङ्ख्येयगुण-, निर्जराः ॥४५॥
- पुलाक-बकुश-कुशील-, निर्ग्रन्थ-स्नातका, निर्ग्रन्थाः ॥४६॥
- संयम-श्रुत-, प्रतिसेवना-, तीर्थ-लिङ्ग-, लेश्योप-पाद-स्थान-, विकल्पतः, साध्याः ॥४७॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) नवमोऽध्यायः ॥

ॐ अथ दशमोऽध्यायः ॐ

- मोहक्षयाच्-, ज्ञानदर्शना-, वरणान्तराय-, क्षयाच्-च, केवलम् ॥१॥
- बन्ध-हेत्व-भाव-, निर्जराभ्यां, कृत्स्नकर्म-, वि-प्र-मोक्षो, मोक्षः ॥२॥
- औपशमिकादि-, भव्यत्वानां च ॥३॥
- अन्यत्र, केवल-सम्यक्त्व-, ज्ञान-दर्शन-, सिद्धत्वेभ्यः ॥४॥
- तदनन्तर-, मूर्ध्व गच्छत्या, लोकान्तात् ॥५॥
- पूर्वप्रयोगा-, दसङ्गत्वाद्-, बन्धच्छेदात्-, तथागति-परिणामाच्-च ॥६॥
- आविद्ध-कुलाल-चक्रवद्-, व्यपगत-लेपालाबु-, वदेरण्डबीज-, वदग्नि-शिखावच्-च ॥७॥
- धर्मास्तिकाया-, भावात् ॥८॥
- क्षेत्र-काल-गति-, लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-, प्रत्येक-बुद्ध-बोधित-, ज्ञानावगाह-नान्तर-, सङ्ख्याल्प-बहुत्वतः, साध्याः ॥९॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) दशमोऽध्यायः ॥

अक्षर-मात्र-पद-स्वर-हीनं, व्यञ्जन-सन्धि-विवर्जित-रेफम् ।
 साधुभि-रत्र मम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे ॥१॥
 दशाध्याये परिच्छिन्ने, तत्त्वार्थे पठिते सति ।
 फलं स्या-दुपवासस्य, भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥२॥
 तत्त्वार्थ-सूत्र-कर्तारं, गृह्य-पिच्छोप-लक्षितम् ।
 वन्दे गणीन्द्र-सज्जात-, मुमास्वामि-मुनीश्वरम् ॥३॥
 जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्कइ, तहेव सद्दहणं ।
 सद्दह-माणो जीवो, पावइ अजरामरं ठाणं ॥४॥
 तव-यरणं वय-धरणं, संजम-सरणं च जीवदया-करणं ।
 अंते समाहि-मरणं, चउविह दुक्खं णिवारेई ॥५॥
 अरहंत-भासियत्थं, गणहर-देवेहिं, गंधियं सम्मं ।
 पणमामि भत्तिजुत्तो, सुद-णाण-महोवहिं सिरसा ॥६॥
 गुरवः पान्तु नो नित्यं, ज्ञान-दर्शन-नायकाः ।
 चारित्रार्णव-गम्भीराः, मोक्ष-मार्गोप-देशकाः ॥७॥
 कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो, लक्षाण्य-शीतिस्-त्र्यधिकानि चैव ।
 पञ्चा-शदष्टौ च सहस्र-सङ्ख्य-, मेतच्छ्रुतं पञ्च-पदं नमामि ॥८॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) सम्पूर्णम् ॥

परमागम स्तुति

शारदे ! शरद-सी शीतल, शुभ वाणी दे दो मुझे,
आपके द्वारे हम, भिक्षा लेने आये हैं।
ज्ञान का प्रकाश करो, मोहतम नाश करो,
कण्ठ में विराजो मेरे, दीक्षा लेने आये हैं।
आपकी चतुर्भुज, चार अनुयोग धरें,
ज्ञान हंस-रूप भेद-, विज्ञान धारे हैं।
ऐसी जिनवाणी मेरी-, आत्मा सुधार करे,
जिनके “अमित” बार, चरण पखारे हैं ॥१॥

मात जिनवाणी तेरी-, स्तुति है बार-बार,
तार-तार हुई मेरी, चुंदरी सम्हार दे।
आगम के शब्द-शब्द-, में हे मात ! दर्श तेरा,
वही दर्श आज निज-, पूत पे निशार दे !
यूँ तो मेरा जीवन ही, वाहन तुम्हारा मात !
प्यार दे ! निहार दे !, दुलार ! पुचकार दे !
हंसवाहिनी में तेरी-, गोद में पड़ा हुआ हूँ,
भाव को सुबोध दे !, निखार दे ! माँ शारदे ! ॥२॥

शारदे नमस्कार-, करता हूँ बार-बार,
दीजिए समयसार, साथ में नियमसार !
ज्ञान का रयणसार, दे दो प्रवचनसार,
आत्मा का हो सुधार, करो मन में उजार।
परम पदारथ सार, दे दो पञ्चास्तिकाय,
पाऊँ मैं भी बोध ऐसा, रक्षा करूँ षट्निकाय।
ज्ञान निधि ऐसी पाऊँ, मन होवे निर्विकार,
“अमित” नमस्कार-, करता हूँ बार-बार ॥३॥

वागीश्वरि माता है तू, वचन विधाता है तू,
वचनों का वरदान, एक बार दीजिए।
बढ़े तो विराग ऐसा, विषयों की वासना से,
बुद्धि से विकारों का, शमन कर दीजिए।
बाँह मेरी थाम ले, बचा ले मुझे डूबने से,
विकथा के वन से, निकार मुझे लीजिए।
वचन अथाह रूप, गये हैं जो टूट-फूट,
“अमित” वचन का, सुधार कर दीजिए ॥४॥

कहाँ-कहाँ बस गई, वर्ण चितेरी मात !
सुन्दर सलौने रूप, रस अरु गन्ध में।
दोहा कहो चौपाई, काव्य कविता कहो,
गीत गान शायरी, गाथा अरु छन्द में।
नानी की कहानी बैठी, नाना के भजन बैठी,
दादी की पहेली बैठी, कवियों के कण्ठ में।
नाटक के नव रस, छोड़े नहीं तूने कभी,
आनके विराजो मेरे, “अमित” के मन में ॥५॥

वीतराग भाव तेरा, वीतराग वाणी तेरी,
वीतराग गाँव तेरा, वीतराग देश है।
वीतराग जननी है, भव-वन तरणी तू,
वीतराग धर्म तेरा, वीतराग वेश है।
वीतराग कुटिया, भवन तेरा वीतराग,
वीतराग महल, मकान वीतराग है।
ऐसी वीतरागी माता, चरणों में नाऊँ माथा,
वीतरागी बन जाऊँ, “अमित” विराग है ॥६॥

भारती है नाम तेरा, तारती तू भव से फेरा,
आरती उतारूँ माता, सदा गुण गाऊँ मैं।
भार को उतारो मेरे, कर्म चितारो मेरे,
पार उतारो मुझे, पास तेरे आऊँ मैं।
भा गई तू भावों में, छा गई विचारों में तू,
आ रही है याद मुझे, अपने ख्यालों में,
ऐसा मुझे दे दो दान, करूँ अपना कल्याण,
जय हो “अमित” रूप, सबके ही नारों में ॥७॥

स्वप्न दिखाये बहु, तूने मात नींद आके,
साक्षात् आके अब, दर्श दे दीजिए।
गिरे हैं जो भाव, पाप पङ्क में सने हुए हैं,
ऐसे निन्द्य भावों से, उत्कर्ष कर दीजिए।
हार के जो बैठ गए, कर्मों की मार से जो,
जीत की खुशी का अब, हर्ष भर दीजिए।
तेरे कर सर पै हों, मेरे झुके सर पै माँ !
मेरे मित भाव को “अमित” कर दीजिए ॥८॥

वीतराग नाथ तेरा, नहि तुझे राग करे,
इसलिए मात ! तू, कुमारी कहलाती है।
चार गति दुःख से, सदा ही तू निवार करे,
भव्य जीव बोध के, कुमरण बचाती है।
सेवा करो ज्ञानियों की, अज्ञजन बोध पाते,
ऐसा भाव तू तो मात !, सदा सिखलाती है।
मेरा भी तू कुमरण, मात ! बचा दे जग में,
“अमित” के बन्ध इक-, क्षण में छुड़ाती है ॥९॥

भारती सरस्वती है, शारदा है नाम तेरा,
विदुषि है माता, हंसगामिनी कहाती है।
वागीश्वरि जगमाता, ब्रह्माणी है वरदा तू,
ब्राह्मणी है वाणी है तू, भाषा कहलाती है।
ब्रह्मचारिणी है माता, बाल कुमारी है तू,
गौ है श्रुतदेवी है तू, विद्या कहलाती है।
इतने हैं नाम तेरे, काम तेरा एक ही है,
आनके “अमित” की, बुद्धि बस जाती है ॥१०॥

ज्ञानियों के ज्ञान में तू, ध्यानियों के ध्यान में तू,
सङ्गीतों की तान में तू, आन के विराजी है।
सुगतों की बुद्धि में तू, शिव जी की ऋद्धि में तू,
ब्रह्मा जी के ब्रह्म में तू, ज्ञान हो विराजी है।
विष्णु की शान में तू, राम हनुमान में तू,
भिन्न-भिन्न मत के तू, मति में विराजी है।
वैशेषिक सांख्य, चार्वाक मत जैनियों के,
“अमित” मतिमान, बन के विराजी है ॥११॥

उर नहि सुर नहि, वीणा नहि वाणी नहि,
राग नहि साज नहि, इतना गरीब हूँ।
वर्ण नहि शब्द नहि, वाक्य नहि शास्त्र नहि,
पण्डित विद्वान ज्ञानी, कवि न सुरूप हूँ।
सभा जैसा भेष नहि, मञ्च जैसा मान नहि,
आन-वान-शान के मैं, कहाँ से करीब हूँ।
मैं तो तेरी भक्ति माँ, करता हूँ रात-दिन,
इसलिए माता मैं तो, “अमित” नसीब हूँ ॥१२॥

मन्त्र णमोकार इक, सिद्ध मन्त्र विश्व में है,
जिसने है विश्व की-, ऊँचाईयों को चूमा है।
मन्त्र है विख्यात ऐसा, गुण-रूपी रत्न खानि,
जिसने है सिन्धु की, गहराईयों को ढूँढ़ा है।
चार घाति कर्म नाश-, भये अरिहन्त प्रभो !
आठ कर्म नाश सिद्ध-, भये गये सिद्ध भूमि।
शासन सु आचारज, पाठन सुपाठक भये,
साधु नमें साधना से, “अमित” निजानुभूति ॥१३॥

मंगल महान मन्त्र, ऋद्धि-सिद्धि ज्ञान-दाता,
चार रूप मंगल में, बनके समाता है।
अर्हत् सिद्ध साधु रूप, केवलि की वाणी रूप,
भव-भव में मंगल हो के, सुख का प्रदाता है।
उनका ही उत्तम रूप, चार भेद का स्वरूप,
निर्दोष पद का जो, मार्ग बतलाता है।
इनकी ही शरणा से, कटते हैं पाप फंद,
भगते “अमित” भय, मोक्ष का प्रदाता है ॥१४॥

भारती है भानु के, समान दिव्य-तेज दाता,
अन्धकार तुझको, पसन्द नहीं आता है।
पढ़ना औ लिखना भी, होता है प्रकाश में ही,
चिन्तन से चेतना का, द्वार खुल जाता है।
न्याय-नीति आगम, अध्यात्म का प्रकाश भरा,
ऐसा कोई शास्त्र न जो, तुझको न आता है।
ऐसे दिव्य-ज्ञान के, प्रकाश का प्रकाश दे माँ !
तू हि माता “अमित” की, भाग्य विधाता है ॥१५॥

सर-सर दौड़ती है, जल के समान माता,
छोटे-बड़े गढ़ों को, भरे ही चली जाती है।
सरवर-नदी-नाले, सूख जाते मोका पा-के,
हर पल बहती माता, दौड़ी चली आती है।
बाँटती-उलीचती, खर्चा करे दिन-रात,
गणधर की बुद्धि भी तो, पार नहीं पाती है।
ऐसा है अथाह रूप, सागर के समान रूप,
सरवर “अमित” रूप, सरस्वति कहाती है ॥१६॥

शारदे माँ! शर दे, बुद्धि औ' विवेक दे दो,
बढ़े-बढ़े लक्ष्य को भी, प्राप्त कर जाऊँ मैं।
कुवादि के शर को मैं, शूरवीर बन के माता,
कविता के क्षेत्र में, परास्त कर डालूँ मैं।
लक्ष्य मेरा बना रहे, आगम की रक्षा हेतु,
अनेकान्त धनुष को, हाथों में सम्भालूँ मैं।
नय-नय तीर ले के, नये-नये लक्ष्य ले के,
“अमित” गति से सीधे, तीर चला दूँ मैं ॥१७॥

विदुषि है माता तू, विद्वानों की जनम-दाता,
जनम-जनम माता, साथ दे दीजिये।
मिल जाये ज्ञान ऐसा, खर्चे न पाई-पैसा,
ऐसे ज्ञान-धन का, भण्डार भर दीजिये।
राजा नहि छीने जिसे, चोर नहि लूटें जिसे,
रत्नों के भण्डार से न, कीमत चुकाते हैं।
ऐसे ज्ञान-धन को मैं, बाँटू दिन-रात माता,
“अमित” से सिन्धु तुम्हें, शीश झुकाते हैं ॥१८॥

हंस-वाहिनी तू बन के, जल में चली निकल के,
मोतियों के दानें चुन के, हंस मन भाया है।
नीर-क्षीर का विवेक, राग-द्वेष का न लेश,
ऐसा रूप माता तूने, प्रकृति से पाया है।
हाथों में तू लेखनी का, रूप धरती है माता,
चलने में हंस-गति, रूप दर्शाया है।
पाप पंक का न लेश, पंकज-सा पुञ्ज तेज,
“अमित” स्वरूप माता, ज्ञान का बनाया है ॥१९॥

वागीश्वरि-वाणी में तू, वचनों की रानी है तू,
वीणा के उन तारों में तू, सप्त स्वर दाता है।
तबले की ताल में तू, ढोलक की खाल में तू,
झुनझुन की झंकार में तू, स्वर भी सुहाता है।
मंजीरे की चाल में तू, हाथों की करताल में तू,
बाँसुरी के नाद में तू, श्वास-सुर दाता है।
वायु की बयार में तू, वर्षा की फुहार में तू,
झरने के निनाद में, “अमित” रूप आता है ॥२०॥

जगमाता नाम तेरा, जिसने है मन से टेरा,
उसकी पुकार को माँ, शीघ्र सुन लेती है।
बच्चा हो या बूढ़ा हो, यौवन से भरा हुआ हो,
सबकी पुकार में तू, उत्तर दे देती है।
जैसे जिद्दी बालक को, माता देती मन-मार,
वैसे भद्र बालक को, मना-मना देती है।
ऐसा ही है तेरा रूप, प्राणी मात्र हितकार,
“अमित” की माता बनके, माँग भर देती है ॥२१॥

ब्रह्माणी है ब्रह्मरूप, ब्रह्मा की भुजा स्वरूप,
चार भुजाधारी होके, लोक को बताया है।
चार अनुयोग ज्ञान, देने वाली ब्रह्माणी तू,
चार गतिरूप में तू, रूप फैलाया है।
नरकों में सम्यक्त्व रूप, पशुओं में व्रत रूप,
मनुजों में मोक्षरूप, देव मन भाया है।
प्राणीमात्र करुणा पात्र, तेरे माता जग में है,
“अमित” का ब्रह्म माता, उसी में समाया है ॥२२॥

वरदा है सबकी माँ तू!, वरदान देती है तू,
वीरों में तू वीरज की, शक्ति भी बढ़ाती है।
सबको है वर देती, मन नहि भेद लाती,
जिनने जैसा सोचा, वैसा भाव दर्शाती है।
कन्या को है वर देती, वर को वधू है देती,
जोड़ा जोड़-जोड़ के तू, मेल मिलवाती है।
देने वाली दाता है तू, लेने वाला पात्र मैं हूँ,
दाता-पात्र “अमित” का, पूरा भर जाती है ॥२३॥

ब्रह्माणी है ब्रह्म में, समायी है तू रूपधारी,
बाह्य में न रूप दिखे, समझ न आया है।
बहुत बनाये रूप, भीतर में जाके माता,
ब्रह्म-ज्ञानियों ने ही तो, तेरा दर्श पाया है।
विषय-विकारों में जो, भटक रहे हैं प्राणी,
उनने हि तेरे उस, रूप को लजाया है।
तू तो माता भोली-भाली, मेरी तो है करनी काली,
ऐसा जानकर भी माता, “अमित” निभाया है ॥२४॥

वाणि नाम 'नाममाला', बनी है सहारे तेरे,
वर्ण-वर्ण वर्ग-वर्ग, बहुत बनाये हैं।
वाक्य-वाक्य बुनकर, बन गये पाठ तेरे,
वाणि की ही बात से, विद्वान भी कहाये हैं।
वाणि है सुरीलि तो वो, वीणा का है काम करे,
वाणि है कटीलि तो वो, वाण का स्वरूप है।
वाणि हि रामायण रूप, वाणी हि है महाभारत,
वाणि "अमित" अमृत-विष, औषधि-घावरूप है ॥२५॥

भाषा है तू भासमान, दिव्य-तेज ओज वाली,
सबको बताती है तू, उनकी ही भाषा में।
महाभाषा-ऽठारह जो, जग में लिपि स्वरूप,
लघु भाषा सात-सै हैं, बोल-चाल भाषा में।
भाषा-भाषा भिन्न-भिन्न, भाव-भाव एक रूप,
जल आव् वाटर पानी, कहते हैं जहान में।
कितने हि नाम रखो, काम सबका एक होता,
आग-प्यास को बुझाना, "अमित" जहान में ॥२६॥

ब्रह्मचारिणि है माता, ब्रह्म है निवास तेरा,
शुक्लभाव रूप तेरि, साटिका कहाती है।
शिर-केश होकर भि, राग नहीं लेश तेरा,
विषयों की वासना से, अक्षों को बचाती है।
मन तेरा रीता है, कषायों के कङ्कणों से,
संयम के शृंगार से तू, देह को सजाती है।
तप तेरा घर-वर, त्याग तेरा अनुचर,
"अमित" अकिञ्चन भाव, भर-भर लाती है ॥२७॥

गौ के है समान भद्र, रक्षा करें नय सींग,
पूँछ के समान बाल-, लज्जा रखवाली है।
चार थन चार वेद, दूध सबका एक-सा है,
रँग असमान फिर भी, मधु-रस वाली है।
वात्सल्य आपका, समान है त्रिलोक से ही,
इसलिए गोवत्स, प्रीत-सी निहारी है।
गौ-धन को गिनते हैं, जगत के मान में तो,
ज्ञान-धन आपका भी, "अमित" चितारी है ॥२८॥

श्रुत-देवि रूप तेरा, कर्णों के सुनने से,
अङ्ग-बाह्य औ' प्रविष्ट, दो रूप जाना है।
अङ्ग-बाह्य अनेक रूप, प्रविष्ट के बारह रूप,
इतने में पूरा श्रुत, भगवन्! ने बखाना है।
द्रव्य-श्रुत भाव-श्रुत, दोनों के हैं भाव न्यारे,
अभव्य द्रव्य ग्यारह-अङ्ग, नौ-पूर्व धारें हैं।
भाव-श्रुत कि महिमा न्यारी, "तुषमांस भिन्न" रूप,
मित श्रुत ने भी तो, "अमित" भव्य तारें हैं ॥२९॥

विद्या है विशाल रूप, दर्पण-सा रूप जिसमें,
शिक्षा अति सूक्ष्मरूप, सूत्रों का सहारा है।
विद्या का विज्ञान भरा, झलकें जिसमें तीनों काल,
द्रव्य-गुण-पर्यायों का, दिखता किनारा है।
लोक-अलोक को, देखा है प्रत्यक्ष जिनने,
ऐसी उस विद्या पै, मन मोहित हमारा है।
बलि-बलि जाऊँ ऐसी, विद्या के स्वरूप को मैं,
दे-दे तू "अमित" को, भव-सिन्धु का किनारा है ॥३०॥



मंगल मन-वीणा

मन की वीणा पै झंकृत स्वरं मंगलं ।
मंगलं, मंगलं, मंगलं, मंगलं.....॥टेक॥

सा — से सारे गमों को गवाँ दे, हे माँ ! ।
गम की दुनियाँ से हमको बचा ले, हे माँ ! ॥१॥

रे — से रेखा बदल सर-करो की, हे माँ ! ।
भाग्य का लेख सुन्दर तू रच दे, हे माँ ! ॥२॥

गा — से गाता रहूँ तेरी विरुदावली ।
छन्द-गाथा बना के रचूँ शायरी ॥३॥

मा — से ममता का आँचल मिले मुझको माँ ! ।
जिससे भय-दुख का दामन छुटे मेरी माँ ! ॥४॥

पा — से पाऊँ परम भाव परमात्मा ।
होवे जिस भाव में पुण्य ना पाप ना ॥५॥

धा — से धारण करूँ धर्म दशलक्षणी ।
धार करके बनूँ मैं, हे माँ ! सद्गुणी ॥६॥

नि — से निस्सार संसार में न रमूँ ।
पाके निर्वाण पद मैं “अमित” सुख चखूँ ॥७॥

सा-रे-गा-मा-पा-धा-नि का स्वर मंगलं ।
मंगलं, मंगलं, मंगलं, मंगलं.....॥८॥

